सम्पूर्ण जीवन दर्शन

मानव मात्र को "एक-मत" करनेवाली "एक-मात्र" अकाट्य
सन्त वाणी

भाग – ७

(पत्रावली)

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है ।

प्रथम संस्करण – २०१९
1000 प्रतियाँ

मूल्य : कुल 10 पुस्तकों के लिए ₹2500/- (10 X ₹250/-)

प्रकाशक
करनाल मानव सेवा संघ
निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।

सर्वहितकरी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।

हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कायों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

पत्रावली

(पाथेय एवं सन्त पत्रावली)

1

गीता प्रेस कैम्प, कुम्भ मेला
इलाहाबाद
25-1- 1954

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार!

सरलता से हरा-भरा पत्र मिला। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर अवश्यक शक्ति का विकास अपने आप होता है। जो सेवा मिली है उसे योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रम पूर्वक करती रहो। प्रत्येक कार्य के अन्त में सहज भाव से, प्रीति पूर्वक, हृदय से, अपने परम प्रेमास्पद को पुकारती रहो। सब प्रकार से उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर अचिंत् तथा अभय हो जाओ। अपनी साधना को अपने लिए सर्वोत्कृष्ट साधना समझो। साधना में सद्भाव आ जाने पर सफलता अवश्य होती। जब साधक का समग्र जीवन साधन बन जाता है, तब सिद्धि स्वतः होती है। जिस साधना में निस्संदेहता तथा विश्वास एवं प्रियता उत्पन्न हो जाती है वही साधना साधक को करनी चाहिए। जिस प्रकार प्रत्येक औषधि किसी-न-किसी रोग को मिटाने में समर्थ है, उसी प्रकार प्रत्येक साधना साधक को सफलता प्रदान करने में समर्थ है। सत्संग की आवश्यकता एकमात्र साधन-निर्माण के लिए होती है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार! जहाँ रहो प्रसन्न रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा
.....

2

इलाहाबाद:
10-2-54

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार!

ता. 3-2 का लिखा हुआ पत्र मिला। समाचार विदित हुआ। साधन के निर्माण के लिए साधक की योग्यता का अध्ययन अत्यन्त अनिवार्य है, इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि साधन साधक की योग्यता के अनुसार ही हो सकता है। साधक की योग्यता क्या है, इसको जानने के लिए साधक की दशा का अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है। साधन उसे नहीं कहते जिसे साधक कर न सके और साधन उसे भी नहीं कहते जिसमें साधक को किसी प्रकार का सन्देह हो और साधन उसे भी नहीं कहते जो साधक को रुचिकर न हो। इस दृष्टि से वही साधन साधन है जिसमें उपरोक्त तीनों बातें हों। इसके लिए ही साधक की योग्यता का अध्ययन करना अनिवार्य है। मन में उत्पन्न हुई बातों को स्पष्ट जानने का प्रयत्न करती रहो। उसमें-से जो आवश्यक हो उनको पूरा करके उनमें छुटकारा प्राप्त कर लो। और जो आवश्यक न हों उन

बातों को विचार पूर्वक मिटा दो। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति हो जाने पर मन शुद्ध हो जाता है। मन के शुद्ध होते ही भोग योग में और पराधीनता स्वाधीनता में बदल जाती है, हृदय प्रेम से भर जाता है। और अमर जीवन का अनुभव हो जाता है जो प्राणी की वास्तविक माँग है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो कुछ करो मन लगा कर करो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा

.....

3

बस्ती

22-2-54

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्यारी बिटिया,

बहुत-बहुत प्यार!

सरल ईमानदारी से हरा-भरा पत्र मिला। शरीर विश्व की वस्तु है, उसे जब तक रहना है;'उन्हें' जो कार्य कराना है; करायेंगे। अपना लक्ष्य तो प्रत्येक अवस्था में प्रेमास्पद की रजा में राजी रहना है। उनके मंगलमय विधान का ही आदर करना है, क्योंकि सभी प्रकार से उनके होकर रहने में जो रस है वह वर्णन से अतीत है। प्यारी बिटिया, जिस प्रकार गंदी नाली साफ करते समय दुर्गन्ध अधिक बढ़ जाती है, उसी प्रकार बैठकर प्रिय चिन्तन करते समय मन में भरी हुई विचाराधारा स्पष्ट निकलने लगती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मन व्यर्थ-चिन्तन में लगा है। इसका तो वास्तविक अर्थ यह है कि मन मे जो व्यर्थ-चिन्तन भरा था वह अब निकल रहा है। ऐसा करते-करते एक दिन मन साफ हो जायेगा और प्रिय-चिन्तन से भर जायेगा।

चलते फिरते जप करने में सुविधा इस कारण प्रतीत होती है कि क्रिया-शक्ति का व्यय चलने में और भाव-शक्ति जप में लग जाती है। बैठकर जप करने में ऐसा कारण नहीं होता कि क्रिया-शक्ति भी जप में लगती हो। जिस कार्य में रस आने लगता है उस कार्य में मन लग जाता है अथवा जिस कार्य के न होने का दुःख बढ़ जाता है, उस कार्य में मन लग जाता है। मानसिक-जप बिना स्नान किये प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है। वाणी से जप उसी अवस्था में करना अधिक हितकर होता है जब वाह्य-पवित्रता हो। इसका अर्थ यह नहीं हैं कि तुम बिना स्नान किये जप नहीं कर सकतीं। जिस प्रकार भोजन की रुचि बढ़ाने के लिए चौके को साफ-सुथरा तथा मेज को सजाते हैं, उसी प्रकार मन के रजोगुण तथा तमोगुण को दूर करने के लिए तथा मन को रुचिकर बनाने के लिए वाह्य-स्नान की तैयारी की जाती है। जिनमें भाव-शक्ति तथा सरल-विश्वास जागृत हो जाता है वे प्रत्येक अवस्था में जप कर सकते हैं। मधुर स्वर के साथ इतनी

आवाज से प्रत्येक मन्त्र का जाप किया जा सकता है। जिससे वाह्य और कोई आवाज मन में न आये। उच्चारण करना और श्रवण करना दोनों वृत्तियाँ जप में लग जायं। इसी प्रकार मन से बोलने, सुनने तथा देखने की चेष्टा करनी चाहिए। मन की वाणी से बोलो, मन के कानों से सुनों और मन के नेत्रों से देखो कि जप यथावत् चल रहा है। ये सारी बातें तभी तक आवश्यक हैं जब तक मन रूपी पक्षी प्रेम-जाल में नहीं फँसता।

बुद्धि हमें अपने को निर्दोष बनाने के लिए तथा हृदय प्रेमास्पद के सरल-विश्वास से भरने के लिए मिला है। बुद्धि का उपयोग अपने मन को निर्दोष बनाने में और हृदय का उपयोग प्रिय के विश्वास में करना चाहिए। ज्यों-ज्यों मन में निर्दोषता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हृदय प्रिय-विश्वास तथा प्रिय-प्रेम से स्वतः भरता जाता है।

हमारे बनाये हुए दोषों ने ही प्रिय-प्रेम से विमुख किया है। बड़े हर्ष की बात है कि तुम अपने दैनिक-कार्य को ठीक-ठीक चला रही हो। उस प्रत्येक कार्य को पूजा समझो, क्योंकि उनके नाते किया हुआ कार्य तथा उनका चिन्तन दोनों समान ही अर्थ रखते हैं। तुमको पुनः बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा

.....

4

पटना:
5-4-54

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा 27-3 का लिखा हुआ पत्र रिडाइरैक्ट होकर यहाँ मिला। शारीरिक अस्वस्थता ज्यों-की-त्यों चल रही है, पर कोई चिनताजनक बात नहीं है। रोग प्राकृतिक तप है, उसे हर्ष पूर्वक सहन कर लेना चाहिए। ऋषिकेश (स्वर्गाश्रम) रांची की अपेक्षा तो काफी गरम है—यहाँ का जल ठण्डा है। रात्रि को अधिकतर लोग बाहर सोते हैं। पर फिर भी हवा चलने पर या थोड़ी वर्षा हो जाने पर ठण्डा हो जाता है। सत्संग तो मन मार कर, प्रतिकूलता सहन करके ही करना होगा। जिन्हें केवल एन्जौय (Enjoy) करना है, घूमना है, वे सत्संग में अधिक दिन नहीं ठहर पाते। सर्वहितकारी भाव से की हुई प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति चित्त शुद्ध करने में समर्थ है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो!

ॐआनन्द!

तुम्हारा

.....

5

मेरठ,
7-7-54

स्नेहमयी मेरी दुलारी बिटिया,

बहुत-बहुत प्यार!

सरलता से हरा-भरा पत्र मिला। प्राप्त कार्य द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करते हुए हृदय में उत्तरोत्तर प्रीति की गंगा लहराती रहे, इसके लिए अथक प्रयत्नशील बनी रहो। यद्यपि इस मार्ग में अप्रयत्न ही वास्तविक प्रयत्न है। पर वह तभी सम्भव होगा जब तुम अपने में अपना कुछ न पाओगी, अथवा यों कहो कि अपना सब कुछ देकर अपने प्रियतम को रिझाओगी। तुम सच मनो, 'वे' तुम्हारी ही जाति के हैं। तुम उनकी नित्य-प्रिया हो। वे तुम्हारी प्रीति में ही छिपे है। उनसे देश-काल की दूरी नहीं है। सब ओर से विमुख होने पर तुम अपने ही में अपने राम को पाओगी। तुम भले ही उन्हें नहीं जानती, पर वे तुम्हें भलीभाँति जानते हैं। जब तुम किसी और को अपना न मानोगी, तब तुम्हें भी उनका स्वतः बोध हो जायगा। प्यारी मुन्नी, उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही आस्तिक प्राणियों का जीवन है। उनकी निर्भरता ही परम पुरुषार्थ है।

जो कुछ हो रहा है, उसमें उन्हीं की मधुर लीला का अनुभव करो और मिले हुए अभिनय को उन्हीं की प्रसन्नतार्थ, यथावत् करती रहो। अनिभय के अन्त में प्रीति बनकर उनसे अभिन्न हो जाओ। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जायगी, त्यों-त्यों जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगेगा। तभी चिर-शान्ति तथा नित-नव रस की उपलब्धि होगी, जो प्रेमी की मांग और प्रेमास्पद का स्वभाव है।

उनके अतिरिक्त और किसी में लेशमात्र भी ममता न रहे और उनसे भी किसी प्रकार की चाह न रहे। उनकी चाह ही अपना जीवन बन जाय। वे जो चाहें सो करें। अपने को उसी में सन्तुष्ट रहना है। उनका प्रेम ही अपना अस्तित्व है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

6

जयपुर
19-7-1954

स्नेहमयी मेरी दुलारी बिटिया,

सर्वदा अचिन्त तथा अभय बनी रहो!

जब वाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही कार्य उनकी पूजा है, तब अभिनय क्यों नही होता? प्यारी बेटी, वास्तव में तो सब कुछ स्वतः हो रहा है। तुम अपने प्यारे की लीला देखती रहो और स्वयं प्रीति बनकर उन्हें लाड़ लड़ातीरहो। उनसे भिन्न की सत्ता पर तो दृष्टि ही मत जाने दो। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में चित्र भासने लगता है, उसी प्रकार उन्हीं में यह सारा जगत भासता है। ज्यों-ज्यों राम का प्रेम काम को खाता जाताहै, त्यों-त्यों जगत-भाव मिटता जाता है। तुम उस अनन्त की यन्त्रमात्रवत् हो, अथवा उनके खेलने की खिलौना हो। तुम्हारे द्वारा तो उन्हें अगाध

रस मिलना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब तुम अपने में अपना कुछ न मानो, अर्थात् ऐसा समझो कि मैं सहित सब कुछ तेरा है, तेरा है—यह मन्त्र जीवन में चरितार्थ कर दो। बस, बेड़ा पार है। तुम देह नहीं हो, प्रत्युत प्रेम से निर्मित उनकी नित्य-प्रिया हो। तुम्हें उनको प्रेम देना है और अभिनय के स्वरूप में उनकी सेवा करना है। प्यारी बिटिया, व्यर्थ-चिन्तन मिट जाने पर आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होता है। अचाह-अप्रयत्न ही तो इस मार्ग का महामन्त्र है जिसे तुमने अनेक बार, अनेक युक्तियों से सुना तथा समझा है। प्रत्येक कार्य में प्रीति समाहित होनी चाहिए। वे एकमात्र प्रीति ही देखते हैं और कुछ नहीं। तुम निःसन्देह उनकी जाति की हो और उनकी हो। उनके प्रेम को ही अपना जीवन मानो। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार! ॐआनन्द!

तुम्हारा

.....

7

जयपुर,
3-8-54

स्नेहमयी दुलारी बिटिया,

सर्वदा प्रसन्न रहो!

सरलता से हरा-भरा पत्र मिला। जो साधक सत्पुरुषों तथा सद्ग्रन्थों से सुने हुए पर अविचल श्रद्धा रखते हैं तथा निज-विवेक पूर्वक जाने हुए का आदर करते हैं एवं सद्भाव पूर्वक माने हुए से प्यार करते हैं, वे बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-निर्माण कर लेते हैं। ऐसा कोई सन्देह हो ही नहीं सकता जो निज-विवेक के प्रकाश से मिट न जाय और जहाँ वास्तविक ममता हो वहाँ प्रीति का उदय न हो जाय, अर्थात् अवश्य हो जाता है और निज-विवेक से सन्देह भी मिट जाता है। दुलारी बेटी, हम सब जिसके प्रकाश से प्रकाशित हैं तथा जिसकी सत्ता से सत्तावाले हैं, वह सब प्रकार से पूर्ण तथा अनन्त है। अपने अनेक विश्वास उन्हीं के विश्वास में और अनेक सम्बन्ध उन्हीं के सम्बन्ध में एवं अनेक चिन्तन उन्हीं के चिन्तन में विलीन करना है। यही आस्तिक प्राणी का परम पुरुषार्थ है। प्यारी मुन्नी, जो अपने हैं वे अपने बिना नहीं रह सकते। उनसे देश-काल की दूरी नहीं हो सकती। प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा उनकी पूजा बड़ी ही सुगमतापूर्वक की जा सकती है। अपने और उनके नित्य सम्बन्ध पर कभी सन्देह नहीं करना चाहिए।

शरीर का तापमान लगभग 99 डिग्री रहता है, पर कोई कष्ट नहीं है। लेश-मात्र भी चिन्ता न करो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

8

जयपुर,
10-8-54

स्नेहमयी कर्थाव्यनिष्ट दुलारी बिटिया,

सदैव शान्त तथा प्रसन्न रहो!

सरलता से हरा-भरा पत्र मिला। जो नहीं कर पा रही हो, उसके लिए चिंता न करो औरजो कर पा रही हो उसे निर्मोहता पूर्वक, प्यारे प्रभु के नाते करती रहो।

दुलारी बेटी! तुम देह नहीं हो । तुम्हारा अस्तित्व प्रीति से निर्मित है। अतः तुम सर्वदा मेरे समीप हो । देह तो समीप होने पर भी दूर ही रहती है और प्रीति देह से दूर होने पर भी अभिन्न ही रहती है। इस दृष्टि से देह की दूरी वास्तव में दूरी नहीं है और देह की निकटता निकटता नहीं है। प्रीति की एकता की एकता है जो आस्तिकों का अस्तित्व है।

विवेक अलौकिक विधान है- उसके प्रकाश में मोह-रहित हो कर प्रीति को सबल तथा स्थायी बनाओ, जो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। प्रीति में ही अनन्त रस छिपा है। प्रीति प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है। प्रीति ही आस्तिक की साधना है। प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ है ही नहीं – ऐसा अनुभव कर कृतकृत हो जाओ। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

9

20, राम बाग रोड,
जयपुर
16-7-54

स्नेहमयी दिव्य ज्योति,

बहुत-बहुत प्यार!

प्रत्येक कार्य तन्मयता पूर्वक करना ही वास्तविक साधना है। प्रत्येक प्रवृति उसी भाव में स्वतः विलीन हो जाती है जिससे आरम्भ होती है।

ॐआनन्द!

तुम्हारा,
.....

10

20, राम बाग रोड, जयपुर,
25-8-54

स्नेहमयी परम आस्तिक दुलारी बिटिया,

सदैव प्रसन्न रहो!

सरल-विश्वास तथा ईमानदारी से हरा-भरा पत्र मिला। शरीर को जब जैसा रहना है, रहेगा। उसके बनने-बिगड़ने से अपना कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। शरीर चाहे जैसा रहे, पर अपने को प्रत्येक अवस्था में उनकी अहैतुकी कृपाका अनुभव होता रहे और हृदय उनकी प्रीति से भरा रहे। इतना ही नहीं, सच तो यह है कि प्रीति ही अपना जीवन

है। प्रीति उदय होने पर किसी प्रकार का श्रम अपेक्षित नहीं रहता। कारण कि प्रीति कोई अभ्यास नहीं है। प्रीति तो प्रेमियों का जीवन है। परन्तु प्राणी प्रमादवश उस प्रीति को विषयों की आसक्ति में बदल देता है—अपने को देह मान कर। वाह्य-जीवन विश्वरूप भगवान् के अधिकारों का समूह है, और कुछ नहीं। ज्यों-ज्यों उनकी पूर्ति होती जाती है, त्यों-त्यों तत्व-जिज्ञासा स्थायी होती जाती है। सब प्रकार के अभिमान गल जाने पर तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है और स्वाभाविक प्रीति जागृत हो जाती है। प्रीति की कभी पूर्ति नहीं होती। वह तो उत्तरोतर बढ़ जाती है। इच्छाओं की निवृत्ति होती है, जिज्ञासा की पूर्ति होती है और प्रीति की वृद्धि होती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

11

20, राग बाग रोड, जयपुर,
9-9-54

स्नेहमयी, परम आस्तिक दुलारी बिटिया,

सदैव प्रसन्न रहो!

तुम्हारे दोनों पत्र यथा समय मिल गये। पूर्व पत्र में तुमने प्रीति नहीं बन रही है, नित-नव उत्साह नहीं बढ़ रहा है, आदि बातों पर विचार करने की चर्चा लिखी है। इस सम्बन्ध में मेरा यह मत है कि अपने को समर्पण करने के पश्चात् भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। जब तुम अपने में अपना कुछ न पाओगी, तब सब कुछ स्वतः हो जायेगा। जो कुछ हो रहा है, उसमें अपने प्यारे की लीला का अनुभव करो। जो कुछ कर रही हो, उसे सावधानी पूर्वक उन्हीं के नाते मोह-रहित, निष्काम भाव से, करती हो। जो सर्व प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु के हो जाते हैं, वे मेरे नित्य साथी हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

12

जयपुर,
16-11-54

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रसन्न तथा अभय रहो!

जब तुम यह जानती हो कि सर्वत्र-सर्वदा एक ही प्यारे प्रभु की सत्ता विद्यमान है, तब परिस्थिति-भेद होने पर अच्छा लगता है या नहीं, यह प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है। प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने प्यारे प्रभु की ही पूजा करना है। अनेक भावों तथा कर्मों

द्वारा उन्हीं को रस देना है। प्रेमी का अस्तित्व ही रस की खान है। उसके द्वारा वही होता है जिससे प्रेमास्पद को रस मिले, क्योंकि प्रेमी के पास अपना मन तो रहता नहीं, प्रेमास्पद का मन ही उसका मन हो जाता है। बे-मन का होकर रहने में जो विलक्षणता है, वह वर्णन नहीं किया जा सकता, और बे-मन का होना सम्भव है। उसके लिए अपने को कभी-भी असमर्थ नहीं मानना चाहिए और न निराश होना चाहिए, अपितु नित-नव उत्साह पूर्वक बिना मन के होकर रहने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अब यह विचार करना है कि अपने समीप अपना मन न रहे, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या प्रयत्न करना है; तो कहना होगा कि अप्रयत्न पूर्वक अपने को समर्पण कर अचिन्त तथा अभय हो जाना है। जिस प्रकार पत्ता वायु की सत्ता से ही गतिशील रहता है, उसी प्रकार प्रेमी प्रेमास्पद की सत्ता से ही ऊपर से गतिशील और भीतर से निष्क्रिय रहता है, अर्थात् उसकी प्रवृत्तियों में अभिमान की गन्ध भी नहीं रहती।

यह नियम है कि निरभिमानता पूर्वक की हुई प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति में विलीन हो जाती है और फिर प्रीति और प्रीतम की लीला से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। प्रीति रस-रूप है और प्रीतम आनन्दघन है। वे दोनों ही स्वरूप से दिव्य-चिन्मय तथा अनन्त है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो।
पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
तुम्हारा
.....

13

लखनऊ,
23-11-54

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रसन्न रहो!

तुमने इतनी जल्दी रुपया क्यों भेज दिया? क्या तुम उसकी खजांची नहीं थीं कि जिसका रुपया है? कहीं तुम्हारे मन पर आश्रम की हानि का दुःख तो नहीं? देखो रानी, आश्रम उसका है जिसका सारा संसार है। अतः उसकी दृष्टि में लेने-देने वाला एक ही है। जिस शरीर को तुम अपना कहती रही हो, वह भी उसी का है, जिसका आश्रम है। जिसके स्वास्थ्य का भी यथेष्ट ध्यान रख्रा। सेवा करने के लिए शरीर को स्वस्थ रखना परम अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य से अपने प्यारे प्रभु की पूजा करो और उनको रस प्रदान कर कृतकृत्य हो जाओ। तुम सदैव उनकी और वे तुम्हारे हैं। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
तुम्हारा
.....

14

वेटिंग रूम, बीना,
8-12-54

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रसन्न तथा अचिन्त रहो!

दुलारी, तुम निःसन्देह प्यारे प्रभु की प्रीति हो, मानव सेवा संघ की सम्पत्ति तथा समाज की विभूति हो। तुम्हारे द्वारा प्यारे प्रभु अपने अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य को प्रदान कर उसी प्रकार अपने विश्वरूप की सेवा करायेंगे जिस प्रकार सूर्य देवता दीपक को अपनी सत्ता देकर अपनी आरती करा लेते हैं। यह सभी विज्ञानवेत्ताओं को मान्य होगा कि दीपक सूर्य की सत्ता से ही सत्ता वाला है। उसी प्रकार मानव में जो मानवता विद्यमान है वह तुम्हारे प्यारे प्रभु की ही दिव्यता है। उनकी विभूतियों से ही उनकी सेवा करनी है।

मन के विपरीत होने वाली घटनाओं में प्यारे प्रभु की अनिर्वचनीय कृपा का अनुभव तभी हो सकताहै जब मन में ममता न रहे। मन में छिपी हुई ममता ही प्रतिकूलताओं में प्यारे की कृपा का अनुभव नहीं होने देती। अनुकूलताओं में उनकी दया का अनुभव तो केवल उनके विश्वास को ही प्रदान करता है। विश्वास सम्बन्ध की दृढ़ता प्रदान करने में समर्थ है। रोगी, वृद्ध एवं बालक तथा विरक्त संग्रहीत-सम्पत्ति के अधिकारी हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वदा प्राप्त अर्थ का सद्व्यय करना चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

15

कलकत्ता,
10-1-55

स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। विरह की वेदना और मिलन के आनन्द में अगाध-अनन्त रस छिपा है, तो फिर अशान्ति के लिए स्थान ही कहाँ है? बेचारी अशांति तो उस समय तक जीवित रहती है जब तक हम सब प्रकार से जिनके हैं, उनके हो नहीं जाते। उनके हो जाने पर फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता और अनेक रूपों में उनकी ही प्रेममयी नित-नव लीला का स्वतः अनुभव होने लगता है, जो प्रेम-प्राप्ति का मुख्य साधन है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

16

भागलपुर,
20-1-55

निर्विकल्पता से अतीत चिन्मय लोक निवासिनी प्रीति स्वरूपा,

तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!

श्रीगंगासागर-यात्रा से ता. 15 को प्रातः ही कलकत्ता वापस आ गया था। पर जहाज से उतरने के कुछ देर बाद ही ज्वर के स्वरूप में उनकी विशेष कृपा हुई।

सत्ता रूप में जो सर्वत्र-सर्वदा विद्यमान हैं, प्रीति रूप से उन्हीं की तुम नित्य-प्रिया हो। मिलन और विरह तुम्हारी दो प्रधान विभूतियाँ हैं। दोनों ही रस रूप हैं, दिव्य हैं, चिन्मय हैं। इतना ही नहीं, मिलन ही विरह में और विरह ही मिलन में सर्वदा ओत-प्रोत है। तभी प्रीति अगाध तथा अनन्त है। न उसमें क्षति है, न निवृत्ति और न उसकी पूर्ति। यही तुम्हारा नित्य बिहार है।

असत् का त्याग और सत् का संग युगपद है, जो अचाह तथा अप्रयत्न से ही सिद्ध है। आदरपूर्वक प्राप्त अभिनय पूरा हो जाने पर अनन्त की कृपा-शक्ति स्वतः सब कुछ करती है। उसके लिए लेश-मात्र भी चिन्तन नहीं होना चाहिए। आलस्य मिटाने में ही पुरुषार्थ का महत्व और स्वार्थ गलाने में ही सेवा की महिमा निहित है। पर जिन्होंने विवेकपूर्वक अपने को 'यह' से असंग और विश्वासपूर्वक उनके समर्पित कर दिया है, उनके द्वारा पुरुषार्थ तथा सेवा स्वतः होने लगती है और श्रम, संयम, सदाचार आदि आवश्यक शक्तियाँ उनमें बिना ही प्रयास के आ जाती हैं; पर उनमें अपने को सन्तुष्ट नहीं कर पाते, क्योंकि दोषरूपी काष्ठ को भस्म करने में गुणरूपी अग्नि का बड़ा महत्त्व है। पर प्रीति की जागृति गुणों से अतीत है।

मासिक विश्लेषण आदि का उपचार गुण-दोष युक्त जीवन में हीं संभव है। ज्यों-ज्यों छिपे हुए दोष की निवृत्ति होती जाती है, त्यों-त्यों गुण का अभिमान भी गलता जाता है, त्यों-त्यों अहंभाव भी गलता जाता है। ज्यों-ज्यों अहंभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों भेद तथा दूरी भी मिटती जाती है। ज्यों-ज्यों भेद तथा दूरी मिटती जाती है, त्यों-त्यों प्रीति प्रीतम से और प्रीतम प्रीति से अभिन्न होते जाते हैं। पर वे दोनों ही अनन्त नित्य चिन्मय हैं। इस कारण नित-नव मिलन तथा विरह स्वतः होता रहता है, जो रस रूप है।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार! सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

17

प्रयाग,
1-4-1955

स्नेहमयी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

बहुत-बहुत प्यार! सर्वदा शान्त एवं प्रसन्न रहो!

प्रत्येक प्रवृत्ति को सार्थक सिद्ध करने के लिए आवश्यक बल तथा विवेक की आवश्यकता अपेक्षित होती है, जो उन्होंने बिना ही माँगे मानव-मात्र को प्रदान किया है। अतः उनकी दी हुई सामर्थ्य से ही उनकी पूजा करना है। तो फिर चिन्ता तथा भय के लिए स्थान ही कहाँ हैं? विभिन्न परिस्थितियों के स्वरूप में तुम्हारे प्यारे ही तो हैं, अथवा यों कहो कि उन्हीं का तो यह सब खेल है और तुम भी उन्हीं की तो एक विभूति हो। उसमें भयभीत होनेपन की धूल क्यों मिलाती हो?

सत्ता रूप से, सर्वत्र तुम्हारे ही तो प्यारे हैं। विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए ही तो परिस्थितियों के स्वरूप में अपने प्यारे की पूजा करना है। और नवीन राग उत्पन्न न हो, उसके लिए ही तो प्रवृत्ति के अन्त में परिस्थितियों से विमुख होना है। परिस्सिथतियों की असंगता परिस्थितियों के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करती है और फिर परिस्थितियों का सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करती है और परिस्थितियों का सदुपयोग असंगता को सुदृढ़ बनाता है। जिस प्रकार दायें-बायें पैर से ही यात्रा पूर्ण होती है, उसी प्रकार परिस्थितियों का सदुपयोग अथवा उनसे असंगता जीवन-यात्रा को सार्थक सिद्ध करती है। असंगता में नित्य-योग और परिस्थितियां के सदुपयोग में प्यारे की सेवा निहित है। नित्य-योग में चिर-शान्ति तथा विचार का उदय विद्यमान है और परिस्थितियों के सदुपयोग में हृदय की निर्मलता स्वतः सिद्ध है। शान्ति से सामर्थ्य, विचार से अमरत्व एवं निर्मलता से अनुराग की गंगा स्वतः लहराने लगती है, जो वास्तव में जीवन है।

तुम अपने को देह मानकर भयभीत हो जाती हो, जो वास्तव में तुम्हारा ही प्रमाद है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु नित्य चिन्मय तत्व हो; अथवा यों कहो कि अपने प्यारे की प्रीति हो। प्रीति में ही प्यारे का निवास है। पर उसका अनुभव उन्हीं साधकों को होता है जिनका अहं और मम गल कर प्रीति से अभिन्न हो जाता है। तुम रस रूप हो। तुम्हारे द्वारा ही तुम्हारे प्रिय को रस मिलेगा और प्रिय के द्वारा ही तुम्हें रस मिलेगा। प्रीति और प्रियतम में रस का ही आदान-प्रदान है। हे रसखान दिव्य-ज्योति। तुम देह नहीं हो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

स्वर्गाश्रम, गीता भवन,
7-4-55

स्नेहमयी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

बहुत-बहुत प्यार! सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुमने बड़े ही सुन्दर शब्दों में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को स्पष्ट लिख दिया है। मन में जो उथल-पुथल है, उसके कारण की खोज करो-तुम्हें भी विवेक का प्रकाश प्राप्त है। उससे सब कुछ स्पष्ट हो जायगा। प्रतिकूलता का उत्तर दे नहीं पाती और उसे शान्तिपूर्वक सहन भी नहीं कर पातीं, अर्थात् न तो न्याय का आश्रय ले पाती हो, न क्षमा का। इसी कारण मन में हलचल है।

हानि तथा अपमान के कारण ही ऐसी दशा होती है। निर्लोभता आ जाने पर हानि का भय और असंगता दृढ़ हो जाने पर अपमान का भय स्वतः मिट जाता है। उसके मिटते ही क्षमाशीलता तथा प्रीति की गंगा स्वतः लहराने लगती है। और फिर, भीतर-बाहर से एक सा जीवन हो जाता है। क्या तुम यह नहीं जानतीं कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय, तुम्हारे का आदेश एवं साधन-सामग्री है? भला, उसमें जीवन-बुद्धि करना कहाँ तक उचित है? कदापि नहीं। अपने प्यारे का आदेश तो प्रेमियों को मंगलमय प्रतीत होता है। प्राकृतिक न्याय भी निर्दोष बनाने के लिए होता है और साधन-सामग्री भी साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ होती है। अतः प्रत्येक दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदर ही तो करना है, उससे डरना नहीं है।

देखो रानी, तुम्हारा पथ-प्रदर्शक तुम्हारे संग-संग है। वह तुमसे, तुम उससे कभी भी दूर नहीं हो। शरीर, प्राण तथा मन से विमुख होकर अपने प्यारे पथ-प्रदर्शक से सदैव मिल सकती हो और उनका आदेश पाकर कर्तव्यनिष्ठ हो सकती हो। कर्तव्यनिष्ठा राग मिटाने की साधना है और कुछ नहीं। राग-रहित होते ही अनुराग से अभिन्नता स्वतः हो जायगी, जो तुम्हारा स्वरूप हैं। तुम शरीर, प्राण, मन आदि से अतीत हो, प्रेम तथा चिन्मय जीवन-तत्त्व से निर्मित हो, अपने प्यारे प्रभु को रस देने में समर्थ हो। अतः अपने को भौतिकता में आबद्ध मत होने दो। प्रत्येक प्रावृत्ति द्वारा प्यारे के आदेश तथा सन्देश का पालन करो। यही तो देह द्वारा उनकी पूजा है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

19

गीता भवन , स्वर्गाश्रम,
8-4-55

स्नेहमयी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

देह-बुद्धि से संयोग-वियोग अपने-आप होने वाली वस्तु है। उसके लिए लेश-मात्र भी चिन्ता न करो। प्रीति हृदय की वस्तु है। उसमें देश-काल की दूरी कुछ अन्तर नहीं डाल सकती। इतना ही नहीं, प्रीति को सुदृढ़ और सबल बनाने के लिए वियोग भी अनिवार्य है। अपने सभी संकल्प उस अनन्त के समर्पण कर दो और बेचारे मन को निर्विकल्प रहने दो। मन की निर्विकल्पता में शान्ति और शान्ति में सामर्थ्य निहित है।

सत्संग तो तुम्हारा जीवन है। वह तो सदैव होगा ही। पर प्रिय-जनों का अधिकार तो पूरा कर ही देना है। कारण कि, जिससे छुटकारा पाना हो उसकी सेवा करना अनिवार्य होता है और जिसको प्राप्त करना हो उससे केवल प्रेम। प्रेम की वृद्धि के लिए कोई परिस्थिति अपेक्षित नहीं, केवल नित्य-सम्बन्ध की आवश्यकता है, जिसके करने में प्रेमी सर्वदा स्वाधीन है। अतः प्रेम प्रत्येक परिस्थिति में किया जा सकता है। सेवा की भी भावना तो विभु है, पर उसका क्रियात्मक रूप सीमित होता है। सत्संग से मन-बुद्धि आदि की सेवा होगी। अतः यथासम्भव दोनों ही सेवाएँ करना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

20

गीता भवन,
15-4-55

स्नेहमयी दिव्य ज्योति चिन्मयधाम निवासिनी,

बहुत-बहुत प्यार!

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो! श्रम-रहित जीवन ही आस्तिक जीवन है। पर उसका अर्थ आलस्य, अकर्मण्यता एवं व्यर्थ-चिन्तन नहीं है। श्रम-रहित होने का अर्थ है- अपने आपका समर्पण। समर्पण भाव है, अभ्यास नहीं। इस साधना को चरितार्थ करने के लिए यह आवश्यक है कि साधन अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति का आश्रय लेकर भीतर-बाहर से मौन रहने का स्वभाव बना ले। यद्यपि यह साधना प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वाभाविक होनी चाहिए क्योंकि कार्य की सामर्थ्य शान्ति में ही निहित है। अतः शान्ति से ही प्रवृत्ति का उदय हो और शान्ति में ही विलीन हो। समस्त दिव्य शक्तियों का उद्गम-स्थान चिर-शान्ति है।

आज प्रातः यह प्रेरणा हुई कि उपरोक्त साधना को जीवन में उतारने के लिए यह आवश्यक है कि निश्चित समय, कुछ काल के लिए मूक-सत्संग किया जाय। उसके लिए रात्रि के 9-30 बजे से 10 बजे तक और प्रातः 3-30 बजे से 4 बजे तक शान्त मौन बैठा जाय। ऐसा होने पर यदि अनावश्यक संकल्प उत्पन्न हों, तो समझना चाहिए कि प्यारे की कृपा-

शक्ति चित्त-शुद्धि कर रही है, अर्थात् संग्रहीत संकल्प निकल रहे हैं, अथवा यों कहो कि मन की काई धुल रही है। यदि शुद्ध-संकल्प उत्पन्न हों, तो समझना चाहिए कि सार्थक-चिन्तन द्वारा चिन्तन-रहित होने की तैयारी हो रही है और यदि निस्संकल्पता हो जाय, तो समझना चाहिए कि नित्य-योग हो रहा है।

सावधानीपूर्वक भली-भाँति जान लेना चाहिए कि मूक-सत्संग में कर्तृत्व व भोक्तृत्व न आने पाए, अर्थात् मैं कुछ कर रहा हूँ—यह भाव न बने, अपितु यह भावना रहे कि जो कुछ हो रहा है, उनकी कृपा-शक्ति से हो रहा है। और रुचिकर-अरुचिकर का सुख न लिया जाय और अरुचिकर का भय न हो, क्योंकि अपना लक्ष्य किसी अवस्था में संयोग करना नहीं है; कारण कि अपने प्यारे का धाम तो सभी अवस्थाओं से अतीत, दिव्य चिन्मय है। उसमें प्रवेश करने के लिए अवस्थाओं से विमुख होना अनिवार्य है, जिसकी वास्तविक साधना समर्पण है, और कुछ नहीं। समर्पण से ही अहंभावरूपी अणु टूट जायगा। यह साधना आस्तिक की अन्तिम साधना है और अत्यन्त सुगम भी है। इस साधना का फल नित्य-योग, बोध तथा प्रेम है, जो प्राणी की अन्तिम माँग है।

योग, बोध तथा प्रेम वर्तमान की वस्तु है। इसी कारण उसकी साधना श्रम-रहित है। श्रम का आरम्भ अहंभाव से होता है, जो कामना-पूर्ति के लिए अपेक्षित है। कामना-पूर्ति का सुख आस्तिक जीवन नहीं है। कामना-निवृत्ति से ही आस्तिक जीवन का आरम्भ होता है। कामना-निवृत्ति के लिए कोई श्रम अपेक्षित नहीं है, अपितु प्रवृत्ति-काल में प्राप्त बल-विवेक का उपयोग और निवृत्ति-काल में चिर-शान्ति का रहना है। प्राप्त सामर्थ्य के उपयोग से शान्ति दृढ़ होती है और शान्ति से प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग होने लगता है। सामर्थ्यका सदुपयोग तथा शान्ति-इन दोनों से जीवन राग-रहित हो जाता है और फिर योग, बोध और अनुराग स्वतः प्राप्त होता है। आशा है कि तुम भी इस साधना का आरम्भ कर दोगी।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

21

गीता भवन,

26-4-55

स्नेहमयी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

बहुत-बहुत प्यार! सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ता. 21 का लिखा हुआ पत्र आज मिला। न जाने यह पत्र देर से क्यों पहुँचा। तुमने बड़ी ईमानदारी से लिखाहै कि घर

वालों को नम्रता तथा मधुर भाषा में पत्र नही लिख सकी, रुखाई के साथ लिखा है। देखो रानी, अब तुम्हारे जीवन में रुखाई के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि तुम्हारा समस्त जीवन स्नेह से निर्मित हो रहा है। रुखाई का मूल कारण क्रोध तथा क्षोभ है। उस पिशाच को जीवन से निकाल दो। तुम्हें निरन्तर प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की ही मौज का अनुभव करना है। सभी रूपों, सभी परिस्थितियों में, सभी अवस्थाओं में सत्तारूप से वे ही तो हैं, जिनकी तुम प्रीति हो। प्रीति में रुखाई कहाँ है? और यदि है भी, तो बड़ी ही रसरूप!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

22

बलरामपुर,

25-11-54

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रसन्न तथा शान्त रहो!

सरलता तथा ईमानदारी से हरा-भरा पत्र मिला। निःसन्देह तुम मानवता का प्रतीक हो। मानवता तुम्हारी निज की सम्पत्ति है। उसके सदुपयोग तथा सुरक्षित रखने में तुम सर्वदा प्रयत्नशील हो और रहोगी, ऐसा मेरा विश्वास है। यह तो तुम्हारा भौतिक-चित्र है। पर वास्तव में तो तुम केवल प्रीति हो। यह तुम्हारा आस्तिक चित्र है। जब प्राणी अपनी प्रीति की सत्ता को देह से मिला लेता है, तब प्रीति आसक्ति का रूप धारण कर अनेक द्वन्द्व उत्पन्न करती है और छटपटाती है, शुद्ध प्रीति होने के लिए। उसकी वेदना-पूर्ण दशा को देखकर नित्य जीवन-साथी 'विवेक' उदय होता है, जो उसे प्रीतम के पथ पर लगा देता है। वह तुम्हारा साथी सदैव तुम्हारे पीछे खड़ा है। जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि यथेष्ट विश्राम पा जायेंगे, जब तुम अपने नित्य-साथी को अपने में ही पाओगी, जिसके पाते ही अमर हो जाओगी और प्रेम-पुरी में जाकर नित-नव रस का आदान-प्रदान कर अपने को कृतार्थ करोगी।

देह के स्वरूप में जो अभिनय मिला है उसे श्रम, संयम, सदाचार, सेवा, त्याग आदि से पूरा कर दो, जिससे छिपा हुआ राग निवृत्त हो जाय और तुम वीत-राग होकर नित्य जीवन, नित्य रस, नित्य प्यार को पाजाओ।

अपने मन की बात अपने से मत छिपाओ। बस, यह मन को निर्मल बनाने का सुगम उपाय है। तुमने बुद्धि के बल से मन पर शासन किया है। इस कारण वह बेचारा निर्बल हो गया है, पर मलिन नहीं। मन जो कुछ चाहता है उसे विवेक के प्रकाश में देखो, पर उस बेचारे को भय

तथा लालच का शिकार मत होने दो। बस, बेड़ा पार है। लालच-रहित होते ही भय स्वतः मिट जायेगा। भय के मिटते ही सर्व इच्छाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति हो जायगी और फिर परम प्रेम की प्राप्ति होगी जो तुम्हारा नित्य स्वरूप है। तुम किसी भौतिक-पदार्थ से निर्मित नहीं हो। अतः अपने को देहादि वस्तुओं में आबद्ध मत होने दो। तुम उसी की जाति की हो, जो तुम्हारा नित्य-साथी है। देखो बिटिया, जब मानव अपने प्यारे के प्रति आत्मयीता तथा जातीयता एवं नित्य-सम्बन्ध का अनुभव कर लेता है, तब केवल प्रेम ही उसका जीवन हो जाता है। प्रत्येक प्रवृत्ति से अपने प्यारे की पूजा करो, पर अभिनय के स्वरूप में। और प्रवृत्ति के अन्त में प्रीति होकर अपने प्रीतम का शृंगार बनो, जिसमें तुम्हारे प्यारे की शोभा हो। जो उनको रस देने में समर्थ है, वही उनकी नित्य-प्रिया है। उनको रस देने में वही समर्थ है जो संकल्प-पूर्ति तथा संकल्प-निवृत्ति की सुखासक्ति से अपने को मुक्त कर ले। कारण कि, भोग तथा योग दोनों से परे प्रेम का राज्य है। तुम उसी देश की वासी हो। तुम्हें सदैव वहीं रहना हे। यहाँ तो केवल सेवा-त्याग का अभिनय करने आई हो। यहाँ सेतुम्हें कुछ लेना नहीं है, अपितु जो कुछसंग्रह कर लिया है, उससे वापस करना है—उसी प्रेमनगरी में जाने के लिए। तुम्हारी आत्म-कथा का सपना बड़ा ही सुन्दर स्वप्न से अतीत है और स्वप्न सर्वदा सत्ताशून्य है। उस साक्षी की महिमा है कि वह अपनी सत्ता से ही सभी को सत्ता देकर अपने को सभी अवस्थाओं से अतीत अनुभव करता है। यह उसकी नित-नव लीला है। समस्त दृश्य में उन्हीं की सत्ता है। तुम प्रत्येक अभिनय करते हुए अपने प्यारे को जान लिया करो। भीतर से प्रीति पूर्वक अभिवादन करते हुए, बाहर से मर्यादा पूर्वक, प्यारे की पूजा करती रहो। ऐसा करने से मन में छिपी हुई देश-सेवा की कामना निवृत्त हो जायगी और तुम अपने प्यारे की प्रीति बन कर उनमें अभिन्न हो जाओगी। जहाँ रहो प्रसन्न रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

23

बक्सर,
4-2-55

निजस्वरूपा चिन्मय धाम विहारिणी,

सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार!

असंगता अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। कारण कि, देह आदि से असंग होते ही काम, चिन्तन, स्थिति अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद, अर्थात् नित्य-योग स्वतः

प्राप्त हो जाता है। नित्य-योग में ही चिर-शान्ति निहित है और चिर-शान्ति में ही आवश्यक शक्ति का विकास निहित है, अथवा यों कहो कि चिर-शान्ति सभी गुणों तथा दोषों को खाकर सभी से अतीत चिन्तय नित्य-जीवन से अभिन्न कर देती है, क्योंकि जब दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान गल जाता है, तब सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। उसके मिटते ही सभी भेद मिट जाते हैं, अर्थात् जिनसे देश-काल की दूरी नहीं है, उनसे अभिन्नता हो जाती है।

अवस्था – भेद होने पर भी प्रीति-भेद नहीं होता, अर्थात् प्रीति विभु हो जाती है। सभी अवस्थाओं को पार करती हुई, जो सभी से अतीत है, उसी में प्रीति विलीन होती है। किन्तु उसकी पूर्ति नहीं होती, क्योंकि जो सभी अवस्थाओं से अतीत है, वह अनन्त है। अतः अनन्त की प्रीति भी अनन्त है, अथवा यों कहो कि प्रीति अनन्त का ही स्वभाव है और प्रीति ही में अनन्त का निवास है। अनन्त की प्रीति ही अनन्त को रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रीति और प्रीतम में जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

प्रीति ही तुम्हारा वास्तविक अस्तित्व है। वही प्रीति जब देहादि अवस्थाओं से मिल जाती है, तब अनेक आसक्तियों के रूप में प्रतीत होती है और जब देहादि से विमुख हो जाती है तब नित्य, चिन्मय-जीवन प्रदान करती है। और वही प्रीति जब अनन्त से मिल जाती है, तब भक्ति रस प्रदान करती है, अर्थात् आसक्ति में जो अनित्य रस की झलक है वह भी प्रीति की ही छाया है और निजानन्द भी प्रीति का ही चमत्कार है और नित-नव रस भी प्रीति की ही महिमा है।

विवेकपूर्वक देह आदि की असंगता वास्तविक साधना है, कारण कि, किसी की असंगता ही किसी की अभिन्नता हो जाती है। असंगता उसी से हो सकती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की अभिन्नता हो और अभिन्नता उसी से हो सकती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। असंगता की साधना वर्तमान से सम्बन्ध रखती है, जिसके प्राप्त होते ही समस्त बन्धन स्वतः टूट जाते हैं और स्वाभाविक स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता में ही अपना अस्तित्व निहित है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता आजाने पर ही प्रीति जागृत होती है। इस दृष्टि से प्रीति अप्रयत्न तत्व है।

विवेकपूर्वक असंगता, अथवा विश्वासपूर्वक समर्पण-इन दोनों का फल एक है। अन्तर केवल इतना है कि असंगता में प्राप्त विवेक का उपयोग और समर्पण में प्राप्त विश्वास का उपयोग है। विश्वास भक्त की निधि है और विवेक जिज्ञासु का आश्रय है।

जिज्ञासा की पूर्ति विवेक में और प्रेम की प्राप्ति विश्वास में सर्वदा निहित है। शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

24

गाजीपुर,
10-2-55

देहातीत दिव्य स्वरूपा,

सर्वदा प्रसन्न रहो!

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। सभी अवस्थाएँ तुम्हीं से सत्ता पाकर तुम्हारे सामने नृत्य कर रही हैं। तुम उस अनन्त की ही नित्य प्रिया हो। उनकी प्रीति ही तुम्हारा जीवन है। वे तुममें और तुम उनमें सदैव निवास करती हो। तुम्हारा और उनका नित्य-मिलन और नित्य-वियोग है। तुम रस की खान हो और वे रसराज शिरोमणि हैं। तुम दोनों स्वरूप से एक हो, पर प्रेमास्वादन के लिए एक होकर ही दो-जैसे भासते हो। वास्तव में तो जो जिसकी प्रीति है, उसमें सत्ता उसी की है।

क्रियाशीलता, चिन्तन तथा शान्ति तुम्हारे खेलने का मैदान है, पर वह तुम्हारा निवास नहीं है। उस अनन्त की लीला में जब जो अभिनय मिले, उसे उन्हीं की प्रसन्नतार्थ, सहजभाव से होने दो। बस, सभी समस्याएं स्वयं हल हो जायेंगी। सत्ता रूप से तो प्रिय से भिन्न कुछ हुआ ही नहीं। पर यह अनुभव उन्हीं को होता है, जो 'यह' से अपने को सर्वदा असंग कर चिन्मय धाम में प्रीति होकर बिहरते हैं। कारण कि, अनन्त की प्रीति भी अनन्त है। प्रीति श्रम नहीं, अभ्यास नहीं, प्रयत्न नहीं, अपितु नित-नव रस है, जिसके लिए तुम दोनों ही परस्पर में नित-नव लीला करते हो, अथवा यों कहो कि आस्तिक जीवन में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो अपने आपमें सर्वदा पूर्ण है, अनन्त है, अपार है और नित-नव है।

तुम्हारे दोनों पत्र कल प्राप्त हुए अथवा यों कहो कि पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। जब तक भौतिक मन में अर्थ का महत्व है, तब तक उसका अपव्यय मन में खटकता है और उसी प्राप्ति सुखद प्रतीत होती है। जब गये हुए रुपये की प्राप्ति अभीष्ट नहीं थी, तब मन में सन्देह की उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिए, अपितु मन में भावना होनी चाहिए थी कि तुमने चोर बनकर क्यों लिया? और कर्त्तव्य-बुद्धि से उसके रखने-उठाने में असावधानी नहीं करनी चाहिए थी और जब सरलता से उत्पन्न हुआ सन्देह प्रगट कर दिया, तब उसकी प्रतिक्रिया से क्षोभित नहीं होना चाहिए। काम बढ़ रहा है और रुपया आ रहा है, उससे भयभीत होना साधन और जीवन में भेद सिद्ध करता है। सभी परिस्थितियों में अपने प्यारे की अनुपम लीला का ही अनुभव करना है। तभी अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय मिटेगा।

सच तो यह है कि शरीर के बनने-बिगड़ने से कुछ बनता-बिगड़ता

नहीं। रोग प्राकृतिक तप है। उसको सहर्ष सहन करना ही परम औषधि है और शरीर से असंग होना ही परम पुरुषार्थ है, जो नित्य-जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

सर्वदा प्रसन्न रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

25

वृन्दावन,

10-3-55

चिन्मय धाम विहारिणी प्रीति स्वरूपा,

सर्वदा प्रसन्न रहो!

मधुर स्नेह तथा सरलता से हरा-भरा पत्र मिला। अपने परिवर्तन का ज्ञान अपने को तभी तक होता है, जब तक किसी भी अवस्था से एकता है, अर्थात् गुण तथा दोष का संग है। वास्तव में तो मृत्तिका के परिवर्तन का ज्ञान कुम्हार को होता है, मृत्तिका को नहीं।

शिथिलता और शान्ति में केवल अन्तर यह होता है कि शिथिलता कालान्तर में क्षोभ उत्पन्न करती है और शान्ति से आवश्यक शक्ति का विकास होता है। आशा का बल उत्तरोत्तर उत्कण्ठा को सबल तथा स्थायी बनाता है। वास्तविक आशा सम्बन्ध की दृढ़ता की प्रकाशक है, जो वास्तव में साधन-तत्व है। असावधानी झूठा सन्तोष देकर निराशा की ओर ले जाती है, जो प्रमाद है।

हर्ष तथा विषाद के आक्रमणों से बचने के लिए क्षमाशील तथा कामना-रहित होना अनिवार्य है। अपने प्रति होने वाली अन्याय के बदले में लेशमात्र भी दण्ड देने की भावना उत्पन्न न हो तो समझना चाहिए कि क्षमाशीलता का अवतरण होने लगता और कामना-पूर्ति में सन्तोष न हो, तो समझना चाहिए कि कामना-रहित होने की योग्यता का प्रादुर्भाव हुआ। ज्यों-ज्यों सीमित अहं-भाव गलता जाता है, त्यों-त्यों सभी दोष मिटते जाते हैं सभी गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। अहंभाव गलाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सुख तथा मान के लालच को त्याग वर्तमान का सदुपयोग किया जाय और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में प्रिय की मधुर स्मृति अपने आप होने लग जाय। मधुर स्मृति जप नहीं है और न अभ्यास है, अपितु प्रिय के मिलने की उत्कण्ठा है। मधुर स्मृति उन्हीं साधकों में उदय होती है, जो कभी निराश नहीं होते और न जिसको अपने साधन का बल होता है और न जिनमें दोष-जनित सुख-भोग की रुचि होती है। सुख-भोग की अरुचि ज्यों-ज्यों दृढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों प्रिय-मिलन की लालसा सबल तथा स्थायी होती जाती है। कारण कि विषय-विरक्ति में ही प्रभु-अनुरक्ति निहित है।

प्रत्येक परिस्थिति कर्मज्ञान की दृष्टि से प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक

न्याय प्राणी के उत्थान का हेतु है। उत्थान की लालसा उस अनन्त की करुणा है जिसकी तुम विभूति हो। अतः प्रत्येक परिस्थिति प्रेमास्पद का आदेश तथा सन्देश है, और कुछ नहीं। प्यारे का आदेश ही प्रेमी का जीवन है। आदेश-पालन में प्रीति का संचार है। पर इस रहस्य को वही जान पाते हैं। जिन्होंने प्रेमास्पद के प्रेम को ही अपना सर्वस्व जाना है। प्रत्येक परिस्थिति में प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक कार्य द्वारा उनकी पूजा की जाय और उनसे मिलने की लालसा दृढ़ तथा स्थायी होती जाय। वे मेरे अपने में और मैं सदैव उनकी हूँ, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह न हो और निःसन्देहता के लिए किसी युक्ति अथवा प्रमाण की भी अपेक्षा न हो, तब समझना चाहिए कि नित्य-सम्बन्ध सिद्ध हो गया।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

26

नई दिल्ली,

14-3-55

सभी अवस्थाओं से अतीत चिन्मयधाम विहारिणी,

तुम्हें बहुत-बहुत प्यार! सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

कर्म, चिन्तन तथा स्थिति के स्वरूप में, जो स्वतः हो रहा है, उसे इन अनन्त की ही महिमा जानो। अपने में अपनी जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। जो कुछ है, उस अनन्त की ही विभूति-मात्र है। जिसके प्रकाश में सब कुछ प्रकाशित है एवं जिसकी सत्ता में ही सभी की सत्ता निहित है, उसी से तुम्हारी जाति तथा स्वरूप की एकता है। जिससे तुम्हारी एकता है, उसी का होकर रहने में सफलता है।

तुम उसी अनन्त की प्रीति हो, और कुछ नहीं। प्रीति में सत्ता प्रीतम की ही होती है और प्रीतम का निवास प्रीति में ही रहता है। पर फिर भी अनन्त मिलन तथा अनन्त वियोग नित-नव है। उनकी लुकन कितनी अनुपम है और उनका मिलन कितना सरस है, इसे तो प्रीति ही जाने। उन्हें प्रीति से कितनी प्रीति है, इसे किसी भाषा तथा भाव के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, पर बिना कहे कोई रह भी नहीं पाता। प्रीति के लिए वे स्वयं प्रेम बन जाते हैं और प्रीति में उत्पन्न हुए मद और उन्हीं को रस देने का मान उदय होता है। उसके हरने के लिए प्रीतम वियोग की लीला करते हैं। वे यद्यपि प्रीति में ही छिप जाते हैं, कहीं जाते नहीं। मान और मद से प्रीति का एक चिन्मय-भोग होने लगता है, जो प्रीति को अनन्त नहीं होने देता। इस विकार को हटाने के लिए ही वे मद और मान का अपहरण करते हैं। प्रीति प्रीतम के तद्रूप होकर प्रेम के

लिए नित-नव आकुल रहती है। ज्यों-ज्यों आकुलता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों प्रीतम प्रेम के स्वरूप में स्वतः प्रगट हो जाते हैं, अर्थात् प्रेमास्पद प्रेमी बन जाते हैं।

जहां रहो प्रसन्न रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

27

नई दिल्ली,
15-3-55

चिन्मय धाम बिहारिणी प्रीति स्वरूपा,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

देखो दुलारी! जिस वस्तु से अपनी ममता हट जाती है वह वस्तु अपने आप प्रेमास्पद की सेवा के योग्य बन जाती है, क्योंकि सभी निर्बलताएं तथा अपवित्रताएं ममता की मलीनता से उत्पन्न होती हैं। देखो रानी! अब तुम्हारा मन तुम्हारा नहीं है। अतः उसकी ओर कभी न देखो। न उसके पीछे दौड़ो और न उसको दबाओ, न उसके संकल्पों को देखो। जब तुम उसकी ओर न देखोगी, तब वह विवश होकर खुद तुम्हारे प्यारे की प्रीति बन जायगा, जो वास्तव में तुम्हारी वास्तविक सत्ता है-प्रीति।

तुम देह नहीं हो। अतः देह के कर्म को, धर्म को अपना कर्म-धर्म न मानो। बेचारी देह तो विश्वरूपी सागर की लहर है। उसे तो उसी की सेवा में लगी रहने दो। तुम प्यारे की प्रीति हो, देह नहीं। तुम्हारा प्रीतम तुम्हीं में छिपा है। उससे देश-काल की दूरी नहीं है। तुम देह से तद्रूप होकर अपने प्यारे से विमुख हो गई हो, दूर नहीं हुई हो। प्रत्येक प्रवृत्ति से प्यारे की पूजा करो। सभी में उन्हीं की सत्ता जानो और प्रीति होकर उन्हीं को रस प्रदान करो। तुम रसमय हो। तुम्हारे प्रीतम तुमसे कभी-भी दूर नहीं है। अब तुम कहोगी कि मैं तो उन्हें नहीं जानती, न जाने वे कहाँ छिपे हैं? जब तक प्रीति नहीं रह जाती, तब तक वे अन्तर्ध्यान-से रहते हैं। जब मन-इन्द्रिय आदि सभी अपने भौतिक-स्वभाव को त्याग प्रीति से अभिन्न हो जायेंगे, तब वे स्वतः प्रकट हो जायेंगे और फिर तुम अपने में ही उनको और उनमें ही अपने को पाओगी, अर्थात् प्रीति प्रीतम से और प्रीतम प्रीति के अभिन्न हो जायेंगे।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

28

जयपुर,
6-8-1955

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। मूक-सत्संग वास्तव में आदि साधन है अथवा यों कहो कि अन्तिम साधन है। कारण कि, जो कुछ किया जाता है, उसके मूल में न करना ही होता है और करने के अन्त में ही न करना होता है। इस दृष्टि से आदि और अन्त में मूक होने पर ही सभी को सब कुछ मिलता है। मूक-सत्संग सभी साधनों की भूमि है और फल भी। मूक सत्संग में जड़ता का दोष न आने पावे और न स्वभाव से होने वाली प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के प्रति कर्तृत्व का अभिमान सम्मिलित हो, तभी मूक-सत्संग सही रूप में हो सकेगा। अनन्त की अहैतुकी कृपा अनवरत योग, ज्ञान तथा प्रेम की वर्षा कर रही है—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

जो स्वतः हो रहा है, उसमें अपने प्यारे की अनुपम लीला देख-देख रस की वृद्धि स्वतः होनी चाहिए। प्रत्येक प्रवृत्ति और निवृत्ति दायें-बायें पैर के समान लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ हैं। आस्तिक जीवन में कर्तृत्व के अभिमान के लिए कोई स्थान नहीं है—प्रत्येक दशा में उनकी अहैतुकी कृपा की अनुभूति सतत् रहनी चाहिए। उनके प्यार करने के अनेक ढंग हैं- वे सदैव प्रेमीजनों के साथ खेल करते हैं। हम सब उन्हीं के दिव्य चिन्मय खिलौने हैं। खिलाड़ी को अपना खिलौना अत्यन्त प्रिय होता है। दृष्टि से हम सब उनके प्रिय हैं। खिलौना भले ही साधारण हो, पर खिलाड़ी को रस देने में समर्थ है। खिलाड़ी अपनी सत्ता देकर ही खिलौने का महत्व बढ़ाता है। इस दृष्टि से सभी में प्रकाश उन्हीं का है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

29

किशनगढ़,
21-8-1955

सभी अवस्थाओं से अतीत चिन्मय धाम विहारिणी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

चित्त में दबी हुई उद्विग्नता निकल जाने दो। विश्लेषण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उद्विग्नता को सहयोग मत दो। बस, यही उसके मिटाने का उपाय है। मूक-सत्संग रूपी अस्त्र चित्त के समस्त दोषों का संहार करने में समर्थ है। चित्त के व्यापार को उसी भाँति देखो जिस प्रकार होने वाली वर्षा को अथवा उदय होने वाले सूर्य को देखती हो। तुम यह नहीं मानती हो कि मैं सूर्य के रूप में उदय हो रही हूँ या बरसरही हूँ।

पर यह स्पष्ट जानती हो कि यह सब किसी और की सत्ता से हो रहा है। मैं तो केवल देख रही हूँ। वह भी कब तक? जब तक देखने की रुचि है। देखने की रुचि भी कब तक है? जब तक अन्तःदृष्टि उदय नहीं हुई। उसके उदय होने का साधन है देखे हुए से सहयोग न रखना। सहयोग न रखने की सामर्थ्य तब ही आती है, जब साधक सहज भाव से अपने को उस अनन्त के समर्पित कर देता है। समर्पित भाव है, अभ्यास नहीं। अतः एक बार हो जाने पर सदैव के लिए हो जाता है। अपने भाव पर विकल्प करना अपने हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना है।

संकल्प अपूर्ति अथवा पूर्ति अथवा निवृत्ति सब ही दृश्य को अवस्थायें है। अपने पर उनका प्रभाव न होने दो। अर्थात् अपूर्ति का दुःख, पूर्ति का सुख एवं निवृत्ति की शान्ति का उपभोग न करो। अपितु अपने प्यारे की लीला जानकर उनमें अपने प्यारे को ही देखो और प्रीति होकर प्रियतम को रस प्रदान करो।

प्रेमी के जीवन में केवल देना ही देना है, और कुछ नहीं। प्रेमास्पद अपने ऐश्वर्य तथा माधुर्य से प्रेमी को रस प्रदान करने के योग्य स्वतः बना लेते हैं, यह उनका स्वभाव है। पर कब? जब प्रेमी अपने में अपना कुछ नहीं पाता।

कर्तृत्व के अभिमान से रहित, जो हो रहा है उसमें हित निहित है और कर्तृत्व के अभिमान पूर्वक जो किया जा रहा है, उसमें केवल भोग है, और कुछ नहीं, जो कालान्तर में अनेक रोगों के रूप में व्यक्त होता है। अतः आस्तिक के जीवन में कर्तृत्व के अभिमान के लिए कोई स्थान ही नहीं।

मूक-सत्संग द्वारा नित्य-मिलन है। अतः अब वियोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरीर की समीपता वास्तविक मिलन नहीं है, उसके लिए सोचना कुछ अर्थ नहीं रखता।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो कुछ हो रहा है उससे लेश-मात्र भी भय न करो और न उससे सुख लो। समस्त निर्बलतायें तथा भय सुख-भोग में निवास करती हैं। तुम्हारे प्रेमास्पद भयहारी हैं, आनन्दघन हैं, तो फिर बताओ, सुख-भोग तथा भय के लिए तुम्हारे पवित्र जीवन में स्थान ही कहाँ है? तुम सदैव उनकी हो और वे तुम्हारे हैं। तुम्हारे और उनके बीच में प्रेम का ही आदान-प्रदान है।

प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

30

देहरादून,
3-7-55

स्नेहमयी सभी अवस्थाओं से अतीत दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। हृदय एकमात्र प्रेमास्पद का मन्दिर है। उसमें कोई और कचरा नहीं रहना चाहिये। तुम अपने को हारा हुआ सिपाही मत मानो, अपितु सब प्रकार के चिन्तन तथा भय से रहित समर्पण-भाव की साधक जानो, अथवा यों कहो कि उस आनन्द का अपने को खिलौना जानो। जो कुछ स्वतः हो रहा है, उसे देख-देख कर उनकी महिमा का दर्शन करो और उनकी अनुपम रचना तथा कारीगरी पर मुग्ध होती रहो-वे स्वयं ही अनेक रूपों में प्रकट हुए हैं। तुम उन्हें पहचान लिया करो। तुम्हारी प्रसन्नता के लिए ही वे नाना वेश धारण कर तुम्हारे सामने आते हैं। तुम्हें बीतराग बनाने के लिए ही उन्होंने तुमको क्षण-भंगुर भोगों से बचाया है-तुम उनकी नित-नव प्रीति हो। देह का वेष धारण कर विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए कर्त्तव्य-परायणता का खेल करती रहो। तुम्हारे अनौखे खेल को देखकर उन्हें प्रसन्नता होगी। ज्यों-ज्यों राग की निवृत्ति होती जायगी, त्यों-त्यों अनुराग की वृद्धि स्वतः होती जायगी। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अंधकार की निवृत्ति युगपत है, उसी प्रकार राग की निवृत्ति और अनुराग का उदय, युगपद है, राग-वैराग्य रहित होने पर ही अनुराग की पुष्टि होती है। वैराग्य भोग को योग में परिवर्तिन कर चिर-शान्ति प्रदान करने में समर्थ है। उनमें ही सन्तुष्ट हो जाना दुःख निवृत्ति का हेतु भले ही हो, पर प्रीति की जागृति नहीं है। इस दृष्टि से प्रेमीजन चिर-शान्ति में ही सन्तुष्ट नहीं होते और न अशांति को आने देते हैं। अशांति से रहित शान्ति से अतीत में ही प्रेमियों का जीवन है। जिस प्रकार शान्ति अशान्ति को खाकर नष्ट होती है, उसी प्रकार प्रीति शान्ति का उल्लंघन करके सबल तथा स्थायी होती है। शान्ति अखण्ड तथा अविनाशी है। प्रीति अखण्ड तथा अनन्त है। शान्ति अशान्ति की निवृत्ति का परिणाम है, पर प्रीति प्रेमास्पद के नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति का फल है। एक बार की हुई स्वीकृति सदा के लिए अमिट हो जाती है। प्रेमास्पद से भिन्न की अस्वीकृति स्वीकृति की भूमि है। प्रेमास्पद से भिन्न की अस्वीकृति के लिए विवेक अपेक्षित है और प्रेमास्पद से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने के लिए विश्वास हेतु है। विवेक दृश्य के स्वरूप का दर्शन कराने में समर्थ है और विश्वास दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद कराने में समर्थ है। दृश्य के स्वरूप के ज्ञान में दृश्य की निवृत्ति निहित है और दृश्य के सम्बन्ध-विच्छेद में प्रेमास्पद के नित्य-सम्बन्ध की दृढ़ता निहित है। दृश्य की निवृत्ति में

तत्वज्ञान और दृश्य के सम्बन्ध-विच्छेद में परम प्रेम का उदय स्वाभाविक है। ज्यों-त्यों दिव्य चिन्मय प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। बस, यही प्रेमी का अन्तिम पुरुषार्थ है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

31

उदयपुर,

7-7-55

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की दिव्य चिन्मय प्रीति हो। तुमने सदैव उन्हें रस प्रदान किया है। तुम्हारा और उनका नित्य सम्बन्ध है। मिलन और विरह दोनों ही दशाओं में तुम उन्हें और वे तुम्हें रस प्रदान करते हैं। यह तुम्हारी अनुपम लीला है अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का स्वभाव ही तुम्हारा अस्तित्व है।

प्रीति कभी-भी प्रीतम से दूर नहीं है, परन्तु मिलन में भी नित-नव वियोग है। कारण कि, अनन्त की प्रीति भी अनन्त है। प्रीति में ही प्रीतम का निवास है और प्रीति ही प्रीतम का जीवन है। इन दोनों की लीला अनिर्वचनीय है। प्रीति जैसा-जैसा रूप धारण करती है, प्रीतम वैसी-वैसी लीला करते है। प्रीतम सदैव प्रीति की ओर और प्रीति सदैव प्रीतम की ओर गतिशील रहती है। यद्यपि इनमें किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नहीं है परन्तु नित-नव रस की वृद्धि के लिए आज तक एक दूसरे का मिलन ही न हो सका। यह विलक्षणता प्रेम के साम्राज्य में है।

सत्-असत्-समस्त विश्व प्रीति और प्रेमी का ही चमत्कार है। तभी तो प्रत्येक वस्तु किसी की ओर दौड़ रही है, अथवा यों कहो कि अपना वेश बदलकर अपने प्यारे को लाड़ लड़ा रही है। जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र की ओर गतिशील है, उसी प्रकार समस्त विश्व उस अनन्त की ओर गतिशील है। पर यह अनुभव उन्हीं को होता है जिनकी विवेक-दृष्टि प्रीति में विलीन होकर प्रीति हो गई है, अर्थात् प्रीति निर्मित दृष्टि से ही सर्वत्र-सर्वदा प्रीतम का ही दर्शन होता है। जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़े, वहीं-वहीं प्रियतम फुरें।

जहाँ रहो, प्रसन्न रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

32

मुरादाबाद,
12-7-55

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो!

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। यह जानकर कि सर्व-हितकारी सम्पत्ति, जो देह के स्वरूप में प्राप्त है, अभी अस्तव्यस्त ही चल रही है-अच्छा नहीं लगा। पर तुमने ठीक ही लिखा है। जैसी प्यारे की मौज। उनकी मौज में प्रेमियों का हित ही निहित रहता है। वे अपनी अहैतुकी कृपा-शक्ति से उन सभी वस्तुओं को अपनी सेवा के योग्य बना लेते हैं, जो सद्भाव पूर्वक उनकी हो जाती है। जिसने अपने में अपना कुछ नहीं रखा, उसने सब कुछ कर लिया। जो उनकी प्रीति हो गया, वह सब कुछ हो गया। जिन्होंने उनसे भिन्न की सत्ता को स्वीकार ही नहीं किया, उन्होंने सब कुछ जान लिया। जिनका चित्त करुणा तथा प्रसन्नता से भरपूर है, उन्हें फिर और कुछ करना शेष नहीं है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब अनेक प्रकार की भिन्नताओं में स्नेह की एकता स्वीकार कर ली जाय। स्नेह की एकता स्वीकार करने के लिए वैरभाव से रहित होना अनिवार्य है। कारण कि, निर्वैरता की भूमि में ही स्नेह की एकतारूपी लता पनपती है।

जिस प्रकार लिखते समय लेखनी को ग्रहण कर लिया और लिखना समाप्त होते ही उसे यथास्थान रख दिया जाता है, उसी प्रकार कार्य करते समय शरीर को ग्रहण कर लिया करो और कार्य का अन्त होते ही यहाँ, त्यों-का-त्यों सुरक्षित रख दिया करो। ऐसा करने से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज योग स्वतः हो जाएगा जो आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। बाह्य आक्रमणों का प्रभाव अपने पर मत होने दो। प्रत्येक परिस्थिति में अपने प्यारे की अनुपम कृपा का अनुभव करो और उन्हीं की प्रीति होकर रहो।

तुम चिन्मय लोक की निवासिनी हो, भौतिक देह से तुम्हारी जातीय भिन्नता है, अर्थात् तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। देह तो विश्व की विभूति है। उसे विश्व की भेंट करना है। जब तुम अपने को देह के वेश में छिपा लेती हो, तब तुम्हारे प्रियतम विश्व का वेश धारण कर तुम्हें अनेक प्रकार से लाड़ लड़ाते हैं। तुम उन्हें प्रत्येक वेश में पहचान लिया करो।

पर यह तभी सम्भव होगा, जब तुम अपने को देह से अलग अनुभव करोगी। अपने को देह से अलग अनुभव करने के लिए श्रम-रहित अन्तःदृष्टि अपेक्षित है। अन्तःदृष्टि से ही प्रीति की दृष्टि उदय होती है, जो सर्वत्र-सर्वदा प्रीतम का ही दर्शन कराती है। प्रीति की दृष्टि की वास्तविक दृष्टि है प्रीति में ही

नित-नव-मिलन तथा नित-नव वियोग है, अथवा यों कहो कि मिलने में वियोग और वियोग में ही मिलन है। कारण कि, अनन्त की प्रीति भी अनन्त है। सेवक के जीवन में अपने दुःख के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि उसका हृदय तो सर्वदा पराये दुःख से करुणित रहता है, अथवा सुखियों को देखकर प्रसन्न रहता है। अपने दुःख से दुःखी होना तो पशुता है, मानवता नहीं। आशा है कि अब तुम दुःखी न होगी और सेवा करते हुए समय व्यतीत करोगी।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

33

नई दिल्ली,

14-7-55

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

मन की निर्मलता, चित्त की प्रसन्नता, हृदय की निर्भयता स्वास्थ्य के लिए अचूक औषधि हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

34

नई दिल्ली,

19-7-55

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ता. 15 का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। यह जानकर कि विश्व-हितैषी सदाचार का प्रतीक तुम्हारा शरीर अभी अस्वस्थ ही चल रहा है, खेद हुआ। पर कोई बात नहीं। रोग भी प्राकृतिक रूप तप है, और कुछ नहीं। रोग का वास्तविक मूल तो किसी-न-किसी प्रकार का राग ही है, क्योंकि राग-रहित करने के लिए ही रोग के स्वरूप में अपने प्यारे प्रभु प्रीतम का ही मिलन होता है। हम प्रमादवश उन्हें पहचान नहीं पाते और रोग से भयभीत होकर उससे छुटकारा पाने के लिए आतुर तथा व्याकुल हो जाते हैं, जो वास्तव में देहाभिमान का परिचय है, और कुछ नहीं।

मूक-सत्संग प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज भाव से होना चाहिए। उन सर्व-समर्थ अहैतुकी कृपा सर्वत्र-सर्वदा अगसंग है। उसका आश्रय ही आस्तिक का महान बल है। अचाह रूपी भूमि में ही मूक-सत्संग रूप वृक्ष उत्पन्न होता है और सम्बन्ध-विच्छेद रूपी जल से ही उसे सींचा जाता है। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग ही उस वृक्ष की रक्षा करने

वाली बाड़ है। उनकी मधुर स्मृति उस वृक्ष का बौर है और अमरत्व ही उस वृक्ष का फल है जिसमें प्रेम रूपी रस भरपूर है। प्रेम-रस से भरपूर अमर फल पाकर ही प्राणी कृतकृत्य होता है। उसी के लिए वर्तमान जीवन मिला है। प्रत्येक दशा में सत्य का संग और असत्य का त्याग करना अनिवार्य है। जाने हुए असत्य के त्याग में ही सत्य का संग निहित है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

35

नई दिल्ली,
21-7-1955

देहातीत दिव्य ज्योति स्नेहमूर्ति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

शरीर के सम्बन्ध में कुछ भी चिन्ता नहीं करना। चाहे जैसा रहे, केवल उसके प्रति सेवा का भाव रखना है। वह भी इस कारण कि वह प्यारे की वस्तु है। जो वस्तु उनकी हो जाती है, उसमें उनके काम आने की योग्यता आ जाती है। और जिस वस्तु के प्रति अपनी ममता रहती है, उसमें अनेक दोष आ जाते हैं। ममता करने के योग्य तो केवल वे ही हैं। अत्यन्त गाढ़ आत्मीयता का भाव ही प्रीति का संचार करने में समर्थ है। उसे सर्वदा सुरक्षित रखो। बस, यही तुम्हारा परम पुरुषार्थ है। आत्मीयता में प्रियता निहित है। आत्मीयता ही महामन्त्र है। आत्मीयता ही परम आश्रय है, आत्मीयता उदय होते ही जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

36

आगरा,
29-7-55

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ता. 24 का लिखा हुआ पत्र मिला। सभी रोगों का मूल एकमात्र राय है। राग-रहित होते ही मन में निर्मलता आ जाती है और फिर मन अमन होकर शान्ति में निवास करने लगता है, जो समस्त शक्तियों का केन्द्र है। जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना है, उसकी समस्त चेष्टाएं प्रेमास्पद की पूजा है। पूजा प्रेम की जागृति में हेतु है। प्रेम स्वभाव से ही दिव्य है। इस दृष्टि से प्रेमी स्वरूप से दिव्य तथा चिन्मय है। तुम कभी भी देह नहीं हो। कर्म, चिन्तन तथा स्थिति तुम्हारे खेलने के क्षेत्र हैं। अब सभी क्षेत्रों को प्रीति के रंग से

रंग दो। अर्थात् प्रत्येक अवस्था का, प्रीति से निर्मित होकर सदुपयोग करो। अचाहरूपी भूमि में ही प्रीतिरूपी बेल उपजती है। कारण कि जो कुछ भी चाहता है, उसमें प्रीति उदय नहीं हो सकती।

अपने में से देह-भाव का अभाव हो जाने पर सब प्रकार की चाह का अन्त स्वतः हो जाता है। निज विवेक का उपयोग करने पर देह भाव का त्याग स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से निज विवेक के आदर में ही समस्त दिव्य गुण निहित हैं।

सेवा भाव है, कर्म नहीं। सेवक की प्रत्येक प्रवृत्ति स्वभाव से ही निष्काम होती है। उसे सेवा के बदले में कुछ नहीं चाहिए। चाहे जैसी परिस्थिति हो, सेवक को सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहना चाहिए। सेवक का हृदय करुणा तथा स्नेह से भरा रहता है। उसमें खिन्नता तथा आसक्ति शेष नहीं रहती। तभी तो सेवक के हृदय में अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य सम्पन्न प्रभु निवास करते हैं।

प्रसन्नता तथा शान्ति के स्वरूप में जो कुछ प्राप्त हो, उसका उपभोग न किया जाय, वह छलकने न पाये, ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रहे। वह तभी सम्भव होगा, जब उसकी भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे और नित नव उत्साह का संचार होता रहे। उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही अपना आश्रय बन जाय। सब प्रकार की चिन्ताएं, भय, शोक सदा के लिए विदा हो जायें। मिलन और विरह की वेदना अपने आप होती रहे। अनेक वेषों में उनको पहचान लिया जाय। सभी प्रवृत्तियों द्वारा उनकी पूजा की जाय। उनको रस देने में ही अपना हित है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

37

कोटा,

30-8-55

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

लक्ष्य तथा प्रीति की एकता दृढ़ होने पर देश-काल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती। तुम कभी देह नहीं हो, अपितु दिव्य चिन्मय प्रीति हो। अपने को देह मान कर ही दूरी तथा भेद अनुभव करती हो, जो वास्तविक नहीं है। प्रीति और प्रीतम का नित-नव मिलन तथा नित-नव विरह है। प्रीति प्रीतम में और प्रीतम प्रीति में ही निवास करते हैं, पर फिर भी मिलन की उत्कण्ठा सदैव बढ़ती ही रहती है। यही प्रीति और प्रीतम की नित-नव लीला है।

निःसन्देह प्रीति किसी भाषा तथा भाव के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती और न बिना कुछ कहे रहा ही

जाता है। यह प्रीति की विलक्षणता है। दिव्य चिन्मय प्रीति की जागृति सभी अवस्थाओं से अतीत होने पर स्वतः होती है।

व्यक्तित्व का मोह अवस्थाओं में आबद्ध कर दीन तथा अभिमानी बना देता है, जो वास्तव में प्रमाद है।

नित्य-सम्बन्ध तथा जातीय एकता एवं आत्मीयता स्वतः सभी अवस्थाओं से अतीत करने में समर्थ है। माने हुए सम्बन्धों की अस्वीकृति ही नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति है, अर्थात् सम्बन्ध विच्छेद ही नित्य-सम्बन्ध का मुख्य प्रयास है। सम्बन्ध-विच्छेद करने में निज-विवेक का उपयोग ही मुख्य साधन है, जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त है।

मूक-सत्संग का आश्रय ही निर्बल का बल तथा सफलता की कुन्जी है; कारण कि मूक सत्संग कर्तृत्व के अभिमान को खा लेता है और अप्रयत्न तथा अभिन्नता प्रदान करता है, अथवा यों कहो कि मूक-सत्संग में सभी साधनों का समावेश है।

तुम प्रति सप्ताह एक पत्र लिख दिया करो और होने वाली अनुभूतियों को अपने पास लिखकर रख लिया करो। मिलने पर सुना देना।

शरीर की यथावत् देखभाल तथा उसका सदुपयोग करती रहो। उससे ममता तो है ही नहीं, पर उसकी सेवा अवश्य करनी है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

38

उदय,
13-9-55

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ता. 8 का लिखा हुआ पत्र मिला। पूर्व पत्र का उत्तर लिख दिया था, मिला होगा। जिस प्रकार गीली मिट्टी सूख जाने पर अपने आप झड़ जाती है, उसी प्रकार राग-रहित होने पर परिस्थिति स्वतः बदल जाती है। नौकरी करना है अथवा नहीं करना है, ये दोनों बातें कुछ अर्थ नहीं रखतीं। तुम जिनकी हो, वे जो चाहेंगे, करायेंगे। तुम्हें तो केवल वर्तमान कार्य को उन्हीं के नाते सुन्दरतापूर्वक कर डालना है। करने की अपेक्षा न करने में सर्वदा स्वाधीन हो। इस समय विधान के अनुसार नौकरी की शर्त मान लो। न करने के लिए तो सर्वदा स्वाधीन है।

प्रीति का उदय किसी परिस्थिति में आबद्ध नहीं है। उसके लिए तो सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। कर्तत्व की रुचि न रहना ही वास्तव में न करना है। कर्तृत्व के अभिमान से रहित

होने पर भी चेष्टाएँ हो सकती हैं और कम-से-कम चेष्टाओं में भी कर्तृत्व का अभिमान रह सकता है। यदि कोई हिमालय की कन्दरा में चला जाय और त्याग का अभिमान बना रहे, तो उस परिस्थिति में भी कर्तृत्व का अभिमान हो सकता है। राग-रहित होने पर त्याग का अभिमान स्वतः गल जाता है। त्याग का अभिमान गलते ही समस्त जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है। तुम उस अनन्त की विभूति हो अथवा उनकी खिलौना हो। वे अनेक परिस्थितियों के द्वारा जैसा खेल चाहेंगे, खेलेंगे। तुम्हारी दृष्टि सदैव उन्हीं पर रहनी चाहिए। किसी और की सत्ता ही कहाँ है? तुम सर्वदा उनकी हो और वे तुम्हारे हैं। तुम कभी-भी उनसे विमुख नहीं हो, तो फिर देना-लेना, करना-न-करना कुछ अर्थ नहीं रखता। भला, प्रीति ने भी कभी प्रीतम से भिन्न को देखा है? कभी नहीं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों तुम्हारे बिहार के क्षेत्र हैं। तुम्हारा निज-धाम तो दोनों से अतीत है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो और प्रत्येक प्रवृत्ति से अपने प्यारे को लाड़ लड़ाती रहो! प्रवृत्ति के अन्त में दिव्य चिन्मय प्रीति होकर अभिन्न हो जाओ और प्रवृत्ति-काल में उनकी दिव्य लीला में भाग लो। तुम्हारे अभिनय को देख तुम्हारे प्यारे प्रसन्न होंगे और उनकी लीला को देख तुम्हें प्रसन्न रहना चाहिए।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

39

जोधपुर,
21-9-55

सभी अवस्थाओं से अतीत प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

तात्र 16-9-55 का लिखा हुआ पत्र श्रीनाथद्वारा में ही मिल गया। तुम देह नहीं हो, अपितु दिव्य चिन्मय प्रीति हो। तुम्हारी प्रत्येक चेष्टा प्रीति-निर्मित धातु से होती है, अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति प्रीति का प्रतीक-मात्र है और कुछ नहीं है।

मूक-सत्संग में आलस्य तथा श्रम दोनों का अभाव है और इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की चेष्टाओं से पूर्ण असंगता तथा असहयोग है। ज्यों-ज्यों असहयोग सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों अनावश्यक मानसिक चेष्टाएँ स्वतः मिटती जाती है और इन्द्रियों की चेष्टाओं का अर्थ निरर्थक हो जाता है, अर्थात् उनका प्रभाव मन पर अंकित नहीं होता, अथवा यों कहो कि जो प्रभाव अंकित था वह मिट जाता है और नवीन प्रभाव अंकित नहीं होता। भुक्त-अभुक्त संकल्पों का प्रभाव ही मानसिक चित्र

बनाता है। वह प्रभाव प्रीति की जागृति तथा समर्पण भाव से मिट जाता है, जिसके मिटते ही प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। प्रीति की सबलता सब प्रकार के प्रभावों को खा लेती है। मूक-सत्संग कर्तृत्व के अभिमान को गलाकर श्रम से रहित करना है और व्यर्थ-चिन्तन को खाकर आलस्य से मुक्त कर देता हैं

वर्तमान कार्य सुन्दरतापूर्वक हो जाने से कार्य का राग स्वतः मिट जाता है। आस्तिक-जीवन में करने की रुचि का एंव कर्म-फल की आशा का कोई स्थान ही नहीं है। प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्यारे को रस देना है। यही प्रेमी का वास्तविक प्रयास है।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

40

वृन्दावन,

21-11-55

सभी अवस्थाओं से अतीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्रिय की पूजा और प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः प्रिय की स्मृति होनी चाहिए। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही के द्वारा दिव्य-चिन्मय प्रीति जागृत करना है, जो तुम्हारा स्वरूप है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की प्रीति हो। तुम्हें सर्वदा अपने से परिचित रहना चाहिए। अपने को भूलना ही वास्तव में भूलना है और अपना परिचय ही वास्तविक परिचय है। प्रत्येक दशा में अपने प्रेमास्पद की अनुपम, अनिर्वचनीय, अहैतुकी कृपा का अनुभव करो। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। उनकी लीला का अनुभव प्रत्येक घटना में करने का स्वभाव बना लो, जिससे प्रीति जागृत बनी रहे।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

41

श्री वृन्दावन,

29-11-55

निर्विकल्पता से अतीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। बड़े हर्ष की बात हैं कि तुम प्रत्येक प्रवृत्ति को अन्तिम प्रवृत्ति जानकर साधन-बुद्धि से अभिनय के स्वरूप में करती हुई अपने परम प्रेमास्पद को रस प्रदान करती हो। इसी में जीवन की सार्थकता निहित है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। उस अनन्त की अनुपम लीला में जो अभिनय मिला है, उसे उन्हीं की पूजा

जानो। वे तुम्हारे और तुम सदैव उनकी हो, यह मधुर स्मृति सतत् जागृत रहे। प्रत्येक दशा में सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न ही रहना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब तुम कामना-रहित होकर प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो।

विचार-विनिमय द्वारा मन की निर्मलता सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से विचार-विनिमय साधक के लिए दैनिक भोजन है। पारस्परिक विचार-विनिमय निज-विवेक का आदर कराने मे तथा स्नेह की एकता सुरक्षित रखने में समर्थ है। जब साधक के जीवन से समस्त वस्तुओं की ममता तथा उनका महत्व निकल जाता है, तब शरीरादि प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग स्वतः होने लगता है और अप्राप्त वस्तुओं की चाह सदा के लिए मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वतः जागृत होते हैं। निर्लोभता आते ही दरिद्रता और निर्मोहता आते ही अविवेक सदा के लिए मिट जाता है। दरिद्रता के अन्त में उदारता और अविवेक के मिटने पर वास्तविकता का बोध स्वतः सिद्ध है। उदारता उत्कण्ठा तथा उत्साह की उत्तरोतर वृद्धि करती है और वास्तविकता का बोध अमरत्व प्रदान करता है।

मूक-सत्संग में सब प्रकार के श्रम तथा आलस्य का अन्त है। श्रम के अन्त में विश्राम और आलस्य-रहित होने में सजगता विद्यमान है। थकावट दूर करने के लिए बेहोशी स्वाभाविक है, पर बेहोशी का होश सजगता का प्रतीक है। चित्त का जड़ता में लय होना दोष है, पर चिन्मय-जीवन में प्रवेश हो जाना निर्दोषता है। चित्त को जड़ता में लय नहीं होना चाहिए, अपितु चेतना में विलीन होना चाहिए, जो अचाह तथा प्रयत्न होने से ही हो सकता है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

42

आगरा,

1-12-55

निर्विकल्पता से अतीत दिव्य चिन्मय प्रीति स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ता. 28 नवम्बर का लिखा हुआ पत्र कल मिला। इससे पूर्व तुम्हारे दो पत्र और लिे थे, जिनका उत्तर भी दे दिया था, मिला होगा।

सन्देह की वेदना सभी में विद्यमान है। ऊपरी भिन्न-भिन्न प्रकारकी रुचियों ने उसे ढक-सा दिया है। कोई भी मानव जिज्ञासा-शून्य नहीं है। तुम्हारे समीप बैठने से ही जब प्रियजनों को स्वतः रस मिलने लगेगा, तब उनमें स्वतः

जिज्ञासा जागृत होगी। तुम्हें तो सभी परिस्थितियों में अपने प्रिय की भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करनी है। पुजारी को तो जिसकी पूजा करनी है, उसी को रस देना है। ऊपर से मर्यादानुसार कर्म हो और भीतर से केवल प्रीति हो। कर्म से करने के राग की निवृत्ति होगी और प्रीति से प्रीतम को रस मिलेगा, जो प्रेमी का जीवन है।

शुद्ध-संकल्प की दृढ़ता परिस्थितियों को बदलती है और निष्कामता शुद्ध-संकल्पों की पूर्ति की सामर्थ्य प्रदान करती है। तुम्हें प्रत्येक दशा में अपनी रुचिकर साधना को सुचारु रूप से सुरक्षित रखना है। बस, यही सफलता की कुंजी है। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

43

लखनऊ,
9-12-55

दिव्य ज्योति चिन्मय धाम निवासिनी स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

किसी के आग्रह में भी बीज रूप से अपनी ही रुचि विद्यमान रहती है। भोजन की रुचि ने सभी को रोगी बनाया है। यद्यपि भोजन परिवर्तनशील जीवन का मुख्य अंग है, परन्तु उसकी रुचि अनेक रोग भी उत्पन्न करती है। असंगता सुरक्षित बनी रहे और भूख और भोजन का मिलन सहज भाव से होता रहे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक बहुत से रोग मिट जाते हैं। रोग राग का परिणाम है, और कुछ नहीं-चाहे वर्तमान राग हो या पूर्व कृत!

तुम्हारा

.....

44

गौंडा,
16-12-55

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ता. 13 का लिखा हुअ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। संयोग-वियोग परिवर्तनशील जीवन का सौन्दर्य है, और कुछ नहीं। प्रीति की वृद्धि के लिए मिलन और वियोग दोनों अनिवार्य हैं। इसी कारण विधान में मिलन और वियोग है। तुम स्वरूप से तो अनन्त की प्रीति ही हो। देह आदि वस्त्रों को पहन कर अपने को व्यक्ति मान बैठी हो। इस व्यक्तित्व को गलाने के लिए ही विरहाग्नि का प्रज्वलित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए ही मिलन की आशा में वियोग का दर्शन होता है। और जब विरहाग्नि

प्रज्जवलित हो जाती है, तब वियोग मिलन में बदल जाता है। वियोग और मिलन दोनों ही प्रीति के प्रतीक हैं, और कुछ नहीं है।

प्रत्येक प्रवृत्ति विद्यमान राग की निवृत्ति और अनुराग के उदय का हेतु है। पर कब? जब प्रवृत्ति के मूल में प्रिय का नाता हो। उत्पन्न तथा विलीन होने वाली प्रवृत्ति का प्रकाश उत्पत्ति-विनाश-रहित है। उसी से नित्य-योग हो सकता है। परन्तु उत्पत्ति-विनाश की लीला नित्य-योग में प्रतिबन्ध जैसी प्रतीत होने लगती है, यद्यपि ऐसा है नहीं। कारण कि, राग-निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति प्राप्त हुई है और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, उसके लिए निवृत्ति अनिवार्य है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही राग निवृत्ति और प्रीति की जागृति का साधन हैं। साधन को प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का ही आदर करना है, पर उनमें-से किसी का अभिमान न हो, इस बात का सदैव ध्यान रखना है। अभिमान तभी उत्पन्न होता है, जब प्रवृत्ति तथा निवृत्ति द्वारा सुख का भोग किया जाय। क्योंकि सुख-भोग की रुचि ही अभिमान को जन्म देती है, जिसका प्रेमी के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, यहाँ तक कि निरभिमानता का अभिमान भी न रहने पाये। तभी प्रीति नित-नव हो सकती है। प्रीति ने कभी-भी प्रीतम को देख नहीं पाया। कारण कि, प्रीति की दृष्टि प्रीतम में नि-नवीनता का दर्शन करती है। यद्यपि प्रीति में सदैव प्रीतम का निवास है, परन्तु प्रीति में प्रिय-दर्शन की जो प्यास है, वह कभी बुझती नहीं है, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। यह प्रीति का स्वभाव ही है। तो फिर मिलन और वियोग में भेद ही क्या है? दोनों ही समान अर्थ रखते हैं। पर यह रहस्य वे ही जानते हैं, जो सब प्रकार से अभिमान से रहित प्रीति से अभिन्न हो गये हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

45

गाजीपुर,
5-1-56

देहातीत स्नेहमयी ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ता. 2-1-56 का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की दिव्य प्रीति हो। वर्तमान कार्य के द्वारा अपने प्रेमास्पद की पूजा करो और कार्य के अन्त में उन्हीं की मधुर स्मृति होकर उन्हें लाड़ लड़ाओ। अवस्था-भेद होने पर भी लक्ष्य-भेद न होने दो। प्रीति ही उन्हें रस प्रदान करती है। प्रीति की प्रतिक्रिया भी प्रीति ही है, क्योंकि प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही

आदान-प्रदान है, और कुछ नहीं है। प्रेम स्वभाव से ही नित-नव है। उसमें कभी क्षति नहीं आती, अपितु उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। वियोग और मिलन दोनों ही प्रेम को जागृत करते हैं। प्रेम श्रम-रहित साधन है, क्योंकि कर्तृत्व का अभिमान प्रेम का उदय नहीं होने देता। प्रत्येक परिस्थिति में प्रेमास्पद की अनिर्वचनीय, अनुपम, अहैतुकी कृपा सदैव तुम्हारे साथ है। कारण कि, तुम उनकी नित्य-प्रीति हो। प्रत्येक कार्य में निव-नव उत्साह तथा उत्कण्ठा बढ़ती रहे, क्योंकि यही तो उनकी वास्तविक पूजा है। तुम उन्हें भले ही पहचान न सको, पर वे सदैव तुम्हारी ओर देखते रहते हैं। अतः तुम भी सदैव उनकी ओर ही देखती रहो। भिन्न-भिन्न वेशों में पहचानने का स्वभाव बना लो। प्रत्येक वस्तु उन्हीं की है। इतना ही नहीं, प्रत्येक वस्तु में वे ही विद्यमान हैं। कारण कि, वह सब कुछ उन्हीं की अभिव्यक्ति है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

46

बलिया,
7-1-56

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

मूक-सत्संग प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः होना चाहिए। अचाह तथा अप्रयत्न ही मूक-सत्संग की भूमि है। शरीर तथा मन पर लेशमात्र भी जोर मत डालो। मूक-सत्संग से तो स्वतः छिपी हुई शक्ति का विकास होता है। बल का सदुपयोग होने पर जो स्वाभाविक विश्राम है वह भी मूक-सत्संग है और अपने आप को अनन्त की अहैतुकी कृपा पर निर्भर कर देना भी मूक-सत्संग है और सब ओर से विमुख होकर अपने में ही संतुष्ट हो जाना भी मूक-सत्संग है। मूक-सत्संग से जिससे अभिन्नता होती है, वह देश-काल आदि की दूरी से रहित है। तुम जिसकी प्रीति हो, वह नित्य प्राप्त है। इस दृष्टि से तुम सर्वदा उनके साथ हो और वह तुमसे सदैव अभिन्न हो।

अब रही वैज्ञानिक दृष्टि, जिसमें निश्चित समय पर मूक-सत्संग करने की योजना है-प्रातः 3-30 बजे से लेकर 5 बजे तक का समय बहुत ही उपयुक्त है। अतः इस डेढ़ घण्टे के बीच में यदि सहज भाव से मूक-सत्संग होता रहे, तो तुम्हें कोई असुविधा न होगी। वास्तव में तो प्रत्येक प्रवृत्ति का उदय और अन्त मूक-सत्संग में ही होना चाहिए। मूक-सत्संग अखण्ड साधन है। यह कोई अभ्यास नहीं है, अपितु सब प्रकार से उस अनन्त का हो जाना है जो सभी में है, सभी से अतीत है, जिससे देश-काल आदि की दूरी ही

नहीं है। तुम उन्हीं की दिव्य चिन्मय प्रीति हो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

47

मोतीहारी,
21-1-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

जो देश तथा समाज एवं व्यक्ति विधान की पराधीनता को स्वीकार नहीं करता, वह अनेक बाह्य पराधीनताओं तथा मोह में आबद्ध हो जाता हे। प्रान्तवाद का अन्त बिना किये, कभी-भी परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है। स्नेह की एकता के बिना समाज में शान्ति की स्थापना सम्भव न होगी। कोई हमें अपना माने या न माने, पर हम सभी को अपना जानें-इस सदभावना का संचार जब तक जीवन में न होगा, हम संयोग-वियोग की व्यथा से बचेंगे नहीं। तुम मानव हो, तुम्हारे हृदय में सभी के प्रति सदभावना रहनी चाहिए। यद्यपि मेरा मतलब यह नहीं है कि जिस आधार पर प्रान्तों का विभाजन हो रहा है, इस आधार से तो प्रान्तवाद और दृढ़ होगा। बोल-चाल, रहन-सहन, आने-जाने की सुविधा-असुविधा के नाम पर हम एक साथ नहीं रह सकते, यह बड़ी अमानवता है। इस अमानवता का अन्त तभी होगा, जब मानव में मानवता का संचार हो। स्वर्गीय जिन्ना महोदय की घातक नीति आज मानव-समाज ने किस प्रियता के साथ अपनाई है! जिस नीति के कारण लाखों घर उजड़ गये, और भारत माता के हृदय के लिए टुकड़े हो गये। अधिकार-लालसा और भेदभाव की भावना ने मानव में मानवता नहीं रहने दी। इस पिशाचिनी का सदा के लिए अन्त करना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

48

इलाहाबाद,
13-2-56

देहातीत प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

तुम्हारे दोनों पत्र आज मिल गये। प्रत्येक परिस्थिति उसी अनन्त की अभिव्यक्ति है। इस कारण प्रत्येक कार्य उन्हीं की पूजा है। सत्ता रूप में उन्हें पहचान लेने पर प्रत्येक कार्य प्रीति की जागृति का साधन बन जाता है। पर यह

रहस्य वे ही जान पाते हैं, जो कर्त्तव्य की आसक्ति तथा फल की आशा से रहित होकर कार्य करने लगते हैं। कर्त्तृव्य का बोझा अपने ऊपर से सदा के लिए उतार दो और फल की आशा से रहित हो जाओ। ऐसा होते ही प्रत्येक कार्य प्रीति की जागृति में हेतु हो जायेगा। जो कुछ हो रहा है, उसमें उस अनन्त की लीला का अनुभव करो और जो कुछ कर रही हो, उसे उनकी पूजा जानो। पूजा का भाव प्रियता को सबल तथा पुष्ट बनाता है। कर्म का भाव शिथिलता तथा थकावट उत्पन्न करता है और फल की आशा में आबद्ध कर देता है। पूजा का भाव नित-नव उत्कण्ठा तथा उत्साह प्रदान कर प्रीति से अभिन्न कर देता है। कर्म और पूजा का भेद जान लेने पर कर्म से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है और फिर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में चिर-शान्ति स्वतः प्राप्त होती है, जो आवश्यक शक्ति प्रदान करने में समर्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

49

राजकोट,
23-2-56

साधनमयी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ता. 20 का लिखा हुआ पत्र मिला। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है। उसके सदुपयोग में ही प्रेमास्पद की प्रसन्नता निहित है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही आने वाली निवृत्ति को यदि अपना लिया जाय, तो बड़ी ही सुगतापूर्वक आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः हो जाता है और फिर जो करना चाहिए, वह अपने आप होने लगता है। और फिर समस्त जीवन साधन हो जाता है। निवृत्ति-काल में प्रवृत्ति का चिन्तन साधन में विघ्न है। निवृत्ति शक्ति-संचय में समर्थ है। प्राप्त शक्ति के सद्व्यय में प्रवृत्ति का उपयोग है। प्रवृत्ति विद्यमान राग की निवृत्ति का उपाय है, जीवन नहीं। निवृत्ति का महत्व अंकित हो जाने पर प्रवृत्ति की रुचि मिट जाती है, जिसके मिटते ही नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। राग-रहित होते ही देह से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही अचाह-पद की उपलब्धि होती है। चाह-रहित होने पर अप्रयत्न ही प्रयत्न हो जाता है। और फिर देह आदि वस्तुओं की भिन्नता में ही अनन्त की अभिन्नता निहित है। वस्तुओं की भिन्नता समस्त आसक्तियों को खा लेती है। आसक्तियों का अन्त होते ही दिव्य प्रीति स्वतः जागृत होती है, जो जीवन को साधन बना देती है। मन पर विवेक का प्रभाव उतना नहीं है जितना इन्द्रियों के ज्ञान का, यह समस्या हल करने के लिए सर्व प्रथम इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग पूरी शक्ति लगाकर, प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ करना

है। तत्पश्चात् इन्द्रियाँ स्वभाव से ही मन में विलीन हो जायेगी, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जायेगी और फिर स्वतः जो होना चाहिए, होने लगेगा। इस मार्ग में निराश हो के लिए स्थान ही नहीं है; हार स्वीकार करने में कोई बात ही नहीं है और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना हैं। अपने में अपना कुछ नहीं रखना है। सब कुछ देकर उनकी प्रियता को ही लेना है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो! उनकी अहैतुकी कृपा सदैव तुम्हारे अंग-संग है। जियो, जागो, सदा आनन्दित रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

50

अहमदाबाद,

8-3-56

अभिन्न स्वरूप दिव्य ज्योति स्नेमहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

कर्त्तृत्व के अभिमान तथा फल की आशा से रहित, प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित होने पर अचाह-पद स्वतः प्राप्त होता है, जिसके होते ही गतिशील होने पर भी चिर-विश्राम आ जाता है, जो प्रीति होकर प्रीतम से अभिन्न करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, दिव्य-चिन्मय प्रीति ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो-समस्त स्वीकृतियों से अतीत चिन्मय ज्योति हो। पर देह-अभिमान के कारण अपने को कुछ मानने लगीहो। प्रत्येक दशा में भीतर से शान्त रहो और प्रत्येक कार्य द्वारा अनेक प्रकार से प्रिय की पूजा करो। प्रिय की स्मृति प्रिय को लाड़ लड़ाई, यही परम पुरुषार्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

51

गीता भवन, स्वर्गाश्रम,

ऋषिकेश

10-4-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

कार्य की अधिकता से स्वास्थ्य पर प्रभाव हो सकता है, पर मानसिक स्थिति में कोई विकृति नहीं होनी चाहिए। मानसिक विकृति का मूल कारण पराधीनता है, अर्थात् जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर हो जाती है, उसी के मन की स्थिति में क्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं,

जिसमें मानसिक संतुलन नहीं रहता और फिर मस्तिष्क में अनर्गल ख्याल उठते रहते हैं। पराधीनता का मूल कारण तो अविवेक ही है और सहयोगी कारण मानसिक नीरसता है। प्रीति के अभाव में नीरसता की उत्पत्ति होती है। प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता स्वीकार करने पर प्रीति में शिथिलता आती है। प्रीति को सुरक्षित रखने के लिए प्रेमास्पद से भिन्न अन्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करना चाहिए। तभी प्रीति सबल तथा स्थायी हो सकती है। वास्तव में तो प्रीति ही तुम्हारा अस्तित्व है। यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि प्रीति में सत्ता रूप से जीवन प्रीतम का ही होता है। इस दृष्टि से प्रीतम का ही प्राण है।

प्रत्येक वर्तमान कार्य को प्रीतम की पूजा मानो। उसे सुन्दरतापूर्वक, फल की आशा से रहित, कर डालो। पर यह ध्यान रहे कि कार्य करने के साधन भी उन्हीं के हैं, जिन्होंने कार्य प्रदान किया है। अब यदि यह प्रश्न उत्पन्न हो कि उन्होंने कार्य क्यों प्रदान किया है, तो समझना चाहिए कि करने के राग की निवृत्ति के लिए ही कार्य मिला है। अब यदि यह कहो कि रुचि के विरुद्ध कार्य क्यों मिला हैं, तो समझना चाहिए कि रुचि की पूर्ति के लिए अनेक बार अवसर मिला था, पर करने की आसक्ति का और कार्यजनित सुख-भोग की रुचि का अन्त नहीं किया। इस कारण रुचि के प्रतिकूल परिस्थिति मिली हैं, पर उसमें सत्ता अपने प्यारे की ही है। प्यारे की ओर से मिली हुई प्रत्येक वस्तु प्रेमियों को प्रिय होती है। उसमें अनुकूलता और प्रतिकूलता का कोई भेद नहीं होता। अनुकूलता और प्रतिकूलता का भेद तो सुख-भोग की रुचि में विद्यमान है, और कहीं नहीं। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-भोग की रुचि गल कर प्रीति से स्वतः अभेद होती जाती है।

तुम उनसे और वे तुमसे दूर नहीं है। न मानने तथा न जानने की दूरी वास्तविक दूरी नहीं है। जब तुम किसी और की सत्ता ही स्वीकार न करोगी, तब तुम्हें सर्वत्र-सर्वदा अपने प्रीतम का ही दर्शन होगा।

सभी मान्यताओं के मूल में जो है वह उस अनन्त की प्रीति है। पर वह प्रीति मान्यताओं के कारण अनेक इच्छाओं तथा जिज्ञासा एवं कर्तव्य के रूप में प्रतीत होने लगी है। कर्तव्य-पालन से इच्छाओं का अन्त तथा जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है और फिर प्रीति और प्रीतम की ही नित-नव लीला रह जाती है, जो रस-रूप है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

52

गीता भवन, स्वर्गाश्रम,
16-4-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

दशा चाहे जैसी हो, उसकी चिन्ता न करो, पर तुम्हारी तद्रू पता उससे न रहे। जो चीज बदलती है, उससे सम्बन्ध रखने से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। इस कारण सभी अवस्थाओं से विवेकपूर्वक असंग होना है। यही प्राणी का परम पुरुषार्थ है। अवस्थाओं से असंग होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि उसके पश्चात् अप्रयत्न ही प्रयत्न हो जाता है, और फिर प्राणी विश्राम पाकर सब प्रकार से अभय तथा अचिन्त हो जाता है।

यदि अवस्था से सहयोग न किया जाय, तो अहंभाव में जो विकार दब गये हैं। वे सुगमतापूर्वक प्रकट होकर मिट जायेंगे और सदा के लिए निर्विकारता आ जायगी। भय और प्रलोभन से ही विकार सत्ता पाते हैं। वस्तु, अवस्था आदि का आश्रय ही अहंभाव को जीवित रखता है। वस्तु आदि का आश्रय टूटते ही अहंभाव गलने लगता है और फिर योग, ज्ञान तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है। दशाओं के परिवर्तन को बोध जिस ज्ञान में हैं, वह ज्ञान नित्य तथ अपरिवर्तनशील है। उस ज्ञान का ज्ञान उसी ज्ञान को है, किसी अन्य को नहीं। उस ज्ञान से ही इन्द्रिय, बुद्धि का ज्ञान प्रकाशित होता है और सत्ता पाता है। उस ज्ञान के किसी अंश में ही समस्त दृश्य प्रतीत होता है, जैसे दर्पण में चित्र है। यद्यपि दर्पण में चित्र बनता नहीं, अपितु निर्मल दर्पण ही चित्राकार प्रतीत होता है। राग-रहित होते ही इन्द्रिय मन में, मन बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होने पर योग, अर्थात् चिर-शान्ति उदय होती है। चिर-शान्ति में ही प्रीति तथा बोध का उदय होता है, अथवा यों कहो कि योग, ज्ञान तथा प्रेम उस एक ही की विभूतियाँ हैं, अर्थात् योग में ज्ञान, ज्ञान में प्रेम ज्यों-का-त्यों मौजूद है। किसी एक के प्राप्त होने पर सभी प्राप्त हो जाते हैं। जिज्ञासा की दृष्टि से जो ज्ञान है, वैराग्य की दृष्टि से वही योग है और समर्पण की दृष्टि से वही प्रेम है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

53

अलीगढ़,
20-7-56

निर्विकल्पता से अतीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

मूक-सत्संग साधक की सभी समस्याओं को हल करने में समर्थ है। तुम उसी का आधार लेकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ।

प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा पूजा करना ही साधना है। अतः जो परिस्थिति प्राप्त है, उसी का सदुपयोग करना है। स्नेह के रंग में रंगा हुआ न्याय सदैव हितकर सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, स्नेहपूर्वक किये हुए विरोध में भी एकता सुरक्षित रहती है। तुम इस महामंत्र को कभी मत भूलो। पूजा में विधि और स्नेह दोनों का मिलन रहता है, पर विधि प्रकट रूप से और प्रेम गुप्त रूप से। जिसे प्रत्येक दशा में अपने प्रेमास्पद को रस देना है, उसे भय और चिन्ता कहाँ? किसी से भेद कैसा और भिन्नता कैसी? भेद और भिन्नता के बिना भय की उत्पत्ति ही नहीं होती। तुम अनेक रूपों में उन्हें पहचान लिया करो। गुप्त स्नेह और प्रकट विधि से पूजा किया करो। प्रीति को भला कहीं प्रीतम से भय लगता है? क्या प्रीति ने कभी प्रीतम से भिन्न का दर्शन किया है? कदापि नहीं। ज्यों-ज्यों विधिवत् पूजा होती जायगी, त्यों-त्यों अपने आप समस्त प्रवृत्तियों का परिणाम प्रीति में परिवर्तित होता जायगा, यह निर्विवाद सत्य है।

जिस प्रकार कुम्हार अपने ऐश्वर्य तथा माधुर्य से मृत्तिका को अपने प्रेम के योग्य बना लेता है, उसी प्रकार वे अपने अनन्त ऐवश्र्य तथा माधुर्य से अपने प्रेमियों को प्रेम के योग्य बना लेते हैं। उनकी उदारता को कोई-कोई किसी और का गुणमान लेते हैं और उनकी कर्तव्य-परायणता को किसी और का महत्व मान लेते हैं। वास्तव में जहाँ-जहाँ, जो-जो महत्व, सौन्दर्य, विशेषता भासती है, तुम उसे उन्हीं की लीला जानो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

54

ऋषिकेश,
7-7-53

देहातीत दिव्य ज्योति स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

किसी के कर्तव्य में किसी के महत्व का दर्शन और किसी की उदारता में किसी के गुणों की महिमा का अनुभव ही इस नाट्यशाला का सौन्दर्य है। अनेक रूपों में उनकी अनुपम लीला सतत् चल रही है। प्रेमी-जन उसे देख-देख प्रेमामृत

पान कर कृतकृत्य हो जाते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं प्रेम होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करते हैं। प्रेम के साम्राज्य में सर्वत्र-सर्वदा प्रेम ही प्रेम है। प्रेम प्रेमी का जीवन और प्रेमास्पद का स्वभाव है। प्रेम से भिन्न प्रेमी का कोई अस्तित्व नहीं है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जो देहाभिमान से रहित सब प्रकार से प्रेमास्पद के हो गये हैं और प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा होने वाली पूजा ही जिनका स्वभाव हो गया है। इस मार्ग में सरलता-स्वाभाविकता ही वास्तविक साधना है। अस्वाभाविकता का अन्त करना ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है। जो कुछ हो रहा है उसमें ही अपने प्रिय का परम पुरुषार्थ है। जो कुछ हो रहा है उसमें ही अपने प्रिय की अनिर्वचनीय अहैतुकी कृपा का दर्शन करना है। सेवा और प्रेम को ही वास्तविक साधन जानकर अपने को सेवा और प्रेम के स्वरूप में परिवर्तित कर देना है। सेवा और सेवक, प्रेमी और प्रेम के भेद का नाश हो जाना ही वास्तविक स्वाभाविकता है। विवेकपूर्वक असंगता और विश्वासपूर्वक समर्पण अस्वाभाविकता का अन्त करने में समर्थ है। विवेक और विश्वास प्रत्येक साधन को स्वतः प्राप्त है। पर उसका दुरुपयेग कर डालने पर ही प्राणी अस्वाभाविकता में आबद्ध हो गया है। विवेक और विश्वास सीखने की वस्तु नहीं है। जाने हुए का आदर और माने हुए में दृढ़ता ही विवेक तथा विश्वास को सजीव बना देती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

55

श्री वृन्दावन,
26-7-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

मन की सारी बात कहने से तुम्हें विश्वास मिलता है, यह बात तो ठीकही है। परन्तु मन में कोई बात घुसने ही क्यों देती हो जो कहना पड़े और जिसके खाली करने की आवश्यकता पड़ जाय? सच तो यह है कि प्रेमियों के पास मन रहता ही नहीं, क्योंकि प्रेम अचाह रूपी भूमि में उगता है। चाह-रहित होते ही मन प्रीतम का मन्दिर हो जाता है। प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त के विधान से निर्मित है। जिन साधकों को विधान पर अविचल श्रद्धा होती है, वे प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति को भी आदरपूर्वक देखते हैं। अतः प्रतिकूलता का भय विधान में अनादर का भाव उत्पन्न करताहै। दुःखियों के वेश में प्रेमास्पद को देख तुम क्षोभित होती हो अथवा करुणित? यदि क्षोभित होती हो तो भूल है और यदि करुणित होती हो तो स्वाभाविक विकास है। क्षोभित होने से सुख का महत्व बढ़ता है और उसकी दासता अप्रित होती है।

करुणित होने से सुख का राग मिटता है। और उदारता उदित होती है, जो भोगासक्ति को खाकर मन को निर्मल बना देती है। निर्मल मन प्रिय को प्रिय है। इसे प्रेमी जानते हैं। कार्यकुशलता की न्यूनता आत्मविश्वास तथा कर्तव्य-विश्वास में अविश्वास उत्पन्न करती है। अर्थात् ज्यों-ज्यों अपने में और वर्तमान कर्तव्य में दृढ़ता होती जाती है, त्यों-त्यों कार्यकुशलता स्वतः आती जाती है, क्योंकि आत्म-विश्वास से ही कार्यकुशलता का जन्म होता है। यद्यपि पूजा में विधि की प्रधानता होती है,परन्तु प्रीति की वृद्धि होने पर विधि-रहित पूजा भी प्रीतम को आगध-अनन्त रस देती है।

भयहारी के होकर भयभीत होना क्या उनका अनादर नहीं है? अनेक रूपों में उस अनन्त को देखना क्या रस-वृद्धि में हेतु नहीं है। जब अपने में अपना कुछ है ही नहीं, तब कार्यकुशलता की न्यूनता क्या सम्भव है? जो तुम्हारे सम्बन्ध में तुमसे भी अधिक जानते हैं क्या उनसे भी कुछ कहना है? जहाँ रहो, प्रसन्न रहो! प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्रिय को रस प्रदान कर कृत-कृत्य हो जाओ!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

56

श्री वृन्दावन,
28-7-56

देहातीत दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय तथा प्रसन्न रहो!

मानव सेवा संघ की नीति अपने पर अपना नेतृत्व और शासन करने की है और मानव को अपना ही गुरु बनना है। इस नीति के आधार पर ही विचार-विनिमय चलेगा। क्योंकि इसके बिना मानव न तो दासता से छूट सकता है और न दूसरों की स्वाधीनता सुरक्षित रख सकता है। सेवा, त्याग, योग्यता, तप आदि के द्वारा भी लोगों ने दूसरों को अपना दास बनाया है और स्वयं दास बन गये हैं। दास बनने-बनाने की नीति का स्नेहपूर्वक घोर विरोध करना है। तभी मानव अपने को उस दिव्य-जीवन का अधिकारी बना सकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

57

जयपुर,
11-8-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

यह बात भलीभाँति समझ लो कि मन को पूरा-पूरा लगा देना मन को अपने अधीन करने का सुगम उपाय है।

मन जब पूरा लग जाता है, तब उसमें सब ओर से विमुख होने की शक्ति स्वतः आ जाती है, जो वास्तव में योग है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्तव्य-विज्ञान की पूर्णता में योग-विज्ञान का उदय है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति अपने-अपने स्थान पर पूर्ण अर्थात् सांगोपांगहोनी चाहिए।

जिनके पिछे तप्त मरुभूमि का झंझा और सामने प्रकाश का पुंज एवं प्रेम का सागर लहरा रहा है, उनसे सादर सप्रेम निवेदन करें कि निर्भय होकर प्रकाश का आश्रय लेकर, लहरों के साथ सागर में आगे बढ़ते जायँ, किनारे पर खड़े रह कर देख-देख कर सन्तोष न करें-पीछे की स्मृति भूल जायँ और उत्तरोत्तर आगे-आगे ही बढ़तें जायँ-असत्य की स्मृति सत्य का आवरण बन जाता है। सत्य की जिज्ञासा असत्य की स्मृति को खा लेती है। जिज्ञासा की शिथिलता में उपर्युक्त स्थिति भासती है। तीव्र जिज्ञासा स्वतः काम को खाकर पूरी हो जाती है।

यह नियम है कि यदि साधक अपने शरीर की भांति दूसरों से प्यार करने लगे और दूसरों की भांति अपने शरीर के प्रति न्याय करने लगे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग त्याग में और द्वेष प्रेम में बदल जाता है, जिसके बदलते ही योग, ज्ञान, प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है।

अब यदि कोई साधक यह कहे कि अपने को तीनों शरीरों से अलग अनुभव ही कहाँ किया है? अपने में और शरीर में तो एकता प्रतीत होती है। ऐसी दशा में सहज भाव से शरीर की एकता को जानने का प्रयास करो, तो भिन्नता का दर्शन हो जायगा। शरीर से एकता मानकर निश्चिन्त मत हो जाओ, अपितु एकता को जानने का प्रयास करो, अर्थात् जानने की शक्ति से शरीर की एकता देखते ही भिन्नता प्रतीत होगी। मानी हुई एकता नित्य नहीं रहती। इस कारण यह माननाकि शरीर और 'मैं' एक हैं, मानने को जानने का स्थान देना है। जब मान्यता को ज्ञान का रूप दे दिया जाता है, तब मान्यता में सत्यता एवं प्रियता आ जाती है, जो बेचारे प्राणी की असंगता का अनुभव नहीं होने देती।

अधिकार-लालसा को त्याग, स्नेह की एकता स्वीकार कर, सभी के अधिकारों की रक्षा करते हुए कार्य के अन्त में अनन्त की दिव्य-चिन्मय रसरूप गोद में विश्राम करो। मानसिक सन्तुलन स्वतः हो जायगा।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

58

इन्दौर,
25-8-56

सभीअवस्थाओं से अतीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

सरलता, सच्चाई एवं स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। अपने को देह से अलग जान लेने पर भी तुम्हें देह-जनित दुःख का भय लगता है, यह जानकर आश्चर्य हुआ। देह-जनित दुःख का भय सुख की दासता का सूचक है। सुख की दासता देह की ममता से सिद्ध है। अतः वह जान लेने पर कि मैं देह नहीं हूँ देह की ममता का भी त्याग करना होगा, अर्थात् यह भली-भाँति जानना होगा कि देह मेरी नहीं है। पर इसका अर्थ देह के प्रति शत्रुता करना नहीं है, अपितु देह को उन्हीं की वस्तु मानकर, उनकी ही प्रसन्नतार्थ देह की सेवा करना है। सेवक के हृदय में दुःखी को देखकर करुणा उदय होती है, दुःख का भय उत्पन्न नहीं होता, और सुखी को देखकर प्रसन्नता उदय होती है, सुख का प्रलोभन उत्पन्न नहीं होता है।

जियो, जागो, आनन्द में रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

59

उज्जैन,
7-1-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

एक काल में एक ही कार्य करना सर्वोत्कृष्ट कार्यकुशलता है, कारण कि जीवन का उद्देश्य भी तो एक ही है। विद्यालय, गृह और संघ के कार्य देखने में अलग-अलग हैं, पर वास्तव में अलग-अलग नहीं है, क्योंकि सृष्टि एक है और उसका प्रकाशक भी एक ही है। जिस प्रकार शरीर एक और उसके अवयव अनेक हैं, पर प्रत्येक अवयव का कार्य तथा श्रृंगार अलग-अलग होने पर भी, परस्पर में स्नेह की एकता है; उसी प्रकार अनेक ढंग के कार्यों द्वारा उस एक ही की पूजा करनी है, जो तुम्हारा अपना है और उसकी ही तुम नित्य प्रीति हो। अपने स्वरूप को जानो और अपने ही की पूजा करो। इस सद्भावना से अनेक कार्य एक ही प्रतीत होंगे। भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों से तो शरीर, मन, मस्तिष्क आदि को विश्राम मिलना चाहिए और नये-नये ढंग से कार्य करने से नई-नई अभिरुचि उदय होनी चाहिए, जिससे प्रतिक्षण एक नवीन रस की अभिव्यक्ति हो। इस दृष्टि से तो भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा ही साधक नित-नव विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

प्रत्येक परिस्थिति अपने प्यारे की ही अभिव्यक्ति है, तो फिर अनेकता में एकता का दर्शन स्वाभाविक ही है। तुम कभी-भी अकेली नहीं हो, अथवा सर्वदा अकेली ही हो। प्रीति और प्रीतम का नित्य-मिलन और वियोग है और दोनों ही स्वरूप हैं। प्रिय की मधुर स्मृति में भी अनन्त रस है और अभिन्नता में भी अनन्त तथा अपार रस है। प्रेम के साम्राज्य में खिन्नता की तो गन्ध ही नहीं है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

60

पटना,

15-11-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

देह-जनित सुख की दासता का अन्त करने के लिए रोग के स्वरूप में तुम्हारे ही प्रीतम आए हैं। उनसे डरो मत, अपितु उनका आदरपूर्वक स्वागत करो और विधिवत् उनकी पूजा करो। रोग भोग के राग का अन्त कर अपने-आप चला जायेगा। रोगावस्था में मानसिक शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहि। शरीर द्वारा जो न हो सके, उसकी चिन्ता न करो और जो हो सके, उससे अपने को बचाओ मत। स्वरूप से तुम किसी भी काल में रोगी नहीं हो, केवल देह की तद्रूपता अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। अतः उसका अन्त करने में निज-विवेक सर्वदा समर्थ है। अचाह, अप्रयत्न और अभिन्नता अपना लेने पर देह की तद्रूपता स्वतः मिट जाती है। चाह-निवृत्ति के लिए जब कोई श्रम अपेक्षित नहीं है, तो फिर इस साधना में पराधीनता की बात कहाँ है और उसके लिए कोई अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा ही कैसे हो सकती है? प्राप्त परिस्थिति से निर्ममता की दृढ़ता ही चाह-रहित होने का सुगम उपाय है, जिसे प्रत्येक विचारशील साधक सुगमतापूर्वक कर सकता है। कारण कि, किसी भी वस्तु से नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। यह ज्ञान मानवमात्र को प्राप्त है। इस ज्ञान के अनादर से ही मानव परिस्थितियों की दासता में आबद्ध हो गया है। इस ज्ञान का आदर कराने में रोग भगवान् सहायक है, बाधक नहीं। परन्तु जीने की आशा तथा मृत्यु के भय ने प्राणी को देह का दास बना दिया है। कामनाओं में आबद्ध होने से प्राणी अपने को देह मानने लगा है। यह उसी की बनायी हुई भूल है। इस भूल का अन्त करते ही परम आरोग्यता स्वतः आ जायगी। देह का सदुपयोग विश्व भगवान् की पूजा है। उसे यथाशक्ति विधिवत् करने के लिए

आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता अपने-आप आ जाती है। पर जब प्राणी असावधानी के कारण विश्व भगवान् की पूजा के बदले में देह की पूजा करने-कराने लगता है, तब वह बेचारा देह की दासता में आबद्ध होकर आधि-व्याधियों में आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से प्राप्त देह आदि वस्तुओं को विश्व भगवान् की पूजा-सामग्री समझो, उसे अपना मत मानो—यह महामंत्र है, देहाभिमान से मुक्त होने के लिए। एक अनुभवी सन्त के साथ रहने का अवकाश मिला था। रोगावस्था में उनकी निष्ठा स्वस्थ होने की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र हो जाती थी। वे अपनी बोलचाल की भाषा में कह दिया करते थे कि भाई, टूटे-फूटे मकान में सूर्य का प्रकाश अधिक होता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने विवेकपूर्वक देह से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। सच पूछिये तो यही मानव का परम पुरुषार्थ है। प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त का मंगलमय विधान है। उसका सदुपयोग ही सहज स्वाभाविक साधन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

61

लखनऊ,
23-11-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

विश्राम सही काम करने के पश्चात् स्वतः आ जाता है। इसके लिए स्थान-विशेष की अपेक्षा नहीं है।

अनुभूति-जनित सुख का भोग करने से इसका प्रभाव नहीं रहता। शरीर की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर उससे असंगता का बोध हो जाता है; पर अचाह, अप्रयत्न तथा अभिन्नता के बिना बोध में अविचल प्रीति नहीं होती और प्रीति के बिना बोध के प्रभाव से रोम-रोम छकता नहीं। अतः सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय होकर शान्त हो जाओ। यही वास्तविक पुरुषार्थ है।

बोध में उन्हीं की कृपा का अनुभव करो। उसे अपना गुण मत मानो। कारण कि, वास्तविक में अपने में अपना कुछ है ही नहीं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

62

तिलौथू,
20-11-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

विवेकपूर्वक वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद ही प्रिय से नित्य सम्बन्ध की भूमि है। अतः देहादि वस्तुओं की निर्ममता में ही उनकी आत्मीयता निहित है। वे अनेक रूपों में, अनेक प्रकार की लीला कर रहे हैं। बोध-अबोध सभी उन्हीं की अभिव्यक्तियाँ है। विवेकी के जीवन से वस्तु-बुद्धि का अत्यन्त अभाव हो जाता है। उसके होते ही सर्वत्र प्रीति और प्रीतम ही भासता है। प्रीति और प्रीतम में नित्य-मिलन तथा नित्या-वियोग है। इस दृष्टि से प्रेमी-जन सभी में अपने प्रेम-पात्र का ही दर्शन करते हैं। प्रीति सभी प्रवृत्तियों द्वारा व्यक्त हो सकती है। उसके लिए किसी प्रवृत्ति-विशेष की अपेक्षा नहीं है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

तुम्हारा

.....

63

बलरामपुर,
30-11-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

ता. 27-11-56 का लिखा पत्र मिला। वर्तमान का सदुपयोग ही सर्वोत्कृष्ट साधन है और यही सफलता की कुंजी है। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन असाधन हैं। अतः सदा के लिए उसका अन्त करना अनिवार्य है। कार्य करने की सामर्थ्य तथा योग्यता एवं कार्य सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होती है। उनके लिए चिन्ता करना भूल है। मिले हुए का सदुपयोग तो वास्तविक साधन है। प्राप्त का दुरुपयोग और अप्राप्त की कामना तो असाधन है। जिसका विधान मंगलमय है, उसी के बनाये हुए कार्यक्रम का आदरपूर्वक पालन करना है। कार्य करते समय अवकाश का चिन्तन करना कार्य करने की सामर्थ्य का दुरुपयोग है।

तुम सदैव उसके साथ हो, जिसके साथ रहना है। जिससे नित्य-सम्बन्ध है, उसी के साथ रहना है। नित्य-सम्बन्ध उसी के साथ है, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, वह कभी-भी अप्राप्त नहीं है, अपितु प्राप्त ही है। उसी की प्रीति होकर रहना है। प्रीति उत्पत्ति-विनाश युक्त वस्तु नहीं है, अपितु दिव्य-चिन्मय नित्य तत्व है। प्रीति से अभिन्न होना ही प्रीति को प्राप्त करना है। प्रीति चाह-रहित होने पर ही जागृत होती है। अपना सब कुछ, अपने सहित, बिना किसी हेतु के, दे डालने से ही साधक चाह-रहित हो सकता है। यही साधक का परम पुरुषार्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा.....

64

देवरिया,
8-12-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

प्रतिकूलता उतनी ही आती है, जिनती सहन हो सके। और अनुकूलता उसी समय तक रहती है, जब तक उसमें जीवन-बुद्धि न हो, अर्थात् प्रत्येक साधक को अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करना है। अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

65

लखीमपुर,
12-12-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

तुम सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

कारण कि, वही तुम्हारा वास्तविक रूप है। जगत के द्वारा तो जगत की ही बातें कही-सुनी जा सकती हैं, क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुएँ जगत ही की तो है, और सभी समस्याएँ भी जगत ही में हैं। जब प्रीति अपने को किसी वस्तु-अवस्था आदि में आबद्ध करने लगती है, तब उसके सामने आसक्तियों का अन्त करने का प्रश्न उत्पन्न होता है। यद्यपि उनके मंगलमय विधान के अनुसार आसक्तियों का अन्त करने के लिए अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ अपने आप आती हैं, किन्तु प्राणी प्रमादवश उन प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में परिवर्तित करने के लिए अथक प्रयत्न करता है। यद्यपि प्रतिकूलता अपने-आप आती-जाती है, परन्तु प्राणी उसके भय से भयतीत होकर जो नहीं करना चाहिए, करने लगता है और जो करना चाहिए, उसे भूल जाता है।

कर्त्तव्य का सम्बन्ध 'पर' से ही है, 'स्व' से नहीं। प्रत्येक मान्यता कर्त्तव्य की प्रतीक है और प्रत्येक कर्त्तव्य दूसरों का अधिकार है। इस दृष्टि से लिखने-पढ़ने-सोचने की बात तो दूसरों के लिए ही है। अपना किसी पर कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि अधिकार-लालसा प्रीति को मलिन करती है। अतः जिसका स्वरूप ही प्रीति है, भला उसमें अधिकार की गंध कहाँ रह सकती है! अधिकार-लालसा से रहित कर्तव्य परायण साधक का समस्त जीवन साधना ही है, और कुछ नहीं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जो वास्तव में कर्तव्य-पालन में आस्था रखते हैं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के रूप में उस अनन्त को रस

देने के लिए होती है। भला, क्या किसी योग्य अभिनेता को कभी इस प्रकार का चिन्तन होता है कि मुझे कौन-सा अभिनय मिला है? उसके सामने तो केवल एक ही प्रश्न रहता है कि जब जो अभिनय मिलेगा उसे वास्तविकता की भाँति पूरा करूँगा, किन्तु दृष्टि सदैव अपने लक्ष्य पर ही रहेगी। अभिनय का दर्शन भी सुन्दर अभिनय से मोहित होता है और उस कम्पनी के डायरेक्टर को ठीक अभिनय होने से प्रसन्नता होती है। और अभिनय-कर्ता में-से भी करने का राग नाश हो जाता है, जिससे वह राग-रहित होकर योग, ज्ञान तथा प्रेम का अधिकारी हो जाता है। इस दृष्टि से परिस्थिति के अनुरूप प्रत्येक कर्तव्य राग-निवृत्ति का साधन-मात्र है, और कुछ नहीं।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

66

झांसी,

18-12-56

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

सच्चे आस्तिक को अपने लिए शरीर आदि किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। उनकी दी हुई परिस्थिति के सदुपयोग में ही सन्तुष्ट रहना है। उनके मंगलमय विधान का आदर करते हुए प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो। जो कुछ हो रहा है, उसी में उनकी अनुपम लीला का अनुभव करो। उनकी दी हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता से उन्हीं को लाड़ लड़ाओ। विश्व के स्वरूप में उन्हीं की सेवा करो और उन्हीं की प्रीति होकर रहो। यही आस्तिक परम पुरुषार्थ है। प्रीति के लिए संयोग-वियोग कुछ अर्थ नहीं रखता। कारण कि, प्रीति तो प्रत्येक दशा में उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। सुख-भोग की रुचि से ही प्रीति में शिथिलता आती है। अतः उस पिशाचिनी का उनकी अहैतुकी कृपा का आसरा लेकर अन्त कर दो। बस, बेड़ापार है। प्रीति क्षण-क्षण नित नई ही रहती है। उसको सुरक्षित रखने के लिए, होने में प्रसन्न तथा करने में सावधान रहना है। नित्य-सम्बन्ध तथा आत्मीयता ही प्रीति की भूमि है। सम्बन्ध जोड़ने में और तोड़ने में सभी साधक सर्वदा स्वाधीन हैं। जिससे छुटकारा पाना है उसकी सेवा करते हुए उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है और जिसके साथ सदैव रहना है उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर आत्मीयता दृढ़ करना है। जो अपने ही हैं उनसे दूरी तथा भेद उनकी प्रीति बढ़ाने में हेतु हैं। पर कब? जब कोई और अपना न हो। अपनापन तो सदा के लिए उन्हीं के साथ

रखना है, जिनसे जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

67

इलाहाबाद,
13-1-57

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

आवश्यकतानुसार सभी बातें अपने-आप होती रहती हैं। किन्तु कामना-पूर्ति का प्रलोभन प्राणी को शान्त नहीं रहने देता। शान्ति के बिना न तो वर्तमान कार्य ही सुन्दर होता है और न सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है। इसी कारण बेचारा प्राणी अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय में आबद्ध होकर वर्तमान का दुरुपयोग करता रहता है। इसी असावधानी से जीवन साधन नहीं हो पाता।

प्रत्येक कार्य अपने प्यारे की पूजा, और कुछ नहीं। इस कारण प्रत्येक कार्य को नित-नव उत्साह तथा उत्कण्ठापूर्वक करना चाहिए। करने के अन्त में अपने-आप मधुर स्मृति उदय होगी, जो प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करने में समर्थ है। प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग ही परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर सकता है। अप्राप्त परिस्थिति की मांग किसी-न-किसी रूप में परिस्थिति की दासता को ही जन्म देती है। इस कारण विचारशील साधक न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते हैं और न प्राप्त परिस्थिति के सुख-दुःख में आबद्ध होते हैं, अपितु उदारतापूर्वक सुख का और विरक्त होकर दुःख का सदुपयोग करते हैं। सुख का भोग और दुःख का भय उन्हीं प्राणियों के जीवन में रहता है, जो परिस्थति को ही जीवन मानते हैं।

जो सर्वकाल में, सर्व देश में, सदैव अपने ही हैं, उन्हीं की प्रीति होकर रहना है। इसके लिए जो नहीं कर सकते, वह नहीं करना है और जो नहीं जानते वह नहीं जानना है और जो नहीं मानते है, वह नहीं मानना है, प्रत्युत जो कर सकते हैं वहीं करना है,जो जानते हैं उसी का आदर करना है, जो मानते हैं उसी में दृढ़ रहना है। विकल्प-रहित विश्वास नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने में समर्थ है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान वस्तुओं से असंग करने में हेतु है। सम्बन्ध तोड़ने और जोड़ने में लेशमात्र भी पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है; फिर भी जो करना चाहिए, उसे नहीं कर पाते और जो नहीं करना चाहिए उसे करते रहते हैं, यह

प्रमाद-जनित सुख के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

शरीर की चिकित्सा की व्यवस्था यथोचित, यथाशक्ति, यह मानकर कि शरीर न तो मेरा है और न मैं हूँ, अपितु विश्वात्मा की धरोहर है, करती रहो और जो न कर सको उसकी चिन्ता न करो। निश्चिन्तता तथा निर्भयता महान तप है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

68

अहमदाबाद,

1-4-1957

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

क्या प्रीति को शरीर की आवश्यकता है? कदापि नहीं। शरीर तो विश्व भगवान् की सेवा-सामग्री है। वे उससे जो सेवा चाहें, ले। अपने को शरीर अथवा शरीर को अपना मानकर प्राणी अपने वास्तविक स्वरूप से विमुख हुआ है। शरीर के बनने तथा बिगड़ने से तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। शरीर जिसकी वस्तु है, वह उसे जैसा चाहे वैसा रखे, और जहाँ चाहे वहाँ रखे और जैसा चाहे वह उसका वैसा उपयोग करे- शरीर की सेवा में तुम्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए और शरीर के तिरस्कार में भी कोई क्षोभ नहीं होना चाहिए। तुम जिसकी प्रीति हो, वह सदैव तुममें ही निवास करता है, अथवा यों कहो कि वह इतनी दूर है कि जहाँ मन, बुद्धि आदि की भी पहुँच नहीं है। यह नियम है कि जो अति निकट अथवा अति दूर हो, उससे मिलन श्रम-साध्य नहीं है। उसके लिए तो केवल उसकी प्रीति ही होना है। प्रीति विश्वास तथा आत्मीयता में निहित है, किसी अभ्यास में नहीं।

शरीर की आवश्यकता किसी-न-किसी प्रकार के श्रम के लिए होती है, प्रीति के लिए नहीं। प्रीति के लिए तो केवल जातीय एकता, नित्य-सम्बन्ध तथा आत्मीय ही अपेक्षित है। विश्व भगवान् अपने शरीर को चाहे जैसे रखें, तुम उसकी ओर से सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। शरीर का राग मिटाने के लिए रोग का अवतार हुआ है। राग-रहित होते ही रोग स्वतः मिट जाएगा। राग-निवृत्ति के लिए शरीर से निर्मम होना है, जिसे प्राप्त करने में तुम सदैव स्वाधीन हो।

इस बार तुम्हारे मन में दो संकल्प थे। उनमें-से एक ही किसी सीमा तक पूरा होगा। किन्तु उस संकल्प-पूर्ति का परिणाम निःसंकल्पता में होना चाहिए। संकल्प-पूर्ति और अपूर्ति दोनों से ही अपने को यही सीखना है कि निःसंकल्प हो जायँ। और बार-बार यही मंत्र सामने रहे-हे प्यारे! तेरी इच्छा पूर्ण

हो। तुम्हें अपने लिए किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जो कुछ भी चाहता है, उसे प्रीति प्राप्त नहीं होती। इस कारण प्रत्येक अवस्था में चाह-रहित रहना है, जिसके लिए अपने को सब प्रकार से उन्हीं की समर्पण करना है, जिनकी तुम प्रीति हो। कामना, जिज्ञासा और प्रीति-तीनों ही व्यक्ति में विद्यमान हैं। ज्यों-ज्यों कामनाएँ नाश होती जाती है, त्यों-त्यों जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य अपने-आप आती-जाती है। जिस काल में सभी कामनाएँ मिट जाती हैं, उस काल में जिज्ञासा पूरी हो जाती है, जिसके होते ही प्रीति की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि निस्सन्देहता ही प्रीति की जननी है।

प्रत्येक क्रिया उनकी प्रीति में विलीन हो जाय, प्रत्येक भावना उनसे सम्बन्ध जोड़ने में हेतु बन जाय, प्रत्येक घटना उनके मंगलमय विधान के आदर कराने में समर्थ हो जाय-यही इस जीवन का पुरुषार्थ है। करना है प्रीति और उसके बदले में लेना कुछ नहीं है, केवल उनकी प्रीति होकर ही रहना है, क्यों कि प्रीति ही उन्हें रस देने में समर्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

69

जामनगर,
11-2-57

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

तुम सदैव उसके साथ हो, जिसके साथ रहना है। सभी कार्य उसी के कार्य हैं। सभी स्थान उसी के स्थान हैं। तो फिर चिन्ता तथा भय के लिए स्थान ही कहाँ है? मुख्य कार्य तो शान्त ही रहना है और यथाशक्ति विधिवत् शरीर देवता के स्वरूप में अपने प्यारे की पूजा करनी है। जो भी परिस्थिति आए, उसी का हर्षपूर्वक सदुपयोग करती रहो। कब तक? जब तक करने का राग तथा रुचि है। वास्तव में तो शरणागत को कुछ भी करना शेष नहीं है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की दिव्य-चिन्मय प्रीति हो। रोग के स्वरूप में देह की आसक्ति मिटाने के लिए तुम्हारे ही प्रीतम आये हैं। जिस देह का सदैव तिरस्कार करती रही हो, उसकी पूजा भी अनिवार्य है। जब ये दोनों कार्य पूरे हो जायेंगे, रोग सदा के लिए चला जायगा। यह सदैव ध्यान रहे कि कोई और तो है ही नहीं, तो फिर प्रत्येक दशा में आनन्द ही आनन्द है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

70

राजकोट,
11-2-57

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

शरीर चाहे जिस दशा में रहे, पर तुम सर्वदा उस अनन्त की प्रीति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है। वास्तव में तो सत्संग जीवन में एक ही बार होता है, सत् की चर्चा अनेक बार होती है। सत् की चर्चा से सत् की लालसा सबल तथा स्थायी हो जाती है, जो जाने हुए असत् का त्याग कर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। सत् की जिज्ञासा असत् की कामनाओं को खा लेती है और सदा के लिए सत् से अभिन्न कर देती है। यही वास्तव में सत्संग है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

71

नई दिल्ली,
28-3-57

स्नेहमयी साधननिष्ठ दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

प्राणी अपने को देह मानकर ही किसी शरीर के प्रति ममता कर बैठता है, जो वास्तव में प्रमाद है। अनन्त में देह और देही का विभाजन नहीं है। जिसमें देह-देही विभाजन नही है, उसी में अपनी ममता करनी है, अर्थात् उसी को अपना मानना है और सर्वदा उसी की प्रीति होकर रहना है। प्रीति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु श्रम-रहित, स्वाभाविक, अपने-आप प्रगट होने वाला दिव्य-चिन्मय तत्व है। प्रीति का उदय तभी होता है, जब अनेक विश्वास एक विश्वास में, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में एवं अनेक चिन्तन एक चिन्तन में विलीन हो जाते हैं। प्रेमी सर्वत्र-सर्वदा अनेक रूपों में अपने प्रेमास्पद को ही पाता है। उनकी दृष्टि से किसी और की सत्ता ही शेष नहीं रहती, क्योंकि प्रेमी ने किसी और का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है। यह नियम है कि साधक जिसकी सत्ता स्वीकार नहीं करता, उसमें उसका विश्वास नहीं रहता। जिसमें विश्वास नहीं रहता, उससे सम्बन्ध नहीं रहता। और जिससे सम्बन्ध नहीं रहता, उसका चिन्तन नहीं होता। जिसका चिन्तन नहीं होता, उसमें आसक्ति नहीं होती। आसक्ति का अन्त होते ही प्रीति स्वतः, जागृत हो जाती है, जो प्रीतम से अभिन्न करने में समर्थ है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

72

नई दिल्ली,
30-3-57

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

प्रीति ही प्रीतम की भोग्य वस्तु है और तुम प्रीति हो। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि तुम अपने प्रेमास्पद की प्रिय वस्तु हो। अनेक रूपों में वह एक ही अपनी अनुपम लीला कर रहा है। प्रेमी-जन जिसे देख-देख मुग्ध होते रहते हैं। और प्रेमास्पद का प्रेम होकर रस प्रदान करते हैं। प्रीति रस की खान है, और कुछ नहीं। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है। प्रीति में प्रीतम और प्रीतम में प्रीति ओतप्रोत हैं। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही अपने प्यारे की पूजा है। उनकी मधूर स्मृति ही अपना जीवन है। श्रम-रहित होते ही आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता का विकास स्वतः होता हे। उनके नाते किया हुआ वर्तमान कार्य विश्राम की भूमि है। विश्राम में ही समस्त विकास निहित है, पर वह उसी को प्राप्त होता है, जिसे कुछ नहीं चाहिए। जो कुछ भी चाहता है, उसको प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। जिसने अपने को देकर उनकी प्रीति को पाया है, उसने ही सब कुछ पाया है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो-यही मेरी सद्भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

73

गीता भवन,
5-4-57

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

देहाभिमान गलाने के लिए ही रोग भगवान् आये हैं। प्राणों के रहते हुए ही समस्त कामनाओं का अन्त होना है। वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा प्राप्त करने के लिए ही मानव-जीवन मिला है।

आवश्यकतानुसार वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता स्वतः आ जायगी। मिली हुई सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करती रहो! अप्राप्त वस्तु आदि की चाह सदा के लिए निकाल दो। चाह-रहित होने में ही समस्त विकास निहित है। यह महामंत्र अपना लेने पर जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है। इसके होते ही साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

74

गीता भवन
25-4-57

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

मानव सेवा संघ के सत्संग का रूप मानव सेवासंघ की समस्याओं को हल करते हुए अपने उद्देश्य, अर्थात् सुन्दर समाज का निर्माण तथा अपना कल्याण करना है। इस उद्देश्य पर दृष्टि रखते हुए ही वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को पूरा करना है। कर्त्तव्य-पालन से पूर्व परस्पर विचार-विनिमय द्वारा कर्त्तव्य का ज्ञान अनिवार्य है। यद्यपि प्रत्येक कर्ता में बीज रूप से कर्त्तव्य का ज्ञान विद्यमान है, परन्तु उस विद्यमान ज्ञान को प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में मिला देना है। जिस कर्तव्य को अन्य मत, दल, सम्प्रदाय किसी अन्य के आदेश द्वारापालन की प्रेरणा देते हैं, मानव सेवा संघ उसी कर्तव्य को मानव को अपनी प्रेरणा जानकर पालन करने का नित-नव उत्साह प्रदान करता है। कारण कि, अपने प्रति अपनी आत्मीयता स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, अपने में जितनी सत्यता तथा प्रियता हो सकती है, उतनी उसमें नहीं होती जो वास्तव में अपने से भिन्न है। यद्यपि समस्त विश्व में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिससे स्वरूप की भिन्नता हो, किन्तु काल्पनिक भिन्नता के कारण 'स्व' और 'पर' की प्रियता में कुछ-न-कुछ भेद अवश्य हो जाता है। मानव सेवा संघ अभिन्नता का पुजारी है। इसी कारण कर्तव्य के ज्ञान में भी निज-विवेक के प्रकाश को ही आदर करने का स्वभाव बनाना ही मानव सेवा संघ की सत्संग प्रणाली है। जिस ज्ञान से अपने प्रति होने वाली बुराइयों का ज्ञान होता है, उसी ज्ञान का नेतृत्व प्रत्येक मानव को अपने प्रति करना है, क्योंकि जाने हुए दोष के त्याग में ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति निहित है। यह महामंत्र मानव-मात्र को अपनाना है। मानव सेवा संघ के सत्संग में पर-चर्चा का कोई स्थान हीं नहीं है। कारण कि, वर्तमान में प्रत्येक मानव निर्दोष है। भूतकाल के दोषों के आधार पर किसी को दोषी मानना उसके प्रति घोर अन्याय है। इतना ही नहीं, यदि वह स्वयं अपने को दोषी माने, तब भी उसे यही प्रेरणा देना है कि यदि तुम भूतकाल के दोषों को इस समय नहीं दोहरा रहे हो, तो निर्दोष हो। मानव सेवा संघ की नीति में पर-सेवा का बहुत बड़ा स्थान है, क्योंकि पर-सेवा में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। पर-सेवा का अर्थ यह नहीं है कि जिसकी सेवा की जाती है, उससे स्वरूप की भिन्नता है। केवल काल्पनिक-भेद का नाम ही 'पर' है। मानव सेवा संघ की नीति में बल निर्बलत की, धन निर्धन की, योग्यता अयोग्य की धरोहर है। बल के

द्वारा निर्बल से, धन के द्वारा निर्धन से और योग्यता के द्वारा अयोग्य से स्नेह की एकता स्थापित करना राग-द्वेष का अन्त करना है, अर्थात् त्याग तथा प्रेम से युक्त जीवन बनाना है। मानव सेवा संघ का सत्संग वर्तमान जीवन की प्रत्येक समस्या को त्याग तथा प्रेम के द्वारा हल करता है। मानव सेवा संघ मानव-मात्र को उसकी अनुपम सुन्दरता का बोध कराता है। प्रत्येक मानव मानवता के विकसित होने पर इतना सुन्दर हो सकता है कि उसकी सभी को आवश्यकता हो जाती है और उसे किसी की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि मानवता विश्व तथा विश्व के प्रकाशक को स्वभाव से ही अत्यन्त प्रिय है। अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार साधन-निर्माण के द्वारा मानव-मात्र को निर्दोषता, स्नेह की एकता और वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करना है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए परस्पर में विचार-विनिमय करना है। जाने हुए दोष को न दोहराना पर निर्दोषता स्वतः आ जाती है। दूसरों के अधिकारों की रक्षा करने पर परस्पर में स्नेह तथा विश्वास अपने आप उदय होता है। अपने अधिकारों का त्याग करते ही वास्तविक स्वाधीनता अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है, जिसकी सभी को मांग है।

तुम जिसकी विभूति हो, वह तुम्हारा प्रियतम अन्तर्यामी रूप से तुम्हीं में विद्यमान है। जब तुम शान्त होकर निश्चिन्त हो जाओगी, तब तुम्हें आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता बिना ही मांगे, अपने-आप मिल जायेगी। मिली योग्यता के सदुपयोग में ही आवश्यक योग्यता की प्राप्ति निहित है। तुम उस लेखक की कलम होकर रहो। तुम्हारे द्वारा वह जो चाहे सो करे। कर्तृत्व का अभिमान गल जाने पर सब कुछ स्वतः होने लगता है। तुम प्रीति-निर्मित दृष्टि से अनेक रूपों में अपने प्रियतम की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो। उनकी लीलास्थली में जो अभिनय मिला है, उसको पूरा करने की सामर्थ्य भी मौजूद है। ज्यों-ज्यों फलासक्ति तथा भोग-बुद्धि मिटती जायेगी, त्यों-त्यों जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगेगा। अतः प्रत्येक दशा में सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय बनी रहो। प्रेमास्पद के नाते सभी अपने हैं और मोह के नाते अन्य की तो कौन कहे, शरीर भी अपना नहीं है। माने हुए सम्बन्धों का अन्त करते ही नित्य-सम्बन्ध की जागृति स्वतः हो जायेगी और फिर प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय प्रतीत होगी। सुख की आशा और दुःख का भय सदा के लिए मिटा दो। दुःखियों तथा सुखियों के स्वरूप में अपने प्यारे को देख करुणा तथा प्रसन्नतापूर्वक उनकी पूजा करो और सर्वदा उन्हीं की प्रीति होकर रहो। बस, यही महामन्त्र है-समस्त समस्याओं को हल करने का।

मानव सेवा संघ के साहित्य का प्रचार अपने-अपने ढंग से, जिसको जैसा ढंग प्रिय हो, करे। वास्तव में तो मानव-मात्र की अनुभूति ही मानव सेवा संघ का साहित्य है। मानव सेवा संघ की नीति

परस्पर में स्नेह की एकता स्थापित करने की है, क्योंकि स्नेह ही एक ऐसा तत्त्व है, जिससे संघर्ष का अन्त हो जाता है। अतः जिन उपायों में स्नेह की वृद्धि हो, वही उपाय अपनाने का प्रयत्न करना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

75

नई दिल्ली,

6-8-57

दिव्य ज्योति स्नेहमयी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

निज-ज्ञान में सन्देह न करने से वस्तुत-व्यक्ति आदि की दासता स्वतः मिट जाती है और विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर आत्मयीता स्वीकार करने पर प्रीति स्वतः जागृत होती है। इस दृष्टि से निज-ज्ञान निर्विकार जीवन से और आत्मीयता प्रीति से अभिन्न करने में समर्थ है। निर्विकार जीवन और प्रीति ही मानव की माँग है, अथवा यों कहो कि मानव की निर्विकारता तथा प्रीति से ही जाति तथा स्वरूप की एकता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

76

जयपुर,

9-8-57

दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

आयु निरन्तरघट रही है, यह बात सभी साधकों को ज्ञात है। पर इसका प्रभाव उन्हीं साधकों के जीवन पर होता है, जो नित्य-प्राप्त को वर्तमान में ही प्राप्त कर कृतकृत्य होना चाहते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि विवेक-दृष्टि से प्राप्त से कभी-भी दूरी नहीं है और अप्राप्त से कभी-भी एकता नहीं है। जिससे एकता नहीं है वही कालरूपी अग्नि में जल रहा है। अथवा यों कहो कि जिससे असंग होना है, वही मृत्यु की खुराक है। ऐसी दशा में मृत्यु का ज्ञान क्या अमरत्व से अभिन्न करने में साधन-रूप नहीं है? अवश्य है। मृत्यु के ज्ञान में ही अमरत्व की मांग और अमरत्व की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि में वे साधक बड़े ही भाग्यशील हैं, जिन्हें मृत्यु का ज्ञान स्पष्ट हो रहा है। मृत्यु जिसकी हो रही है वह तुम नहीं हो, तुम तो अनन्त की प्रीति हो। प्रीति ने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार

नहीं किया, तो फिर वास्तविकता के सम्मुख होने का प्रश्न ही कहाँ शेष रहता है।

देह की दुर्बलता भी देह की वास्तविकता के ज्ञान में साधन-रूप है। मिले हुए के सदुपयोग का नाम ही साधन है। जो नहीं हो सकता। उसेकरना ही नहीं है। जो हो सकता है, उसे पूजा-बुद्धि से कर डालना है। सच्चे आस्तिक की दृष्टि में करना और न करना समान अर्थ रखता है। न करने का दुःख और करने का सुख मन से सदा के लिए निकाल दो, अर्थात् बे-मन की होकर सर्वदा शान्त एवं प्रसन्न रहो-यही सफलता की कुँजी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

77

पुष्कर,
25-8-57

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति बेटी,

सदैव अनन्त की प्रीति होकर रहो!

समस्त सृष्टि में कोई एक ही है। इस कारण उसकी प्रत्येक वस्तु एक है। प्रीति तथा उद्देश्य की दृष्टि से समस्त सृष्टि एक है, भिन्नता केवल साधन में है। निज-विवेक ही अपना अनुपम विधान है। प्राप्त परिस्थिति ही सुन्दर साधन-सामग्री है। जिस मंगलमय विधान से परिस्थिति निर्मित है, वह सभी के लिए सर्वदा हितकर है। तो फिर भय तथा चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है? मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु के सदुपयोग में पराधीनता कहाँ है? पराधीनता तो केवल फलासक्ति में है। अथवा जो नहीं कर सकते हैं, उसके सोचने में हैं। जो कर सकते हैं, उससे अपने को न बचायें—यही परम पुरुषार्थ है। प्रत्येक कार्य उनकी पूजा बन जाय। बस, यही आस्तिकता है उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही आस्तिक का अपना बल है, और उनका सरल विश्वास ही अपना धन है तथा उनकी प्रीति ही अपना जीवन है। मानव-जीवन का महत्व मत भूलो। परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता में समान बुद्धि रखो। प्रत्येक मानव 'मानव' होने के नाते बड़ेही महत्व का है। पर कब? जब किसीवस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, पद आदि के आधार पर अपना मूल्यांकन न करे। प्रत्येक वस्तु उन्हीं की है, जिनकी सारी सृष्टि है। जब प्राप्त में ममता और अप्राप्त की चाह नहीं रहती, तब निर्भयता तथा निश्चिन्तता अपने-आप आ जाती है, जिसके आते ही परिस्थिति का सदुपयोग स्वतः होने लगता है, यह निर्विवाद सत्य है।

शरणानन्द की खोज में किसी को किसी के पद-चिन्हों पर नहीं चलना है, अपितु निज-विवेक के प्रकाश में ही रहना है। व्यक्तियों की सेवा तथा वस्तुओं

का सदुपयोग भले ही साधन-रूप हो, किन्तु वस्तु तथा व्यक्तियों की दासता का साधन में कोई स्थान नहीं है। विश्वास करने योग्य केवल वे ही हैं, जिनको जानते नहीं हैं, सुना है। करने योग्य प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग है। जानने योग्य केवल मैं ही है। इन तीनों में से कोई भी एक बात पूरी कर दी जाय, तो अन्त में तीनों ही एक हो जाती हैं। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उस अनन्त की दिव्य-चिन्मय प्रीति हो। अविवेक के कारण प्राणी अपने को असमर्थ मान लेताहै। विवेक का आदर करते ही पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है। वस्तु तथा व्यक्ति में न तो विश्वास ही रहता है, न सम्बन्ध ही। किन्तु वस्तु का सदुपयोग तथा व्यक्तियों का आदर स्वभाव से ही होने लगता है। वस्तु तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध ने ही मानव को 'मानव' नहीं रहने दिया। मानव 'मानव' हुए बिना न तो तत्वज्ञ ही हो सकता है, न प्रेमी ही और न कर्तव्य परायणता ही आती है। 'मानव' होते ही सब कुछ हो सकता है। अतः तुम मानव के महत्व को मत भूलो।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

78

पुष्कर,

1-9-57

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

पत्र न मिलने से घबराती हो। इस दृष्टि से तो पत्र-व्यवहार एक नवीन बन्धन का हेतु बन गया। क्या तुम यही नहीं जानती कि जो दशा पत्र लिखते समय होती है, वह दशा पत्र पहुँचते समय तक रहेगी,-क्या यह बात सन्देह-रहित है? कदापि नहीं। पत्र का मिलना भूतकाल की चर्चा है, और कुछ नहीं। शान्ति-भंग कभी किसी आवश्यक कार्य करने से नहीं होती। शान्ति-भंग होती है, अनावश्क कार्य के चिन्तन से, और आवश्यक कार्य के न करने से अथवा फलासक्ति से। सही कार्य करना राग-निवृत्ति का साधन है अथवा अपने प्रभु की पूजा है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

79

यात्रा में,
11-10-57

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा अपने प्यारे की पूजा करो। सब कुछ देकर जो बन्धन लिया जाता है, वह है-प्रीति, जो वास्तव में तुम्हारा स्वरूप है। तुम उसे भूल जाती हो और अपने को देह मानकर सुख-दुःख के जाल में फंस जाती हो और घबड़ाने लगती हो। मानव सेवा संघ और सत्संग तुम्हें अपने प्यारे के नाते प्यारे हैं, इसी कारण तुम्हें लिखा था। परस्थितियों से घबड़ाना परिस्थितियों की दासता सिद्ध करता है, और कुछ नहीं। अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही साधनरूप हैं। उन दोनों ही में अपने प्यारे ही का दर्शन करो। देखो रानी, और कोई है ही नहीं। तो फिर सदा के लिए उन्हीं में अपने मन को लगा दो और बे-मन की होकर अपने वास्तविक दिव्य-चिन्मय रूप को प्राप्त कर उनकी प्रीति हो जाओ, जिससे उन्हें रस मिले। उन्होंने अपने रस की उपलब्धि के लिए ही मानव का निर्माण किया है। मानव ही भोग और मोक्ष की कामना से रहित होकर प्रेम प्राप्त कर सकता है, जिसकी उन्हें माँग है। प्रीति किसी कर्म और अभ्यास से प्राप्त नहीं होती, अपितु आत्मीयता से प्राप्त होती है, जो विश्वास से सिद्ध है। जिसने एक बार 'मेरे नाथ'! कह दिया, बस, प्रीति प्राप्त हो गई।

जिओ, जागो, सदा अनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

80

श्री वृन्दावन,
13-10-57

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

निश्चिन्तता तथा निर्भयतापूर्वक वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा अपने प्रेमास्पद की पूजा करती हो। प्रवृत्ति में सुख का भोग और निवृत्ति में आलस्य का भोग असाधन है। अधिकार-लालसा से रहित निवृत्ति और दूसरों के अधिकरों की रक्षा में प्रवृत्ति साधन-रूप है। फलासक्ति प्रवृत्ति को दूषित करती है। फलासक्ति का अन्त होते ही साधक अधिकार-लालसा से मुक्त हो जाता है। अधिकार-लालसा से मुक्त होते ही राग तथा क्रोध का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही स्वाधीनता तथा स्मृति स्वतः उदय होती है, जो साधक को साध्य तत्त्व से अभिन्न करने

में समर्थ है। जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

81

पाली,
21-9-57

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय होकर प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा, श्रद्धापूर्वक अपने प्यारे की पूजा करती रहो। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन मत करो। यदि अपने-आप होने लगे, तो उससे असहयोग कर लो। सुख की आशा से रहित होते ही परिस्थिति के अनुरूप पूजा करने की सामर्थ्य अपने आप आ जायगी। मान तथा भोग की रुचि ने ही प्राणी को असमर्थ कर दिया है।

तुम्हारा

.....

82

धौलपुर,
11-11-57

देहातीत दिव्य ज्योति,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

मानव सेवा संघ का दर्शन मानव का अपना दर्शन है। जो अपनी ओर देखता है वहीं संघ के दर्शन से परिचित हो जाता है। संघ किसी को कोई ऐसी बात नहीं बताता जो उसकी अपनी बात नहीं है। उनकी महिमा में अविचल श्रद्धा उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कराने में समर्थ है और सम्बन्ध की स्वीकृति उनकी मधुर स्मृति का प्राकट्य करने में हेतु हैं। प्रिय की मधुर स्मृति ही प्रिय को रस देने में समर्थ है।

जिओ जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

83

नई दिल्ली,
11-11-47

देहातीत दिव्य ज्योति,

प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा अपने प्यारे की पूजा करती हुई सर्वदा उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो। प्रिय की स्मृति प्रिय के समान ही रसरूप है और उनकी स्मृति को सजग बनाए रखने के लिए ही कर्तव्य-कर्म द्वारा पूजा करना है। जिसे तुम स्थूल कार्य तथा

जगत्-व्यवहार कहती हो, वही तो उनकी पूजा है। पूजा में पुजारी का खो जाना तो पूजा की सफलता है। फिर न जाने तुम क्यों भयभीत होने लगी हो?

हाँ! एक बात अवश्य है कि यदि पुजारी को पूजा के अन्त में प्रिय की मधुर स्मृति न हो जाय, तब सोचने की बात है।

जिओ जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

84

श्री वृन्दावन,
15-10-47

देहातीत दिव्य ज्योति,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो और प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की ही अनुपम लीला का दर्शन करो। उनके रंग-मंच पर जो अभिनय मिला है, उसे इतनी सुन्दरतापूर्वक करो कि करने का राग सदा के लिए मिट जाय और तुम दिव्य चिन्मय प्रीति से अभिन्न होकर अपने प्यारे को रस देने में सर्वदा तत्पर बनी रहो। प्रीति से अभिन्न होने के लिए स्वाधीनता के महत्व को न्यौछावर करना पड़ता है। केवल दुःखों की निवृत्ति और निर्विकार जीवन की प्राप्ति तो निराश्रय, अर्थात् वस्तु, अवस्था, व्यक्ति आदि के आश्रय के त्यागमात्र से ही हो सकती है और अविनाशी पद तथा अखण्ड रस की प्राप्ति तो स्वाश्रय से हो सकती है। किन्तु अनन्त को नित-नव रस प्रदान करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि निर्विकारता तथा अविनाशी पद में सन्तुष्ट न रह कर दिव्य-चिन्मय प्रीति से अभिन्नता प्राप्त कर ली जाय, क्योंकि प्रीति से ही वास्तविक एकता है। यद्यपि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है, परन्तु प्रीति होकर ही प्रीतम को रस दिया जा सकता है। उसके लिए अपने को प्रीति स्वीकार करना ही सहज सुगम साधन है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

85

श्री वृन्दावन,
2-11-57

देहातीत दिव्य ज्योति,

प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की अनुपम लीला का दर्शन करते हुए उन्हीं की प्रीति होकर रहो। उनके मिलने का तरीका अपने खो जाने में है। यदि तुम खोई-खोई सी रहती हो, तो बड़े ही हर्ष की बात है। जो कुछ हो रहा है, वही ठीक है। उसी में सभी का हित निहित है। अन्तिम मूल्य चुकाने के लिए अहंरूपी अणु का अन्त करना है। वह तभी होगा,

जब जाने हुए असत् का त्याग कर सत्य का संग हो जाय। यद्यपि आकर्षण, प्राप्त सत् का अनुभव नहीं होने देता। असत् सत् की सत्ता से ही प्रकाशित है, उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत् सर्वदा असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं। सत् की उत्कट लालसा ही एक-मात्र असत् की नाशक है। कामना-पूर्ति के प्रलोभन ने सत् की लालसा को शिथिल बनाया है, मिटाया नहीं। क्योंकि सत् की लालसा सत् के समान ही सत् है, अतः उसका नाश हो ही नहीं सकता। यह नियम है कि जिसका नाश नहीं हो सकता, उसकी पूर्ति अनिवार्य है। इस नियम के अनुसार जब साधक यह स्वीकार कर लेता है कि सत् की उपलब्धि वर्तमान की वस्तु है, तब सत् की उत्कट लालसा स्वतः जागृत होती है, जो असत् से सम्बन्ध-विच्छेद कर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सत् की लालसा ही सत् की प्राप्ति की वास्तविक साधना है। यही अन्तिम मूल्य है, जिसके चुकाने में मानव-मात्र स्वाधीन तथा समर्थ है।

अहंरूपी अणु सुख तथा दुःख दोनों ही से आश्रय पाता है। इस कारण सुखियों तथा दुःखियों दोनों ही को अन्तिम मूल्य चुकाना समान ही रहता है। दुःखी को सहज और सुखी को कठिन हो, ऐसी बात नहीं है। जब साधक सुख में दुःख का दर्शन नहीं कर पाता, तब उसके हित के लिए दुःखमय परिस्थिति आती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि दुःखमय परिस्थिति के सदुपयोग में भी साधक को हिचक होती है। उसको सहन करने में कोई विशेष हित नहीं होता। हित होता है दुःख का पूरा प्रभाव हो जाने में। दुःख का पूरा प्रभाव सुख में भी दुःख का दर्शन करा देता है। सुख में दुःख का दर्शन करने पर बेचारा दुःख अपने-आप चला जाता है। इतना ही नहीं, दुःख के स्वरूप में तो अपने प्यारे ही आते हैं। पर इस रहस्य को कोई विरले ही जान पाते हैं। सुख के प्रलोभन ने ही हमें अपने प्रिय से विमुख किया है। दुःख का प्रभाव होने पर ही सुख का प्रलोभन मिटता है। इस दृष्टि से दुःख सुख की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की वस्तु है।

अहंरूपी अणु का अन्त करने पर ही संघ-संदेश विभु हो सकता है। कुएँ से पानी खींच कर कितनी भूमि सींची जा सकती है! यदि सभी भूमि को सींचना है, तो बादल बनकर बरसना होगा। इसी प्रकार अहंरूपी अणु का नाश करके स्नेह की एकता को व्यापक करना होगा। बाह्य उपचार तो कूप से जल खींचने के समान है। भावना को सजीव बनाने के लिए सीमित कार्यक्रम साधन-रूप है, किन्तु अहं का नाश किए बिना संघ का संदेश विभु नहीं हो सकता। इसी पवित्रतम कार्य के लिए तुम्हें मानव-जीवन मिला है। तुम्हारा जीवन और मानव सेवा संघ दो नहीं हैं। तुम जितनी सुन्दर होती जाओगी, उतना ही संसार सुन्दर होता जायगा।

जिओ जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

86

नई दिल्ली,
26-11-57

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को कभी देखा ही नहीं। इस कारण प्रीति से अभिन्न होने पर ही दूरी तथा भेद का नाश हो सकता है। किन्तु दूरी तथा भेद न रहने पर भी प्रीति कभी-भी प्रीतम को सर्वांश में जान नहीं पाती, क्योंकि प्रीति-निर्मित दृष्टि नित नूतनता का अनुभव कर सदैव अपने को न्यौछावर करती रहती है। तभी तो मिलन में वियोग और वियोग में मिलन की दशा रहती है। श्रम-रहित हुए बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना स्वाधीनता नहीं आती और स्वाधीनता को समर्पित किए बिना प्रीति की अभिव्यक्ति नहीं होती। स्वाधीनता देकर जो पराधीनता अपनाई जाती है वही प्रीति को पुष्ट करती है। यद्यपि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और कुछ नहीं, परन्तु अधिकार-लालसा की मलिनता ने प्रीति से विमुखता कर दी है। अधिकार देने में तो पराधीनता नाश होती है और अधिकार-त्याग से स्वाधीनता प्राप्त होती है। अधिकार देकर अधिकार-लालसा से रहित होने पर ही कर्तव्य-परायणता में पूर्णता होती है। और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। करने के राग से रहित होते ही स्वतः विश्राम प्राप्त होता है, जिसके मिलते ही समस्त विकास स्वतः होने लगते हैं जिन साधकों के जीवन में दुःख का पूरा प्रभाव हुआ है, वे बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख की दासता से मुक्त हो गये। सुख-दुःख का भोग तो पशु-पक्षी भी करते हैं, किन्तु सुख का सदुपयोग और दुःख का पूर्ण प्रभाव केवल मानव-जीवन में ही हो सकता है। दुःख का प्रभाव सुख की दासता को खाकर दुःख के भय से मुक्त कर देता है और दुःख का भोग बेचारे दुःखी को व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध कर साधन से विमुख कर देता है। दुःख के प्रभाव से तो साधन की अभिव्यक्ति होती है और दुःख के भोग से असाधन की उत्पत्ति होती है। असाधन का त्याग किये बिना न तो साधन में सजीवता ही आती है और न साधन से साधक की अभिन्नता ही होती है। बीज रूप में असाधन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन कालान्तर में भले ही फलित हो, क्योंकि जो कुछ किया है उसका फल अवश्य बनता है। किन्तु असाधन का त्याग किये बिना न तो साधन में स्वाभाविकता ही आती है और न साधन-तत्त्व से अभिन्नता

ही होती है। इस कारण असाधन के त्याग में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है। असाधन का त्याग वर्तमान की वस्तु है। वस्तु-विश्वास ही समस्त असाधनों का मूल है। उसका त्याग होते ही निर्विकारता तथा प्रिय-विश्वास स्वतः हो जाता है। प्रिय-विश्वास में ही उनका सम्बन्ध तथा मधुर स्मृति निहित है। स्मृति अभ्यास नहीं है, वह की नहीं जाती, होने लगती है। उनकी स्मृति ही उनको रस देती है। उनके रस में ही प्रेमी का जीवन है। रस वही देता है, जो स्वयं भोक्ता नहीं है, अपितु प्रीति होकर प्रीतम की भोग्य है। जो जिसकी भोग्य है वह उसे अत्यन्त प्रिय है। भला, जो अनन्त की प्रिय है, उसके सौभाग्य की सराहना कौन कर सकता है!

जिओ जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

87

इलाहाबाद,

22-2-58

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग में ही चिरशान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। दायित्व पूरा करते ही आवश्यकता की पूर्ति स्वाभाविक है। मिले हुए का सदुपयोग, जाने हुए का प्रभाव एवं सुने हुए प्रभु में अविचल श्रद्धा ही वास्तविक साधन है। कर्तव्यपरायणता से चिर-शान्ति, असंगता से स्वाधीनता एवं आत्मीयता में ही परम प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है।

जिओ जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

88

गीता भवन,

11-4-58

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा और विश्वनाथ की प्रीति होकर रहो!

मूक-सत्संग चिर-विश्राम है; कर्तव्य-परायणता, असंगता एवं शरणागति का फल है, अथवा यों कहो कि अचाह तथा आत्मीयता की दृढ़ता में ही चिर-विश्राम है। पूजा-कार्य के आदि और अन्त में स्वतः विश्राम मिलता है और

सामर्थ्य, विचार तथा विरह की जागृति स्वतः होती है। पूजा के अतिरिक्त कुछ भी करने की बात नहीं है। शरीर कितना ही बड़ा हो, पर तुम तो सदैव एकसी हो। अनन्त की प्रीति अनन्त की दृष्टि से नित-नव है। प्रीति-निर्मित चपलता प्रियतम को रस देती है। तुम किसी भी काल में शरीर, व्यक्ति आदि को नहीं हो, वरन् प्रीति-निर्मित निर्मल धारा हो; क्षति, पूर्ति, निवृत्ति से रहित हो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

89

देहरादून,
4-7-58

देहातीत दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

जो कुछ स्वतः हो रहा है उसमें अपने हित का ही दर्शन करना है। प्रेमीजन सब कुछ प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ ही करते हैं और उनके जीवन में निरन्तर प्रेमास्पद की ही प्रतीक्षा रहती है। इतना ही नहीं, उसके मन में किसी और के लिए ठौर ही नहीं रहता, अथवा यों कहो कि उनकी दृष्टि में कोई और रहता ही नहीं। किसी और की प्रतीति प्रीति का अधूरापन है। सच तो यही है कि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न कभी और को देखा ही नहीं। किसी-किसी प्रेमी ने तो प्रेमास्पद को पूरा देख ही नहीं पाया। देखने की उत्कट लालसा में ही अपने को भूल गया। किसी-किसी प्रेमी के पास तो मन ही नहीं रहा। बे-मन का जीवन प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करने में समर्थ है। उनके वियोग तथा संयोग में प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। जीवन प्रीति में ही निहित है। निष्कामता की भूमि में सेवारूपी बेल लहलहाती है और उसी में प्रीतिस्वरूपी फल लगता है। इस दृष्टि से निष्कामता, सेवा तथा प्रेम ही में जीवन निहित है। अनेक रूपों में अपने प्यारे को लाड़ लड़ाती हुई उन्हें सर्वदा रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

90

लखनऊ,
14-7-58

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अपने प्यारे को लाड़ लड़ाती हुई मस्त रहो!

प्रत्येक घटना में उन्हीं की अनुपम लीला का दर्शन करो। अनेक

वेषों में अपने प्यारे को ही पाकर विधिवत् पूजा करती रहो। जब सब कुछ उन्हीं का है, तो उसी के द्वारा उनकी स्तुति करो। स्तुति उपासना सिद्ध करने में समर्थ है। उनकी आत्मीयता ही उन्हें रस प्रदान करती है। अपने में अपना कुछ नहीं है, किन्तु वे अपने अवश्य हैं। यद्यपि प्रीति उन्हीं का स्वभाव है, परन्तु फिर भी उन्हें प्रीति ही से रस मिलता है। उनकी अहैतुकी कृपाशक्ति ने ही तुम्हारा निर्माण किया है। अतः सदैव उन्हें रस प्रदान करती रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

91

बनारस,

24-7-58

प्रीति निर्मित दिव्य ज्योति,

सदैव अनन्त को रस प्रदान करती रहो!

प्यारे की जैसी मौज है, उसी में आनन्द है। जो नहीं हो सकता उसका करना आवश्यक नहीं है। करना उसी का आवश्यक है जो हो सकता है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाली निवृत्ति में ही प्रिय की मधुर स्मृति सबल तथा स्थायी होती है। प्रिय की मधुर स्मृति स्वभाव से ही प्रिय को रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है। रोग के स्वरूप में अपने ही प्यारे हैं और कोई नहीं है। जिस वेष में आए हैं उसी के अनुरूप पूजा करना है। देह की वास्तविकता का स्पष्ट बोध बना रहे, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने रोग का वेष बनाया है। प्रत्येक घटना में उनकी अहैतुकी कृपा तथा करुणा का दर्शन करना है। प्रेम-निर्मित दृष्टि स्वभाव से ही प्रेमास्पद पर ही लगी रहती है। तभी परस्पर में रस का आदान-प्रदान होता रहता है। प्रिय को रस देने में ही अपना रस है। साधन-जनित सुख का भोग न होने पर साधन स्वतः साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है। अचाह-पद की अभिव्यक्ति होते ही असाधन का नाश हो जाता है और आत्मीयता की अभिव्यक्ति में ही समस्त साधनों का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। उनकी दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से उन्हीं की पूजा करते हुए उन्हीं की प्रीति होकर रहो, जो वास्तव में तुम्हारा स्वरूप है।

मोहयुक्त उदारता और क्रोधयुक्त त्याग कर्तव्य-पालन में बाधक है, असाधन है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

92

बनारस,
30-7-58

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन कर उन्हीं की अखण्ड मधुर स्मृति होकर रहो। इसी में जीवन की सार्थकता निहित है। रोग प्राकृतिक तप है। रोगावस्था में शान्त तथा प्रसन्न रहना अनिवार्य है। प्राणशक्ति सबल होने पर प्रत्येक रोग स्वतः नष्ट हो जाता है। चित्त में प्रसन्नता तथा हृदय में निर्भयता रहने से प्राण-शक्ति सबल हो जाती है। देह की वास्तविकता का बोध कराने के लिए और अनेक रूपों में प्रेमास्पद स्वयं सेवा करने के लिए रोग के स्वरूप में अभिनय कर रहे हैं। विवेक दृष्टि से रोग राग का परिणाम है। राग का अन्त करने के लिए ही रोग प्रगट हुआ है। इस सुनहरे अवसर को पाकर तुम्हें सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहना है। तुम्हारी प्रसन्नता से ही प्रेमास्पद को प्रसन्नता होगी। अनेक वेषों में जब उन्हें पहचान लोगी, तब से स्वतः उस वेष में प्रगट होंगे, जो तुम्हारे लिए सर्वदा रस-रूप होगा।

प्रतिकूलताएँ अनुकूलता की दासता का नाश करने के लिए ही आती हैं। उनसे डरो मत, अपितु उनका आदरपूर्वक स्वागत करो। सुख का राग नष्ट करने के लिए ही दुःख प्रगट होता है। दुःख सजगता प्रदान करने में समर्थ है। दुःख का प्रभाव वस्तुओं के स्वरूप का बोध कराने में हेतु है। इस दृष्टि से दुःख मानव-जीवन का आवश्यक अंग है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

93

श्री वृन्दावन,
19-11-58

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

जिन्होंने सद्भावपूर्वक प्रेमास्पद से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और विवेकपूर्वक शरीरादि वस्तुओं की ममता का त्याग कर दिया, उनके लिए प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है। वे प्रीति होकर अपने प्रीतम को रस देते हुए अपने प्यारे की अनुपम लीला का निरन्तर दर्शन करते हैं। उनके जीवन में मोह तथा शोक की गन्ध तक भी शेष नहीं रहती। उन्हीं का जीवन धन्य है।

जिओ जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

94

श्री वृन्दावन,
25-11-58

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। प्रेमास्पद अपनी ही उदारता से प्रेरित होकर प्रेमियों को अपने लिए उपयोगी बना देते हैं। इसी कारण प्रेमीजन अपने में अपना कुछ नहीं पाते। प्रेम प्रेमास्पद की ही देन है। अपनी दी हुई प्रीति के हाथ बिक जाना ही प्रीतम का स्वभाव है। प्रीति में ही प्रीतम का निरन्तर वास है। प्रीति समस्त सीमाओं को पार करती हुई अनन्त से अभिन्न हो जाती है। प्रीति ने प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार नहीं की और न कभी तृप्त होकर प्रीतम से भेंट ही की। नित्य-मिलन और नित्य-वियोग ही प्रीति की रीति है। अपने सहित सब कुछ देकर ही प्रीति से अभिन्नता होती है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

95

इलाहाबाद,
16-1-59

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

करुणा और दुःख में अन्तर क्या है, इस पर विचार करो। करुणा सुख-भोग की रुचि का नाश कर देती है और दुःख क्षोभित कर सुख की आशा में आबद्ध कर देता है; अर्थात् दुःखी को सुख का चिन्तन होता है और करुणित प्राणी सेवा करते हुए दुःखी प्राणियों को कर्तव्यनिष्ठदेखने का प्रयास करता है। तभी उसके हृदय में बार-बार यही भावना उदित होती है कि प्यारे प्रभु उनको त्याग का बल दें! ममता-रहित उदारता भी त्याग को पोषित करती है, परन्तु ममतायुक्त उदारता देने वाले में अभिमान और लेने वाले में लोभ तथा अधिकार-लालसा को जन्म देती है, जिसकी पूर्ति-अपूर्ति में असाधन ही उत्पन्ना होता है।

किसी की उदारता से किसी की दरिद्रता का नाश नहीं होता। अपने-अपने कर्तव्य में ही अपना-अपना विकास है। ममता के नाश के लिए ही सेवा की जाती है और अहं तथा मम् का अन्त करने के लिए ही त्याग अपनाया जाता है। विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति में सेवा और त्याग साधन-रूप है, अर्थात् सेवा और त्याग के द्वारा जो मिलना चाहिए

वह स्वतः मिलता है। जब-जब दुखियों की गाथा सुनकर दुःख हो, तब-तब यही भावना हो कि हे प्यारे! क्या आप इस नीरस हृदय को करुणा का रस देना चाहते हैं? कहीं नीरसता को सज्जनता के अभिमान में मत बदल देना।

प्रवृत्ति बढ़ने से यदि विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम में क्षति होती है, तो यह पूजा की वास्तविक भावना नहीं है। पूजा का भाव प्रीति को पुष्ट करता है। सही काम में विश्राम निहित है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

96

प्रयाग,
18-1-59

चिन्मय धाम निवासिनी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

जाने हुए का प्रभाव किये हुए के राग को खाकर साधक को निर्मल बना देता है। निर्विकारता की अभिव्यक्ति शान्ति तथा स्वाधीनता से अभिन्न कर देती है। परन्तु प्रेमीजन न तो गुणों का ही भोग करते हैं, न चिरशान्ति में ही रमण करते हैं और न स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट रहते हैं, अपितु दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न होने पर भी अपने प्यारे की प्रीति होकर रहने में ही अपना सर्वस्व जानते हैं। प्रीति और प्रीतम दोनों ही का स्वरूप एक है। प्रेमास्पद प्रेम से परिपूर्ण होने पर भी प्रेम के भिखारी हैं, अथवा यों कहो, पुजारी हैं। प्रेम ही उन्हें रस देने में समर्थ है और वही तुम्हारा निज-स्वरूप है। सुने हुए प्रेमास्पद में अविचल श्रद्धा तथा विश्वास एवं उनकी आत्मीयता ही आस्तिक की वास्तविक साधना है।

जाने हुए का प्रभाव अहंता और ममता के विनाश में हेतु है। अहंता और ममता का नाश चिर-शान्ति तथा स्वाधीनता से अभिन्न करने में समर्थ है। जाने हुए जगत की ममता का त्याग और सुने हुए प्यारे प्रियतम में आत्मीयता ही समस्त साधनों का मूल है। विचार और विश्वास का प्रभाव होने पर मिले हुए का सदुपयोग वर्तमान कर्तव्य-कर्म के स्वरूप में अपने प्रियतम की पूजा स्वतः होने लगती है। पूजा, आदर-प्यार तथा निष्कामता की जननी है। निष्कामता में ही प्रीति पोषित होती है। प्रीति और प्रियतम की नित-नव लीला परस्पर मे रस प्रदान करने में हेतु है। रस की माँग ही जीवन की माँग है। रस देने में ही रस की वृद्धि है। रस की वृद्धि में ही रस का दान है। रस के आदान-प्रदान में ही वास्तविक जीवन है।

पुजारी पूजा के बदले में प्रीतम की प्रीति ही माँगता है। सब कुछ प्रीति से अभिन्न होने के लिए ही किया जाता है। राग-निवृत्ति में ही प्रीति की अभिव्यक्ति निहित है।

सेवा विद्यमान राग को खाकर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होने देती। यही सेवा की महिमा है। सेवा की वास्तविकता करुणा और प्रसन्नता में निहित है। वस्तुओं का देना अथवा न देना विधान के अधीन है। जिसका लिया है उसे देना ही होगा। जिसका लेना समाप्त हो गया उसे कोई दे ही नहीं सकता। इस दृष्टि से देने तथा न देने की कल्पना ही कुछ अर्थ नहीं रखती।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

97

श्री वृन्दावन,

20-1-59

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त को रस प्रदान करती रहो!

तुम्हारे द्वारा जो सेवा हुई है, उसके लिए तो मेरा हृदय ऋणी है। अस्वस्थ अवस्था में अथक प्रयास द्वारा तुमने मानव सेवा संघ को जो साहित्य दिया है, वह भूरि-भूरि सराहनीय है। इसके अतिरिक्त मेरी सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि जो साधक वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा प्यारे प्रभु की पूजा कर, उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। जिसने जाने हुए असत् के त्याग द्वारा असाधन का अन्त कर, साधन-परायणता प्राप्त की, उसने तो मेरी बड़ी ही सेवा की है। जो अपने लिए तथा जगत के लिए एवं प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी है, वही मुझे परम प्रिय है।

अब रही दुःख की बात, सो उसका तो मैं सदैव पुजारी रहा हूँ। सच तो यह है कि यदि मैं किसी के प्रति उपकार नहीं कर सका हूँ, तो वह मेरा प्यारा 'दुःख' ही है। दुःख से मुझे सब कुछ मिला है। पर मेरे द्वारा दुःख की कोई सेवा नहीं हुई। जब-जब दुःख की महिमा पर विचार करता हूँ, तब-तब ऐसा ही मालूम होता है कि प्यारे दुःख ने ही मुझे दुःखहारी से मिलाया है। दुःख के प्रभाव ने ही सुख की दासता से मुक्त किया है। सुख की दासता के नाश में ही स्वाधीनता निहित है। स्वाधीनता ही दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। उत्पन्न हुई, परिवर्तनशील, पर-प्रकाश्य वस्तुओं की ममता के त्याग में भी प्यारे दुःख का ही पूरा-पूरा हाथ है। दुःख का प्रभाव साधन और दुःख का भोग असाधन है। जिन

साधकों को सचमुच मेरी सेवा करनी अभीष्ट है, वे साधन-तत्व से अभिन्न होकर साध्य को नित-नव रस प्रदान करें और प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर, चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता एवं परम प्रेम की प्राप्ति में ही मेरी वास्तविक सेवा का अनुभव करें। करुणा और प्रसन्नता तो साधक का स्वभाव ही है, पर सुख लोलुपता तथा मोह का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

तुम्हारा

.....

98

प्रयाग,
26-1-59

चिन्मय धाम निवासिनी अवस्थातीत दिव्य ज्योति,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

किसी की उदारता को अपना गुण नहीं मानना चाहिए। सरल विश्वास एवं सहज प्रीति प्रीतम की ही देन है। अनेक रूपों में उन्हीं की महिमा का दर्शन करना है। सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है। यह आस्तिक का स्वभाव है। वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा अपने प्यारे को लाड़ लड़ाते हुए सदैव उन्हीं की प्रीति होकर रहो—यही मेरी सद्भावना है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

99

बलिया,
7-2-59

चिन्मय धाम निवासिनी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो और विश्व के स्वरूप में अनेक भाव तथा अनेक प्रकार से क्रियात्मक रूप में उन्हीं को लाड़ लड़ाओ! प्रत्येक प्रवृत्ति प्रिय की पूजा है। प्रवृत्तियों के अन्त में स्वतः मधुर स्मृति जागृत रहे। जब क्रियाशीलता भाव में विलीन हो जायगी, तब प्रवृत्ति के अन्त में मधुर स्मृति स्वतः जागृत होगी, यह निर्विवाद सत्य है।

सन्तुलन सुरक्षित रखने के लिए कर्म-भेद में भी प्रीति तथा लक्ष्य की एकता सुरक्षित रखना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

100

इन्दौर,
25-2-59

देहातीत प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति, दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य द्वारा अपने प्रेमास्पद की पूजा करती हुई उन्हीं की मधुर स्मृति होकर, उन्हें सर्वदा रस प्रदान करती रहो। प्रिय की मधुर स्मृति प्रिय को रस प्रदान करती है। प्रिय की मधुर स्मृति में ही अन्य की विस्मृति निहित है। प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नहीं!

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

101

इन्दौर,
28-2-59

चिन्मय धाम निवासिनी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

इन्द्रिय-ज्ञान की सत्यता, जो वास्तव में अल्प है अर्थात् अधूरा ज्ञान है, अनन्त की अहैतुकी कृपा में विकल्प करता है। प्रतीति जब जैसी हो, तब तैसी मानो। सत्तारूप से तो सर्वदा-सर्वत्र अपने ही प्यारे हैं और तुम उनकी नित्य-प्रिया अर्थात् प्रीति हो। प्रीति और प्रीतम से भिन्न किसी भी काल में कुछ है ही नहीं। प्रीति के अनुरूप ही प्रीतम लीला करते हैं, और लीला के अनुरूप ही प्रीति अभिनय करती है। प्रीति और प्रीतम का नित-नव विहार सर्वदा रसरूप ही है।

मन की निर्विकल्पता तथा बुद्धि की समता स्वाभाविक हो जाने पर स्वतः अवस्थातीत चिन्मय जीवन में प्रवेश पाने की सामर्थ्य आ जाती है। जब तक समता में स्थाई निवास नहीं होता, तब तक ही अनन्त की अनुपम लीला में विकल्प रहता है। समता समस्त दृश्य को विलीन कर प्यारे की अनुपम लीला में प्रवेश कराती है। निष्कामता समता को प्रदान करती है। वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा पूजा निष्कामता को पुष्ट करती है। तुम किसी भी काल में शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि नहीं हो। तो फिर बुद्धि आदि के निर्णय के अधीन क्यों हो जाती हो? तब ही विकल्प होता है। समस्त विश्व चिन्मय तत्व के ही आश्रित है। उसमें उसी की सत्ता है। जब तत्व पर दृष्टि रहती है, तब प्रतीति का प्रभाव स्वतः ही मिट जाता है, जिसके मिटते ही समस्त विकल्प निर्विकल्पता में विलीन हो जाते हैं।

सहज भाव से पूजा करती हुई प्रीति को जागृत होने दो। अनन्त की,

अहैतुकी कृपा स्वतः प्रिय के अनुकूल बना देगी। यह निर्विवाद सत्य है।

सत्संग के समान कोई अन्य स्वतन्त्र साधन है ही नहीं। सत्य का संग असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न कर देता है। असत्य के त्याग में ही असाधन का अन्त और साधन की अभिव्यक्ति निहित है। कभी-कभी असाधन-जनित भूतकाल की स्मृतियाँ साधन की अभिव्यक्ति में विकल्प करने लगती हैं। विचारशील साधक उस विकल्प को अस्वीकार कर देते हैं। पर यह रहस्य कोई विरले ही जानते हैं।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा

.....

102

बम्बई,
11-3-59

दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

कार्य का अधूरापन विश्राम में बाधक है। कार्य ठीक करें, फलासक्ति न रखें, प्रत्येक कार्य साधन बन जाता है। सच तो यह है कि बिना प्रबन्ध के जो प्रबन्ध होता है, वह बड़ा ही आनन्दमय होता है। परन्तु इसका उपयोग आलस्य में न किया जाय।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

103

बम्बई,
12-3-59

चिन्मय धाम निवासिनी प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक घटना में अपने प्रेमास्पद की अनूपम लीला का दर्शन करते हुए सर्वदा उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो!

अपने मन की करते-करते अनेक जन्म बीत गये, परिणाम में अभाव ही मिला। प्यारे के मन में मन विलीन हो जाय, अपने मे अपना कुछ न रह जाय। समस्त जीवन उन्हीं की भोग्य वस्तु बन जाय। बस, यही मानव-जीवन की वास्तविक मांग है, जिसकी पूर्ति उनकी दी हुई अविचल श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता में निहित है। अतः सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

104

लखनऊ,
7-4-59

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

सत्संग और साधन भूमि तथा पौधे के समान हैं। जाने हुए असत् का त्याग करते ही उत्पन्ना हुए सभी असाधन स्वतः नाश हो जाते हैं और फिर साधक के जीवन में अपने-आप साधन की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविकता आ जाती है, अथवा यों कहो कि साधन जीवन हो जाता है। इस दृष्टि से जाने हुए असत् के त्याग के अतिरिक्त किसी भी साधक को कुछ भी करना शेष नहीं है।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु देह से अतीत दिव्य-चिन्मय प्रीति ही तुम्हारा सहज स्वरूप है। उसी से तुम्हारे प्रेमास्पद को रस मिलता है। रस स्वभाव से ही नित्य तथा अनन्त है। प्रीति तथा प्रियतम का नित्य-मिलन तथा नित्य-वियोग रस की वृद्धि के लिए अनिवार्य है। नित-नूतन प्रीति ही प्रीतम को रस देती है। आत्मीयता में ही प्रियता की जागृति निहित है। जाने हुए असत् का त्याग करते ही सभी ममताएँ अपने-आप मिट जाती हैं। ममताओं का अन्त होने पर वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही निष्कामता आ जाती है और चिर-विश्राम प्राप्त होता है। विश्राम के सुरक्षित होते ही स्वाधीनता आ जाती है। स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने पर प्रेम अपने-आप जागृत होता है। वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा विधिवत् पवित्र भाव से पूजा करते ही साधक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित भूमि में ही चिर-विश्राम निहित है।

कर्म, चिन्तन और स्थिति की असंगता ही विश्राम की जननी है। असंगता विवेक-सिद्ध है। अभ्यास-साध्य नहीं है। और आत्मीयता विश्वास-सिद्ध है। उसके लिए किसी अभ्यास विशेष की अपेक्षा नहीं है। अभ्यास केवल कार्यकुशलता के लिए अपेक्षित है। पवित्र भाव की अभिव्यक्ति भी विवेक-सिद्ध ही है। इस दृष्टि से निज-विवेक के आदर में ही सफलता निहित है। विवेक-रूपी प्रकाश अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को सदैव प्राप्त है। विवेक का आदर बल का दुरुपयोग नहीं होने देता। बल के सदुपयोग में ही कर्त्तव्य-परायणता निहित है। कर्त्तव्य-परायणता आ जाने पर जीवन जगत के लिए उपयोगी सिद्ध होता है और असंगतापूर्वक स्वाधीनता आते ही जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। अविचल श्रद्धापूर्वक आत्मीयता स्वीकार करते ही प्रियता उदय होती है और फिर जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा

.....

105

गीता भवन, ऋषिकेश,
23-4-1958

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

जब साधक अनेक रूपों में अपने ही साध्य को पाता है, तब उसके लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् प्रगट और गोपनीय, दोनों का रूप समान होता है। भला, सेवा ने कभी सेव्य से भिन्न को पाया? एवं प्रीति ने कभी प्रीतम से भिन्न को देखा? कदापि नहीं? बाह्य-स्वीकृतियों और आकृतियों पर आस्था मत करो। आन्तरिक जीवनधन को ही देखो। फिर सैद्धान्तिक चर्चा साधक की अपनी चर्चा हो जाएगी। साधक का जीवन और सिद्धान्त एक है, दो नहीं। अपने सुख के त्याग में प्रीतम का रस निहित है, अर्थात् प्रीतम का रस अपना रस है। बे-मन के जीवन में ही जीवन है। सामान-रहित होने में ही स्वाधीनता निहित है।

पूजा-सामग्री पूज्य की ही वस्तु है, अपनी नहीं। प्रेमास्पद की आत्मीयता ही अपना जीवन है। तो फिर अपनी गोप्य निधि कैसे खो सकती है? वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जानते है, जो अनन्त की स्मृति होकर रहते हैं।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

106

अमृतसर,
7-7-59

चिन्मय धाम निवासिनी दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

निष्कामता आ जाने पर सभी प्रकार की अनुकूलताएँ आशा से अधिक आ जाती हैं और प्रतिकूलताएँ भयभीत नहीं कर पातीं। परन्तु अनन्त की, अहैतुकी कृपा का आश्रय लिए बिना निष्कामता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। निर्भरता, निष्कामता की जननी है। पर इस रहस्य को कोई विरले ही आस्तिक जानते हैं।

साधक को शुद्ध संकल्प बदलना नहीं चाहिए। हां, निर्विकल्प होने के लिए सभी संकल्पों का त्याग किया जा सकता है। किसी संकल्प के लिए संकल्प

को बदलना साधक की दृढ़ता में बाधक होता है।

प्राणी परिस्थिति-परिवर्तन में परतन्त्र और उसके सदुपयोग में स्वतन्त्र है। बेचारा सुख का भोगी दुःख में आबद्ध हो ही जाता है। त्याग में सभी का हित निहित है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

107

करनाल,

10-7-59

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो!

आस्तिक साधक अपने में अपना करके कुछ नहीं जानता; केवल प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा के आश्रय को ही अपना परम पुरुषार्थ मान निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है। नित्य-प्राप्त में नित-नव प्रियता के बिना प्रतीति का प्रभाव साधक पर बना रहता है। अपने निज-स्वरूप की विस्मृति से ही, अर्थात् प्रीति ही मेरा एकमात्र जीवन है—यह भूल जाने से ही ऐसा होता है। प्रीति का ही क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा प्रीति की वृद्धि में हेतु है और प्रीति सेवा को सजीव बनाती है। प्रवृत्ति में प्रीति सेवा के स्वरूप में प्रकट होती है और निवृत्ति में सेवा प्रेमास्पद की मधुर स्मृति का रूप धारण करती है। पर यह सब कुछ स्वतः होगा। अनन्त की कृपाशक्ति विश्वासी साधकों का निर्माण करती है। इस दृष्टि से आस्तिक के जीवन में चिन्ता तथा भय के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

108

श्री वृन्दावन,

19-7-59

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेमास्पद को रस देने के लिए है, सुख-भोग के लिए नहीं। उपाधि का महत्व यदि अभिमान की वृद्धि में है, तो सर्वथा त्याज्य है। भला कौन-सा खिलाड़ी ऐसा होगा, जिसको अपने खिलौने की सुन्दरता अभीष्ट न हो? किसी भी आवश्यक प्रवृत्ति से प्रीति में शिथिलता नहीं होती, अपितु वृद्धि ही होती है। अपने लिए की हुई प्रवृत्ति भी बन्धन है और प्रिय की प्रसन्नता के लिए की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से

तो परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक कार्य करने में ही सफलता निहित है। प्रतिकूलताएँ तथा अनुकूलताएँ सदैव आती-जाती रहेंगी, परन्तु अपनी निष्ठा में किसी प्रकार का विकल्प न हो। जब विश्वासी आस्तिक साधक को अपने लिए कभी-भी कुछ करना नहीं है, तब भला, कोई भी प्रवृत्ति उसे कब छू सकती है? प्रेमीजन आयी हुई सेवा से भयभीत नहीं होते और न उसका सुख ही लेते हैं। प्रवृत्ति का अन्त प्रगाढ़ प्रियता में स्वतः होगा। प्रियता प्रवृत्ति में सजीवता और प्रवृत्ति प्रियता से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही खेलने के क्षेत्र हैं, और कुछ नहीं। जिस प्रकार मिलन और वियोग दोनों ही प्रियता की वृद्धि में हेतु हैं, उसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही प्रियतम को रस देने में हेतु हैं। प्रत्येक दशा में सर्वदा अभय रहो! निश्चिन्तता की अपनी सहचरी बना लो। आवश्यक सामर्थ्य बिना ही मांगे मिलेगी। आलस्य, अकर्मण्यता तथा कर्माभिमान का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का अनुभव करते हुए उन्हें लाड़ लड़ाती रहो। बस, बेड़ा पार है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा

.....

109

मारवाड़,

4-9-59

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

प्राप्त परिस्थिति में प्रलोभन और भय का अन्त होते ही आवश्यक कार्य स्वतः होते रहते हैं। कर्तव्य का अभिमान और फलासक्ति की गन्ध भी नहीं रहती। परिस्थिति के अनुरूप प्रीति निर्मित चेष्टाओं से अपने प्यारे की पूजा होती रहती है। अहंकृति-रहित प्रवृत्ति किसी भी निवृत्ति से कम नहीं है, और संकल्पयुक्त निवृत्ति किसी भी प्रवृत्ति से कम नहीं है। जिसका अपना कोई संकल्प नहीं रहा, उसकी प्रवृत्ति निवृत्ति ही है। प्रेमियों का संकल्प प्रेम की जागृति में ही निहित है। प्रेमास्पद में अगाध प्रेम है ज्यों-ज्यों यह आस्था दृढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों प्रेमी का अस्तित्व गल कर प्रेम से अभिन्न होकर प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ होता है।

तुम किसी भी काल में प्रीति से भिन्न कुछ नहीं हो। प्रीति ने अपने प्रीतम से भिन्न का दर्शन ही नहीं किया, अर्थात् प्रीति और प्रीतम की नित-नव लीला स्वतः होती रहती है। प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार है। उसमें जड़ता की गन्ध भी नहीं है। कारण कि प्रीति और प्रीतम में जातीय एवं स्वरूप की एकता है। प्रीति प्रीतम के समान ही दिव्य तथा चिन्मय है। अपने को

भूलने की अनुपम लीला भी प्रीति की वृद्धि में ही हेतु है। भूल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भूल को भूल जानते ही भूल का अस्तित्व नहीं रहता। भूल की विस्मृति में भूल पोषित होती है। जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

110

अजमेर,
24-8-59

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

कार्य की व्यस्तता संयम की प्रतीक है-उससे मत डरो। भाव क्रिया की अपेक्षा कहीं अधिक विभु तथा सूक्ष्म है। उसको सर्वांश में लिखकर प्रकट करना सम्भव नहीं है। अनेक रूपों में अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो और सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। समस्त चेष्टाएँ भाव में विलीन होकर अखण्ड प्रीति से अभिन्नता कर सकती हैं; किन्तु क्रिया-भेद होने पर भी लक्ष्य तथा प्रीति का भेद न हो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

111

लाडनू,
11-9-59

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो!

अपने पास अपनी करके कोई भी वस्तु कभी नहीं थी, केवल मिथ्या अभिमान ही था, जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से गल गया। उनके देने का ढंग कितना अनुपम है-जिसे देते हैं उसे यह भास ही नहीं होता कि मिली हुई वस्तु मेरी नहीं है। इतना ही नहीं, उनकी ही दी हुई वस्तु यदि उन्हें भेंट कर दी जाय, तो वे सदा के लिए उसके हाथ बिक जाते हैं। इस दृष्टि से प्रेमास्पद ही प्रेम करते हैं।

जिओ,जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

112

जयपुर,
30-11-59

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो!

मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार सत्संग ही परम पुरुषार्थ है। इसी कारण सोने से पहले, जगने के बाद, प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में सत्संग की विधि है। मानव सेवा संघ मानव को वास्तविक स्वाधीनता का पाठ पढ़ाने के लिए आया है। विकास की स्वाधीनता मंगलमय विधान से सिद्ध है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने मानवमात्र को विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति के लिए जन्मजात् अधिकारी स्वीकार किया है। मानव सेवा संघ मानवमात्र का अपना संघ है और उसकी साधन-पद्धति सभी के लिए हितकर है। इस मूल सत्य को यथाशक्ति समझाने के लिए मानव सेवा संघ के कार्यकत्ताओं को पूरी शक्ति लगाकर अथक प्रयास करना है। भावना कर्म से अधिक महत्व की वस्तु है। उसका प्रभाव तो सदैव होता ही रहता है।

जिओ,जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

113

बम्बई,
9-12-59

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

प्रत्येक अवस्था का सद्व्यय होना चाहिए। प्रवृत्ति में सेवा और निवृत्ति में प्रीति होकर अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है। दुःख का भय और जीवन की आशा ह्रास का मूल है, परन्तु दुःख का प्रभाव और जीवन का सद्व्यय विकास का मूल है। कारण कि, दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभन को खाकर पराधीनता से रहित कर देता है और जीवन का सद्व्यय वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

114

बम्बई,
10-12-59

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

आज श्रीगीता-जयन्ती का पुण्य दिवस है-इसी दिन, सात वर्ष पूर्व, मानव सेवा संघ का प्रादुर्भाव हुआ है। प्रत्येक संस्था को सर्वदा आजीवन कार्यकर्ताओं की अपेक्षा होती है, क्योंकि उनके बिना किसी भी कार्य में सजीवता नहीं आती। इस दृष्टि से तुमने सर्वप्रथम इस आवश्यक कार्य को पूरा किया है। निस्सन्देह मेरा हृदय आजीवन कार्यकर्ताओं की उदारता का ऋणी है। परन्तु जब तक मानव सेवा संघ की अमर-वाणी, मूल-सत्संग, विचार-विनिमय आदि के महत्व को भिन्न-भिन्न प्रकार से न पहुँचा दिया जाय, तब तक सन्तुष्ट हो जाना विशेष हितकर नहीं, अपितु गुणों का भोग है। गुणों के भोग से दोषों की उत्पत्ति सम्भव है। इस कारण प्रत्येक आजीवन कार्यकर्ता को अथक प्रयास के द्वारा सर्व-हितकारी, सर्व-उपयोगी सर्वतोमुखी विकास की वाणी को विभु बनाना अनिवार्य है। उसके लिए हमें प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप यथाशक्ति प्रयत्नशील रहना है। जब वह करना ही नहीं है जो नहीं कर सकते अथवा जो नहीं करना चाहिए, तब निराश होने की तो बात ही नहीं; केवल सजग होकर अपनी ओर देखना है। अपनी ओर देखते ही उन सभी निर्बलताओं का स्पष्ट दर्शन हो जाता है, जिनका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। निर्बलताओं के बोध में निर्बलताओं से असंगता स्वतः सिद्ध है। मंगलमय विधान के अनुसार निर्बलताओं की असंगता में ही उनका नाश निहित है। वर्तमान निर्दोषता का आदर करते हुए सावधानीपूर्वक उसको सुरक्षित रखना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब मानव केवल अपनी ओर देखे तथा पर-दोष-दर्शन से सदा के लिए मुक्त हो जाय।

जब मानवमात्र में बीजरूप से मानवता विद्यमान है, जिसकी प्राणि-मात्र को मांग है, तब मानव सेवा संघ के अमर सन्देश के विभु होने में सन्देह ही क्या है? अमानवता-जनित सुख के प्रलोभन में हमें मानवता से विमुख किया है। इस दृष्टि से सुख के प्रलोभन का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सुख क्या है, इसपर विचार करो। श्रम तथा पराधीनतापूर्वक व्यक्तिगत संकल्प की पूर्ति ही सुख का स्वरूप है। श्रम क्या है? जिसके लिए उत्पन्न हुई वस्तु तथा देहाभिमान अनिवार्य हो। क्या प्रत्येक भाई-बहिन यह नहीं जानते हैं कि उत्पन्न हुई वस्तुओं से नित्य सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है? सर्वहितकारी सद्भावना से मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग भले ही कर लिया जाय, किन्तु

उनको अपना मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उसके लिए नहीं है। जो मिला हुआ है, वह किसी का दिया हुआ है। उसका सद्व्यय उसी के नाते उसी की प्रसन्नतार्थ करना है। प्रत्येक कार्य के पीछे कर्ता का भाव और भाव के पीछे ज्ञान और ज्ञान के पीछे लक्ष्य होता है। जब कर्त्ता यह मान लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है वह मेरा है और मेरे लिए है, तब उसकी भावनाओं में अशुद्धि आ जाती है, जो अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति की जननी है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

इसी भूल का अन्त करने के लिए हमें मानव सेवा संघ से यह प्रकाश मिला है कि मिली हुई वस्तु आदि को अपना मत मानो। इस प्रकाश को अपनाते ही भौतिकवादी में कर्त्तव्य-परायणता और अध्यात्मवादी में असंगता एवं आस्तिक में शरणागति स्वतः आ जाती है।

कर्त्तव्य-परायणता से जीवन जगत् के लिए, असंगता से जीवन अपने लिए एवं शरणागति से जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन मिला है। मानव-जीवन का मूल्यांकन किसी परिस्थिति के आश्रित करना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सभी परिस्थितियाँ विकास में हेतु हैं। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं, जिन विवेकी जनों ने परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि नहीं की और उनसे अपना मूल्य घटाया नहीं है। अपने मूल्य का अर्थ किसी प्रकार अभिमान को बनाये रखना नहीं है। कारण कि, अभिमान की उत्पत्ति तो उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों के आश्रित ही होती है। अपना मूल्य बढ़ाने का अर्थ है-विषमता का अन्त कर समता में नित्य वास, जो विश्राम से ही साध्य है। विश्राम आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य के त्याग में निहित है, अथवा असंगता एवं शरणागति से भी विश्राम सिद्ध होता है। आवश्यक कार्य भौतिकवादी का कर्त्तव्य, अध्यात्मवादी की साधन एवं आस्तिक की पूजा है। सुख की दासता तथा दुःख के भय का नाश तो विश्राम आते ही हो जाता है। पर जीवन की मांग तो जीवन को जगत के लिए, अपने लिए और अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होने में हैं। दुःख-निवृत्ति-मात्र में सन्तुष्ट हो जाना मानव-जीवन की पूर्णता नहीं है। इतना ही नहीं, स्वाधीनता का साम्राज्य भी अपने लिए ही उपयोगी है। मानव-जीवन की पूर्णता तभी सम्भव है, जब जीवन अनन्त के लिए भी उपयोगी हो। विश्राम-काल में जीवन जगत् के लिए स्वतः उपयोगी होने लगता है, क्योंकि विश्राम सामर्थ्य का प्रतीक है और जगत् को सामर्थ्य की मांग है। स्वाधीनता जड़ता तथा अभाव से रहित कर देती है, जो अपने लिए उपयोगी है। केवल प्रेम की जागृति से ही जीवन अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। मानव सेवा संघ ने मानव की मांग-विश्राम, स्वाधीनता एवं

प्रेम को बताया है, जो प्रत्येक वर्ग सम्प्रदाय के भाई-बहिनों की सुगमतापूर्वक पूरी हो सकती है। कारण कि विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रेम किसी परिस्थिति-विशेष के आश्रित नहीं है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में विश्राम, असंगता में स्वाधीनता एवं आत्मीयता में प्रेम निहित है। निज-विवेक के प्रकाश में परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए असंग होना अनिवार्य है। असंगता के सुदृढ़ होने पर अथवा अपनी निर्बलताओं से पीड़ित होने पर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अनन्त से आत्मीयता हो सकती है। आत्मीयता प्रियता का प्रतीक है और प्रियता में अनन्त रस स्वतः सिद्ध है। उसके द्वारा स्वीकार की हुई आत्मीयता स्वतः अजर-अमर हो जाती है। मिली हुई सामर्थ्य के सद्व्यय से जो विकास होता है, वही विकास असमर्थता की व्यथा में भी निहित है। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ का अमर सन्देश सर्वहितकारी, सर्व-उपयोगी एवं सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। यह निर्विवाद सिद्ध है।

पुनः सभी को सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

115

गाजीपुर,
4-1-60

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

उदारता में करुणा एवं प्रसन्नता का रस, अचाह में शान्ति-रस तथा असंगता में अखण्ड रस एवं आत्मीयता में अगाध-अनन्त नित-नव रस विद्यमान है। रस ही एकमात्र जीवन की मांग है, जिसकी उपलब्धि सभी साधकों को हो सकती है। उससे निराश होना, उसकी भविष्य में आशा करना भूल है। अतः वर्तमान में ही नित-नव रस से अभिन्न हो, प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यह तुम्हारा स्वधर्म है। सभी साधकों के प्रति प्यार तथा सद्भाव निवेदन करें।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

116

बलिया,
5-1-50

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

अनन्त के मंगलमय विधान से आवश्यक वस्तु बिना ही मांगे मिलती है और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं मिलती है। तो फिर चिन्ता का स्थान ही क्या है? प्रवृत्ति में सेवा होकर और निवृत्ति में प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो। बस, यही जीवन है। निज-अनुभव के प्रकाश में परिस्थितियों में असंग होकर श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर प्रीति को जगाओ।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

117

काशी,
7-1-60

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

सर्वदा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के रहते हुए ही उनसे असंग होकर, निराश्रय प्राप्त कर, नित्य-प्राप्त प्रेमास्पद में अगाध प्रियता ही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। वही तुम हो। प्रियता से भिन्न तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। देह-अभिमान के कारण ही प्रियता अनेक आसक्तियों में भासित होने लगती है। विश्राम के द्वारा देह-अभिमान-रहित होते ही अनेक आसक्तियाँ सदा के लिए प्रियता से अभिन्न हो जाती हैं, क्योंकि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उसका नाश अनिवार्य है। अतः आसक्तियों का नाश और अगाध प्रियता की जागृति युगपद् है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

118

वाराणसी,
8-1-60

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

अधिकार-रहित आत्मीयता तथा आग्रह-रहित सेवा में ही प्रीति की जागृति निहित है। अपने पर प्रेमास्पद का पूरा-पूरा अधिकार है। क्योंकि सब कुछ उन्हीं से मिला है, उन्हीं का है। अपने में अपना कुछ नहीं है। अतएव जो मिला है, उसी से उनकी सेवा करनी है। यह उनकी कृपालुता है कि वे अपनी दी हुई वस्तु से आप रीझते हैं। अपने अधिकार

के त्याग में ही आत्मीयता सजीव होती है। अधिकार-लोलुपता आत्मीयता को निर्जीव बनाती है। अतः इस पिशाचिनी का अन्त करना अनिवार्य है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

119

इलाहाबाद,
9-1-60

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

जीवन-ज्योति जगाने के लिए सत्संग ही एकमात्र अचूक उपाय है। सत्संग में ही असाधन का नाश और साधन को अभिव्यक्ति निहित है। सर्वतोमुखी विकास के लिए सत्संग ही कल्पतरु है। इसी कारण मानव सेवा संघ सत्संग-योजना के लिए सर्वदा आकुल तथा व्याकुल है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। सभी साधको से सद्भाव तथा बहुत-बहुत प्यार निवेदन करें।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

120

प्रयाग,
13-1-60

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो!

आवश्यक कार्य अनायास हो जाना तो प्रतिदिन की बात हो गई, मानो विधान से निर्मित योजना चल रही है। आर्थिक कमी होने पर भी आवश्यक कार्य स्वतः हो जाते हैं। बुद्धि-जन्य विधान के न रहने पर वह अपने आप हो जायगा, जो होना चाहिए। तुम्हारे प्रेमास्पद यही पाठ पढ़ा रहे हैं। तुम्हें वे अपनी प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

121

प्रयाग,
14-1-60

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सदैव प्रेमास्पद को अनेक प्रकार से लाड़ लड़ाती रहो! बस, यही आस्तिक का जीवन है।

रोग-पीड़ित शरीर फूँस की कुटिया में पड़ा है। मन्द-मन्द वर्षा हो रही है। प्रत्येक बूँद उनकी अहैतुकी कृपा का पाठ पढ़ा-पढ़ाकर कृतकृत्य कर रही है। प्रत्येक घटना में अनुपम लीला का दर्शन हो रहा है। न जाने उन्हें अपने शरणागतों की हर चीज इतनी प्यारी क्यों लगती है! इतना ही नहीं, अपने दिये हुए को पाकर ही क्यों बिक जाते हैं! और पतित-से-पतित प्राणियों को भी अपनाने के लिए क्यों आकुल है! समस्त विश्व की उदारता, करुणा को एकत्रित किया जाय, तो भी उनकी करुणा के एक कण के समान भी नहीं है। न जाने साधक प्रमादवश क्यों नहीं उन्हें अपना मानता? पर वे तो सर्वदा सभी के सब कुछ होने के लिए तत्पर हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

122

प्रयाग,
17-1-60

चिन्मय धाम विहारिणी
प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

क्रिया-शक्ति का सद्व्यय होते ही व्यर्थ-चिन्तन का नाश तथा सार्थक-चिन्तन की जागृति होती है। यदि चिन्तन-जनित रस का भोग न किया जाय, तो अचिन्त्य जो महाशक्ति है, उससे अभिन्नता होती है। अचिन्त्य शक्ति ही अनन्त की अनुपम, अद्वितीय महाशक्ति है, योगमाया है। उसी को मानव सेवा संघ की भाषा में साधन-तत्व कहा है। वही सन्त-मत में गुरु-तत्व और वैष्णव-मत में गौरी, सीता तथा राधा तत्व के नाम से कहा है। उससे प्रत्येक साधक की अभिन्नता हो सकती है। और इसी में जीवन की सार्थकता निहित है। सभी साधकों को सद्भाव तथा बहुत-बहुत प्यार! जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

123

प्रयाग,
18-1-60

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। अतः प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा पूजा

करना है। उन्हीं की मधुर-स्मृति अपना जीवन है। अगाध-अनन्त नित-नव प्रियता के बिना नीरसता का सर्वांश में नाश नहीं होता, और उसके बिना हुए निर्विकारता, समता, मुदिता, आदि दिव्य विभूतितों की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव स्मृति से जागृत नित-नव प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यही सफलता की कुँजी है।

तुम्हारा

.....

124

प्रयाग,
21-1-60

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। अपने में जब अपना कुछ है ही नहीं, तब अपनी ओर देखने का प्रश्न ही नहीं है। अनन्त की अहैतुकी कृपा स्वयं उनकी सेवा तथा प्रेम का अधिकारी बनाये, यही मेरी सद्भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा

.....

125

प्रयाग,
24-1-60

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो!

अनेक रूपों में अनेक भावों से अपने एक ही प्रेमास्पद की पूजा करनी है और उन्हीं की प्रीति होकर रहना है। अपने में अपना करके कुछ भी नहीं रखना है, क्योंकि यही वास्तविक तथ्य है। मिला हुआ उनका है, जिन्होंने दिया है। उसे अपना मानना भूल हे। वे कितने परम उदार सुहृदय हैं कि अपने दिये हुए को वापस लेकर अपने को ही दे डालते हैं। इतना ही नहीं, जो उन्हें अपना मान लेता है और अपने में अपना कुछ नहीं रखता तथा भोग और मोक्ष की कामना से रहित हो जाता है, उसके वे प्रेमी हो जाते हैं और स्वयं अपने को ऋणी मानने लगते हैं। यह अनुपम उदारता भला कहाँ मिलेगी? अतः सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। बस, यही सफलता की कुंजी है।

तुम्हारा

.....

126

प्रयाग,
22-1-60

देहातीत प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

अनन्त के मंगलमय विधान में अविचल आस्था रखते हुए जो कुछ हो रहा है उसी में सन्तुष्ट रहो और प्रत्येक घटना में अपने प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन करती हुई सर्वदा उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो। यही मेरी सद्भावना है अपने में अपना करके कुछ नहीं है, अपितु प्रेमास्पद की आत्मीयता ही अपना जीवन है। आत्मीयता चाह-रहित होते ही सजीव होती है और स्वतः साधक को प्रीति से अभिन्न कर कृतकृत्य कर देती है। सभी साधक के प्रति सद्भाव तथा बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा

.....

127

प्रयाग,
23-1-60

अतीत चिन्मय धाम विहारिणी प्रितिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

श्रम-साध्य निवृत्ति भी वास्तव में प्रवृत्ति ही है। इस कारण निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों ही अवस्थाओं से असंग होना अनिवार्य है। सभी अवस्थाओं से असंग होते ही स्वतः निष्कामता आ जाती है और फिर विश्राम से अभिन्नता हो जाती है। विश्राम में ही समस्त विकास निहित है। जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति अपने-आप आ जाती है। उनसे तादात्म्य न रखना ही साधक का अपना पुरुषार्थ है, अथवा आत्मीयता स्वीकार कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना साधक का अन्तिम प्रयत्न है। पुरुषार्थ की पूर्णता, अर्थात् प्रयत्न का अन्त वर्तमान में करना है। सभी साधकों के प्रति सद्भाव तथा बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

128

प्रयाग,
25-1-60

अवस्थातीत प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

श्रद्धा तथा विकास से आत्मीयता प्राप्त होती है और निष्कामता से उसका पोषण होता है। ममता के त्याग में ही समता की अभिव्यक्ति निहित है। सेवा, त्याग तथा आत्मीयता में ही कर्त्तव्य की पूर्णता है। वर्तमान निर्दोषता में निर्विकल्प आस्था तथा अनुभव ही विकास का मूल है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

129

पटना,
27-2-60

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

विचार करें-एक पथिक अमुक चोटी पर पहुँचना चाहता है। चलने की सारी शक्ति व्यय होने के पश्चात् यदि वह अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा, तो उसकी वस्तुस्थिति क्या होगी? एकमात्र परम व्याकुलता! ऐसी व्याकुलता नहीं कि जिससे साधक अपना विभाजन कर सके। यदि व्याकुलता जागृत न हुई, तो क्या कर्त्ता का अस्तित्व रहेगा? कदापि नहीं। यदि उसे अपना अस्तित्व भी भासित होता है और व्याकुलता भी नहीं है, तो यह स्पष्ट है कि या तो उसमें चलने की सामर्थ्य है या अभीष्ट लक्ष्य से निराशा है। यदि ये दोनों दोष नहीं है, तो परम व्याकुलता की जागृति अथवा माँग की सिद्धि अनिवार्य है। जो कुछ नहीं कर सकता, उसमें अविचल आस्था सहज भाव से जागृत होती है। जो कर सकता है उसके करने पर कर्त्ता स्वयं व्याकुलता से अभिन्न होता है अथवा सिद्धि पाता है। साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नही है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते नित-नव आशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, जो दायित्व पूरा करने में समर्थ है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

130

बक्सर,
22-3-60

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा एवं अनन्त की प्रीति होकर रहो!

सजगतापूर्वक प्रयास करो। परिणाम में जो हो, उसी में मस्त रहो। देहाभिमान गलाने तथा नित-नव प्रीति की जागृति के लिए नित-नव उत्साह बढ़ता रहे। बस, यही सफलता की कुंजी है।

तुम्हारा
.....

131

पाली,
29-3-60

देहातीत दिव्य ज्योति,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

संयोग-वियोग विधान के अधीन है। उसके लिए चिन्ता करना भूल है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु प्रीति हो। देह की तादात्म्यता का त्याग और प्रीति से अभिन्नता युगपद् हैं। प्रीति का क्रियात्मक रूप सेवा और सेवा की परावधि प्रीति है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

132

श्री वृन्दावन,
5-8-60

दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद की मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता से अभिन्न होकर रहो! यही वास्तविक जीवन है।

विवेकपूर्वक ममता, कामना तथा तादात्म्य का त्याग ही वास्तविक जाने हुए असत् का त्याग है। असत् के त्याग में ही अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियों का नाश निहित है, जिसके होते ही स्वतः प्रत्येक साधक की साधन-तत्व से अभिन्नता हो जाती है। पर यह विचार पथ है। इसका अधिकारी वही है जिसे संयोग तथा श्रम-जनित सुख सहन नहीं होता, तथा सुख में दुःख का स्पष्ट दर्शन होता हो। अपनी असमर्थता से पीड़ित साधक सुने हुए प्यारे प्रभु में अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास पूर्वक आत्मयीता स्वीकार कर रोम-रोम से यही पुकारता है कि 'हे प्यारे! अपनी मधुर स्मृति तथा आगध प्रियता प्रदान करो।' निर्बल की पुकार प्यारे अवश्य सुनते हैं। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। बल का अभिमान ही साधक को शरणागति नहीं होने देता। गुणों का भोग ही वास्तविक बाधा है। असमर्थता की पीड़ा में ही समस्त विकास निहित है। किसी भी दशा में निराश नहीं होना है। तुम सच मानो, अपने प्यार की अनुपम खिलौना हो। वे सदैव तुम्हारे हैं और तुम सदैव उनकी। तुम प्रीति हो, तो वे आनन्द, तुम प्रिया हो, तो वे प्रीतम। तुम जिज्ञासा हो, तो वे तत्व-ज्ञान। तुम शरीर हो, तो वे विश्वरूप। तुम प्रोफेसर हो, तो वे विद्यार्थी। प्रत्येक परिस्थिति में तुम्हारा उनका सम्बन्ध नित्य-सम्बन्ध है। निष्कामता, निर्ममता ही आत्मीयता को सजीव बनाती है। आत्मीयता में ही मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता है। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो! प्रवृत्ति में प्यारे की पूजा और निवृत्ति में अखण्ड स्मृति स्वतः जागृत होगी। तुम इसमें लेशमात्र भी विकल्प मत करो, अपितु उत्तरोत्तर नित-नव आशा उदित होने दो।

तुम्हारा

.....

133

मुजफ्फर नगर,
30-8-60

स्नेहमयी साधननिष्ठ दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो-यही मेरी सद्भावना है।

असमर्थता की पीड़ा में जो विकास है, तुम उससे भली-भाँति परिचित हो। किसी-न-किसी रूप में हम लोग साधनजनित रस का पान कर लेते हैं। आई हुई व्यथा को शिथिल कर देते हैं। उनकी महिमा में सीमा बना लेते हैं, जो वास्तव में असीम है। वे सदैव अपने हैं, अपनी ओर देख रहे हैं। इतना ही नहीं, अपने लिए सब कुछ कर रहे हैं। पर हमारी दृष्टि उनके दिए हुए दिव्य जीवन की ओर नहीं जाती, अपितु उस जीवन-ज्योति को अपने साधन का फल मान बैठते हैं। क्या साधक में साध्य की महिमा के अतिरिक्त कुछ और है? यदि है तो वह अपनी भूल है। भूल को जानते ही भूल नहीं रहती। क्या उसकी आत्मीयता के अतिरिक्त और कोई महत्वपूर्ण तत्व है? कदापि नहीं। उनकी आत्मीयता ही आस्तिक का सर्वस्व है। भला, कहीं अपने में अपनी अगाध प्रियता नहीं होगी? अवश्य होगी। इसमें सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अपने में अपनी प्रियता स्वभाव से ही होती है, अथवा यों कहो कि अपने को सभी प्यारे करते हैं। साध्य का किया हुआ प्यार ही साध्य की प्रियता के रूप में परिणित होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपनी असमर्थता अनुभव कर उनकी महिमा में अविचल आस्था की है। वे सदैव तुम्हारे अपने हैं और तुम उनकी नित-नव प्रीति हो। तुम्हारा अस्तित्व उन्हीं की कृपा से निर्मित है। अतः प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करो। बस, यही वास्तविक जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

134

बलरामपुर,
22-11-60

पूजा की प्रतीक दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

सर्वदा सेवा तथा मधुर स्मृति होती रहे-यही मेरी सद्भावना है। प्रलोभन तथा भय का सर्वांश में अन्त होने पर ही कर्त्तव्य का यथेष्ट बोध होता है। प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से

निर्मित है। उसके सदुपयोग मात्र में ही साधक का अधिकार है।

प्रिन्सिपल की पोस्ट तुम्हें रुचिकर नहीं है, पर आई हुई परिस्थिति का विरोध अपनी व्यक्तिगत रुचि का पोषण है। प्रेमास्पद का संकल्प पूरा हो, यही प्रेमियों का अविचल निर्णय है। आर्थिकसेवा निर्लोभता का साधन है। पर ममतायुक्त धन से वास्तविक सेवा नहीं होती। निर्मोहता, निष्कामता एवं ममता-रहित होने पर ही सेवा सम्भव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

135

श्री वृन्दावन,
28-11-60

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा अनेक भावों तथा वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करती रहो तथा लाड़ लड़ाती रहो।

अपना संकल्प न रहने पर सब कुछ स्वतः होता रहता है। अपना संकल्प ही अपने को असमर्थता में आबद्ध करता है। सभी संकल्पों के त्याग में ही चिर-विश्राम निहित है, जो समस्त विकासों की भूमि है। अतः विश्राम सुरक्षित रखना सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब प्यारे की मौज में ही अपनी रुचि विलीन कर दी जाय। इसके लिए केवल उनकी आत्मीयता ही मूल प्रयास है। मोहयुक्त सेवा वास्तव में सेवा नहीं है। उस सेवा से तो जिसकी सेवा की जाती है, उसमें भी मोह की ही वृद्धि होती है। तुम्हारे द्वारा मोह-रहित की हुई सेवा से वृद्ध पिता का कल्याण होगा। इस दृष्टि से यदि तुम्हें अवसर मिले, तो अपने को बचाना मत। क्या तुम यह नहीं जानतीं कि इस अवस्था में भी वे पड़ोसियों के बच्चों को बिना पैसे लिए पढ़ा देते हैं, जैसा कि मैंने सुना था। ऐसे महानुभाव की सेवा करना मानव सेवा संघ की ही सेवा है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

तुम्हारा
.....

136

कटनी,
9-12-60

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

मेरे विश्वास के अनुसार कुछ रोग अभिमान बढ़ जाने पर भी होते हैं। किसी साधक को ऐसा छिपा हुआ अभिमान होता है जिसकी निवृत्ति कराने के लिए भी रोग आता है। एक साधक ने किसी के प्रति घृणा की भावना की और

वह तुरन्त रोगी हो जाता हैं। भय और अभिमान का अन्त होने पर कुछ रोग स्वतः नाश हो जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

137

प्रयाग,
11-1-61

प्रीतिस्वरूपा
साधननिष्ठदेहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म के रूप में अपने परम सुहृदय प्रेमास्पद की पूजा करती रहो और उनकी अगाध प्रियता को ही अपना सर्वस्व जानो।

अपना करके अपने में कभी-भी कुछ नहीं है। उनकी दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से ही विश्व के स्वरूप में उनकी पूजा करनी है और उनकी प्रियता से ही उन्हें रस देना है। वे अपने लिए उपयोगी बनावें, यही सतत् माँग है। यह माँग काम को खा लेती है और स्वतः पूरी हो जाती है। यह प्रियतम का अनुपम मंगलमय विधान है। उनके विधान में अविचल आस्था रखना अपना अन्तिम प्रयास है। विधान की आस्था साधकों को निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्रदान करती है। देखा हुआ स्वप्न भविष्य की उज्ज्वलता तथा निर्मलता का सूचक है, प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों प्रकार के पथों का प्रदर्शक है। World Federation प्रवृत्ति का संकेत और निर्जन वन निवृत्ति का प्रतीक है। भिक्षा में मिला हुआ अर्थ सामर्थ्य का द्योतक है। भिक्षा के लिए जाने से रोक दिया। इससे यह पाठ पढ़ना चाहिए कि आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे ही मिलेगी।

तुम्हारा

.....

138

प्रयाग
13-1-61

प्रीतिस्वरूपा
साधननिष्ठदेहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रकाशन के सम्बन्ध में तुम्हारा विचार अवकाश लेकर काम करने का है। पर विचार इस बात पर करना है कि बालिकाओं के अधिकार का अपहरण तो नहीं होगा, उनकी किसी प्रकार की क्षति तो नहीं होगी? वर्तमान कर्तव्य-कर्म को बिगाड़ कर किसी भी सेवा-कार्य को करना क्या न्याययुक्त है? इस पर विचार करो।

तुम्हारा

.....

139

इटाव,
8-2-61

प्रीतिस्वरूपा देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा पूजा करते हुए प्रेमास्पद की मधुर स्मृति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुमने ठीक ही लिखा है कि "अच्छा नहीं लगता।" किसी प्रेमी का वचन है कि "मुकुन्द बिना कुन्द केहि काम के।" प्रेमास्पद के वियोग में भी प्रीति की वृद्धि होती ही है और मिलने में भी प्रीति बढ़ती ही रहती है। पर कब? जब और कोई अपना नहीं हो। इतना ही नहीं, अपनत्व से भिन्न कुछ और नहीं चाहिए। अपनत्व में ही अगाध प्रियता तथा नित-नव रस की अभिव्यक्ति निहित है। इस दृष्टि से आत्मीयता में ही पुरुषार्थ की पूर्णता है, जो एकमात्र आस्था-श्रद्धा-विश्वास में ही सम्भव है।

कोई साधक जाने, न जाने; माने, न माने; पर वह अनाथ नहीं है। वह सर्वदा सनाथ है। उसका प्रकाशक और उसका आश्रय सदैव उसके साथ है। तो फिर निराश होने का स्थान ही कहाँ है! उनके सिखाने के अनेक ढँग है। वे सभी के अपने होने पर भी न जाने क्यों छिपे हैं! उनकी अनुपम लीला ही हमें देखते रहना है। उनके होकर कुछ करना-धरना तथा लेना-देना नहीं है। उनकी अगाध प्रियता ही अपना सर्वस्व है।

तुम्हारा

.....

140

भिन्ड,
16-2-61

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद की मधुर स्मृति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुमने बड़ी ही सरलतापूर्वक लिखा है कि स्वस्थ हूँ। प्रसन्नता तो प्रेम-तत्व से अभिन्न होने में ही है। परन्तु तुम खिन्न नहीं हो, प्रीति से अभिन्न होने के लिए व्याकुल हो। जिन साधकों ने आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार की, वे सभी कृतकृत्य हो गये। यह निर्विवाद सत्य है। पर यह सब उन्हीं को भाता है, जिन्होंने जाने हुए जगत की ममता तथा कामना का विवेकपूर्वक त्याग किया है और सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था की है। इस दृष्टि से तुम्हें भी वह रस अवश्य मिलेगा जिसकी माँग है। बार-बार यह पुकारती रहो कि हे प्यारे! अपनी मधुर स्मृति प्रदान करो। प्रिय की मधुर स्मृति ही प्रिय को रस देती है, जो तुम्हारा निज-स्वरूप है। स्मृति दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त कर देती है। इतना ही नहीं, प्रिय की स्मृति में ही प्रिय का नित्य वास है। प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म द्वारा

प्रेमास्पद की पूजा करते हुए उनकी प्रीति होकर रहो, जो एकमात्र ममता-रहित, निष्कामतापूर्व आत्मीयता में ही निहित है।

तुम्हारा

.....

141

बाराबंकी,
17-3-61

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

गुणों के अभिमान में ही दोष पोषित होते हैं। दोष-जनित वेदना ही गुणों के अभिमान को भस्मीभूत कर साधक को वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है।

दोष-जनित वेदना अनन्त की अनुपम देन है। अतः उसे अपना लेना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सेवा प्रीति को पोषित करती है और निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से प्रीति जागृत होती है। सोई हुई प्रीति के जगाने में ही साधक के प्रयास की पराकाष्ठा है। इतना ही नहीं, प्रीति से अभिन्न होने में ही जीवन की सार्थकता है। यदि यह कहा जाय कि प्रीति ही जीवन है, तो अत्युक्ति न होगी।

हे प्रेमास्पद! अपनी प्रीति दो, अपने लिए उपयोगी बनाओ। तुम्हारी दी हुई प्रीति ही तुम्हारे लिए रस-रूप सिद्ध होगी। हे प्यारे! तुम्हारा रस ही मेरा जीवन है। तुमने सदैव अपने हाथ सम्भाला है। यह निर्विवाद सत्य है।

तुम्हारी अद्वितीय अनुपम महिमा पर तो सभी रीझते हैं। पर तुम्हारी आत्मीयता कितनी मधुर है! इसे वही जाने, जिसे तुम जनाओ। तुम्हारे द्वारा तुम्हारी ही आत्मीयता प्राप्त होती है। अतः सभी को अपनी आत्मीयता देकर अपने लिए उपयोगी बनाओ। यद्यपि तुम सभी के सदैव अपने हो, पर अपनी अहैतुकी कृपा से इसकी विस्मृति न होने दो। तुम्हारी आत्मीयता की स्मृति में ही सब कुछ भरा है। पर यह रहस्य वे ही जाने पाते हैं, जिन्होंने केवल तुम्हारी अहैतुकी कृपा का ही सहारा लिया है। तुम्हारी अहैतुकी कृपा ही मेरा सर्वस्व हो और तुम्हारी आत्मीयता ही मेरा सतत्, अविचल अभिरुचि हो। यही जीवन की मांग है।

तुम्हारा

.....

142

चरथावल,
18-7-61

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

साधकों की असह्य व्यथा सदैव बनी रहे। कारण कि, साधकों के प्यार से प्यारे को रस मिलगा। जो एकमात्र सदैव अपने हैंऔर अपने लिए सब कुछ करते हैं, फिर भी उतने प्यारे नहीं लगते जितने लगने चाहिए, यही भूल है। इस भूल का अन्त उनकी महिमा में अविचल आस्था होने से ही होगा। न मानने पर भी जो अपने को मानते हैं और न जानने पर भी अपने को जानते हैं—देखो भला, वे कितने अच्छे हैं! अपने तो चाहे जैसे हों, फिर भी प्यारे लगते हैं। पर यह कैसा आश्चर्य है कि अपने भी हैं और सर्वोत्कृष्ट भी हैं, क्या फिर भी प्यारे नहीं लगेंगे? असावधानी यह होती है कि प्यारे के प्यार का रस साधक स्वयं लेने लगता है। व्यक्तिगत सुख की गन्ध भी प्रीति में कलंक है। उनके दिए हुए से ही उनकी सेवा-पूजा करना है, और उनकी प्रीति से अभिन्न होना है। अभिन्न होने की भूख बढ़ती रहे, जो अहैतुकी कृपा से ही साध्य है। असमर्थता की वेदना और उनकी महिमा ज्यों-ज्यों स्थाई होती है, त्यों-त्यों स्वतः अहैतुकी कृपा का अनुभव होता है। यद्यपि कृपा सर्वत्र सर्वदा अनवरत बरस रही है पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता को अपनाया है।

जिओ, जागो, सदा आनन्दित रहो! पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

.....

143

विदुरकुटी,
26-7-61

प्रीतिस्वरूपा देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जो हो रहा है वही मंगलमय है। प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहना है। आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता प्रत्येक साधक को स्वतः मिलती है। साधक को केवल मिले हुए का सदुपयोग करना है और निश्चिन्त तथा निर्भय रहना है। इतना ही नहीं, शरणागत साधक के जीवन में तो अहंकृति की गन्ध भी नहीं रहती। अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति उसका स्वतः निर्माण कर प्रेमास्पद की सेवा तथा प्रीति के योग्य बना देती है। इस दृष्टि से शरणागत होने में ही साधक के पुरुषार्थ की परावधि है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

144

विदुरकुटी,
27-7-61

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करते हुए सर्वदा उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो—यही मेरी सद्भावना है।

सच तो यह है कि जब तक शरीर की आवश्यकता है, रहेगा ही। मिला हुआ बना रहे, इसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। अपितु मिले हुए का सदुपयोग हो जाय और ममता, कामना एवं तादात्म्य का सर्वांश में नाश हो जाय, तभी साधक वास्तविकता से अभिन्न हो सकता है। अतः सजगतापूर्वक यह प्रयास करना है कि मिले हुए का दुरुपयोग न हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि बलपूर्वक सदुपयोग किया जाय। अपितु दुरुपयोग करने की रुचि का ही नाश हो जाय, तभी स्वतः सदुपयोग होगा तथा प्राप्त की ममता तथा अप्राप्त की कामना का नाश होगा, जिसके होते ही तादात्म्य मिट जायगा और प्रीति तथा प्रीतम का नित्य-विहार होता रहेगा, जो रसरूप है। अतः सर्व-समर्थ प्रेमास्पद अपनी अहैतुकी कृपा से दुरुपयोग की रुचि को सदा के लिए खा जायँ, यही मेरी सद्भावना है।,

तुम्हारा

.....

145

बम्बई,
15-9-61

स्नेहमयी साधननिष्ठदुलारी बेटी,

किया हुआ सत्संग तथा साधन नाश नहीं होता। इस कारण प्यारे मित्र का वियोग उसके लिए तो हितकर ही होगा। पर जिन लोगों ने उनसे आशा कर रखी थी, वे निराश हो गये। ऐसी दशा में वस्तु, व्यक्ति आदि की आशा का वर्तमान में ही अन्त करना अनिवार्य है, तभी मानव आए हुए दुःख से अपना विकास कर सकता है। यद्यपि मृत्यु जन्म से ही आरम्भ हो जाती है, पर उस पर दृष्टि न रखने से मानव जीवन में ही मृत्यु का अनुभव नहीं कर पाता। जिसके बिना किये संयोग में वियोग का अनुभव नहीं होता और न नित्य-योग की प्राप्ति ही होती है। प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की अनुपम-लीला का ही दर्शन करना है। उनके सिखाने के अनेक ढंग है। सुख के प्रलोभन का नाश करने के लिए वे भिन्न-भिन्न प्रकार की लीला करते हैं। पर न जाने, कितनी जड़ता है कि मानव जीने की आशा रखता है? यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

प्यारे भिन्न को आत्म-शान्ति तथा मोह-पीड़ित प्रियजनों को विवेक प्रदान करें! यही प्रेमास्पद से प्रार्थना है। आवश्यक प्रार्थना अवश्य पूरी होती है। ऐसा अनेक बार अनुभव हो चुका है।

सुख-सुविधा न रहने का दुःख सुख-लोलुपता का ही परिचय है। अतः आए हुए दुःख के प्रभाव से शीघ्रातिशीघ्र सुख-लोलुपता का नाश करना है और सब प्रकार से दुःखहारी की मधुर-स्मृति ही होकर रहना है। जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

146

बम्बई,
18-9-61

स्नेहमयी साधननिष्ठदेहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

वे स्वयं ही सुख-दुःख के रूप में सेवा और त्याग का पाठ पढ़ाते हैं और अनेक रूपों में वे स्वयं ही हैं, कोई और नहीं है। इतना ही नहीं, तुम में उनके प्रति जो आत्मीयता जागृत हुई है, वह भी उन्हीं की विभूति है। वे स्वयं प्रेम और प्रेमास्पद हैं। उनसे भिन्न कुछ है ही नहीं। उनकी प्रियता, स्मृति, आत्मीयता और विश्वास ही उनके लिए रसरूप है। उनकी होकर उनकी प्रियता माँगो। अवश्य मिलेगी। कारण कि, वे अपनी प्रियता से आप मोहित होते हैं। मानव का निर्माण एकमात्र उन्होंने प्रियता के लिए ही किया है। अतः नित-नव प्रियता से निराश होना भूल है। आशा है कि तुम अविचल आस्थापूर्वक अपने को अपनी प्रियता का अधिकारी स्वीकार करोगी। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

147

इन्दौर,
19-9-61

स्नेहमयी साधननिष्ठदिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

किया हुआ साधन कभी नाश नहीं होता, इस कारण उनके निधन से उनकी कोई क्षति न होगी। जिसने एक बार भी प्यारे प्रभु को अपना कहा है, उसका सर्वतोमुखी विकास अनिवार्य है। अब रही उनके प्रियजनों को सुख-सुविधा की बात। यह तुम जानती हो कि सुख के भोगी को दुःख भोगना पड़ता है। आए हुए दुःख का प्रभाव दुःखी के विकास में हेतु है ही।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

148

बटाला,
28-9-61

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

प्रीति ही प्रियतम को रस देती है। निर्ममता, निष्कामतापूर्वक मानव आत्मीयता स्वीकार करने में समर्थ होता है। अपने होने से ही वे अपने को प्रिय हैं। उनकी प्रियता ही अपना जीवन है। सब कुछ देकर उनकी आत्मीयता प्राप्त करने में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर तुम्हें अपनी प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

149

मोतीहारी,
25-11-61

देहातीत दिव्य ज्योति साधननिष्ठप्रीतिस्वरूपा दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

आज प्रातः टेलीफोन पर बात करने से विदित हुआ कि शारीरिक अस्वस्थता बढ़ रही है। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। जो साधन-सामग्री है उसके द्वारा साधक किसी प्रकार का सुख सम्पादन न कर सके, इसी कारण वे रोग के स्वरूप में प्रकट होते हैं। पर साधक यह रहस्य जान नहीं पाता कि मेरे ही प्यारे रोग के वेष में आए हैं। अतः आए हुए रोग का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए वास्तविक कार्यक्रम को सजगतापूर्वक शीघ्रातिशीघ्र पूरा कर दो। वह कार्यक्रम क्या है? इस पर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि ममता तथा कामना को त्याग, आत्मीयता को अपना लेना है। उनकी आत्मीयता में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। वे अपने हैं और अपने को अत्यन्त प्यारे हैं। उनकी प्रियता ही अपना जीवन है। प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा और विवेकात्मक रूप त्याग है। इस दृष्टि से सेवा, त्याग, प्रेम में ही जीवन की पूर्णता है।

मिले हुए का सदुपयोग सहज स्वाभाविक होता रहे और उनकी प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यही साधक की माँग है। दुरुपयोग करने की रुचि सदा के लिए मिट जाय, समस्त सम्बन्ध उनकी आत्मीयता में ही विलीन हो जायँ—यही वास्तविक सत्संग है। इसी के लिए उन्होंने मानव का निर्माण किया है। मानव उन्हीं

के समान अद्वितीय है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया है। सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है। एकमात्र वे ही अपने हैं—यह अविचल आस्था ही आस्तिकता है। आस्तिक के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। किसी भी काल में कोई और है ही नहीं। सर्व रूप में अपने ही प्रेमास्पद हैं। किसी और का भास होना ही अपनी भूल है। इस भूल का अन्त शरणागत होते ही स्वतः हो जाता है। अपने में अपना करके कुछ नहीं है। यह सब कुछ उन्हीं का है। पर वे अपने हैं, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। अपने की अपने को स्मृति स्वतः सिद्ध है। प्रिय की मधुर स्मृति में ही जीवन है। कारण कि, स्मृति दूरी, भेद तथा भिन्नता को खा लेती है और फिर स्वतः योग, बोध की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है।

अपने लिए अपने को कुछ भी नहीं करना है। समस्त प्रवृत्ति में सेवा और निवृत्ति में प्रीति स्वतः सिद्ध है। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही मंगलमय विधान से निर्मित है। अपना संकल्प मिटते ही सब कुछ स्वतः हो जाता है। अपने संकल्प ने ही अपने को अपने से विमुख किया है। अतः अपने सभी संकल्पों को समर्पण कर अपने में अपने की स्थापना कर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी अगाध प्रियता प्रदान करें! यही मेरी सद्भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

150

पटना,
30-11-61

मंगलमय विधान से निर्मित दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सादर सप्रेम अभिवादन।

मानवता में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। भूल-जनित दोषों की निवृत्ति और सेवा, त्याग, प्रेम की अभिव्यक्ति एकमात्र जाने हुए असत् के त्याग से ही साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग में ही पुरुषार्थ की परावधि है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने मानव जीवन का आदरपूर्वक स्वागत किया है और जो सफलता के बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते। असफलता को सहन कर लेना ही मानव-जीवन का अपमान है। सफलता के लिए नित-नव उत्साह और आकुलता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे—यही सफलता की कुँजी है। मानव वास्तविकता से विमुख हो

गया है, और कुछ नहीं। सफलता की तीव्र भूख विमुखता का अन्त कर सफलता से अभिन्न करने में समर्थ है। निर्माता को मानव अत्यन्त प्रिय है। यह उसका निज-खिलौना है। इसका निर्माण उसने अपनी मौज के लिए किया है। पर यह दीनतावश उससे विमुख हो, उसकी वाटिका में खेलने लगा है। उसी का यह परिणाम है कि अपने से निराशा और उसकी वाटिका में आशा उत्पन्न हो गई है। सफलता की उत्कट लालसा से ही निराशा आशा में परिणत होती है। बस, यही वास्तविक उपाय है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो! पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

151

पटना,

1-12-61

देहातीत दिव्य ज्योति प्रीतिस्वरूपा दुलारी बेटी,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। उसका अनुभव विश्राम काल में स्वतः होगा। सब प्रकार से अभय होकर शान्त हो जाओ, यही महामन्त्र है, वास्तविकता से अभिन्न होने के लिए। तुम्हारे निर्माता ने तुम्हें बड़ी ही अनुपम तथा अविचल आस्था दी है। अविचल आस्था के विकसित रूप श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता हैं। आत्मीयता ही प्रियता में परिणत होती है। किन्तु निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता को सुरक्षित बनाये रखना है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। समस्त दिव्यता दैवी है। वह स्वतः अभिव्यक्त होती है। भूल-जनित दोषों की अरुचि में ही सत्संग की उत्कट लालसा पोषित होती है, अर्थात् असत् के त्याग का बल स्वतः आ जाता है। यह मंगलमय विधान है। समस्त गुण दैवी हैं और दोष भूल-जनित—यह दार्शनिक तथ्य गुणों के अभिमान को नाश करने में समर्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

152

पटना,

2-12-61

देहातीत प्रीति स्वरूपा साधननिष्ठदुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

भूल-विनाशक प्यारे प्रभु की अविचल आस्था में सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य वे साधक जान पाते हैं, जिन्होंने वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन कर अपनी असमर्थता तथा भूल

का अनुभव किया है। भूल-जनित वेदना स्वतः भूल-विनाशक की आस्था प्रदान करती है। आस्था स्वतः श्रद्धा, विश्वास, आत्मीयता आदि के रूप में परिणत हो, साधक को साधन-तत्व से अभिन्न कर, कृतकृत्य करने में समर्थ होती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में निराशा तथा असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अतः सफलता के लिए नित-नव-उत्साह तथा आकुलता बढ़ती रहे, जो एकमात्र अपनी असमर्थता और उनकी महत्ता से ही साध्य है। असमर्थ साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सर्व-समर्थ की शरणागति प्राप्त कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है। यह मंगलमय विधान है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

153

पटना,
3-12-61

अहैतुकी कृपा से निर्मित साधननिष्ठदुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

अचाह, अप्रयत्न और आत्मीयता में सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने मानव-जीवन के महत्व का भलीभाँति अनुभव किया है। शरीर आदि वस्तुओं की महत्ता उसी समय तक जीवित रहती है, जब तक मानव अपनी वास्तविक माँग से अपरिचित रहता है। यद्यपि मानव-मात्र में वास्तविक माँग बीज-रूप से विद्यमान है, परन्तु ममता, कामना तथा तादात्म्य के कारण बेचारा मानव वास्तविक माँग को भूल, अपने को कामनाओं में आबद्ध कर लेता है। किन्तु कामनापूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख उसे सन्तुष्ट कर नहीं पाते; अपितु सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन की खोज से निराश होने के कारण वह सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध रहता है, जो उसकी अपनी अपनाई हुई भूल है। अपनी भूल मिटाने का दायित्व अपने पर ही हैं, अन्य पर नहीं, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही मिट सकती है। इस दृष्टि से सहज-भाव से प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में सत्संग परम आवश्यक है। अचाह, अप्रयत्न और आत्मीयता से स्वतः असत् का त्याग तथा सत् का संग हो जाता है। सत्संग मानव का स्वधर्म है। इस कारण सत्संग सभी को सुलभ है। सत्संग के लिए लेशमात्र भी 'पर' की अपेक्षा नहीं है। पर यह कैसी बिडम्बना है कि आज का साधक सत्संग को बड़ा ही दुर्लभ मानता है! हाँ, यह अवश्य है कि मानव से भिन्न किसी अन्य को सत्संग साध्य नहीं है। मानव का निर्माण तो एकमात्र सत्संग के लिए ही हुआ है। इस वैधानिक तथ्य पर बड़ी ही सजगतापूर्वक अविचल आस्था करना है। सत्संग से असाधन का नाश और साधन

की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। सत्संग के बिना बल-पूर्वक किया हुआ साधन साधक को मिथ्या अभिमान में आबद्ध करता है। मानव का प्रयास एकमात्र सत्संग में ही है। अतः प्रत्येक साधक को सत्संग बहुत ही सावधानीपूर्वक सजगता एवं सहजभाव से करना है। असत् को असत् जानना ही असत् के त्याग एवं सत्य के संग में हेतु है। अपनी ओर देखते ही अपने में विद्यमान असत् का ज्ञान स्वतः हो जाता है। कारण कि, अपने सहयोग के बिना असत् अपने पर शासन नहीं करता। अतः प्रत्येक परिस्थिति में असत् का त्याग एवं सत् का संग सुगमतापूर्वक सम्भव है।

ओ३म् आनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

154

पटना,
4-12-61

देहातीत दिव्य ज्योति साधननिष्ठदुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

अचाह होते ही अशान्ति का अन्त हो जाता है और फिर स्वतः आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कारण कि, शान्ति ही सामर्थ्य की जननी है। अप्रयत्न से अहंकृति नाश होती है, जिसके होते ही करने का राग शेष नहीं रहता और फिर अकर्त्तव्य का नाश तथा कर्तव्य-परायणता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही साधक विद्यमान राग से रहित हो जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक असंगता तथा आत्मीयता प्राप्त कर स्वाधीनता एवं प्रेम का अधिकारी हो जाता है। इस दृष्टि से अचाह तथा अप्रयत्न एवं असंगता तथा आत्मीयता में परम शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है। पर बड़ी ही सजगतापूर्वक शान्ति तथा स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होना है; अपितु आत्मीयता को सजीव बनाने के लिए शान्ति तथा स्वाधीनता का सम्पादन करना है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। असत् की अनुभूति और सत् में अविचल आस्था होने पर प्रत्येक साधक के लिए सत्संग सुलभ हो जाता है। और फिर साधक सुगमतापूर्वक निज-विवेक के प्रकाश में इन्द्रिय-दृष्टि के उपयोग और बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित हो, अचाह तथा अप्रयत्न एवं आत्मीयता से अभिन्न जो जाता है। अर्थात् आत्मीयता से भिन्न साधक अपने में कुछ नहीं पाता है। प्रेमास्पद की आत्मीयता ही साधक का सर्वस्व है। अपने होने से ही वे अपने को अत्यन्त प्रिय है। उनकी प्रियता में ही वास्तविक जीवन है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहैतुकी कृपालुता से प्रेरितहो, प्रेमास्पद ने मानव

का निर्माण किया है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की बड़ी ही महिमा है।

प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं और प्रत्येक घटना में मंगलमय विधान का दर्शन करते हैं। प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहने का स्वभाव बना लो। मेरी सद्भावना सदैव तुम दोनों के साथ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

155

पटना,
5-12-61

आत्मीयता से युक्त साधननिष्ठदुलारी बेटी,

सर्वदा सेवा, त्याग, प्रेम को अपनाने का अथक प्रयास ही मानवमात्र का परम पुरुषार्थ है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। जिन साधकों ने निज-विवेक के प्रकाश में यह भली-भाँति अनुभव किया है कि संकल्प-पूर्ति तथा अपूर्ति में मानव की भारी भूल है, उन्होंने बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने सभी संकल्पों का समर्पण कर अविचल आस्था-पूर्वक आत्मीयता स्वीकार की है। आत्मीयता में ही नित-नव अगाध प्रियता विद्यमान है। प्रियता से भिन्न जीवन है ही नहीं, अपितु प्रियता में ही जीवन है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक सभी परिस्थितियों, अवस्थाओं, वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा को त्याग, दुःख के भय से रहित हो, एकमात्र निर्ममता से प्राप्त निर्विकारता एवं निष्कामता से प्राप्त शान्ति तथा असंगता से प्राप्त स्वाधीनता का सम्पादन करके केवल आत्मीयता को ही अपनाता है। आत्मीयता दूरी, भेद तथा भिन्नता को खा कर योग, बोध और प्रेम से अभिन्न करती है। सत्संग मानव मात्र का स्वधर्म है। इसी कारण प्रत्येक मानव सत्संग में सर्वदा स्वाधीन है। जो साधक अपने में अपना कुछ नहीं पाता तथा जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता को प्राप्त कर कृतकृत्य होता है। ममता, कामना और तादात्म्य ही असत् का संग है और निर्ममता, निष्कामता असंगता ही सत् का संग है। सत्संग से प्राप्त दिव्य-जीवन, जो निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता से परिपूर्ण है, उसके आश्रय का त्याग आत्मीयता से ही साध्य है। यदि साधक दिव्य-जीवन से सन्तुष्ट हो गया, तो अहम्रूपी अणु का नाश नहीं होगा। इस कारण निर्विकारता आदि से सन्तुष्ट न होकर आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है। विश्वास-पथ की दृष्टि से आत्मीयता स्वीकार करने पर भी निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता प्राप्त होती है। कारण कि, आत्मीयता से जागृत प्रियता स्वभाव से ही रस-रूप है।

नीरसता का अन्त होते ही सभी विकार स्वतः नाश हो जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

156

पटना,
6-12-61

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सत्संग में सर्वतोमुखी विकास निहित है और सत्संग की मानवमात्र को सुविधा तथा स्वाधीनता है। कारण कि, अपने द्वारा जो करना है, उसके करने में पराधीनता नहीं है। यह स्वाधीनता मानवमात्र को मंगलमय विधान से मिली है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग न करना मानव की अपनी भूल है। अपनी भूल को मिटाने का दायित्व मानव के रचयिता ने मानव पर ही रखा है। दायित्व पूरा करने में स्वाधीनता है। कारण कि, दायित्व पूरा करने के लिए आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता आदि सब कुछ स्वतः प्राप्त होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपनी वास्तविक माँग का अनुभव किया है। माँग और दायित्व का पुँज ही मानव का अस्तित्व है। माँग की पूर्ति होती है। दायित्व पूरा करना है।

माँग की जागृति में दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के कारण माँग की विस्मृति हो जाती है-माँग का नाश नहीं होता। उस विस्मृति को मिटाने के लिए ही अभाव-जनित वेदना उत्पन्न होती है। परन्तु प्रमादवश मानव अभाव-जनित वेदना को कामना-पूर्ति के सुख से मिटाने का मिथ्या प्रयास करने लगता है; जबकि प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है। अपनी कामना से ही मानव आप पराधीन हो गया है। निष्कामता को अपनाये बिना असंगता की अभिव्यक्ति नहीं होती। असंगता के बिना तादात्म्य नाश नहीं होता, जिसके बिना हुए सत् का संग सम्भव नहीं है। सत्संग के बिना असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है।

उत्पन्न हुए असाधन के नाश का प्रश्न मानव-जीवन का मौलिक प्रश्न है, जिसका हल एकमात्र सत्संग से ही है। उत्पन्न हुआ असाधन स्वतः दिखाई देता है। उसे देख उसके कारण की खोज कर उसका सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है। असाधन के रहते हुए चैन से रहना ही असाधन को पोषित करना है। असाधन-जनित वेदना साधन की उत्कट लालसा को पोषित करती है, जो विकास का मूल है। मानव की माँग साधन-निष्ठ

होकर साधन-तत्व से अभिन्न होना है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है।

निर्ममता, निष्कामता एवं असंगतापूर्वक जाने हुए असत् का त्याग करना है, जिसके करते ही सत् का संग स्वतः हो जाता है। अथवा अविचल आस्था, श्रद्धा विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने से भी सत् का संग हो जाता है। सत्संग होते ही समस्त जीवन साधन हो जाता है-साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व ही नहीं रहता। असाधन के रहते हुए ही साधक और साधन का विभाजन प्रतीत होता है। असाधन का नाश असत् के त्याग में ही निहित है। और साधन की अभिव्यक्ति, सत् के संग से ही होती है। वास्तव में तो असत् का त्याग और सत् का संग जिस प्रकार युगपद् है, उसी प्रकार असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् है। साधन-तत्व से भिन्न साधक का वास्तविक स्वरूप कुछ नहीं है, अर्थात् अगाध प्रियता ही अपना जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

157

पटना,

7-12-61

स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

निर्ममता से प्राप्त निर्विकारता के तुल्य कोई अन्य सौन्दर्य नहीं है। कारण कि, निर्विकारता सभी को स्वभाव से आकर्षित करती है। किन्तु प्रेमीजन अपने को निर्विकारता के अभिमान से रहित कर नित-नव प्रियता के लिए सदैव आकुल रहते हैं। प्रियता की व्याकुलता में लेशमात्र भी नीरसता नहीं है। कारण कि, प्रियता की उत्कट लालसा में रस-ही-रस है। प्रियता से कभी-भी निराश नहीं होना है, अपितु प्रियता के लिए निव-नव-उत्कट लालसा जगाना है, जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता ही मानव की निज-सम्पत्ति है। आत्मीयता में ही अनुपम माधुर्य है, जो प्रेमास्पद को अत्यन्त प्रिय है। किन्तु निष्कामता के बिना आत्मीयता सजीव नहीं होती।

निष्कामता मानव-जीवन का ऐश्वर्य है। निष्काम होने पर मानव विश्व-विजयी स्वतः हो जाता है, जो एकमात्र निर्ममता से ही साध्य है। मिला हुआ अपना नहीं है-भला, यह किसे विदित नहीं है? अर्थात् इस वास्तविकता से सभी परिचित हैं। किन्तु जाने हुए के अनादर से मानव ममता में आबद्ध हो, अनेक दोषों को उत्पन्न कर लेता है। जाने हुए के

प्रभाव से ही निर्ममता प्राप्त होती है, जो विकास का मूल है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

158

पटना,
8-12-61

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

जब प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान में निर्मित है, तब सभी परिस्थितियों में मानव स्वाधीनतापूर्वक साधन-निष्ठ हो सकता है। फिर न जाने क्यों बेचारा मानव अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करने लगता है? परिस्थातियों में जीवन-बुद्धि ही भूल है। साधन-सामग्री को जीवन मान लेना सत् से विमुख होना है। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग से साधक साधन-निष्ठ हो सकता है। साधन-निष्ठ होने में प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग हेतु है, परिस्थिति नहीं। साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने साधन-तत्व से अभिन्न होना ही जीवन का लक्ष्य अनुभव किया है। कारण कि, साधन-तत्व ही तो साधक का वास्तविक अस्तित्व है, जो एकमात्र साधन-निष्ठ होने से ही साध्य है। साधन-निष्ठ होने के लिए उत्पन्न हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति अनिवार्य है। बस इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्संग की परम आवश्यकता है। सत्संग के बिना किसी भी प्रकार से चैन से रहना भारी भूल है।

सत्संग के लिए सब कुछ दिया जा सकता है और किसी भी भय तथा प्रलोभन के कारण सत्संग का त्याग साधक को नहीं करना है। जब तक साधक सत्संग को जीवन का परम पुरुषार्थ नहीं मानता, तभी तक सत्संग के के बिना रह सकता है, जो वास्तव में विनाश का मूल है। सत्संग में ही जीवन और मानव-जीवन सत्संग के लिए ही मिला है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से साध्य है। सत्संग श्रम-साध्य प्रयास नहीं है, अपितु विचार तथा विश्वास से ही साध्य है। इसी कारण प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है।

श्रमयुक्त प्रयास सभी परिस्थितियों में तथा सभी के लिए समान रूप से सम्भव नहीं है। किन्तु जिसकी उपलब्धि विचार तथा विश्वास से है, वह सभी परिस्थितियों में सभी के लिए सुलभ है। कारण कि, प्रत्येक साधक में विचार तथा आस्था की सामर्थ्य विद्यमान है, अर्थात् विचार तथा विश्वास किसी-न-किसी अंश में मानवमात्र को मिला है।

अतः सत्संग में सभी स्वाधीन हैं-केवल उसकी भूख होनी चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

159

पटना,
9-12-61

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति होकर रहो!

पत्र के स्वरुप में दर्शन मिला । तुमने बड़े ही सुन्दर ढंग से एक ही वाक्य में अपनी दशा का चित्रण किया है-"शान्त हूँ ,प्रसन्न नहीं ।" दुरी, भेद तथा भिन्नता में एकमात्र अहंकृति का सुख ही मुख्य हेतु है । जिसे श्रम-साध्य सुख अपेक्षित नहीं है, वह साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक दुरी तथा भेद से रहित हो जाता है । यह विचारशीलों का अनुभव है । क्या तुम यह नहीं जानती कि दुरी तथा भेद भासित होने पर भी एकमात्र वे ही अपने है और उन्हीं का स्वतंत्र अस्तित्व है ? इतना ही नहीं , यह सब कुछ उन्ही की अभिव्यक्ति है,अर्थात् उन्ही की सत्ता से सभी सत्ता पाने है । तो फिर स्वरुप से दूरी तथा भेद है, जो आत्मीयता से जागृत प्रियता से ही स्वतः नाश हो जाता है ।

प्रियता से अभिन्न हुए बिना दुरी तथा भेद का अन्त सम्भव नहीं है ।अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है ।तो फिर दूरी तथा भेद का अन्त क्यों न होगा ?अर्थात् अवश्य होगा । निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता निर्ममता के ही विकसित रूप है ।इस दृष्टि से जो कुछ मिला है वह न तो अपना ही है और न ही अपने लिए । क्या यह तुम्हारा अपना अनुभव नहीं है ?यदि है, तो ममता नहीं है । निर्मम होते ही निर्विकारता स्वतः आयेगी,जिसके आते ही शान्ति कि अभिव्यक्ति होती है । उसमें रमण न करने से स्वाधीनता मिलती है और स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने से अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर वे अपनी प्रियता प्रदान करते है । यह मंगलमय विधान की तुम नहीं जानतीं कि तुम्हारे प्रसन्न न रहने से उन्हें अच्छा नहीं लगेगा ?तुम कहोगी, फिर वे क्यों नहीं अपनी प्रियता प्रदान कर देते? क्या प्रतिकूलता सुख की दासता मिटाने में हेतु नहीं है ? क्या प्रतिकूलता न चाहने पैर भी अपने आप नही आती है ?प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग कि अग्नि में नहीं जल रहा है ? यदि ऐसा है तो संयोग में ही वियोग का अनुभव क्यों नही करतीं ?

नित्ययोग की अभिव्यक्ति संयोग में ही वियोग का दर्शन करने से होती है । तुम कहोगी , सब कुछ ठीक है, पर मुझसे ऐसा नहीं होता । न होने की

वेदना में क्या होने कि सामर्थ्य स्वतः सिद्ध नहीं है, अर्थात् अवश्य है । किसी भी दृष्टि से निराश होना नहीं चाहिए , अपितु उत्तरोत्तर उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक नित-नव आशा को जगाना है ।वे सदैव तुम्हारे अपने है और तुम सदैव उन्ही की हो ।अतः उन्ही कि प्रियता होकर उन्हें नित-नव रस प्रदान करो । अपने लिए ही उन्होंने तुम्हारा निर्माण किया है,इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है ।तुम कभी मत सोचो कि तुम उनकी नित्य-प्रिया नहीं हो और वे तुम्हारे प्रियतम नहीं है ।वे तुम्हे प्रियता प्रदान करें, तुम उन्हें रस प्रदान करो,यही मेरी सद्भावना है । प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है ।

जिओ, जागो, सदा आनन्द मे रहो !

पुन: तुमको बहुत-बहुत प्यार !

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

160

पटना,

11-12-61

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

प्रत्येक दशा में त्याग तथा प्रेम की गंगा लहराती रहे!

जिसका कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही सुगमतापूर्वक उन्हें अपना मान पाता है, जिन्हें वह नहीं जानता है । जाना हुआ जो कुछ है, उनका है। इतना ही नहीं, वे उसमें हैं। इस कारण उनके नाते सभी प्यारे हैं। ज्यों-ज्यों प्रीति का प्रभाव सबल तथा स्थायी होता जायगा, त्यों-त्यों उससे भिन्न जो कुछ है, उससे असंगता स्वतः होती जायगी। असंगता साधक को चिन्मय-साधन में प्रवेश कराके स्वतः मिट जाती है और केवल आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता शेष रहती है। प्रीति ने प्रियतम से भिन्न को देखा हीं नहीं। इस कारण प्रीति की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता है। प्रीति में ही प्रीतम की नित्य अभिव्यक्ति है और प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है। प्रीति और प्रीतम का नित्य-विहार ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो। पुनः तुमको दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

161

पटना,

14-12-61

देहातीत दिव्य ज्योति सानधनिष्ठ प्रिय बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

"है" में प्रियता होते ही "नहीं" की आसक्ति मिट जाती है, और मिले हुए से असंगता होती है। जिसके होते ही "है" से अभिन्नता हो जाती है। "है" की अभिन्नता में ही अगाध प्रियता निहित है, जो वास्तविक जीवन है। प्रत्येक दशा में वास्तविकता के लिए आकुल तथा प्रयत्नशील रहना है। सफलता अनिवार्य है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार! मेरी सद्भावना सदैव सभी साधकों के साथ हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

162

भागलपुर,
18-12-61

प्रीतिस्वरूपा साधननिष्ठ प्रिय बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। कारण कि, सत्संग से ही असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। अचाह तथा अप्रयत्न एवं अभिन्नता सत्संग का वास्तविक स्वरूप है। अचाह तथा अप्रयत्न होते ही अभिन्नता स्वतः आ जाती है। अभिन्नता से ही योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, यह मंगलमय विधान है। स्नेहमयी दुलारी बेटी की चिकित्सा तो करानी ही है। अध्ययन का श्रम, रोगी शरीर, भला लड़की से कैसे गाड़ी चलेगी! हाँ, यदि तप समझकर प्राकृतिक चिकित्सा का आहार-बिहार बनाये, तो बिना औषधि के भी ठीक हो सकती है।

स्वास्थ्य के लिए श्रम, संयम दोनों ही आवश्यक हैं। किन्तु संयम उत्साह तथा सहर्ष हो। जिस कार्य में कर्ता को रस मिलता है, उसका प्रभाव शरीर के लिए उपयोगी होता है। ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुमान है। निश्चिन्तता, निर्भयता तथा प्रियता में ही वास्तविक जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो। पुनः दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

163

मुंगेर,
15-12-61

प्रीतिस्वरूपा साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सस्नेह अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार!

मानव-जीवन का मौलिक प्रश्न है कि जीवन निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता

की अभिव्यक्ति हो। चिन्ता, भय तथा नीरसता किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। निर्ममता तथा निष्काता एवं असंगता के बिना निश्चिन्तता नहीं आती और निश्चिन्त हुए बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह मंगलमय विधान है। ममता, कामना तथा तादात्म्य का नाश करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है। कारण कि, ये तीनों निर्बलताएँ भूल-जनित हैं, प्राकृतिक नहीं। भूल-जनित दोषों की निवृत्ति जाने हुए असत् के त्याग से ही होती है, जिसके करने में मानवमात्र स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता मानव को उसके निर्माता ने स्वतः प्रदान की है।

इस दृष्टि से भूल का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए सर्वदा सुलभ है। किन्तु जब तक मानव प्रमादवश भूल-जनित सुख-लोलुपता को अपनाता है, भूल का मिटाना दुर्लभ प्रतीत होता है। भूल-जनित वेदना भूल-जनित सुख-लोलुपता के नाश में हेतु है। सुख-लोलुपता का अन्त होते ही भूल स्वतः नाश हो जाती है और फिर साधक बड़ी सुगमतापूर्वक निर्विकारता, परमशान्ति और स्वाधीनता से अभिन्न होकर अगाध प्रियता का अधिकारी हो जाता है। अर्थात् जिसका कुछ भी नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक आस्था, श्रद्धा, विश्वास के द्वारा आत्मीयता स्वीकार करने में समर्थ होता है।

यह सभी को विदित है कि आत्मीयता में आगध प्रियता है, जो वास्तविक जीवन है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि उनकी दी हुई वस्तुओं को अपनी मानते हैं और उन्हें अपना नहीं मानते। यह जाते हुए भी कि कामना-पूर्ति में पराधीनता तथा अभाव है, फिर भी निष्काम होने में हिचकिचाते हैं। निर्मम तथा निष्काम हुए बिना असंगता सम्भव नहीं है। असंगता के बिना समता तथा चिन्मय-साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो सर्वतोमुखी विकास में हेतु हैं।

अल्प-सामर्थ्य होने पर अल्प-साधन से सिद्धि मिलती है। यह कैसा अनुपम मंगलमय विधान है! अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित होते ही असत् का त्याग तथा सत् का संग स्वतः हो जाता है और फिर अपने-आप असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। जाने हुए का अनादर करने से ही मानव की दुर्दशा हुई है। अतः प्रत्येक साधक को जाने हुए का आदर करना अनिवार्य हे। सुने हुए में आस्था, जाने हुए का आदर एवं मिले हुए का सदुपयोग करने से सभी को सब कुछ मिलता है। यह मंगलमय विधान है।

इस दृष्टि से जाने हुए का अनादर, सुने हुए में अश्रद्धा और मिले हुए का दुरुपयोग ही विनाश का मूल है, जिसका अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

तुम्हारा

.....

164

गाजीपुर,
7-1-62

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

शान्ति का सम्पादन होने से विस्मृति स्वतः नाश हो जाती है, जिसके होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

असत् के ज्ञान में ही असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है। असत् का त्याग तथा सत् का संग युगपद् है। ज्ञान असत् का ही होता है, और संग सत् का होता है। सत् असत् का प्रकाशक है, और असत् का ज्ञान असत् का नाशक है। अतः असत् के ज्ञान से ही असत् की निवृत्ति होती है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

165

बांकुड़ा,
16-1-62

सभी अवस्थाओं से अतीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

ममता तथा कामना से रहित हुए बिना न तो प्राप्त का सदुपयोग ही हो सकता और न प्रेमास्पद की आत्मीयता ही सजीव होती हे। निज-विवेक का आदर करते हुए दृढ़ता-पूर्वक ममता तथा कामना का त्याग कर देना है, जिसके करते ही मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगेगा, और अपने में प्रेमास्पद की आत्मीयता से भिन्न कुछ नहीं होगा। उनकी आत्मीयता ही तो अपना जीवन है। आत्मीयता स्वतः प्रियता में परिणत होती है। यह मंगलमय विधान है।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु उनकी नित्य-प्रिया हो। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्रीति की माँग ही अपनी माँग है। सभी प्रवृत्ति पूजा है। पूजा का अन्त स्वतः प्रीति में होता है। कारण कि, क्रिया भाव में, भाव आत्मीयता में और आत्मीयता प्रियता में विलीन होती है। भला, 'अपने' में अपने को प्रिय न लगेंगे? क्या उनकी प्रियता से भिन्न भी कोई जीवन है? कदापि नहीं।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उन्हीं की वस्तु हें। उनके द्वारा विश्वरूप प्रभु की सेवा करना है, और अपने द्वारा उन्हें रस प्रदान करना है, जो एकमात्र

आत्मीयता से जागृत प्रियता से ही साध्य है। प्रतिपल प्रियता की भूख बढ़ती रहे, अथवा प्रियता की ही माँग रह जाय। 'करने' और 'होने' से असहयोग हो जाय। कारण कि, करने की रुचि देह से तादात्म्य उत्पन्न करती है। इस कारण अचाह, अप्रयत्न तथा आत्मीयता ही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है। उनकी महिमा में अविचल आस्था और अपनी असमर्थता का अनुभव युगपद् है।

साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, अपितु नित-नव आशा का संचार ही विकास का मूल है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है। उनकी दी हुई प्रियता ही उनके लिए उपयोगी होती है। अतः प्रियता की माँग ही अपनी माँग है और उसी में जीवन है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

166

श्री वृन्दावन,
20-2-62

चिन्मय धाम विहारिणी
प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु विश्व की सेवा तथा प्रभु की प्रीति हो। यद्यपि यह मानव-मात्र की बात है, परन्तु वे ही साधक यह रहस्य जान पाते हैं, जिन्होंने वर्तमान सभी का निर्दोष है-इसमें अविचल आस्था की है और जो सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहते हैं, जो सभी के अपने हैं। इतना ही नहीं, आत्मीयता ही जिनका जीवन है, जिन्होंने विवेकपूर्वक ममता तथा कामना का सदा के लिए अन्त कर दिया है। जिनकी महिमा का पारावर नहीं है, वे ही तो सभी के अपने हैं। उनकी आत्मीयता पाकर क्या कुछ और पाना शेष रहता है? अपने होने से वे अपने को स्वभाव से ही प्रिय है। उनकी प्रियता ही मानवका जीवन है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

प्रीति-निर्मित दृष्टि से ही अपने प्रेमास्पद की अनुमप लीला का दर्शन करती रहो। अनेक भाव से उन्हीं के साथ खेलो। उनसे भिन्न की सत्ता ही नहीं। सर्व-रूप वे ही हैं। प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रीति में ही प्रियतम का नित्य वास है और प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव हैं।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

167

हरिद्वार,
29-2-62

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

शरीर सेवा-निधि है। उसकी रक्षा करना पूजा है, पर उसकी ममता भूल है। अतः निर्मम होकर प्रत्येक कार्य को विधिवत् करने का स्वभाव बनालो। यही सफलता की कुंजी है।

क्या तुम यह नहीं जानतीं कि मीठापन सभी मिठाइयों में चीनी का है, मिठाइयों का नहीं? उसी प्रकार जिस किसी में जो कुछ विशेषता है वह प्यारे प्रभु की ही है, जो तुम्हारे अपने हैं और तुम उनकी प्रीति हो।

प्रीति का ही क्रियात्मक रूप सेवा है। अतः प्रीति से अभिन्न होकर प्रियतम के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग वास्तविक सेवा है। आगे-पीछे का चिन्तन व्यर्थ है। वर्तमान का सदुपयोग ही मूल मंत्र है। जो मिला है उसका सदुपयोग कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ-बस, यही सफलता की कुंजी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

168

हरिद्वार,
7-4-62

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

शरीर अनेक व्याधियों का घर ही है। इसी कारण विचारशील मानवता निर्ममता, निष्कामता एवं अहंकृति-रहित होकर शरीर से असंग हो निर्विकारता, परम-शान्ति, अपरिच्छन्नता आदि दिव्य-जीवन से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाते हैं। शरीर विश्व-रूप सागर की लहर है, उसे विश्व के ही समर्पित करना है। तथा शरीर से छूटकारा मिलता है।

जो अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है, उसकी आवश्यकता अनुभव करना ही वास्तव में प्रमाद है। उसके सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है।

वास्तव में तो परिस्थितियों का सदुपयोग ही विकास का मूल है। प्रत्येक दशा में नित-वन उत्साह बढ़ता रहे। आस्तिक के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि, समस्त विश्व में अपने प्यारे की ही अनुपम लीला है, अर्थात् आस्तिक की दृष्टि में जगत् अपने प्यारे का प्यारा है, पर अपना नहीं है। इसी कारण आस्तिक का जीवन नित-नव प्यार से भरपूर रहता है।

जहा रहों प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

169

हरिद्वार,
14-4-62

दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

जो वर्तमान पूजा मिली है, उसे यथाशक्ति करती रहो। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन निकाल दो। जब जहाँ रहना होगा, वही ठीक होगा। गंगा-तट की दृष्टि से तो हरिद्वार, ऋषिकेश-स्वर्गाश्रम आदि स्थान ही ठीक है।

वास्तव में तो कार्यक्रम निश्चित ही है। पर उसका अनुभव उन्हीं साधकों को होता है, जिनका अपना कोई संकल्प नहीं रहता। अतः अपना संकल्प न रख कर जो हो, वही ठीक है। वर्तमान का सदुपयोग करो और सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो, जिनकी तुम प्रीति हो। बस, यही मानव का पुरुषार्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

170

ऋषिकेश,
14-4-62

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

अब रही शारीरिक परिश्रम की बात-कम-से कम एक सप्ताह के लिए मानव को नौकरों की दासता से मुक्त रहना चाहिये, अर्थात् मानव सेवा संघ के आठवें नियम के अनुसार कुछ क्रियात्मक-रूप रखना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी को वह करना चाहिए, जिसे वह नहीं कर सकता। परन्तु कुछ लोग अर्थ के अधीन श्रम का अनादर कर रहे हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि आज कार्यकुशलता दिन पर दिन घटती जा रही है। लोग काम करने को अच्छा नहीं मानते। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ कि अर्थ का महत्व बढ़ गया है, जिसने मानव-समाज में संग्रह की रुचि उत्पन्न कर दी है। संग्रह अभिमान तथा विलास को जन्म देता है, जो विनाश का मूल है। सभी साधक मिलकर कार्य करें, मिलकर रहें और परस्पर विचार-विनिमय द्वारा जीवन की समस्याओं को हल करें।

प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति निहित है। इस विधान में अविचल आस्था रखने से कर्तव्य भार नहीं होता, अपितु सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्हें अपने लिए कुछ भी करना शेष नही है। पर इस विधान में आस्था तो सभी साधक कर सकते हैं।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है। इसी ध्रुव सत्य के कारण जो हो रहा है, वही ठीक है। जिससे दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं है, उसी में जीवन है। यह अनुभव मानव को सभी परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर देता है। प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता से अभिन्न हो सकता है। यह मानव के रचयिता की अहैतुकी कृपालुता है। न जाने मानव उन्हें इतना प्रिय क्यों है! जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो वह ठीक करो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

171

ऋषिकेश,

5-5-62

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

स्वावलम्बन मनन में बाधक नहीं होगा। कारण कि, श्रम का समय उतना ही होगा जितना साधक सुविधापूर्वक कर सकेगा। मनन में जब जागृत होता है, तब हाथ काम में और दिल राम में रहने लगता है। क्रिया समष्टि शक्तियों से हो रही हैं, भाव साधक का अपना है- उसी से क्रिया भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन हो जाता है।

प्रत्येक घटनामें अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करती रहो और मूक होकर उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो। वे अपना दिया हुआ पाकर ही मोहित होते हैं। भला, उन्हीं का दिया हुआ उन्हें देकर प्रसन्न करना भी किसे अभीष्ट न हो! तुम किसी भी काम में उनकी प्रीति से भिन्न कुछ नहीं हो। प्रीति में ही प्रीतम का नित्य-वास है और प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है। मानव अपनी भूल से ही प्रीतम से विमुख हो गया है, और कुछ नहीं।

भूल को भूल जानते ही भूल सदा के लिए मिट जाती है। अतः जीवन में चिन्ता तथा भय एवं निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,

.....

172

श्री वृन्दावन,
5-8-62

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का दर्शन करना है। समस्त निर्बलताएं भूल-जनित और गुण प्राकृतिक हैं। इस तथ्य में अविचल आस्था करना है। सत्संग से ही एक-मात्र भूल नाश होती है, जो मानव-मात्र के लिए सहज तथा स्वाभाविक है।

निज-अनुभव के आदर एवं निर्विकल्प आस्था में ही सत्संग निहित है। भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर उन्हें भूल जाना है। वर्तमान निर्दोषता में अवचिल आस्था कर निश्चिन्त तथा निर्भय रहना हैं। वर्तमान कार्य सर्व-उत्कृष्ट कार्य है। इतना ही नहीं, आस्तिक की पूजा है, विवेकी का साधन है। और भौतिकवादी ही कर्तव्यपरायणता है। जो नहीं कर सकते, उसे नहीं करना है। पर जो नहीं करना चाहिए, उसका सर्वांश में नाश होने पर, जो करना चाहिए उसके करने की सामर्थ्य स्वतः आती है।

क्या नहीं करना है? सुख की आशा, दुःख का भय, किसी के प्रति भी राग तथा द्वेष न हो। सभी से असंगता अथवा सभी में आत्मीयता सुरक्षित रखना है। यद्यपि सुख की आशा के लिए कोई अपना नहीं है, पर किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं। जिसके नाते सभी अपने हैं, वे अपने होने से अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। उनकी प्रियता में ही जीवन है। और उन्हीं के नाते सभी प्यारे हैं। सभी को आदर देना है। कटुता के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं है। द्वेष तथा क्रोध की गन्ध भी न हो, तभी चित्त शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ होता है।

जो अभिनय मिला है, करती रहो। उसे देख मालिक प्रसन्न होगा, अपनायेगा। उसका दिया हुआ अभिनय मंगलमय है। मानव सदैव उनकी प्रीति और उन्हें मानव अत्यन्त प्यारा है। इस तथ्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। उन्हें मानव प्यारा है, वे मानव को प्यारे हैं। इस रहस्य के स्पष्ट होने में ही वास्तविक जीवन निहित है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

173

श्री वृन्दावन,
15-8-62

अवस्थातीत अनन्त की अगाध प्रियता दुलारी बेटी,

प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा अनेक रूपों में अपने ही प्रेमास्पद की पूजा करते हुए सर्वदा प्रियता होकर उन्हीं को रस प्रदान करती रहो-यही मेरी सद्भावना है।

किसी के प्रति की हुई सद्भावना कभी नाश नहीं होती। तुम्हारी सद्भावना कभी-न-कभी मूर्तिमान होकर अभिव्यक्त होगी। कारण कि, सद्भावना ही वास्तविक सेवा है। किसी की असफलता अपनी असफलता के समान पीड़ित करें, इसी में पर-हित निहित है।

अचेतन मन में प्राप्त गुणों का भोग अहं की पूजा, लोकरंजन तथा आत्मख्याति के रूप में छिपा रहता है। पर यह रहस्य कोई विरले ही साधक जान पाते हैं। प्रियता से क्रिया कम हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सजगता आ जाती है। क्रिया का वेग प्रियता में शिथिलता उत्पन्न करता है। क्रिया की न्यूनता हृदय में क्रिया के प्रभाव को स्वीकार नहीं होने देती। उसी दशा में यह भास होने लगता है कि ऊपरी क्रियात्मक सेवा एक प्रकार का तिरस्कार है। हृदय प्रीति का पुजारी है। प्रीति भेद और भिन्नता की नाशक है। स्थूल शरीर की दृष्टि से क्रियात्मक-सेवा भले ही सुखद प्रतीत होती हो, किन्तु मानव की वास्तविक मांग तो प्रियता ही है, जो एकमात्र गुणों के अभिमान से रहित होने पर ही जागृत होती है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से गुणों के अभिमान का अपहरण कर अपनी आत्मयीता प्रदान करें-यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

174

जयपुर,
20-8-62

सभी अवस्थाओं से अतीत प्रीतिस्वरूपा दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है,जो एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। चिर-विश्राम, स्वाधीनता और प्रियता में ही रस का स्त्रोत है-इसमें स्वरूप-भेद नहीं है। जिसका कोई अपना है, उसमें नीरसता के लिए कोई स्थान ही नहीं है तथा निश्चिन्तता एवं निर्भयता भी स्वतः सिद्ध है। इन तीनों में विभाजन नहीं हो सकता। रस की भूख किसश्रेणी की है, उसी के आधार पर विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रियता का रस है। इनमें-से किसी की भी अभिव्यक्ति हो जाने पर सभी स्वतः आ जाते हैं। न जानते हुए भी जो मानवमात्र का अपना है और जानी हुई कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, इन दोनों ही निष्ठाओं से स्वतः रस की अभिव्यक्ति होती है। पर साधक में नित-नव रस की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

माँग की जागृति शान्ति को भंग नहीं करती, अपितु शान्ति में रमण भी नहीं करने देती। मांग की जागृति मात्र से ही निर्ममता एवं निष्कामता पुष्ट होती है, जो एकमात्र निर्विकारता एवं परम शान्ति की जननी है। जो अपने हैं ही, भला, वे कभी अपने को भूल पाते हैं! उनमें भूल की गन्ध भी नहीं है। किन्तु उनके दिय हुए सीमित सौन्दर्य को पाकर साधक ही उन्हें भूलता है। पर प्रतिकूलता के रूप में अभिव्यक्त होकर वे साधक की भूल को स्वयं खोलते हैं।

जिनकी महिमा तथा कृपालुता का पाराबार नहीं है, वे ही तो अपने हैं। उनकी आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता में ही तो जीवन है। वे तुम्हारे हैं, तुम सदैव उन्हीं की हो-इसमे विकल्प के लिए कोई स्थान ही नहीं है। उनकी होकर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। उनके हो जाने में ही तुम्हारे प्रयास की परावधि है। जहाँ रहो इसमें प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार! जो तुम्हारे हैं वे तुम्हें उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

175

बलिया,
24-11-62

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अनन्त की प्रीति हो, विश्व की सेवा करती रहो! प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है और सेवा उसी का क्रियात्मक रूप है। तुम्हें अपने लिए कुछ नहीं करना है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्त्तव्य की पूर्णता है। मानव-समाज में सोई हुई मानवता जग जाय, इसीलिए सब कुछ करना है। भयभीत तथा चिन्तित होने से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं हो सकता। अतः विचारपूर्वक भय तथा चिन्ता से दूर होना अनिवार्य है। परिस्थिति के सदुपयोग की कला आ जाने पर प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग सुगमतापूर्वक हो सकता है। सुख में सजग और दुःख में अभय रहना अनिवार्य है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन में अविचल आस्था रखो। इतना ही नहीं, प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग की सामर्थ्य देकर ही मानव को उसके रचयिता ने भेजा है। अतः तुम वह अवश्य कर सकती हो, जो तुम्हें करना है। तुम्हारा हृदय बहुत कोमल है, इस कारण प्रतिकूलताओं को देख अधीर हो जाती हो। प्रत्येक घटना में अपने प्यारे को देखो। उनके सिखाने के अनेग ढंग हैं।

हिन्दुस्तानी लोग छोटे-छोटे सुख में फँसकर भारत माँ की सेवा भूल गये और चीनी लोग मिथ्या अभिमान में आबद्ध हो गये हैं। दोनों देशों के हित के लिए ही यह प्रतिकूलता आई है। जो सजग हो जायेंगे, वे सफल हो जायेंगे। मानव-समाज की दुर्दशा का कारण उसकी अपनी ही भूल है, जो एकमात्र सत्संग से ही मिट सकती है। सत्संग में ही मानव का अधिकार है। तुम्हें जो कार्य मिला है, उसे पवित्र भाव से करती रहो। सफलता अनिवार्य है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो। तुम अकेली नहीं हो, तुम्हारा प्रेमास्पद सदैव तुम्हारे साथ है। सब ओर से विमुख होकर उसे देख लिया करो। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

तुम्हारा

.....

176

आगरा,
5-12-62

सभी अवस्थाओं से अतीत प्रीतिस्वरूपा श्रीप्रिया,

सर्वदा अनन्त को लाड़ लड़ाती हुई रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा नित्य-सम्बन्ध जिससे है, वह सदैव-सर्वत्र तुम्हारे साथ है। तुम उन्हीं की प्रीति हो। देह से तुम्हारी मानी हुई एकता है, जो एकमात्र अविचार से ही उत्पन्न हुई है। तुम विचारपूर्वक उस मानी हुई एकता का अन्त कर, जिससे तुम्हारी जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है उन्हीं की आत्मीयता को अपना कर अगाध प्रियता को जगा दो। बस, यही तुम्हारा वास्तविक जीवन है।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। इसके सदुपयोग में ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो। प्रवृत्ति में सेवा एवं निवृत्ति में प्रीति ही तुम्हारा जीवन है। इसके लिए नित-नव आशा का संचार होता रहे। सफलता अनिवार्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

177

श्री वृन्दावन,
19-12-62

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा अपने में ही 'अपने' को पाकर लाड़ लड़ाती रहो, यही मानव-जीवन की पूर्णता है।

मानव की व्यक्तिगत मांग चिन्ता, भय तथा नीरसता से रहित होना है, जिसकी उपलब्धि एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। जो अपना है, वह सदैव अपना है और अपने में ही हैं। उससे देश-काल की दूरी नहीं है। उसकी विस्मृति असत्य के संग से हुई है, जो प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु अपनी ही भूल है। जो कभी-भी अपना नहीं है, उसे अपना मान बैठना और जो सदैव अपना है, उसमें अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार न करना, क्या अपनी भूल नहीं है? इस भूल का अन्त प्रत्येक मानव को प्रत्येक परिस्थिति में करना है। बस, यही सत्संग है, जिसकी स्वाधीनता मानव के रचयिता ने उसे जन्मजात् प्रदान की है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो। जो सदैव अपने ही हैं, अपने में ही हैं, उनकी आत्मीयता में ही जीवन है। अपने ही द्वारा तुम अपने को अपने में पाओ और उन्हीं की प्रीति हो जाओ, यही मेरी सद्भावना है। सभी को सप्रेम यथोचित है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

178

प्रयाग,
19-1-63

प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। समाचार विदित हुआ। प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की अनुपम लीला का दर्शन करना है, और प्रत्येक वर्तमान कार्य से उन्हीं की दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से विश्वरूप में उन्हीं की पूजा करनी है। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप उन्हीं की दिव्य प्रीति है। प्रीति से भिन्न तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। तुम सदैव उनकी, और वे तुम्हारे हैं। यह ध्रुव सत्य है।

मानव भूल से अपने को देह मान लेता है। वास्तव में तो उसके रचयिता ने प्रीति देकर ही मानव का निर्माण किया है। प्रीति का ही क्रियात्मक रूप सेवा और विवेकात्मक रूप त्याग है, अर्थात् प्रीति ही सेवा तथा त्याग के रूप में परिणत होती है। इसी कारण मानव सेवा, त्याग एंव प्रेम का पुँज है। प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार न करो। सभी में सर्वत्र सर्वदा तुम्हारे प्रीतम ही ओत-प्रोत हैं। तुम प्रीति से अभिन्न होकर ही उन्हें अपने में पाओगी। उनकी मधुर स्मृति में ही तुम्हारा सर्वतोमुखी विकास निहित है। प्रत्येक दशा में अखण्ड स्मृति होती रहे। यह तभी सम्भव होगा, जब तुम

अपने को उनकी प्रीति स्वीकार करो। होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा हे। निवृत्ति में स्वतः स्मृति सबल होती है। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।

प्रीति से कभी-भी निरश नहीं होना है, अपितु नित-नव उत्कण्ठा बढ़ती रहनी चाहिए। विस्मृति स्मृति से ही नाश होती है, किसी अभ्यास-विशेष से नहीं। प्रीति और प्रियतम में जातीय तथा स्वरूप की एकता एवं नित्य-सम्बन्धहै। अपने होने से वे अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। यही प्रीति की जागृति का मूल मंत्र है। नित-नव आशा प्रीति की भूख को तीव्र बनाती है। प्रीति-निर्मित दृष्टि से प्रतिपल प्रियतम की अनुपम छटा नित-नई भासित होती है। प्रीति ही में जीवन है। यद्यपि वे सभी के अपने हैं, पर यह अनुभव कि 'वे' अपने हैं, प्रीति ही से सिद्ध होता है। प्रेमियों ने ही उन्हें अपना करके स्वीकार किया है। प्रेमियों की सद्भावना सदैव सभी प्रेमियों के साथ है। अतः तुम उन्हीं की नित-नव प्रीति हो-यह निर्विवाद सत्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो! जो करो ठीक करो।

यह तुम्हें ज्ञात ही है कि साधक के प्रति जगत की उदारता, सत्पुरुषों की सद्भावना एवं अनन्त की कृपालुता सदैव रहती है। अतः साधकों के सभी आवश्यक संकल्प पूरे होकर नाश हो जाते हैं, और अनावश्यक उत्पन्न ही नहीं होते। यदि किसी अनावश्यक संकल्प की प्रतीति हो, तो समझना चाहिए कि उत्पन्न हुआ निकल रहा है, नवीन उत्पन्न नहीं हो रहा है। उनके नाते प्रत्येक कार्य साधन तथा भजन है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार! निकटवर्ती प्रियजनों को यथोचित।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,

.....

179

देहरादून,
9-4-63

देहातीत प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

यहाँ आने पर पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। यात्रा की घटना का समाचार जान, यह भास हुआ कि उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। प्रत्येक कार्य में सजगता अनिवार्य है।

तुमने सुना ही होगा कि एक बार प्यारे श्यामसुन्दर ने अपनी मैया को सिखाने के लिए अपने ही द्वारा अपनी सेवा-सामग्री तोड़-फोड़ डाली, दूध-दही बिखरा दिया, जिसे देख वात्सल्य स्नेह से निर्मित श्री नन्दरानी जी क्षोभित हो गई और अपने प्राणप्यारे दुलारे लाला को दण्ड देने के लिए तत्पर हो गई।

अपने प्रिय की सेवा-सामग्री कभी-कभी प्रिय से भरी प्यारी लगती है, यह मानव-स्वभाव है। किन्तु प्यारे को तो

अपनी प्रियता ही सबसे अधिक भाती है। उसके जगाने के लिए ही वे अपनी अनुपम लीला करते हैं।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। उनकी लीला को देखो, मधुर स्मृति जगेगी-इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

पुनः सद्भावना-सहित बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

180

श्री वृन्दावन,
4-8-63

सेवा तथा प्रीति की मूर्ति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

जिसमें रोग दिखाई देता है, उस पर उन्हीं की सील लगाकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना है। इतना ही नहीं, प्रत्येक वस्तु पर उन्हीं का अधिकार है। वे अपनी वस्तु को सदैव देखते रहते हैं। उन्होंने कभी-भी तुम्हें अपनी आँख से ओझल नहीं किया। उनकी दृष्टि सदैव तुम्हीं पर लगी रहती है। तुम भले ही उन्हें देख नहीं पातीं, पर वे तो तुमको सदैव देखते ही रहते हैं। तुम जिसे देखती हो वह सब उनका खेल है और तुम उनकी खिलौना हो। वे जैसा खेल खिलायें, खेलती रहो। उनकी दी हुई प्रीति ही उनके काम आयेगी।

जब तुम अपनी ओर देखोगी तो अपनमें उनका दिया हुआ प्रेम पाओगी। उसी से उनकी पूजा करो। जब वे अपने निर्मित साधक में अपना सब कुछ पाते हैं, तब उन्हें बड़ी ही प्रसन्नता होती है। और फिर प्रेम देकर, दिये हुए प्रेम द्वारा ही, नित-नव रस का पान करते हैं। तुम उनकी भोग-सामग्री हो और वे हैं-भोक्ता।

साधक भले ही उन्हें भूल जाय, पर वे नहीं भूलते। तुम उस बहुरुपिया को अनेक रूपों में देखा करो। जब तुम सभी में सदैव उन्हीं को देखोगी, तब वे स्वयं अभिव्यक्त होकर तुम्हारी माँग पूरी कर तुम्हें सब प्रकार से लाड़ा लड़ायेंगे। मानसिक रोग उनके न पहचाने से ही रहता है। उनके अतिरिक्त किसी और की स्वीकृति सदा के लिए निकाल दो। अपने में उन्हीं की स्थापना कर अपने को अर्पित कर दो।

एक बात अवश्य है, जो करना चाहिए उसके करने पर अपनी असमर्थता का अनुभव कर, साधक परम व्याकुल होता है। वह व्याकुलता उसे साध्य से अभिन्न करती है, अर्थात् दूरी, भेद, भिन्नता का अन्त हो जाता है। परम व्याकुलता ही अन्तिम दरवाजा है, जो असमर्थता अनुभव करने पर स्वतः खुल

जाता है। सचमुच, कुछ कहने-सुनने की बात नहीं है। जिसकी जो वस्तुएँ हैं, उन्हें वह देखता ही है, सँभालता ही है। इतना ही नहीं, वे तो सदैव सभी को अपना ही जानते हैं। कारण कि, सब कुछ उन्हीं से निर्मित है। अपनी रचना से क्या रचयिता अपरिचित होता है? कदापि नहीं। उनकी दी हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करना है, अपितु सब प्रकार से उन्हीं का खिलौना होकर रहना है। वे अपने खिलौना से खेलें, यही मेरी सद्भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। उनकी लीला देखकर मधुर स्मृति जगेगी। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

पुनः सद्भावना-सहित, बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,

.....

181

अजमेर,
17-8-63

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

यह वैधानिक तथ्य है कि जो जिसका होता है, वह उसे स्वभाव से ही प्रिय होता है। अतएव हम सब जिसके हैं उसे हम सभी स्वभाव से प्रिय है। इस दृष्टि से तुम उन्हें अत्यन्त प्रिय हो। उनकी दी हुई प्रियता से उन्हें लाड़ लड़ाती रहो। यही इसजीवन की सार्थकता है। प्यार मिलने पर भी वे उतने प्यारे नहीं लगते जितना लगना चाहिये, यही तो शरणागत की गहरी व्यथा है! रोम-रोम से निरन्तर यही माँग रहे-"प्रेमास्पद! अपना प्यार दो।"

बाह्य रूप से जो कुछ मिला है वह सेवा-सामग्री है। उसका सद्व्यय होता रहे और उनकी प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तभी इस जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने ही में-से मानव का निर्माण किया है। मानव उन्हें कितना प्यारा है, उसकी गणना सम्भव नहीं है। उनका प्रेम निरन्तर बरस रहा है-उनके प्रेम का पारावार नहीं है। प्रेमदाता प्रेम देकर प्रेमी बना रहे हैं। प्रेमी होकर प्रेमी बनाना ही उनका स्वभाव है। प्रेमास्पद ही वास्तव में प्रेमी है।

पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब शरणागत उनकी महिमा में अविचल आस्था और अपनी निर्बलता का परिचय पाता है। उन्होंने विवेकरूपी प्रकाश तथा बुद्धिरूपी दृष्टि देकर भूल का परिचय तथा भूल-रहित होने का अवसर दिया, जिससे निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य-जीवन से अभिन्नता हुई। उनकी कृपालुता का

वारापार नहीं है। उदारता तथा आत्मीयता प्रदान कर जगत के लिए तथा अपने लिए उपयोगी बनाया। उनकी महिमा अनन्त तथा अपार है। वे कितने अच्छे हैं! इसके लिए जितना कहा जाय, कम है। उनकी निर्मित सृष्टि भी बड़ी ही सुन्दर है। इतना ही नहीं, वे ही अनेक रूपों में नित-नव लीला कर रहे हैं।

हे लीलाधारी! शरणागतों को निरन्तर अपनी प्रियता देते रहो, जिससे वे तुम्हारी दी हुई प्रियता से तुम्हें रस प्रदान करते रहें। हे रसिक-शिरामणि! तुम बड़े ही रसीले हो। अपनी निज-रस से रस की वर्षा करते रहो। रस के आादान-प्रदान में ही जीवन है। नीरसता का अत्यन्त अभाव कर निष्काम बनाकर, अपनी आत्मयीता का पात्र बना लो। तभी मानव 'मानव' होकर सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। हे लीलामय! ऐसी लीला कर मानव-समाज को उदारता, स्वाधीनता एवं अगाध प्रियता से परिपूर्ण कर कृतकृत्य कर दो, जो एकमात्र आपकी अहैतुकी कृपा से ही सम्भव है। कृपा-पालित मानव को अपने प्रेम का पात्र बनाओ, तभी आपकी लीला पूर्ण होगी। यद्यपि मैंने आपकी कृपा का दुरुपयोग किया है, परन्तु अब मेरा कोई आश्रय भी तो नहीं है। हे सर्वाधार, सर्व-आश्रयदाता! अपनी ओर देख, अपनाओ-यही अन्तिम माँग है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। निकटवर्ती प्रियजनों तथा सत्संग-प्रेमियों को सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

182

बम्बई,
29-8-63

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

तुम निस्सन्देह अनन्त की अनुपम खिलौना हो। अपने खिलाड़ी को रस प्रदान करती हुई, सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। उन्होंने तुम्हारा निर्माण अपने में-से ही किया है। तुम्हारी उनकी जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है। तुम उनकी प्रीति और वे तुम्हारे प्रियतम हैं। उन्हें तुम अत्यन्त प्रिय हो और वे तुम्हारे जीवन हैं। उनकी विस्मृति ही साधक की भारी भूल है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। अविनाशी का संग करने में साधक सदैव स्वाधीन है। विनाशी की असंगता में अविनाशी की आत्मीयता स्वतः सिद्ध है।

सेवा-पूजा के अन्त में स्वभाव से ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है, और फिर प्रिय की मधुर स्मृति स्वतः जागृत हो,

प्रीति से अभिन्न करती है। प्रीति और प्रियतम के नित्य-विहार में ही जीवन की पूर्णता निहित है। श्रद्धा और सजगता से सेवा-पूजा सजीव होती है। श्रद्धा आत्मीयता की और सजगता असंगता की जननी है। सजगता से साधक श्रद्धा का अधिकारी होता है और श्रद्धा से सजगता स्थायी होती है। इन दोनों में परस्पर अभिन्नता हैं, भिन्नता नहीं।

हृदय और मस्तिष्क की भिन्नता ने ही जीवन में द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न कर दी है। अतः इन दोनों की एकता में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। इन्द्रिय एवं बुद्धि दृष्टि से जो-जो दिखाई देता है, उस पर अपने प्रियतम की सील लगा दो। फिर तो प्रत्येक दृश्य उनकी स्मृति जगाने में हेतु बन जायगा। सब कुछ उन्हीं का तो हैं। इतना ही नहीं, सभी में वे ही तो हैं और तुम उन्हीं की नित्य प्रिया हो। तुम्हारे प्रियतम तुम्हें अपनी प्रीति प्रदान करते रहें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। अपने खिलाड़ी की खिलौना होकर उन्हें रस प्रदान करती रहो। किसी प्रेमी का वचन है कि उनके मत्थे पड़ जाओ, अर्थात् अपने को सब प्रकार से उन्हीं के अर्पित कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। अपने में उनकी आत्मीयता से भिन्न कुछ न रह जाय। बस, यही सफलता की कुंजी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,

.....

183

बम्बई,
31-8-63

अहैतुकी कृपा से निर्मित
प्रीतिस्वरूपा श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

प्रियता ही तुम्हारा स्वरूप है। प्रेमास्पद ने अपने ही में-से प्रीति देकर तुम्हारा निर्माण किया है। उनकी आत्मीयता ही तुम्हारा जीवन है। उन्हें रस देना ही तुम्हारा अत्यन्त प्रिय है। प्रीति और प्रीतम से भिनन कभी कुछ हुआ ही नहीं। अनेक रूपों में, अनेक प्रकार से प्रीति और प्रियतम की नित-नव लीला निरन्तर हो रही है। यह रहस्य सत्संग से ही स्पष्ट होता है। अपने में अपना करके कभी कुछ नहीं था और न है। सब कुछ उन्हीं का है और वे ही हैं। प्रत्येक दृश्य उनका होने से उनकी मधुर स्मृति जगाने में समर्थ है। स्मृति में ही जीवन है। इतना ही नहीं, स्मृति ही जीवन है। दूरी, भेद, भिन्नता का नाश स्मृति की जागृति में स्वतः हो जाता है।

हे दिव्य-ज्योति! जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। अनेक रूपों में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन

करती रहो, और प्रियता होकर प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, नित-नव रस देकर उन्हें अपनाती रहो। नित्य-मिलन तथा नित्य वियोग से प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे-इसी सद्भावना सहित बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

184

श्री वृन्दावन,
27-9-63

साधननिष्ठ दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागे, सदा आनन्द में रहो!

समस्त सृष्टि जिससे निर्मित है, वह सभी का अपना है। उसे अपनी सृष्टि अत्यन्त प्रिय है। कारण कि, अपना निर्माण अपने को स्वभाव से ही प्रिय होता है। इतना ही नहीं, उसने तो मानव का निर्माण अपने में ही से किया है। अतः सभी साधक उसे अत्यन्त प्रिय है। तो क्या 'वे' हमें अत्यन्त प्रिय नहीं होने चाहिए? उनकी दी हुई प्रियता ही उन्हें देना है। यदि कोई साधक मिली हुई साधन-सामग्री से साधन-निष्ठ नहीं होता, तो यह उसकी अपनी भूल है। साधक के जीवन में भूल के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

इसी दृष्टि से मानव सेवा संघ ने प्रत्येक कार्य के पूर्व और अन्त में सत्संग की प्रेरणा दी है। सत्संग से उदित साधन से ही साधक की अभिन्नता होती है। साधन-निष्ठ होने की स्वाधीनता सभी साधकों को जन्मजात् प्राप्त है। समस्त दृश्य में सत्ता रूप से वे स्वयं ही मौजूद हैं। और जो कुछ हो रहा है, वह उन्हीं की लीला है। लीला देखते हुए उन्हीं की होकर रहना है। उनकी आत्मीयता ही अपना सर्वस्व है। वे सदैव हमारी ओर देख रहे हैं, पर हम उनकी ओर नहीं देखते। इस असावधानी का सदा के लिए अन्त कर देना है। उनकी प्रियता उन्हीं से माँगों और उन्हें देकर उन्हें रिझाओ। साधक का निर्माण उन्होंने अपने लिए ही किया है।

उनसे कह दो-"हे प्रेमास्पद! भोग और मोक्ष की भूख मिटा दो, प्रियता की भूख जगा दो, अपने निर्मित जीवन को अपने लिए उपयोगी बना लो।" वे व्यथित हृदय की पुकार शीघ्र सुनते हैं, यह निर्विवाद सत्य है। यद्यपि वे स्वतः सब कुछ जानते हैं, फिरभी व्यथित हृदय से पुकारती रहो। सफलता अनिवार्य है। जैसे रखें वैसे रहो, पर अनेक रूपों में उन्हीं को देखते हुए अनेक प्रकार से उन्हीं को लाड़ लड़ाओ। वे सदैव तुम्हारे और तुम उनकी हो। इतना ही नहीं, कण-कण में प्रीति और प्रियतम का नित्य-विहार निरन्तर हो रहा है। पर यह रहस्य वे ही

जान पाते हैं, जिन्होंने आत्मीयता को ही सर्वस्व स्वीकार किया है। सब कुछ देकर आत्मीयता ले लो। बस, यही परम पुरुषार्थ है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। वे धन्य हैं, जिन्हें साधकों की सेवा का सुअवसर मिलता है। सच तो यह है कि अन्तर्यामी रूप में वे स्वयं ही साधक की सेवा अनेक रूपों में करते हैं। निकटवती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत प्यार!

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

185

हैदराबाद,

17-12-63

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

मंगलमय विधान से प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वतः मिलती है। सभी परिस्थितियों से अतीत परम प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, सफलता अनिवार्य है। वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को विधिवत् करने से करने का राग भी निवृत्त होता है और भविष्य भी उज्जवल होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्हें अपने लिए सत्संग से भिन्न कुछ नहीं करना है।

श्रम तथा प्रतिकूलताओं के भय से रहित होना अनिवार्य है और प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहना है। पोस्टमैन की भाँति मिली हुई शक्ति का सद्व्यय होता रहे और प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला का दर्शन हो, तो फिर जो करना चाहिए वह होने लगता है। 'करना' 'होने' में, 'होना' 'है' में विलीन हो, साधक को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करता है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। रोम-रोम में उन्हीं की सील लगाकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। उनकी प्रियता ही तुम्हारा जीवन है। तुम सदैव उनकी, और वे तुम्हारे हैं। अनेक रूपों में अनेक प्रकार से उन्हीं को लाड़-लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,

.....

186

बलिया,

3-2-64

देहातीत दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

शारीरिक स्वास्थ्य का भी यथाशक्ति ध्यान रखिये। शरीर की सेवा से भी शरीर का राग नाश होता है। अपने

प्यारे की प्रत्येक वस्तु प्यारे के नाते ही प्रिय है। निर्मम होकर की हुई सेवा ही प्यारे की पूजा है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में प्रिय की मधुर स्मृति ही अपना जीवन है। स्मृति होती रहे, लीला देखती रहो और पूजा करती रहो-यही मेरी सद्भावना है।

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से ही सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य-जीवन में प्रवेश होता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि भूल है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त कुछ नहीं है। साधन-सामग्री का सदुपयोग साध्य की अगाध प्रियता जगाने में है। वे अपने हैं, सब कुछ उनका है-यही महामन्त्र है। परिस्थितियों का सदुपयोग कर उनकी दी हुई सामग्री से अनेक रूपों में उन्हीं की पूजा करो और उनकी आत्मयीता को पाकर प्रियता को जगाकर कृतकृत्य हो जाओ।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार! निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित अभिवादन एवं बहुत-बहुत प्यार! जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। तुम्हारे प्रेमास्पद तुम्हें अपनायें और अपना प्रेम प्रदान करें, इसी सद्भावना के सहित।

तुम्हारा,

.....

187

श्री वृन्दावन,

13-8-64

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्यारे की प्रीति और विश्व की सेवा होकर रहो! यही मेरी सद्भावना है।

शरणागत के जीवन में हर्ष तथा विषाद के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि, उनकी दृष्टि में अपने प्यारे से भिन्न की सत्ता ही नहीं रहती। अनेक रूपो में उस एक ही को आदर तथा प्यार देते हुए उसी की प्रीति हो जाना है। प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है।

तुम्हारा निर्माण सर्व-समर्थ ने अपने ही में-से किया है। अतः उन्हीं की पूजा करनी है। वे जैसे चाहें जैसे राखें, उनकी मौज! उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है।

जिन्होंने उनका होकर रहना स्वीकार किया, वे सभी उनके प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो गये। उनके होने में ही अपने पुरुषार्थ की परावधि है। यह सामर्थ्य भी उन्हीं की दी हुई है। उन्होंने मानव का निर्माण अपने ही लिए किया है। अतः उनकी होकर उनके काम आओ। बस, यही इस जीवन की सार्थकता है।

तुम्हारा

.....

188

श्री वृन्दावन,
18-8-64

देहातीत दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्यारे प्रभु की प्रीति तथा विश्व की सेवा होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। तुम्हारा निज-स्वरूप एकमात्र प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है, यह निर्विवाद सत्य है। साधक अपनी ही भूल से अपने को प्रीति से विमुख कर लेता है। अपने द्वारा अपनी ओर देखते ही यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' का स्वरूप 'यह' से अतीत और 'वह' की प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है, भला, अपने में अपनी प्रियता न होगी? अपने प्यारे की अनुपम लीला में जो अभिनय मिला है, उसे उन्हीं की प्रियता जगाने के लिए परिस्थिति के अनुसार कर डालना है ओर सब प्रकार से अभय रहना है। उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। ज्यों-ज्यों साधक उनकी महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों स्वतः अभय होता जाता है। उनकी महिमा की विस्मृति ने ही साधक को श्रद्धा-विश्वास से विमुख किया है, जो विनाश का मूल है।

निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार निवेदन करें।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

189

श्री वृन्दावन,
19-11-64

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

अनेक रूपों में अपने ही प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

सद्गुरु-वाक्य है कि 'आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही मिलती है और आवश्यक कार्य स्वतः होते रहते हैं।

वास्तव में तो शरणागत को कुछ भी करना शेष नहीं रहता। शरण्य जो चाहते हैं कराते हैं। उनका कराया हुआ मंगलमय होता है। उनसे भिन्न की सत्ता किसी काल में है ही नहीं। तुम उन्हीं की प्रीति हो। प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नहीं। जैसे राखें वैसे रहो, जो करायें वही करो, अपने को देकर उनकी प्रियता को ले लो। फिर कुछ न देना है और न कुछ लेना है।

भक्त-मंडली के साथ रहने में प्रेमास्पद की नित-नव चर्चा होती ही रहती है। इस समय बड़ा ही सुन्दर संयोग बन गया है कि आप सभी लोग भक्त-निष्ठ साधक हैं। उनके सिखाने के अनेक ढंग है। प्रिय-चर्चा से भिन्न और कोई चर्चा नहीं है।

अभिनय के रूप में सेवा करते हुए अनेक प्रकार से अपने ही प्यारे को लाड़ लड़ाओ। उन्हीं की होकर रहो, उनकी प्रियता ही जीवन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा
.....

190

बराबंकी,
27-11-64

साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा प्रभु की प्रीति होकर रहो!

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, उसके सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है। सर्व-संकल्पों को त्याग, स्वाधीन होने में ही जीवन की उपयोगिता है। कारण कि, स्वाधीन होने पर ही उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीन होने की स्वाधीनता मानव को जन्मजात् प्राप्त है-यह उसके रचयिता की महिमा है।

मानव अपनी ही भूल से पराधीन हो, अनुपयोगी हो जाता है। भूल-जनित वेदना पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को भस्मीभूत कर देती है और फिर मानव सहज भाव से निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर उदारता तथा प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। अतः अपने सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जायँ। बस, यही सफलता की कुंजी है। सभी महानुभावों को बहुत-बहुत प्यार निवेदन करें।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा,
.....

191

भागलपरु,
28-12-64

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

प्रत्येक दशा में प्रेमास्पद की प्रीति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

सेवा द्वारा विश्व के रूप में और प्रीति होकर प्रीतम के रूप में अपने ही प्यारे को लाड़ लड़ाना है। सेवा स्वतः प्रीति में परिणत हो जाती है, और प्रीति ही सगुण रूप धारण कर सेवा करती है।

किसी भी साधक को अपने लिए तो कुछ भी करना है ही नहीं। कारण कि, निर्ममता, निष्कामता, असंगता विचार-सिद्ध है, श्रमसाध्य नहीं; और शरणागति श्रद्धा-सिद्ध है। ज्यों-ज्यों साधक उनकी महिमा को स्वीकार करता जाता है, त्यों-त्यों शरणागति सजीव होती जाती है। यह

मंगलमय विधान है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

प्रियता से तुम्हारा जीवन परिपूर्ण हो जाय, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

192

श्री वृन्दावन,
9-1-65

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

अपनत्व से जागृत अगाध प्रियता ही तुम्हारा निज-स्वरूप है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो और न देहादि कोई भी वस्तु तुम्हारी अपनी है। एकमात्र 'वे' ही तुम्हारे अपने हैं, जो तुम्हें जानते हैं और तुम उन्हें मानती हो। उनसे भिन्न की सत्ता स्वीकार करना ही आस्तिक साधक की भूल है।

तुम सदैव उन्हीं की गोद में हो। अतएव प्रीति होकर उन्हें रस प्रदान करती रहो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेमास्पद ने अपने ही में-से तुम्हारा निर्माण किया है। इस वास्तविकतामें अविचल आस्था करो।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

193

देहरादून
30-4-65

परम भागवत श्रीप्रिया एवं लाड़ली,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

सब प्रकार से प्यारे प्रभु का हो जाने पर सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है, यह मंगलमय विधान है। श्रद्धा-पथ के साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान हीं नहीं है। कारण कि, समर्थ की अहैतुकी कृपा उसे प्रीति से अभिन्न कर देती है। प्रीति की जागृति में एकमात्र आत्मीयता ही हेतु है, जो शरणागति स्वीकार करने से स्वतः प्राप्त होती है। जिसने अपने में अपना करके कुछ नहीं पाया, उसने अहैतुकी कृपा से सब कुछ पाया। पर यह रहस्यवे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंन सर्व-समर्थ की महिमा को स्वीकार किया है। उनकी महिमा स्वीकार

करते ही साधक अभय हो जाता है, अर्थात् उसे सर्वत्र-सर्वदा अपने प्यारे की अनुपम लीला का ही दर्शन होता है। इतना हीं नही, उनकी महिमा को सोच-सोच अपने को न्यौछावर कर उनके प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है।

वे धन्य है, जिन्होंने सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना स्वीकार किया है। उनकी ओर से तो सब उनके हैं ही, पर अपनी ओर से उनके होने की बात स्वीकार करना ही श्रद्धा-पथ के साधक का परम पुरुषार्थ है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म द्वारा पूजा करती हुई उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो, उन्हीं की महिमा गाती रहो। इतना ही नहीं, सदैव उन्हीं की गोद में विश्राम करो। उत्तरोत्तर उन्हीं की प्रीति बढ़ती रहे। इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

194

ऋषिकेश,
6-5-65

परम भागवत साधननिष्ठ श्रीप्रिया तथा लाड़ली,

प्रत्येक दशा में प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

डरो मत। तुम सदैव समर्थ की गोद में हो। तुम्हें अपने लिए शरीर की आवश्यकता नहीं है। उन्हीं की बाटिका की सेवा करना है। सेवा के लिए आवश्यक सामर्थ्य अवश्य मिलती है। यह उन्हीं का मंगलमय विधान है। इसमें अविचल आस्था करो।

निवृत्ति में प्रीति का प्रवाह स्वतः जागृत होना चाहिए और प्रवृत्ति में पूजा होती रहे। निवृत्ति व प्रवृत्ति दोनों एक ही जीवन के दो पहलू हैं, जो शरणागत होने पर स्वतः होते रहते हैं।

सदैव अपने को उन्हीं में और उनको अपने में देखती रहो। उनकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। साधक उनकी महिमा को भूलने पर ही भयभीत होता है। अपने को सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना और उनके प्रेम की भूख बढ़ाना है, जो एकमात्र अपनत्व से ही साध्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

195

राजकोट,
6-9-65

परम भागवत प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

प्रीति होकर प्रियतम की लीला देखती रहो। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। विश्व विश्वनाथ का प्रकाश है और शरीर उसी का एक अंशमात्र है। शरीर चाहे जैसा क्यों न रहें, उसके बनने-बिगड़ने से तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं।

निर्मम, निष्काम तथा असंग होने पर शरीर के प्रति जो होता है, वह भी तो उन्हीं की पूजा है। भला, तुम ही बताओ ऐसी कौनसी वस्तु है जो उनकी नहीं है? सब कुछ उनका ही है और वे तुम्हारे अपने हैं। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है। प्रेम तुम्हारा सहज स्वरूप है। तुम्हारे और उनके बीच प्रेम का आदान-प्रदान होता रहे, यही मेरी सद्भावना है।

प्रेम की भूख इतनी बढ़ जाये कि मन, इन्द्रिय आदि सभी अपने विषय से विमुख होकर प्रेम से अभिन्न होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करें। उन्होंने तुम्हारा निर्माण अपने में-से ही किया है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से देहाभिमान खाकर तुम्हें प्रेम प्रदान अवश्य करेंगे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। बस, इसी सद्भावना के साथ,

तुम्हारा

.....

196

बड़ौदा,
10-9-65

परम भागवत प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

इस समय देश बड़े संकट में आ गया है। भारतियों को पवित्र भाव से पूरी शक्ति लगाकर अपनी रक्षा करते हुए अमानवता का अन्त करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक भारतीय बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करते हुए सर्वहितकारी सद्भावना को अपनाये। विश्व की सेवा तथा विश्वनाथ का प्रेम मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। यद्यपि विश्वनाथ के प्रेम में विश्व-सेवा और विश्व-सेवा में विश्वनाथ का प्रेम ओत-प्रोत है। परन्तु प्रमादवश मानव इन दोनों में भेद कर बैठता है। उसका परिणाम अहितकर ही सिद्ध होता है।

हिन्दुस्तान एक देश है। बेसमझी से लोग उसे दो देश मानते हैं। इतना ही नहीं, वास्तव में तो समस्त विश्व एक है, और विश्व तथा विश्वनाथ से मानव का अविभाज्य सम्बन्ध है। यदि मानव काल्पनिक भेद को अस्वीकार कर तथा वास्त्विक एकता को स्वीकार कर, बल विश्व की सेवा में लगाये और निज-ज्ञान के

द्वारा अचाह होकर श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक उसके प्रेम को अपनाये जो सभी का अपना है, तो सभी समस्याएँ हल हो जायें। किन्तु काल्पनिक भेद में आबद्ध मानव का बल दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर कर अपना और दूसरों का अहित ही कर रहा है। धन और जन की क्षति सुनकर हृदय पीड़ित है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र में सोई हुई मानवता को जगा दें, यही मेरी सद्भावना है। तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

197

भरतपुर,
13-9-65

परम भागवत साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

विश्वासी साधक के जीवन में समर्थ की महिमा की स्मृति अखण्ड रूप से रहती है। उसी से उसकी सभी निर्बलताएँ स्वतः नाश हो जाती हैं।

शारीरिक बल का आश्रय तोड़ने के लिए रोग आया है। उससे डरो मत, अपितु उसका सदुपयोग करो। रोग का सदुपयोग देह की वास्तविकता का अनुभव कर, उससे असंग हो जाना है। शरीर की असंगता में ही प्रेमास्पद की आत्मीयता-पूर्वक अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से असंग होना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

असंगता शरणागत साधक को स्वतः प्राप्त हो जाती है। कारण कि, उसके जीवन में श्रद्धास्पद की महिमा से भिन्न कुछ नहीं रह जाता। तुम स्वयं दुःखहारी से कुछ मत कहो। क्या वे तुम्हें दुःखी देख स्वयं दुःखी नहीं होते होंगे! उनसे कह दो-'मेरे नाथ! यदि मुझे दुःखी देखकर प्रसन्नता होती है, तो दुःख सहने की सामर्थ्य दीजिये। नहीं तो, सुख के प्रलोभन से रहित कर मुझे अपनी प्रीति प्रदान कीजिये। मैं भले ही तुम्हें भूल जाऊँ, पर तुम तो मेरे परम सुहृद होने से कभी भूल ही नहीं सकते। तुम जानते हो कि मैं तुम्हारी हूँ। तुमने अपने ही में-से मेरा निर्माण किया है। प्रेम के प्रसार के लिए अब प्रेममयी लीला करो, जिससे तुम्हारी महिमा मेरा जीवन होकर तुम्हारा दिया हुआ प्रेम तुम्हें भेंट करती रहूँ, जिससे तुम्हें रस मिले। तुम्हारा रस ही मेरा जीवन है। हे जीवन धन! अपनी ओर देखिए और अपने चरणों में अनन्य भक्ति देकर मुझे अपनाइये।'

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

198

श्री वृन्दावन,
17-9-65

कृपाश्रिता भक्तिमति साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा आत्मयीता से जागृत अगाध प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम यथोचित।

जिन शरणागत साधकों ने अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया, वे सभी पार हो गये। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। प्रत्येक परिस्थिति में प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव-मात्र को मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर दी है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग सर्वतोमुखी विकास का मूल हे। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सुख-दुःख से अतीत रसरूप जीवन की आवश्यकता अनुभव की है। आवश्यकता अनुभव करना साधक का स्वधर्म एवं परम पुरुषार्थ है। आवश्यकता की पूर्ति होती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है।

दुःख का प्रभाव तो विकास का मूल है। पर दुःख के भय से तो साधक की क्षति ही होती है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें साधको की सेवा की सामर्थ्य प्रदान करें-इसी सद्भावना के साथ।

अकिंचन
तुम्हारा
.....

199

प्रयाग,
14-1-65

कृपापालित साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

अंतर्ज्योति जगाने के लिए ही अस्वस्थता आई है। उसका आदरपूर्वक स्वागत करना है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अपितु अनन्त की प्रीति हो। प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस देना ही तुम्हारा स्वधर्म है। तुम सदैव उन्हीं की गोद में हो और वे रोम-रोम में भरपूर हैं-इस वास्तविक में अविचल आस्था कर, उनकी महिमा को अपनाओ। सचमुच उनकी दया का कोई पारावार नहीं है। उनका प्यार ही हम सबका जीवन हो जाय, बस यही लालसा सतत उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्यार की भूख भी बड़ी रसीली भूख है। इस जीवन की सार्थकता एकमात्र उनकी अगाध प्रियता में ही है। कारण कि, प्रियता अहंता को खाकर जीवन को उपयोगी कर देती है।

निश्चिन्त तथा निर्भय होकर लाड़ लड़ाती रहो, जो एक-मात्र आत्मयीता से ही साध्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो

करो, ठीक करो। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

200

धनबाद,
24-9-65

परम भागवत् साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो!

तुम्हारा जातीय तथा नित्य-सम्बन्ध एकमात्र 'उन्हीं' से हैं वे जानते हैं, तुम मानती हो। उन्होंने अपने में-से ही अपनी नित्य-प्रिया का प्रादुर्भाव किया है। प्रेम और प्रेमास्पद में किसी प्रकार की दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं है, अपितु प्रेमास्पद में प्रेम और प्रेम में प्रेमास्पद ओत-प्रोत हैं। इस दृष्टि से तुम उनकी और वे तुम्हारे हैं।

अपने में अपनत्व ही साधक का सर्वस्व है। निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता अपनत्व से ही अभिव्यक्त होती हैं। समस्त दृश्य और उसका प्रकाशक कोई और नहीं है, तुम्हारे ही प्रेमास्पद हैं। वे अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी पूजा, सेवातथा प्रेम के योग्य बना लें-यह माँग वे ही पूरी करेंगे ऐसा मेरा अविचल विश्वास है। कारण कि, यह माँग वैधानिक माँग है। इसी माँग की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी ओर देख, अपने ही में-से साधक का निर्माण किया है। साधक सर्वदा उन्हें और उनकी लीला को देखता है।

हे लीलामय! अब तुम ऐसी लीला करो, जिसको देख सभी साधकों का जीवन परम प्रेम से भर जाय। तुम अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास देकर साधकों को निर्भयता प्रदान करो। शरणागत का भय आपने सदैव हरा है। शरणागत-भय-हारी आपका विरद है। ऐसा शरणागत भक्तों ने अनुभव किया है। आपकी महिमा का कोई पारावार नहीं है। आपके अपनाने के अनेक ढंग है। जिनका कोई और है ही नहीं, उनकी पुकार तो आप सदैव सुनते रहे हैं। हे भयहारी! अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता शीघ्र प्रदान करें। शरणागत की यही माँग है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा
.....

201

कानपुर
27-9-65

परम भागवत् स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो!

श्रद्धावान् साधक सर्व-समर्थ की अहैतुकी कृपा का आश्रय पाकर सदा के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं। कारण कि, वे सर्वत्र सर्वदा अनेक रूपों में अपने प्रियतम को ही पाते हैं; प्रत्येक परिस्थिति में उन्हीं की सेवा-पूजा करते हुए प्रेमास्पद की मधुर स्मृति ही होकर रहते हैं। अर्थात् प्रिय की मधुर स्मृति ही उनका जीवन है। स्मृति आत्मीयता से जागृत होती है, जिसे साधक आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक स्वतः स्वीकार करता है। जब अनेक स्वीकृतियाँ एक स्वीकृति में विलीन हो जाती हैं, तब अखण्ड स्मृति स्वतः जागृत होती है। इस दृष्टि से आत्मीयता ही प्रियता की भूमि है। अनेक सन्तों, भक्तों तथा सद्ग्रन्थों से यह सिद्ध है कि साधक का विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध है। तो फिर भय, चिन्ता आदि के लिए साधक के जीवन में स्थान ही कहाँ है?

दुःख का प्रभाव दुःखी को दुःखहारी प्रभु से अभिन्न करने में समर्थ है। सुख का प्रलोभन मिटाने के लिए दुःखहारी स्वयं दुःख के वेष में प्रगट होते हैं और फिर सुख के प्रलोभन को खाकर दुःखी को अपने से अभिन्न कर प्रियता प्रदान करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। उनसे आस्था, श्रद्धा, विश्वास की प्रार्थना करना साधक का परम पुरुषार्थ है। उनकी आस्था पाकर भयभीत अभय हो जाते हैं और अनाथपन सदा के लिए मिट जाता है। अर्थात् साधक सनाथ हो जाता है और फिर उसे कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। वे तो जानते ही हैं कि साधक उनका अपना है। उन्हें साधक अत्यन्त प्रिय है। साधक में भी उनकी प्रियता की माँग रहनी चाहिए, बस, बेड़ा पार है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

202

कानपुर
1-10-65

परम भागवत दुलारी बेटी,

सर्वदा अभय रहो!

प्राकृतिक विधान के अनुसार सुख और दुःख साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधन-सामग्री के सदुपयोग से प्रत्येक साधक को साध्य की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का उत्साह, उमंग तथा धीरजपूर्वक सदुपयोग करना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साध्य

में साधक की अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास हो। यद्यपि साधक की साध्य से ही जातीय एकता है, परन्तु साधक भूल से अपने नित्य-सम्बन्ध में अविचल आस्था नहीं करता। स्वाभाविक माँग तो साधक में अविनाशी सरस जीवन की ही है। माँग उसी की होती है, जो मौजूद है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह भी सम्भव होगा, जब साधक किसी साधक के माध्यम से साध्य की महिमा को स्वीकार करें, स्वीकृत महिमा का परस्पर साधकों के साथ वर्णन करे। जैसे आशुतोष भगवान् शंकर तथा उमा करते थे। महिमा के श्रवण, कथन, चिन्तन से महिमा में श्रद्धा, विश्वास हो जाता है और फिर भय, चिन्ता, शोक आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता, अपितु साध्य की प्रियता जागृत होती है, जो वास्तविक जीवन है।

सहजभाव से प्रेमास्पद की महिमा गाती रहो और उत्तरोत्तर हृदय में उत्साह बढ़ाती रहो। प्रेम देने में पराधीनता नहीं है। प्रेम से ही प्रेमास्पद को रस मिलता है। प्रीति की जागृति में एकमात्र अपनत्व ही मूल हेतु है। जब मिले हुए और देखे हुए की वास्तविकता स्पष्ट होती है, तब केवल जो मौजूद हैं उन्हीं की अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास रह जाता है, जो साधक का सर्वस्व है। मौजूद पर ही सतत दृष्टि लग जाय, कोई और नजर न आये।

वास्तव में तो सत्ता रूप से सदैव-सर्वत्र अपने प्यारे ही है, और कोई है ही नहीं। तो फिर भय, चिन्ता आदि के लिए स्थान ही कहाँ है? उनकी महिमा की विस्मृति ही भय, चिन्ता आदि को जन्म देती है। निर्बल साधक तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सर्व-समर्थ में आत्मीयता स्वीकार कर लेता है, और फिर निश्चिन्त, निर्भय होकर गुण-गान करते हुए जीवन-यात्रा को सरस बना लेता है। साध्य की महिमा का वर्णन करने से उत्तरोत्तर साध्य की प्रियता बढ़ती ही रहती है, ऐसा श्रद्धावान् साधकों का अनुभव तथा विश्वास है। साधक की दृष्टि वर्तमान और विद्यमान में ही रहती है। विद्यमान से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं है। विद्यमान की विस्मृति ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है। कितना सुन्दर श्री मीरा जी का वचन है-

प्रियतम पतिया तो लिखूँ, जो
तुम होव विदेश,
तन में, मन में, नैन में, तिनको
कहा संदेश।

यह वास्तविकता सभी साधकों के लिए सर्वदा सम्भव है। इसमें विकल्प करना अपनी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पनुः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

203

कानपुर,
3-10-65

परम भावगत् साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सर्वदा निश्चिन्त तथा अभय रहो!

यह जानकर कि सर्वहितकारी पावन शरीर कफ, खाँसी से पीड़ित है, हृदय करुणित हो उठा। यह रोग तप कराने आया है। और शरीर से असंगता एवं प्रभु से आत्मीयता की प्रेरणा देकर सदा के लिए शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रियता का अधिकारी बना रहा है, ऐसा मेरा विश्वास है। चित्त में प्रसन्नता, मन में निर्विकल्पता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जायेगी, त्यों-त्यों स्वतः आरोग्यता आती जायगी। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। सुख के प्रलोभन का नाश होने पर दुःख का भय स्वतः मिट जाता है। रोगावस्था में साधक को तप को अपनाना अनिवार्य है। भोजन औषधि के समान हो जाय, केवल सेवा में ही प्राप्त बल का सदुपयोग किया जाय। सुख-सम्पादन के लिए कुछ भी नहीं करना, अपितु सुख से विमुख होकर शान्ति का सम्पादन करना है। शान्ति के समान और कोई तप नहीं है। समस्त शक्तियों का विकास शान्ति में निहित है। यह रही मानव के पुरुषार्थ की बात।

जो साधक अपने को असमर्थ अनुभव करता है, उसे तो एकमात्र सर्व-समर्थ की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से उन्हीं का हो जाना है। वे अपने हैं उनकी महिमा का पारावार नहीं है। सदैव सर्वत्र उन्हीं की लीला देखो। उनकी अनन्य शरणागति ही एकमात्र अपना सम्बल है, जिसे तुमने बड़ी ही ईमानदारी से अपना लिया है। वे सदैव तुम्हें देख रहे हैं। उनके समान और कोई परम सुहृद् नहीं है। उन्हीं से उनकी प्रियता माँगती रहो। सर्वत्र सभी में उन्हें को देखो और कोई है नहीं। यहाँ तक कि तुम्हें अपने में भी अपना करके कुछ भी नहीं दिखाई देगा। 'मैं' 'है' का भेद शेष न रहेगा।

जब सभी उन्हीं से सत्ता पाते हैं और उन्हीं से प्रकाशित हो रहे हैं, तो फिर किसी अन्य का अस्तित्व ही कहाँ है? भोग की रुचि से संसार की प्रतीति होती है, किन्तु जिसकी प्रतीति होती है उसकी प्राप्ति नही होती-यह उनके दिए हुए ज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान उन्होंने आप्तकाम होने के लिए दिया है और बल उदार बनाने के लिए। आप्तकाम होने पर साधक उदारता तथा प्रेम का अधिकारी हो जाता है। जिसे कभी भी कुछ नहीं चाहिये वही आप्तकाम है। आप्तकाम होते ही भोग, मोह और आसक्ति का नाश और योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है। रोग तुम्हें स्वाधीनता देकर ही पीछा छोड़ेगा। कारण, कि वह परम सृहृद् की ओर से आया है। उसका आदरपूर्वक स्वागत करो। उससे डरो मत।

जिसका अपना कोई संकल्प नहीं रहता, उसके सभी आवश्यक संकल्प पूरे होते रहते हैं-यह प्रभु का मंगलमय विधान है। उदारता, समता, प्रियता से भिन्न कुछ न रह जाय-यही मेरी सद्भावना है।

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

तुम्हारा

.....

204

मुकामा

8-11-65

परम भागवत साधननिष्ठ
अहैतुकी कृपा से पालित,

सर्वदा अभय रहो!

पराधीनता-जनित सुख का अन्त करने के लिए और स्वाधीनता तथा अपनत्व से जागृत नित-नव रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रतिकूलता मंगलमय विधान से आती है। विचारशील साधक प्रतिकूलता का आदर-पूर्वक स्वागत करते हुए तपोमय जीवन अपनाते हैं। प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति संयम का मूर्तिमान रूप धारण कर लेती है और फिर प्रतिकूलता सदा के लिए विदा हो जाती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति यज्ञरूप होकर प्रेमास्पद की प्रीति जगाने में सहयोगी सिद्ध होती है।

अपने में अपने परम सुहृद प्रेमास्पद मौजूद है। उनकी आत्मीयता ही अपना सर्वस्व है। उनकी महिमा का गुणगान ही अपना स्वधर्म है।

स्वधर्मरत साधक सफलता के साम्राज्य में ही वास करते हैं, यह मंगलमय विधान है। विधान में अविचल आस्था रहनी चाहिये। सभी प्रवृत्तियाँ उन्हीं की पूजा हैं। कारण कि, उनकी दी हुई परिस्थिति का उन्हीं की प्रियता के लिए यथाशक्ति सदुपयोग करना है। जब दृश्य से संयोग-जनित सुख का प्रलोभन शेष नहीं रहता, तब नित्ययोग तथा सहज स्नेह स्वतः जागृत होता है, और फिर साधक साध्य की अगाध प्रियता पाकर कृतकृत्य हो जाता है। आवश्यक सामर्थ्य तथा साधन-सामग्री साध्य की अहैतुकी कृपा से साधक को स्वतः प्राप्त होती है। प्राप्त सामग्री का सदुपयोग ही वास्तविक पूजा है। असमर्थता की अनुभूति होने पर साध्य की महिमा में अविचल आस्था आस्तिक साधक को होती है। प्राप्त सामर्थ्य के द्वारा साध्य की पूजा और असमर्थता अनुभव होने पर प्रार्थना स्वतः होती रहे। बस, यही सफलता की कुंजी है!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित
तुम्हारा

.....

205

पटना
6-1-66

परम भागवत साधननिष्ठ श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रत्येक दशा में अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

शरणागति सफलता की कुंजी है और साधक के पुरुषार्थ की परावधि है। शरणागत के जीवन में भय, चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरणागत शरण्य को अत्यन्त प्रिय है। कारण कि, शरणागत का कोई और नहीं है। इतना ही नहीं, शरणागत अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता। शरण्य की महिमा में उसकी अविचल आस्था सदैव रहती है। आस्था आस्थावान् को उससे अभिन्न कर देती है। जिसकी उसने आस्था स्वीकार की है।

आस्था से भिन्न आस्थावान् का कोई अस्तित्व नहीं है। श्रद्धा और विश्वास आस्था के ही रूप हैं। श्रद्धास्पद की महिमा ही तो श्रद्धावान् का जीवन है। श्रद्धास्पद सदैव अपने शरणागत को देख रहे हैं। शरणागत कभी-भी शरण्य की आँख से ओझल नहीं होता, और न शरणागत की दृष्टि में ही कोई और रह जाता है। इसी कारण शरणागत में बड़े ही सहज भाव से निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है और फिर उसका जीवन निर्विकारता, चिर-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रियता से परिपूर्ण हो जाता है।

शरण्य के नाते सभी अपने है, पर वास्तव में तो शरण्य ही अपने हैं। वे अपने हैं, अपने ही में है और उनकी प्रियता से भिनन अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर यह रहस्य उनकी अहैतुकी कृपा से ही स्पष्ट होता है। जिन साधकों ने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया, वे सभी पार हो गये; अर्थात् उस जीवन को पा गये, जिनको पाकर कुछ और पाना शेष नहीं रहता।

प्रेमास्पद अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर शरणागत को अपनाते हैं। शरणागति उन्हीं की देन है। उन्हीं ने जिज्ञासा-पूर्ति के लिए साधक में विचार का प्रादुर्भाव किया है और वे ही अपनी प्रियता प्रदान करने के लिए शरणागति के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। सत्ता रूप से तो कभी कोई और है ही नहीं। प्रीति और प्रियतम उन्हीं का स्वरूप है। प्रीति और प्रियतम के नित्य-विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र शरणागति से ही साध्य है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था से ही शरणागति

सजीव होती है। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित
तुम्हारा

.....

206

श्री वृन्दावन
17-11-67

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

प्रभु-विश्वासी साधक के जीवन में अभाव का अभाव सदा के लिए स्वतः हो ही जाता है। ऐसा अनुभव-सिद्ध सत्य है। इस सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। शरीर के रहने; न रहने से विश्वासी साधक के जीवन में कोई लाभ-हानि की बात ही नहीं है। प्रभु-विश्वास कल्पतरु है, प्रभु-प्रेम की प्राप्ति का अचूक उपाय है। जिसने प्रभु-विश्वास पा लिया, उसने सब कुछ पा लिया। प्रभु-विश्वास को अपनाते ही अन्य विश्वास स्वतः नाश हो जाता है। प्रभु-विश्वासी को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। कारण कि, प्रभु-विश्वास अन्य सम्बन्ध, अन्य चिन्तन का अन्त कर देता है। इतना ही नहीं, विश्वासी साधक के लिए प्रभु-विश्वास ही गुरु-तत्व है। यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने गुरु-वाक्य के आधार पर प्रभु-विश्वास अपनाया है।

' करने' और 'होने' के रहस्य को अनुभव करो। करना है केवल प्रभु-विश्वास और हो रही है अनन्त की अनुपम लीला। लीला देखो, पर लीलामय की महिमा को अपनाती रहो। जिन्होंने महामहिम की महिमा को अपनाया, वे सदा के लिए अभय हो गये, विश्राम पा गये और प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस देने में तत्पर हो गये। यह उन्हीं की महिमा है। उनसे आत्मीय सम्बन्ध अपना लेने पर किसी और की आस्था ही नहीं रह जाती। प्रेमास्पद से भिन्न की आस्था ही अभाव को जन्म देती है। अतः यह स्वीकार करो कि सर्वरूप में वे ही है; सभी अवस्थाओं में वे ही हैं, सभी परिस्थितियों में वे ही है; वस्तु, व्यक्ति, देश-काल में वे ही हैं। तुम हो उनकी अगाध प्रियता। प्रियता से ही उन्हें रस मिलता है।

सद्गुरु-वाक्य के आधार पर मिली हुई आत्मीयता से ही प्रियता उदय होती है। तुम्हारे प्रेमास्पद सदैव तुम्हीं में है, तुम्हें देख रहे हैं। वे कभी-भी तुम्हें अपनी आँख से ओझल नहीं करते। तुम भी अपने दृष्टि में किसी और को स्वीकार न करो। बस, और कुछ करना शेष नहीं है। सर्वदा अभय रहो, निश्चिन्त रहो, शान्त रहो। प्रसन्न रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित
तुम्हारा

.....

207

बहराइच,
30-3-68

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

प्रभु के नाते प्रभु-प्रेम के लिए प्रभु के दिये हुए बल का प्रभु की अहैतुकी कृपा से सदुपयोग होता रहे। प्रभु सदैव हैं, सर्वत्र हैं, तुम्हीं में हैं। उनको पाकर और कुछ पाना नहीं है। उनके हो जाने पर और कुछ करना नहीं है। उनकी अखण्ड स्मृति में ही जीवन है, और कहीं जीवन नहीं है। प्रभु अपना प्रेम प्रदान करते रहें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित
तुम्हारा

.....

208

श्री वृन्दावन
10-7-68

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को प्रेम का दान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

मानव का निर्माण प्रभु ने अपने में-से अपने लिए किया है। सृष्टि का निर्माण भले ही मानव के लिए हो, किन्तु मानव का निर्माण तो उन्होंने अपने ही लिए किया है। कारण कि, मानव ही को प्रभु ने यह सामर्थ्य दी है कि वह निज-ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होकर मिले हुए और देखे हुए से निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर जब चाहे वह जीवन-मुक्त हो जाय और बुराई का उत्तर भलाई से देकर जगत् के काम आ जाय और स्वयं भलाई के अभिमान तथा फल की कामना से रहित होकर बुराई-भलाई से अतीत प्रभु के दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाय और मुक्ति से भी मुक्त होकर विश्वासपूर्वक शरणागति को अपनाकर प्रभु को प्रभु का दिया हुआ प्रेम देकर प्रभु के काम आ जाय। क्या कहूँ! मानव सेवा संघ भी प्रभु का ही है। इस कारण संघ की सेवा प्रभु की निज सेवा है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

209

श्री वृन्दावन,
19-7-68

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमती,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

शरणागत साधक को तो प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का ही दर्शन करना है और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है तथा उन्हीं के नाते सभी को आदर देते हुए सभी की प्रति सद्भावना रखना है। प्रेमास्पदके प्रेम की माँग सबल तथा स्थायी होती रहे। उसकी पूर्ति तो प्रेमास्पद की कृपा पर ही निर्भर है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

210

श्री वृन्दावन
26-7-68

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

जिन्होंने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रम लेकर शरणागति स्वीकार की, वे सभी उनके प्रेम-धन को पा गये। शरणागत के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण कि, शरणागत का जीवन अनन्त की महिमा से भरपूर हो जाता है।

वे तुम्हारे काम आते हैं, इसे तो तुम जानती हो, और मानती भी हो। पर तुम अनुभव करती हो कि तुम उनके काम नहीं आतीं। तुम उनसे बराबरी न करो। वे स्वयं तुम्हें अपने काम के योग्य बनायेंगे। उनकी महिमा को अपनाओ और अभय हो जाओ।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

211

श्री वृन्दावन
31-7-68

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

साधकों की सेवार्थ संकेत भाषा में कुछ चर्चा लिख रहा हूँ। आप उसे भलीभाँति समझ लेंगी और आवश्यकतानुसार उनका उपयोगी करेंगी।

साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है, ऐसा मेरा विश्वास है।

परन्तु सेवा करने वाले साधक को इस बात का ध्यान रहे कि वह सेवा करने से अन्य साधकों की अपेक्षा अपने को विशेष न मान ले और साध्य के स्थान पर स्वयं अपने व्यक्तित्व की पूजा न कराने लगे। यही मानव सेवा संघ कीनीति है।

मानव सेवा संघ मानव मात्र को स्वाधीनता पूर्वक व लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है। साधक और साध्य के बीच किसी और को सहायक नहीं मानता है। साध्य की आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीय सम्बन्ध को साधक को साध्य से अभिन्न कराता है, अथवा यों कहो कि सत्संग के द्वारा प्रत्येक साधक साधननिष्ठ हो सकता है और सत्संग साधक का स्वधर्म है।

साधक को स्वधर्म की प्रेरणा देना और साधक एवं साध्य का आत्मीय सम्बन्ध दृढ़ करना प्रभु-विश्वासी साधक-समाज की वास्तविक सेवा है। यह आपको विदित ही है कि आज का साधक कुछ-न-कुछ करना चाहता है। करने की बात शरीर के सहयोग के बिना हो नहीं सकती। इस कारण स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-तीनों शरीरों से प्रभु-विश्वासी साधक को साध्य की पूजा करना है और 'स्व' के द्वारा स्तुति, उपासना और प्रार्थना करना है।

स्थूल शरीर के सहयोग से वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म के रूप में प्रभु की पूजा की जाय और सूक्ष्म शरीर के जिस प्रिय के नाम का आश्रय लेकर चिन्तन के रूप में पूजा की जाय। मन और प्राण दोनों के द्वारा प्रिय का प्रिय नाम लेना चाहिए। प्राण समस्त क्रियाशक्ति का केन्द्र है और मन इच्छाओं का प्रतीक है। प्राण और अपान, अर्थात् भीतर जाने वाली श्वाँस और बाहर आने वाली श्वाँस-भीतर जाने वाली श्वासँ को 'प्राण' और बाहर आने वाली श्वाँस को 'अपान' कहते हैं।

प्राण अपने प्राणाधार में सहज भाव से विलीन होता है, भीतर और बाहर। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि स्थिति के बिना गति नहीं होती। प्राण और मन द्वारा प्रिय के नाम का उच्चारण करना है। प्रिय का आधा नाम जाते और आधा नाम आते हुए लेना है। मन की वाणी से बोलना, मन के कानों से सुनना और मन की आँखों से देखना है। परन्तु जहाँ प्राण अपने-आप अपने प्राणेश्वर में लय हो, वहीं नाम के द्वारा मन की क्रिया का भी लय हो। लय होते समय समर्पण भाव रखना है। क्रिया भाव में और लक्ष्य में विलीन हो जाता है। मानसिक क्रिया समाप्त होते ही स्थिति के रूप में कारण शरीर के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा होती है। यह रहस्य कुछ काल पूजा करने से स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा तो बातचीत द्वारा ही हो सकती थी, परन्तु वह तो, जब कभी प्रभु की अहैतुकी कृपा से अवसर आयेगा, तभी हो सकेगी।

आज प्रातः की बैठक में उपुर्यक्त चर्चा सविस्तार की गई थी। प्रेरणा हुई कि उसका अंश आपकी सेवा में भेज दिया जाय। जब तीनों शरीरों के

द्वारा प्रेमास्पद की पूजा होने लगती है, तब करने का प्रश्न हल हो जाता है।

अब रही स्तुति, उपासना और प्रार्थना की बात। स्तुति तभी हो सकती है, जब सर्व काल में, सर्व देश में, सर्वदा प्रेमास्पद के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय और फिर उनकी महिमा को स्वीकार किया जाय। प्रभु की महिमा का कोई पारावार नहीं है। संकेत में यही कहा जा सकता है कि वे सभी को अपना लेते हैं और उन पर कोई विजयी नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, प्रभु अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रत्येक साधक को अपनी महिमा से ही योग, बोध, प्रेम प्रदान करते हैं। उनकी उदारता की बात कहाँ तक कहीं जाय! स्वयं प्रेमियों के प्रेमी हो जाते हैं। उनकी महिमा के सम्बन्ध में जितना भी कहा जाय, कम है। और की तो बात ही क्या है, वेद भगवान् भी उनकी महिमा का वर्णन नहीं कर सके।

अब आप भली प्रकार समझ जाएगीं कि उनके महत्व और अस्तित्व को स्वीकार करना स्तुति है। यह शरीर-धर्म नहीं है। स्तुति सजीव होते ही उपासना अर्थात् प्रेमास्पद से जातीय, नित्य और आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना सिद्ध होता है। उपासना सिद्ध होते ही अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता स्वतः होती है, अर्थात् प्रेमास्पद के प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जो वास्तव में प्रार्थना है।

अपने द्वारा स्तुति, उपासना और प्रार्थना की जाय। शरीरों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा की जाय। ऐसा करते ही प्रत्येक घटना में प्रेमास्पद की लीला का ही दर्शन होता है और फिर समस्त जीवन साधन हो जाता है। लीलामय प्रेमीजनों को अपना परिचय देने के लिए लीला करते हैं। उनकी लीला में ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य का ही संकेत होता है। लीलाओं का बाह्य रूप कुछ भी हो, परन्तु अर्थ इतना है कि वे समर्थ हैं, सभी को अपनाते हैं और अपने सौन्दर्य से सभी को आकर्षित कर प्रेम-विभोर कर देते हैं।

लीलामय भगवान् तुम्हें अपनी लीला का दर्शन कराते रहें और अपने प्रेम से तुम्हारे जीवन को भरते रहें, जिससे तुम उनके प्रेमियों की सेवा करती रहो-इसी सद्भावना के साथ पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

212

श्री वृन्दावन
5-8-68

अहैतुकी कृपा से पालित परम भागवत दिव्य-ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

मानव सेवा संघ जो साधकों का संघ है, उसकी सेवार्थ जब तक शरीर की

आवश्यकता रहेगी, अवश्य रहेगा। प्रभु अपना काम कराने के लिए आवश्यक सामर्थ्य देते ही हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। शरीर के न रहने पर भी सेवा का भाव ज्यों-का-त्यों प्रभु के संकल्प में विलीन होकर कार्य करता ही रहता है। पर यह रहस्य कोई विरले ही साधक जान पाते हैं।

साधन-तत्व साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है। इतना ही नहीं, वह साध्य के समान अविनाशी भी है। ज्यों-त्यों साधक में साध्य की प्रियता की माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों साधक का अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्व से अभिन्न होता जाता है। इस दृष्टि से साध्य की प्रियता की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

साधक के जीवन में निराश तथा असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। प्रत्येक साधक साधननिष्ठ हो जाय, यह अनन्त का अपना संकल्प है। इस कारण जो साधक निराश नहीं होता, अपितु साध्य की उपलब्धि के लिए नित-नव उत्साह को अपनाता है और धीरजपूर्वक प्रतिकूलताओं को सहन करता है, वह बड़ी ही सुगतापूर्वक साधन-निष्ठ हो जाता है। प्रभु के संकल्प मेंअपने सभी संकल्प विलीन हो जायें, बस यही लक्ष्य की प्राप्ति का अचूक उपाय है।

अपने में अपना करके कुछ है ही नहीं, इस वास्तविकता को अपनाकर अपने को सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण कर सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। निश्चिन्तता में अपूर्व सामर्थ्य विद्यमान है। निर्भयता आते ही प्राप्त सामर्थ का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से शरणागत साधक को सदैव निश्चिन्त तथा निर्भय रहना अनिवार्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। वे सदैव तुम्हारे हैं। इतना ही नहीं, तुम उन्हीं में हो और वे तुम्ही में हैं। अन्तर केवल इतना है कि तुम प्रीति हो और वे प्रियतम। प्रीतम और प्रियतम का नित्य-विहार ही वास्तविक जीवन है।

पूजा करो शरीर से 'स्व' से करो सत्संग।

तब तुम पावोगी सदा, निज प्रियतम को संग।।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

213

श्री वृन्दावन
7-8-68

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमती श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई प्रत्येक दशा में आनन्दित रहो!

प्रत्येक कार्य समस्त विश्व के हित के भाव से किया जाय, तो फिर कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। कारण कि, प्यारे प्रभु की योगमाया उसके अनुकूल हो जाती है। अपने सुख तथा अपनी हितकामना से प्रेरित होकर कार्य करना भूल ही है। सुख में तो बन्धन है ही, पर अपना हित सभी के हित के अलग मानना भी प्रमाद ही है। सभी के हित में ही अपना हित है, इस वास्तविकता को अपनाकर ही प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म तथा जप, तप आदि करना चाहिए। अपने हित के लिए किया हुआ ध्यान भी बन्धन ही है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने माया और मायाधीश से अविभाज्य सम्बन्ध स्वीकार किया है।

प्रेमास्पद पूर्ण होने से अचाह हैं, अर्थात् वे सब प्रकार से पूर्ण हैं, उन्हें कुछ नहीं चाहिए और मानव उदार तथा प्रेमी होने के नाते चाह-रहित है। इस दृष्टि से मानव की अनन्त से ही वास्तविक एकता है। अपने में अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं। किन्तु आत्मीयता से जागृत प्रियता के बिना इस वास्तविकता का बोध नहीं होता।

आज स्नेह-निर्मित यशोदा जी और आनन्दघन को भी आनन्दित करने वाले गोलोकवासी श्यामसुन्दर के नित्य परिकर अनन्त को अपनी गोद में पाकर अत्यन्त प्रसन्न हैं और याचकों को सब कुछ लुटा रहे हैं। हम लोग भी अपने मैया-बाबा से प्रेमास्पद के प्रेम की भिक्षा माँगें। मिलेगी अवश्य। इस शब्द का अर्थ बहुवचन है। कोई भी शरणागत प्रेमीजनों के लिए प्रेम की भिक्षा माँग सकता है और प्रेमास्पद के प्रेमी उदारपूर्वक दे सकते हैं। ऐसा मेरा विश्वास है। वास्तव में तो जिस किसी को जो कुछ मिला है वह अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मिटा ही दिया है। किन्तु जो उनके प्रेमी हैं वे भी प्रेम-धन देते हैं। यद्यपि सभी में सब कुछ प्रेमास्पद का ही है, परन्तु प्रेमीजनों की मांग को पूरा करने में प्रेमास्पद को हर्ष ही होता है। यह उनका सहज स्वभाव हैं

ज्यों-ज्यों शरणागत शरण्य की महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों उसे उनकी अहैतुकी कृपा का स्वतः अनुभव होता है। उनसे भिन्न का अस्तित्व एवं महत्व न रह जाय और उनसे अविचल अपनत्व हो जाय, यही शरणागत की माँग है। माँग का अनुभव करना साधक का स्वधर्म है, और उनको पूरा करना साध्य का सहज स्वभाव है। तो फिर साधक के जीवन में निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस दृष्टि से साधक के जीवन मे नित-नव उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए। उत्साह सबल तथा स्थायी होने पर समस्त जीवन एकनिष्ठ हो जाता है। एकनिष्ठता में ही सफलता निहित है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

214

श्री वृन्दावन
29-8-68

अहैतुकी कृपा से पालित
परम भागवत दिव्य,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो-इसी सद्भावना के साथ सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

भयहारी हरि ने रोग का भय मिटा दिया, तो रोग को भी मिटा देंगे। शरीर विश्व की सेवा-सामग्री है, उससे अपने को कुछ भी नहीं लेना है। यह वास्तविकता जीवन में आ जाने से शरीर को बनाये रखने का भी संकल्प नहीं रहता। प्रभु के संकल्प से यंत्रवत् शरीर के द्वारा आवश्यक कार्य मंगलमय विधान से होता रहता है। वास्तविक सेवा तभी होती है, जब प्रभु के संकल्प में अपना संकल्प विलीन हो जाय। जिसे अपने लिए कुछ भी करना नहीं है, उसके सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जाते हैं। साधक को संसार से कुछ भी नहीं लेना है, अपितु संसार के लिए उदार होना है।

अब रही अपने और प्रेमास्पद के बीच की बात। प्रेमास्पद ने जो आवश्यक है, बिना ही मांगे दे दिया है, अतः उनसे भी कुछ मांगने की बात नही है। इतना ही नहीं, प्रेमास्पद के प्रेम में जो जीवन है, वही अनुपम अलौकिक अद्वितीय जीवन है। इस कारण साधक को जगत् के प्रति उदार, प्रभु के प्रति प्रेमी और अपने प्रति अचाह होना है। यही मानव-दर्शन पर आधारित मानव सेवा संघ की दीक्षा है। अर्थात् मानव-मात्र को यह महाव्रत लेना ही होगा, तभी सोई हुई मानवता जगेगी और मानव सेवा, त्याग, प्रेम से भरपूर हो जायेगा।

सेवा, त्याग, प्रेम में ही विश्वशान्ति, जीवन-मुक्ति एवं अनन्य भक्ति निहित है, जिसकी प्राप्ति तभी होती है, जब मानव उपर्युक्त व्रत को स्वीकार करता है। व्रती जीवन ही मानव-जीवन है। व्रत को पूरा करने के लिए तप, प्रायश्चित और प्रार्थना को अपनाना आवश्यक हैं। मानव के रचयिता ने मानव को इसी उद्देश्य के लिए निर्माण किया है कि वह जगत् के प्रति उदार, अपने प्रति अचाह और प्रभु के लिए प्रेमी हो जाय। यह मानव की माँग और प्रभु का संकल्प है। इसकी पूर्ति अनिवार्य है। इस दृष्टि से मांग की पूर्ति के लिए साधक के जीवन में नित-नव उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहना चाहिए। उत्साह-हीनता के समान और कोई प्रमाद नहीं है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

215

नई दिल्ली
19-2-69

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई उनके कार्य में दत्त रहो।

जिन साधकों ने प्यारे प्रभु का कार्य किया है, वे सभी उनके प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो गये। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपने प्यारे के प्रत्येक कार्य को समान महत्व दिया है औ प्रभु-विश्वास को अपनाकर अभय हो गये हैं। प्रभु-विश्वास में एकमात्र प्रभु की ही अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है। प्रभु-प्राप्ति में प्रभु-विश्वास ही अचूक उपाय है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है। प्रभु का नाम, प्रभु का काम, प्रभु का ध्यान समान अर्थ रखते हैं। जिस साधक को जिसमें अधिक रुचि हो उसे अपनाये और सब प्रकार से उन्हीं का हो जाये। बस, यही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है।

प्रभु-विश्वास में बड़ी ही अलौकिक और अपूर्व सामर्थ्य है। क्या कहा जाय! भाषा असमर्थ है प्रभु-विश्वास की महिमा को बताने में। प्रभु-विश्वासी की दृष्टि में सृष्टि ही नहीं रहती। कारण कि, उसमें किसी और का अस्तित्व ही नहीं रहता। उन्हीं का अस्तित्व, उन्हीं का महत्व और उन्हीं में अपनत्व रह जाता है, जो योग, बोध, प्रेम का प्रतीक है। शान्ति, मुक्ति तो प्रभु-विश्वासी के पीछे-पीछे दौड़ती है, उसे पकड़ नहीं पाती। और भक्ति उसका जीवन हो जाता है। भक्ति से ही सर्व-समर्थ प्रभु को रस मिलता है। प्रभु-विश्वासी की भक्ति से भिन्न कोई और माँग नहीं रहती, तो फिर किसी प्रकार की अपने प्रेमास्पद से दूरी, भेद, भिन्नता कैसे रह सकती है! अर्थात् लेशमात्र भी नहीं रहती। इस दृष्टि से प्रभु-विश्वास में ही जीवन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

216

गीता भवन
6-5-69

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो!

यह जीवन उनके काम आ जाय, अर्थात् उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता से भरपूर हो जाय-यही मानव की माँग है। उदारता के बिना विश्व-रूप में उनकी सेवा हो नहीं सकती। प्रियता की अभिव्यक्ति के लिए स्वाधीनता अनिवार्य है। कारण कि, पराधीनता में आबद्ध

प्राणी प्रेमी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से साधक के जीवन में उदारता और स्वाधीनता की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से प्रियता उदित तो होती है, किन्तु स्वाधीनता के बिना प्रीति का प्रवाह उत्तरोत्तर बढ़ता नहीं है। इस कारण स्वाधीनता होना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परम स्वतन्त्र की शरणागति स्वीकार करने पर भी साधक को प्रसाद में स्वाधीनता मिलती है। इतना ही नहीं, वे सदैव शरणागत को स्वाधीन ही देखना पसन्द करते हैं। यह उनकी सुहृदयता है। वे कितने अच्छे हैं! किसी भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनकी महिमा की कोई सीमा नहीं है। इस सम्बन्ध में जिस किसी ने कहा है, कम है।

हाँ, उन्हीं के दिये हुए विवेक के सदुपयोग से भी मानव स्वाधीन हो जाता है। परन्तु स्वाधीनता पाकर कृतकृत्य हो जाना प्रेमी को नहीं भाता। उसे तो प्रेमास्पद की प्रियता ही प्यारी लगती है। उसी से प्यारे को रस मिलता है। प्रभु-विश्वासी साधक सभी प्रियजनों को प्रेमास्पद के समर्पित कर सदा के लिये निश्चिन्त हो जाता है। प्रभु-विश्वासी के जीवन में भय तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। इतना ही नहीं, प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। कारण कि, प्रभु-विश्वास में सर्व-समर्थ प्रभु की कृपाशक्ति ही विद्यमान है, और वही प्रभु-प्राप्ति में हेतु है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

217

श्री वृन्दावन,
29-8-69

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति दुलारी बेटी,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। वे ही एक मात्र अपने हैं और सब उन्हीं का है। उनकी मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता ही प्रभु-विश्वासी का जीवन है। जो कुछ हो रहा है, उसमें उन्हीं की लीला को देखो और प्राप्त परिस्थितियों के सदुपयोग के द्वारा उनकी पूजा करो। जहां रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

तुम्हारे और उनके बीच उत्तरोत्तर प्रीति बढ़ती रहे, जिससे तुम उनके काम आ जाओ और उन्हीं की दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से उनकी वाटिका की सेवा करो। प्रभु-विश्वासी साधक के जीवन में किसी और का अस्तित्व ही नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखो। और निरन्तर नित-नव प्रियता पूर्वक प्रिय को लाड़ लड़ाती रहो। यही इस जीवन की सार्थकता है।

सभी संकल्प सर्व-समर्थ प्रभु के संकल्प में विलीन कर सदा के लिए निस्संकल्प हो जाओ। निस्संकल्पता ही एकमात्र मानसिक द्वन्द्व मिटाने का अचूक उपाय है। सजग मानव को अपना शरीर संसार-रूपी बाटिका की खाद बना देनी चाहिए। यही मानव-जीवन की सार्थकता है। खाद वृक्षों को हराभरा बनाती है, फल-फूल से सम्पन्न करती है और वह अपने को मिटाकर वृक्षों के काम आती है। उसी प्रकार मानव सर्व-समर्थ प्रभु का होकर उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का हर्षपूर्वक सदुपयोग कर बड़ी ही सुगतापूर्वक सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री से भिन्न कुछ नहीं है। अतः प्रत्येक साधक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा साधन-निष्ठ होने में सर्वदा समर्थ है। परिस्थितियों की दासता में आबद्ध हो जाना तथा परिस्थितियों से भयभीत होना भारी भूल है। इसका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है।

सत्संग के द्वारा सभी साधकों के साधन का निर्माण हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है। सत् का संग हमें उदार होने की, अचाह होने की और प्रेमी होने की प्रेरणा देता है। जानी हुई तथा की हुई बुराई का त्याग करते ही उदारता स्वतः आ जाती है। निज-ज्ञान के प्रभाव से मानव अचाह तथा श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति से प्रेम को पाकर प्रेमास्पद के लिए उपयोगी होता है। वास्तविक जीवन से निराश होना, हार मानकर बैठ जाना भारी भूल है, जिसे साधक को शीघ्रातिशीघ्र मिटा देना चाहिए। यह मांग अनुभव करना साधक का काम है और उसकी पूर्ति प्रभु के मंगलमय विधान से स्वतः होती है।

शारीरिक स्थिति, जो लिखते समय है, वह पढ़ते समय तक रहेगी ही, यह कोई विधान नहीं है। इस कारण शरीर के सम्बन्ध में कहना-सुनना कुछ अर्थ नहीं रखता। इसकी ओर से निरुपाय होकर निर्भय रहना ही मूल मंत्र हैं

सर्व-समर्थ प्रभु औषधि का विश्वास देना ही नहीं चाहते और हम लोग औषधि का पीछा ही नहीं छोड़ना चाहते। देखो, किसकी जीत होती है? जो हो रहा है, उसी में मंगल है। प्यारे प्रभु तुम्हें अपनी प्रियता प्रदान करते रहें, इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

218

श्री वृन्दावन
30-8-69

परम भागवत् प्रीति स्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

क्या तुम नहीं जानतीं कि प्यारे परम करुणामय हैं, उनकी ओर से जो कुछ होता है वह मंगलकारी है? प्यारे की दी हुई पीड़ा क्या कभी अहितकर हो सकती है? वे अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता प्रदान करते रहें, जिससे शरीर और सृष्टि की विस्मृति हो जाय। प्यारी पीड़ा शरीर की वास्तविकता का बोध कराती हुई साधक को अखण्ड स्मृति की प्रेरणा देती है। स्मृति की शिथिलता में ही साधक शरीर और सृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है। हाँ, यह अवश्य है कि पीड़ा से प्रियजनों के हृदय में व्यथा होती है।

उस व्यथा से व्यथित होकर सहज भाव से होने वाले उपचार को प्रभु-प्रसाद के रूप में स्वीकार कर ही लेते हूँ। क्या अपने से अपनी कोई बात छिपी है, जो उनसे कही जाय? उनके अपनेपन से भिन्न भी कोई अपना अस्तित्व है? वे सर्व-समर्थ हैं। वे अपनापन स्थायी रूप से बनाये रखें और अपनी दी हुई प्रियता से अपनी पूजा कराते रहें। उनकी प्रियता से भिन्न और कुछ जीवन है ही नहीं। वे कितने दयालु है कि असह्य पीड़ा में भी नीद आती है, भूख लगती है और चर्चा करता हूँ। इसके अतिरिक्त क्या और माँगा जाय, भला तुम्ही बताओ? हम सभी साधकों को, जैसी प्यारे की मौज हो, उसकी में मस्त रहना चाहिए। शरणागत को सदा के लिए बेमन का हो जाना चाहिए। अपने मन की कराते–कराते अनेक जन्म बिताये। इस जन्म का भी बहुत भाग बीत गया। अब तो वे ऐसी कृपा करें कि उन्हीं के मन की बात पूरी होती रहे।

सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से तुम लोगों को अपनी आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

219

श्री वृन्दावन,
3-9-69

अहैतुकी कृपा से पालित परम भागवत प्रीतिस्वरूपा,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

क्या अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक है? शुद्ध विश्वास, शुद्ध सम्बन्ध और शुद्ध मांग अनुभव करने पर क्या कभी साधक और साध्य में दूरी, भेद, भिन्नता रह सकती है? कदापि नहीं। इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करो और अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर तथा उन्हीं की प्रीति होकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाओ।

श्री गुरुचरणों में अगाध प्रीति होने से गुरु-वाक्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। पर यह रहस्य कोई विरले ही जान-पाते हैं। गुरु-तत्व से भिन्नता होने पर ही साध्य की उपलब्धि होती है। गुरु का दिया हुआ विश्वास तथा सम्बन्ध अपना जीवन हो जाय, यही गुरु-तत्व से अभिन्नता है। जब साधक के जीवन में अन्य विश्वास की गन्ध भी नहीं रहती, तब स्वतः आत्मीय सम्बन्ध से जागृत अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता उदित होती है।

विश्वासी साधकों ने अपने विश्वास-पात्र से भिन्न के अस्तित्वको स्वीकार ही नहीं किया, तभी वे बड़ी सुगमतापूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर सके। जो कुछ दिखाई दे रहा है, उसमें किसी और की सत्ता नहीं है। अपने ही प्रेमास्पद अनेक रूपों में अनेक प्रकार की लीला कर रहे हैं अथवा यों कहो कि किसी-न-किसी रूप में प्रीति और प्रियतम की ही नित्य-विहार हो रहा हे। क्या लोभी की प्रीति स्वभाव से धन में नही होती? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में जो आकर्षण है वह उन्हीं का है, जो उसका अपना है।

साधक अनेक में एक को स्वीकार करता है। इस कारण उसकी दृष्टि में अपने साध्य से भिन्न कोई और नहीं रह जाता। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब अपना कुछ न रह जाय, अपितु प्रेमास्पद की प्रियता ही अपना जीवन हो जाय। साधक को जो अभिनय मिला है उसे विधिवत् पूरा करते हुए लीलामय की लीला से अभिन्न होना जाना चाहिए। समस्त सृष्टि उन्हीं की लीलास्थली है कुछ नहीं। इसमें जो अभिनय मिला है, उसे पूरा करो। अभिनय का अन्त लीलामय की प्रियता में होना चाहिए। प्रियता से भिन्न तुम्हारा कोई और अस्तित्व नहीं है। इस वास्तविकता को अपनाओ और प्रेमास्पद के नित्य-विहार में प्रवेश पा जाओ-यही मेरी सद्भावना है।

पुनः तुम दोनों को सप्रेम भेंट तथा बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन,
.....

220

श्री वृन्दावन
5-9-69

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति दुलारी बेटी,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

प्रत्येक प्रभु-विश्वासी साधक को प्रभु की महिमा को अपना कर सब प्रकार से उनका होकर सदा के लिए निश्चिंत तथा निर्भय हो जाना अनिवार्य है। चिन्तित तथा भयभीत होने से साधक की बड़ी ही क्षति होती है। कारण कि, चिंता और भय से

प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होता है। इस प्रमाद से साधक इतना असमर्थ होता है कि जो कर सकता है वह भी नहीं कर पाता। अतः साध्क के जीवन में चिन्ता और भय के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

ज्यों-ज्यों साधक चिन्ता और भय से रहित होता जाता है, त्यों-त्यों अनन्त के मंगलमय विधान से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती जाती है। पूर्ण निश्चिन्त तथा निर्भय होने से साधक में उस अलौकिक, अनुपम सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से अपने-अपने ढंग से प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र चिन्ता तथा भय से रहित हो जाना चाहिए। जब मानव का सर्व-समर्थ अपना है, तब उसके जीवन में चिन्ता तथा भय नहीं रहना चाहिए। यदि कोई विचार-पथ का साधक हो, तो भी निर्मम, निष्काम तथा असंग होने से चिन्ता तथा भय नहीं रह सकता।

यदि कोई भौतिकवादी साधक हो, तो भी अकर्त्तव्य को त्याग, कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर चिन्ता तथा भय से मुक्त हो जाता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि साधक के जीवन में चिन्ता तथा भय का कोई स्थान ही नहीं है।

प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री से भिन्न कुछ नहीं है। साधक साधन-सामग्री के उपयोग से साधन-निष्ठ होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है। साध्य स्वभाव से ही परम उदार, परम स्वतन्त्र एवं प्रेम से भरपूर हैं। उनकी उदारता की कोई सीमा नहीं है, प्रेम का कोई पारावार नहीं है, एवं वे सब प्रकार से स्वतन्त्र तो हैं ही। तभी उन्होंने मानव को साधन-निष्ठ होने की सदैव स्वाधीनता दी है। उस पर भी यदि हम साधक-निष्ठ नहीं होते, तो हमारी ही भारी भूल है, जिसका सत्संग के द्वारा अन्त करना अनिवार्य है।

यदि साधक को स्वाधीनता भा जाय, तो स्वाधीन होते ही उसमें स्वतः मंगलमय विधान से उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक और साध्य में जातीय एकता है। जिनमें जातीय एकता है, उन्हीं में आत्मीय सम्बन्ध रहना चाहिए। तभी अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होगी, जो वास्तव में साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है।

सर्व-समर्थ प्रभु तुम्हें आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

221

श्री वृन्दावन
9-9-69

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

दबी हुई नीरसता का अन्त मधुर स्मृति से ही हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। शरीर और संसार का सम्बन्ध स्वीकार करते हुए कोई भी नीरसता तथा अभाव से रहित नहीं हो सकता। प्रभु-विश्वास तथा प्रभु-सम्बन्ध ही अभाव का अभाव तथा नीरसता का अन्त करने में समर्थ है। शरीर और संसार का सम्बन्ध तो किसी भी सजग मानव को नहीं रखना चाहिए। समस्त विश्व विश्वनाथ का संकल्प ही है, और कुछ नहीं। और वे ही मानव के अपने हैं। इस वास्तविकता को अपनाये बिना कभी-भी किसी को शान्ति, मुक्ति, भक्ति नहीं मिलती।

अतः प्रभु-विश्वास ही एकमात्र अपनाने योग्य है। अन्य विश्वास का त्याग अनिवार्य है। इस तथ्य को जानकर शीघ्रातिशीघ्र विचारपूर्वक शरीर और संसार के सम्बन्ध का त्याग और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु-विश्वास को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि संसार के सम्बन्ध के त्याग से भी मानव अभय तथा स्वाधीन होता है। परन्तु प्रभु-विश्वास के द्वारा एक अभय तथा स्वाधीन होता है। परन्तु प्रभु-विश्वास के द्वारा एक अनुपम अनन्त की अभिव्यक्ति होती है, जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। यद्यपि निर्भयता तथा स्वाधीनता में भी रस है; जीवन है, परन्तु आत्मीयता से अभिव्यक्त अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता में रस का पारावार नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा

.....

222

श्री वृन्दावन
15-9-69

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति प्रीतिस्वरूपा,

सर्वदा सर्व भाव से अनेक रूपों में एक ही को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

समस्त मानसिक रोगों की निवृत्ति एकमात्र मेरे जानते तभी हो सकती है, जब साधक अपने द्वारा सर्व-समर्थ प्रभु के पावन विश्वास को अपनाकर वर्तमान परिस्थिति का आदर-पूर्वक सदुपयोग कर सके, और सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन में अविचल आस्था करें और अपने को उसका अधिकारी मान ले। कारण कि, सर्वोत्कृष्ट जीवन में मानव-मात्र का जन्मजात् अधिकार है। यह मानव के रचियता का अपना संकल्प है। वे सत्य-काम, सत्य-संकल्प हैं। अपने करने की बात पूरी करने पर समस्या अवश्य हल

हो जाती है, ऐसा प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है। प्रभु-विश्वास के समान और कोई महान् बल नहीं है। कारण कि, वे सदैव हैं, सर्वत्र हैं, समर्थ हैं, और विश्वास में उन्हीं का बल है। अथवा यों कहो, अपने विश्वास के अधीन हैं।

उनके विश्वास के महत्व को भूल जाने से ही जीवन में निराशा तथा भय उत्पन्न होता है। परन्तु उनके विश्वास का उपयोग वास्तविक माँग की पूर्ति में करना सार्थक होता है। ऐसा मेरा अनुभव है। तुम्हें शरीर की पीड़ा से पीड़ित नहीं होना चाहिए, अपितु उसे प्यारे का दिया हुआ तप मानकर धीरजपूर्वक शान्त रहना चाहिए। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे-इसी सद्भावना के साथ तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

223

श्री वृन्दावन

21-11-69

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

सच तो यह है कि सतत् प्राणशक्ति व्यय हो रही है, इसमें दो मत नहीं है। अतः प्राणों के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त हो जाना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब कि शरीर का सदुपयोग करते हुए इसके बनाये रखने का संकल्प सदा के लिए नाश हो जाए। पर सर्वसाधारण तो इस सत्य को सुन कर घबड़ाते हैं, अपनाने की तो बात ही कहाँ है। यद्यपि सत्य को अपनाये बिना कोई भी कभी-भी असाधन से रहित होकर साधन-निष्ठनहीं हो सकता। इस दृष्टि से सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सत्य के अपनाने से वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं होता, अपितु परम हित ही होता है। जीवन अपने में हैं। उसकी माँग उसकी प्राप्ति का उपाय है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना ही होगा।

जीवन की माँग काम को खाकर साधक को देहाभिमान से रहित कर देती है और वह फिर स्वतः पूरी हो जाती है। तो फिर साधक के जीवन में निराशा, भय और चिन्ता आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उदारता, समता और प्रियता की अभिव्यक्ति ही वास्तविक साधना है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग अर्थात् स्वयं के द्वारा सत् को स्वीकार करना। वह स्वीकृति ही साधना में परिणत हो जाती है और फिर साधना साध्य से अभिन्न कर देती है। साधना और साध्य में जातीय एकता है, अर्थात् साधना साध्य का ही स्वभाव है।

साधक की जो वास्तविक माँग है, वही साध्य का स्वरूप है। इतना ही

नहीं, सत्ता रूप से साध्य से भिन्न कुछ है ही नहीं। जिसने साध्य से भिन्न अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार किया, उसने बड़े ही सहज भाव से सर्वांश में सदा के लिए असाधन का अन्त कर दिया। अतः अपने लिए प्रेमास्पद से भिन्न कोई और है ही नहीं। इस वास्तविकता को अपनाओ और उन्हीं की प्रीति होकर उन्हीं से लाड़ लड़ाओ, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

224

पटना
13-1-70

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा प्यारे प्रभु की पूजा करती हुई उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहो। उनसे भिन्न किसी और का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इतना ही नहीं, वे ही परम स्वतन्त्र हैं और परम उदार तथा परम प्रेमी हैं। तुम उन्हीं की हो-यह बात वे जानते हैं और तुम मानती हो। तो फिर जीवन में भय, चिन्ता, निराशा आदि के लिए कोई स्थान ही कहाँ है!

प्रभु-विश्वासी साधक का अपना कोई संकन्ल नहीं है। तो फिर निर्विकल्प स्थिति सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है और फिर आवश्यक संकल्प पूजा-भाव से पूरे होते रहते हैं। किन्तु प्रेमीजन निर्विकल्पता की शान्ति में रमण नहीं करते। प्रभु की अहैतुकी कृपा फिर उन्हें मुक्ति प्रदान करती है। परन्तु प्रेमीजन मुक्ति से मुक्त होकर स्वतः भक्ति के अधिकारी हो जाते हैं। भक्ति में अलौकिक, अद्वितीय, अनुपम रस है, जिससे जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी हो जाता है।

शान्ति और मुक्ति भक्ति के पीछे-पीछे दौड़ती हैं। इस दृष्टि से भक्ति-तत्व की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है, यह सद्गुरु-वाक्य है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था ही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है। प्रभु-विश्वास मेंसामर्थ्य प्रभु की ही होती है। इस कारण प्रभु-विश्वास प्रभु-प्रेम की प्राप्ति का अचूक उपाय है। प्रियता की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। सब प्रकार के प्रलोभन तथा भय का अन्त हो जाय। भय और प्रलोभन से रहित साधक ही वास्तविकता को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। भय और प्रलोभन का मूल एकमात्र असत् का संग है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, सतत् प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो-इसी सद्भावना के साथ।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

225

इलाहाबाद,
14-1-70

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती हुई नित-नव रस का दान करती रहो, जिससे तुम्हारा पावन जीवन प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी हो जाय, यही मेरी सद्भावना है।

जो कुछ होगा, उसी में मंगल है। कारण कि, शरणागत के जीवन में किसी प्रकार का भय तथा प्रलोभन शेष नहीं रहता, अपितु नित-नव उत्साह एवं तत्परता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। निश्चिन्तता एवं निर्भयता उसका सहज स्वभाव हो जाता है। परम स्वतन्त्र, परम उदार, प्रेम से परिपूर्ण प्यारे प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा शरणागत साधक को सब कुछ स्वतः देती रहती है। कारण कि, शरणागत शरण्य का अत्यन्त प्रिय है, और शरणागत का सर्वस्व शरण्य ही है। इस दृष्टि से शरणागति के समान और कोई सफलता की कुँजी नहीं है। कारण कि, भूल-जनित व्यथा ही व्यथा-निवृत्ति का अचूक उपाय है।

निर्बल के बल कभी भी निर्बल को ठुकराते नहीं हैं, अपितु अपनाते ही हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। जिन्होंने उनके स्वभाव को उन्हीं की कृपा से अनुभव किया, वे सब प्रकार के उन्हीं के होकर उनके प्रेम के पात्र बन गये-इस वास्तविकता में शरणागत साधक को अविचल आस्था रखनी चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। पुनः सद्भावना सहित बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

226

श्री वृन्दावन
20-1-70

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

अनन्त की, अहैतुकी कृपा से यहाँ सकुशल पहुँच गया। शरीर कैसा है, इसे तो वे ही जानें, जिन्होंने इसका निर्माण किया है। वास्तव में तो शरीर-रहित जीवन ही जीवन है। उसमें ही साधक की अविचल आस्था रहनी चाहिए। उस जीवन के बोध में ही मोह का नाश है। मोह-रहित होने पर ही साधक अभय होता है। इस दृष्टि से निर्मोहता प्राप्त किये बिना किसी भी साधक को किसी अन्य प्रकार से अपने को सन्तुष्ट नहीं करना चाहिए। निर्मोहता प्राप्त करने के लिए किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, अपितु विकास-काल में ही देहातीत जीवन का बोध होता है। श्रम शरीर से तादात्म्य जोड़ता है और विश्राम शरीर से असंग कर देता है। जितनी देर प्रभु का कार्य करना हो, उतनी देर शरीर का उपयोग करना है। कार्य का अन्त और असंगता की उपलब्धि एक साथ होती है। असंगता में ही अविनाशी जीवन से अभिन्नता है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

अविनाशी जीवन में ही स्वभाव से उदारता तथा प्रेम विद्यमान है। जो

अविनाशी हैं, वे ही उदार तथा प्रेमी हैं। इस कारण अविनाशी से अभिन्न होना अनिवार्य है। उदारता तथा प्रेम जिनका सहज स्वभाव है, वे ही अविनाशी तथा परम स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र हैं, वे कभी शासक नहीं होते, और न किसी से शासित होते हैं। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने ज्ञानपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर चिर-विश्राम प्राप्त किया है, अथवा शरणागत होकर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो गये हैं। निश्चिन्तता तथा निर्भयता से चिर-विश्राम है, और विश्राम में समस्त साधनों की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। कारण कि, विश्राम अनन्त से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहने देता। अर्थात् योग, बोध, प्रेम विश्राम में ही निहित है। और यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति होती है, इस वास्तविकता में कभी भी विकल्प नही होना चाहिए। विकल्प-रहित माँग ही माँग की पूर्ति का अचूक उपाय है।

माँग का अनुभव करना साधक का प्रयास और उसकी पूर्ति साध्य का सहज स्वभाव है। इस दृष्टि से साध्य कितने महान् हैं, उदार हैं, प्रेमी हैं! उसके व्यक्त करने के लिए कोई भाषा समर्थ नहीं है। अनन्त की महिमा अनन्त है। उसमें अविचल आस्था साधक का स्वधर्म है, जिसे अपना कर साधक स्वतः साधन-निष्ठ हो जाता है। साधन-निष्ठ होने की स्वाधीनता साध्य की अहैतुकी कृपासे प्रत्येक साधक को प्राप्त है। प्राप्त स्वाधीनता का सदुपयोग ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

स्वाधीनता का सदुपयोग निज-ज्ञान तथा अविचल आस्था से ही सिद्ध है। उसके लिए शरीरिक श्रम तथा किसी परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। तभी प्रत्येक साधक सिद्धि पा सकता है। ज्ञान से निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त होती है, और आस्थापूर्वक शरणागति से निर्विकारता आदि का तादात्म्य नाश होता है। और फिर शरणागत में शरण्य से भिन्न कुछ रह नहीं जाता। शरण्य सदैव अपनी महिमा में अपने आप रमण करते हैं। और वही रमण प्रीति औ प्रियतम का नित्य-विहार है। अतः साधक प्रीति होकर साध्य के लिए उपयोगी होता है, अर्थात् प्रीति की माँग ही साधक की अन्तिम माँग हैं। इसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

227

श्री वृन्दावन
27-1-70

अहैतुकी कृपा से निर्मित भक्तिमति श्रीप्रिया,

प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो और सब प्रकार से प्रेमास्पद की होकर, प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा उनकी पूजा करो और उन्हीं की प्रीति होकर रस प्रदान करती हुई सर्वदा प्रेम में डूबी रहो। यही मेरी सद्भावना है। तुम्हारा निज-स्वरूप प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। उसी का क्रियात्मक रूप सेवा है और विवेकात्मक रूप त्याग है। इस दृष्टि से तुम सेवा, त्याग, प्रेम की मूर्तिमान चित्र हो। यह वास्तविक सत्संग से साध्य है।

सत्संग मानव का स्वधर्म है। उसके लिए अपने को सर्वदा अथक प्रयत्नशील रखो, अर्थात् सत्संग के बिना किसी प्रकार भी चैन से मत रहो। सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु मानव का अपना परम पुरुषार्थ है। अभ्यास शरीर-धर्म है और पुरुषार्थ स्वधर्म है। शरीर-धर्म लोकहित में हेतु है। और स्वधर्म अपने कल्याण एवं परम प्रेम की प्राप्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से सत्संग के लिए ही सब कुछ दिया जाता है। सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन सत्संग के बाह्य रूप हैं। 'स्व' के द्वारा सत्संग को स्वीकार करना सत्संग का वास्तविक स्वरूप है। मानव सेवा संघ साधकों का संघ है। साधकों की सेवा संघ की सर्वोत्कृष्ट सेवा है। इस दृष्टि से सत्संग-योजना ही संघ का मुख्य प्रयास है। शरीर निरन्तर कालरूपी अग्नि में जल रहा है। उसके बिना जो कर सकती हो, उसे शीघ्रातिशीघ्र कर डालो।

शरीर के बिना साधक अचाह हो सकता है, प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध जोड़ सकता है; की हुई, जानी हुई बुराई से रहित होने का व्रत ले सकता है; प्रभु-विश्वास के आधार पर अभय हो सकता है। प्रभु-प्रेम से साधक प्रभु के लिए उपयोगी हो सकता है। इस दृष्टि से प्रभु-विश्वास महान अवलम्बन है। उसे अपनाकर साधक साध्य से अभिन्न हो सकता है। प्रभु-विश्वास के समान और कोई सहज, स्वाभाविक प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय नहीं है। यह विश्वासी साधकों का अनुभव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

228

कानपुर
31-1-70

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा श्रीप्रिया,

सदैव अपने ही में अपने प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो। यही मेरी सद्भावना है।

प्रीति से भिन्न तुम्हारा और कोई अस्तित्व है हीं नहीं। कारण कि, तुम प्रेमास्पद की नित्य-प्रिया हो। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। जो साधक वेदवाणी अथवा सद्गुरु-वाक्य के आधार पर यह स्वीकार कर लेता है कि मुझे अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है

कारण कि, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुझे मानव-जीवन मिला है; इस जीवन का कोई और उद्देश्य ही नहीं है; सुख-दुःख तो केवल साधन सामग्री के रूप में अपने-आप आते-जाते रहते हैं; उनका सदुपयोग करते हुए निस्सन्देहतापूर्वक यह स्वीकार कर लिया जाय कि अभाव, पराधीनता, नीरसता, जड़ता आदि विकारों से रहित जो जीवन है, वह मुझे मिल सकता है-तो फिर साधकों में स्वतः वास्तविक जीवन की माँग जागृत होती है।

यद्यपि यह माँग मानव-मात्र में बीज रूप से विद्यमान है, परन्तु उसमें अविचल आस्था न होने से माँग शिथिल हो जाती है और काम उत्पन्न हो जाता है। फिर साधक शरीर, इन्द्रिया, मन, बुद्धि आदि से तद्रूप होकर रुचि-पूर्ति में प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति से कुछ भी प्राप्त नहीं होता, अपितु अन्त में साधक सामर्थ्य का ह्रास एवं अपने को जड़ता एवं पराधीनता आदि में आबद्ध ही पाता है। किन्तु जब वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति का अधिकारी मान लेता है, तब अविनाशी, स्वाधीन रसरूप जीवन की माँग सबल तथा स्थायी होती है। माँग के सबल होने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने विषय से विमुख होने पर माँग से अभिन्न हो जाते हैं और फिर स्वतः मंगलमय विधान से माँग से पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से साधक को लक्ष्य की प्राप्ति में लेशमात्र भी विकल्प नहीं करना चाहिए।

माँग अपनी पूर्ति में अपने आप समर्थ है, अर्थात् काम की निवृत्ति और माँग की पूर्ति होती है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित मानव-जीवन के महत्व को स्वीकार किया है। शरीर, वस्तु आदि का महत्व तो केवल अपनी भूल से ही प्रतीत होता है। यह जानते हुए भी कि शरीर आदि किसी भी वस्तु की वास्तविक स्थिति हुए भी कि शरीर दिखते आदि किसी भी वस्तु की वास्तविक स्थिति नहीं है, केवल भोग की रुचि के कारण मानव शरीर से तद्रूप होकर प्रवृत्तियों में आबद्ध हो, जड़ता आदि अनेक विकारों से पीड़ित होता रहता है। भोग की रुचि का सर्वांश में नाश वास्तविक माँग की जागृति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं होता।

तप आदि से रुचि दब जाती है, मिटती नहीं है। माँग की जागृति से भोग की रुचि सर्वांश में सदा के लिए नाश हो जाती है। माँग की जागृति तभी होती है, जब साधक लक्ष्य की प्राप्ति में विकल्प नहीं करता। अतएव प्रत्येक साधक को इस वास्तविकता को स्वीकार ही कर लेना चाहिए कि जिस अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-जीवन दिया, है, उसने सत् को स्वीकार करने की सामर्थ्य भी दी है।

यह मानव-जीवन का सत्य है कि मानव को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। सत् को स्वीकार करना सत्संग हैं और सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। सत्संग से ही अकर्तव्य, असाधन और

आसक्तियों का नाश होता है और फिर स्वतः कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता से उदित अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है।

साधना साधक में स्वतः अवतरित होती है। साधना साधन-तत्व से अभिन्न होकर साध्य को रस प्रदान करती है। वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। काम से भोग, मोह, आसक्ति में प्राणी आबद्ध होता है और वास्तविक माँग की जागृति से साधक को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है, जो मानव-मात्र का लक्ष्य है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

229

उल्हासनगर
14-2-70

अहैतुकी कृपा से पालित दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमीजनों में सोई हुई प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करने में तत्पर रहो। यही मेरी सद्भावना है।

प्रीति और प्रीतम से भिन्न अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्हें प्रेमास्पद ने अपनी अहैतुकी कृपा से सद्गुरु-वाक्य द्वार आत्मीयता प्रदान की है। अपने में अपनी प्रियता तो स्वाभाविक ही है, परन्तु उनके नाते सभी को आदर-प्यार देना भी एक सहज स्वभाव है। कारण कि, प्यारे की हर चीज प्यारी है प्यारे के प्यार को बढ़ाने के लिए।

प्रीति से भिन्न अपना कुछ अस्तित्व रह न जाय। यह तभी सम्भव होगा, जब कोई और मेरा नहीं है। सभी में अपने प्यारे ही हैं। पर सभी से अपना कोई मतलब नहीं, अर्थात् प्यारे से भिन्न किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। अनेक रूपों में एक ही का खेल है और वही अपना प्रिय है। जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता आ ही कैसे सकती है? अर्थात् कदापि नहीं। नीरसता के नाश में ही नित-नव रस की अभिव्यक्ति है और वही तुम्हारा निज-स्वरूप तथा तुम्हारे प्रेमास्पद की महिमा है। तुम अनन्त की महिमा से भिन्न कुछ नहीं हो, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। सद्गुरु-वाक्य में आस्था करो, सफलता अवश्यम्भावी है। इससे भिन्न आस्था का कोई सदुपयोग नहीं है।

प्यारे अपनी महिमा की सतत प्रियता प्रदान करते रहें, जिससे उनकी महिमा उनके काम आती रहे, प्रेमीजनों की यथोचित सेवा होती रहे, जिससे प्रेमास्पद को भी प्रसन्नता रहे। कारण कि, साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है। यह शरणागतों का अनुभव है। साधक साध्य को और साध्य साधक को

अत्यन्त प्रिय है। कारण कि, परस्पर प्रेम का ही आदान-प्रदान है, और उसी में रसरूप जीवन है, जिसकी माँग सभी को साधक को सदैव है। सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु आत्मीय साधकों को अपनी अगाध प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

230

करनाल

23-2-70

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

सदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

सत्संग के द्वारा साधन-निष्ठसाधक को कभी किसी से किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती-यह जीवन का सुन्दर चित्र है। इतना ही नहीं, उससे भी किसी को किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती है। कारण कि, वह सभी का अपना होने से सर्व-प्रिय हो ही जाता है। शिकायत वही करता है, जो पराधीन है। पराधीन वही है, जिसने जीवन से सत्य को, वेद-वाणी को एवं सद्गुरु वाक्य को नहीं अपनाया। अपने में अपने प्रेमास्पद हैं, इस वास्तविकता को अपना लेने पर साधक अचाह तथा अप्रयत्न हो जाता है, किसी प्रकार की पराधीनता शेष नहीं रहती, प्रेमास्पद का प्रेम ही उसका जीवन हो जाता है। प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर नीरसता शेष नहीं रहती। नीरसता का नाश होते ही स्वाधीनता एवं उदारता की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधक कृतकृत्य हो जाता है।

अधिकतर प्रमादवश साधक जगत् और जगत्पति के कर्त्तव्य को सोचता रहता है। तभी उसके मन में किसी-न-किसी के प्रति शिकायत उत्पन्ना होती है। प्रेमियों को प्रेमास्पद से, उदार को जगत् से और स्वाधीन को अपने से कोई शिकायत नहीं रहती। इस दृष्टि से साधन-निष्ठसाधक को किसी से शिकायत नहीं रहती। दूसरों के कर्त्तव्य का ध्यान उन्हीं को आता है, जो स्वयं अपने कर्त्तव्य को भूलते हैं। कर्त्तव्यनिष्ठहोने में साधक को वह नहीं करना है जो नहीं कर सकता । परन्तु जब साधक प्रमादवश वह कर बैठता है जो नहीं करना चाहिए, तब कर्त्तव्यपालन में असमर्थता प्रतीत होती है। वास्तव में कर्त्तव्यनिष्ठहोने में साधक स्वाधीन है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए।

प्रभु-विश्वासी में अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध की गन्ध भी नहीं रहती। और फिर साधक स्वतः स्वाधीन तथा प्रेमी हो जाता है। अन्य सम्बन्ध से ही अनेक प्रकार के विकार उत्पन्ना होते हैं और

अन्य विश्वास से ही प्रभु-विश्वास सजीव नहीं होता। प्रभु-विश्वास सजीव होने पर साधक अभय, स्वाधीन, प्रेमी तथा उदार हो जाता है और फिर उसे कभी किसी से किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती। प्रभु-विश्वास के समान और कोई महान् अचूक उपाय नहीं है। सद्गुरु-वाक्य में अविचल आस्था होने से ही प्रभु-विश्वास सजीवन होता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रभु-विश्वासियों को अपना विश्वास तथा आत्मीय सम्बन्ध प्रदान करे, यही मेरी सद्भावना है। जहाँ रहें प्रसन्न रहें, जो करे ठीक करें और सब प्रकार से प्यारे प्रभु की होकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जायँ।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

231

श्रीगंगानगर

29-2-70

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

जब तक साधक अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार नहीं करता, तब तक वह किसी-न-किसी प्रकार की पराधीनता में ही आबद्ध रहता है और स्वाधीन हुए बिना उदारता तथा प्रेम को अभिव्यक्ति नहीं होती। और उसके बिना जीवन सार्थक नहीं होता। इस दृष्टिसे अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। मानव अपनी ही भूल से अपने में ममता तथा कामनाओं को उत्पन्न कर प्रेमास्पद की आत्मीयता से विमुख हो जाता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। अतः प्रत्येक साधक को ज्ञानपूर्वक निष्काम एवं असंग होना अत्यन्त आवश्यक है। निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। वह केवल अपनी भूल से ही अपने को पराधीन मान लेता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान हीं नहीं है।

सर्वांश में नीरसता का अन्त करने के लिए आत्मीयता से प्राप्त प्रियता को प्राप्त करना प्रभु-विश्वासी साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है। प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। ज्ञानपूर्वक अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग हो जाता है और फिर आस्थापूर्वक प्रभु-विश्वास को अपनाकर आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

232

देहरादून
22-4-70

अहैतुकी कृपा से पालित
भक्तिमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को उनकी प्रीति होकर रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। प्रतिपल प्यारे की पूजा करती हुई उत्तरोत्तर प्रीति की भूख बढ़ती रहे, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है। यही वास्तविक सत्संग हैं, अपने में यह सदा-सदा का सत्य है। एकमात्र वे ही अपने हैं, अपने में हैं। इस वास्तविकता में विकल्प के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरणागत का कोई और नहीं है। उनकी अहैतुकी कृपा निरन्तर बरस रही है, ऐसा अनेक घटनाओं से प्रत्यक्ष हो रहा है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

233

ऋषिकेश
27-4-70

अहैतुकी कृपा से पालित
भक्तिमति दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

मानव सेवा संघ की मूल नीति है कि संघ की वस्तुओं पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार कभी-भी न हो। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण एकमात्र व्यक्ति-निर्माण से होता है। व्यक्ति का निर्माण अधिकार-त्याग से होता है। अपने-अपने अधिकार-त्याग की भावना जिन-जिन साधकों में हो, वे ही संघ की यथेष्ट सेवा कर सकते हैं। संघ की सेवा का अर्थ मानव-जाति की सेवा है, किसी वर्ग विशेष की नहीं। मानव सेवा संघ कोई आन्दोलन नहीं है, अपितु क्रान्ति है। क्रान्ति एकमात्र अपने ही द्वारा होती है। मानव में सजगता आ जाय और वह यह अनुभव करे कि मैं मानव होनेके नाते उदार, स्वाधीन तथा प्रेमी हो सकता हूँ। इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है।

इस वास्तविकता को मानव स्वीकार करे और सत्संग के द्वारा उदार, स्वाधीन तथा प्रेमी होकर सभी के काम आ जाय, इसी सद्भावना से संघ का अवतरण हुआ है। प्रत्येक परिस्थिति में मानव उतना ही बड़ा मानव है, जितना कोई कभी हुआ है। मेरे जानते, कुछ सजग मानव 'मावन' होने के लिए तत्पर हो जायँ, जिससे मानव-जाति की क्रान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। केवल सम्पत्ति-संग्रह से क्रान्ति नहीं होती, अपितु संग्रह के विरुद्ध समाज में एक प्रतिक्रिया होने लगती है, जो विनाश का मूल है। आप स्वयं अन्तर्यामी की प्रेरणा से कार्य किया

करें। उन्हीं का कार्य है। तुम एक यन्त्र हो। वे जो करायें, सो करो-जैसे रखें, रहो। सेवा, त्याग, प्रेम मानव का अपना स्वरूप है। इसी को आस्था-पथ की दृष्टि से भक्ति कहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रभु की है अथवा व्यक्तिगत रूप से किसी की नहीं है। यह एक विज्ञान है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

234

श्री वृन्दावन

15-7-70

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

शरणागत साधक की सभी समस्याएं अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः हल हो जाती है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। वास्तव में तो समस्या का अनुभव होना ही साधक के वास्तविक विकास का आरम्भ है। समस्या स्वयं प्रार्थना का रूप धारण कर लेती है और स्वतः हल हो जाती है। प्रार्थना ही तो साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जो अपने लक्ष्य से निराश नहीं होते। हृदय की आँखें हृदयेश्वर स्वयं खोल देते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है।

जिसने गुरु-वाक्य के आधार पर अपने में सदैव अपने प्रेमास्पद को स्वीकार किया है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान में ही प्रेमास्पद की प्रीति होकर सर्वदा प्रिय को रस देने में ही लगा रहता है। क्या अपना अपने को प्यारा नहीं लगता? जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता, खिन्नता कभी-भी उत्पन्ना नहीं होती और जीवन स्वतः रसरूप हो जाता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। जो वर्तमान में विद्यमान है, उसके लिये भविष्य की आशा भूल है। जिसके लिए पराश्रय तथा परिश्रम अपेक्षित नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए कभी-भी विकल्प नहीं करना चाहिये। विकल्प-रहित आस्था कल्पतरु के समान फलवती होती है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

वर्षों के बाद आज सिर की पीड़ा से पीड़ित होकर चाय पी है। पीते ही सत्संग का काम चल गया। मेरे जानते, Unconcious(अचेतन मन) में चाय की रुचि छिपी होगी। उसकी पूर्ति के लिए प्रभु ने सिर की पीड़ा का रूप धारण किया। जो भी हो, वे बड़े ही चतुर-शिरोमणि वैज्ञानिक हैं। जिस-जिस प्रकार शरणागत का हित होता है, वही लीला करते हैं। चाय का कप हाथ में आते समय ऐसा लगता था कि न जानें कितना मजा आयेगा! पर एक घूँट पीते ही पुरानी बात याद आ गईः-

जब तक मिले न थे तो जुदाई का थ ख्याल, अब यह मलाल है कि तमन्ना निकल गइ।

इसका अर्थ है कि संयोग में कितना सुख होगा, यह भ्रम है। संयोग होते ही हाथ कुछ नहीं लगता। जीवन योग में है, संयागे में नहीं। योग, जो अपने में अपने हैं, उन्हीं से होता है। योग की मांग मानव की अपनी माँग है। उसकी पूर्ति अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः होती है।

ओ३म् आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

235

श्री वृन्दावन
9-8-70

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

साधक का विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार लहर और समुद्र दोनों ही में सत्ता रूप से जल ही है, उसी प्रकार अपने में और सृष्टि में एकमात्र सत्ता रूप से श्रीहरि ही हैं। पर शरीर और सृष्टि का अविभाज्य सम्बन्ध होने से शरीर को विश्वरूपी बाटिका की सेवा में लगा देना अनिवार्य है। परन्तु अपने को विश्वनाथ की प्रीति हो जाना है, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है। 'अपने' अपने में मौजूद हैं-यह अविचल आस्था रहनी चाहिए। अपने मानने से ही अपने में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है।

प्रियता से प्रेमास्पद को रस मिलता है और वे स्वयं प्रीति होकर प्रेमियों को रस प्रदान करते रहते हैं। प्रीति और प्रियतम के नित्य-विहार में ही साधक की साधना की पूर्णता है। साधना साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। साधक साधना से और साधना साध्य से सर्वदा अभिन्न है। सत्संग से ही साधक में साध्य की अभिव्यक्ति होती है। बुराई-रहित होने से शरीर और विश्व में एकता हो जाती है और फिर ऐसा अनुभव होता है कि विश्व है, शरीर नहीं। और आत्मीयता से जागृत अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता से अनन्त से अभिन्नता हो जाती है। वास्तव में तो एकता थी ही, है ही।

असत् के संग से जो भेद और भिन्नता प्रतीत होती थी, वह सत्संग से सदा के लिए स्वतः मिट जाती है। इस दृष्टि से सत्संग में ही जीवन है। व्यक्त और अव्यक्त विश्व की ही दो अवस्थाएं हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है। व्यक्त में अव्यक्त का दर्शन करते ही निर्ममता, निष्कामता, असंगता स्वतः हो जाती है। और फिर साधक सृष्टि के प्रभाव से रहित होकर अनन्त की समीपता, एकता एवं अभिन्नता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। विश्व और विश्वनाथ से अविभाज्य सम्बन्ध का बोध सेवा, त्याग, प्रेम को प्रदान करता है, जो भक्ति का स्वरूप है।

मानव सेवा संघ की प्रणाली में शान्ति, मुक्ति, भक्ति साधना ही है। साध्य तो एक अनुपम अचिन्त्य अद्वितीय तत्त्व है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति के द्वारा साध्य की प्राप्ति होती है। उसका कथन, चिन्तन, वर्णन साधन-रूप ही है। साध्य क्या है, इसे साध्य ही जानें। साध्य के सम्बन्ध में जिस किसी ने जो कुछ कहा है, वह अधूरा है। अथवा यों कहो कि उतना तो है ही, उससे विलक्षण भी है। 'है' में आस्था 'है' की प्राप्ति का अचूक उपाय है। ज्ञान से विश्व की निवृत्ति और विश्वास से विश्वनाथ की प्राप्ति होती है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

236

श्री वृन्दावन

19-8-70

अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

प्रत्येक दशा में अनन्त की प्रीति होकर सर्वदा लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना से साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

शरीर तो विश्व-रूपी बाटिका की सेवा-सामग्री है ही। बड़े हर्ष की बात है कि महाविद्यालय के रूप में उसका उपयोग किया जा रहा है। सभी कार्य अपने प्यारे के ही हैं। उन्हें जो-जो भावे, सोई-सोई करें। कभी अविद्या-निवृत्ति, अर्थात् भूल-रहित करने के लिए भी आपके प्यारे आपके शरीर का उपयोग साधकों की सेवार्थ करायेंगे ही।

आज मानव-समाज बड़ी ही कठिन परिस्थिति से गुजर रहा है। भिन्न-भिन्न प्रकार के संघर्षों की धूम मची है। प्यारे की लीला! जैसी चाहें करे, जो चाहें सो करायें; पर अपनी आस्था, श्रद्धा, विश्वास बनाये रखें। उनकी शरणागति को पाकर सभी सब कुछ पा गये। इस दृष्टि से शरणागत की सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं। प्रभु-विश्वासी साधक के लिए शरणागति एकमात्र अचूक उपाय है। इस वास्तविकता में अनन्त की अहैतुकी कृपा से अविचल आस्था बनी रहे। सफलता अवश्वम्भावी है। सफलता अवश्वम्भावी है।शरणागत के सभी संकल्प अनन्त के संकल्प में और शरणागत का अस्तित्व शरण्य के अस्तित्व में सदा के लिए विलीन हो जाता है। उनकी प्रियता ही शरणागत का जीवन हो जाता है। प्रियता की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। सफलता अवश्वम्भावी है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

शरणागत की प्रियता से ही अभिन्नता हो जाती है। प्रियता ही एक ऐसा अनुपम तत्व है, जिससे जीवन शरण्य के लिए उपयोगी हो जाता है, अर्थात् प्रियता ही साधक के विकास की चरम सीमा है। प्रियता के लिए उत्कट लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। प्रियता की माँग जीवन की अन्तिम माँग है। जो प्रियता से

निराश नहीं होता, उसे प्रियता अवश्य प्राप्त होती है। यह करुणानिधि का मंगलमय विधान है। इतना ही नहीं, प्रियता ही एकमात्र शरणागत का जीवन है। वास्तविक जीवन से कभी-भी निराश नहीं होना चाहिए।

जब साधक लक्ष्य से निराश नहीं होता और अपने द्वारा उसे पूरा नहीं कर पाता, तब स्वतः एक वेदना जागृत होती है, जो वास्तविक प्रार्थना का रूप धारण कर लेती है। वैधानिक प्रार्थना अवश्य पूरी हो जाती है, यह सर्व-समर्थ सर्वाधार की महिमा है। जिसने उनकी महिमा को अपनाया, वह सब कुछ पा गया। उनके अस्तित्व और महत्व में जिसे विकल्प नहीं होता, वही शरणागत होकर कृतकृत्य हो जाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

237

हैदराबाद

28-8-70

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्परूपा दिव्य-ज्योति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम हरिस्मरण!

संसार-रूपी बाटिका में विचरते हुए मानवता का सन्देश जो मिला है, उसे सुनाते हुए जहाँ चाहे शरीर शान्त हो जाय। पर शरणागत को पता न चले कि सूखी मिट्टी की भाँति शरीर कब-कहाँ झड़ गया। मानव को स्वाभाविक स्थिति कर्त्तव्य के अन्त में जाग्रत-सुषुप्तिवत् रहनी चाहिए। कारण कि, शरणागत साधक के आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे होकर मिट जाते हैं और अनावश्यक उत्पन्ना ही नहीं होते। निःसंकल्पता सहज तथा स्वाभावकि स्थिति है। पर प्रेमियों को तो उसमें भी रमण नहीं करना है। इतना ही नहीं, अपने में सन्तुष्ट होने पर भी सन्तुष्ट नहीं होना है। तभी अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता से प्यारे प्रियतम को रस मिल सकता हैं

प्रिय को रस देना ही प्रेमी का जीवन है। जिसे अपने लिए कभी-भी कुछ नहीं चाहिए, केवल आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता ही जिसे अभीष्ट है, वही शरणागत साधक है। शरणागत को एकमात्र शरण्य की प्रीति ही चाहिए। शरण्य को तो सभी शरणागत स्वभाव से ही अत्यन्त प्रिय हैं। पर शरणागत को भी शरण्य प्यारे लगें, यही शरणागत की पुकार है। निरन्तर रोम-रोम से प्रीति की पुकार होती रहे। सर्व दुःखों की निवृत्ति, चिर-शान्ति, जीवनमुक्ति अपने लिए भले ही हितकर हो। परन्तु प्रेम के बिना जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी नहीं हो सकता।

जो जीवन 'उनके' लिए उपयोगी नहीं है, वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो, निरर्थक ही है। प्रेम की माँग जीवन की

अन्तिम माँग है। प्रेमास्पद अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं-यह सद्गुरु-वाक्य है, वेदवाणी है। इसमें अविचल आस्था अनिवार्य है। अपने होने से अपने को स्वभाव से प्रिय हैं और अपने में होने से उन्हें कहीं बाहर नहीं खोजना है। अभी होने से भविष्य के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी है। अतः प्रियता होकर वर्तमना में ही उन्हें अपने में पाना है। जिससे देशकाल की दूरी है ही नहीं, उनसे वर्तमान में ही अभिन्न होना है। अभिन्न होने के लिए अखण्ड स्मृति, प्रियता एवं अपने आपको सदा के लिए खो देना है, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

238

श्री वृन्दावन,
5-9-70

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि जिसकी प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है, उसी को असम्भव मानकर निराश-सा हो रहा है, और जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है, उसी के पीछे दौड़ रहा है। परिणाम में श्रमित होने के अतिरिक्त कुछ भी हाथ न लगेगा। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। श्रमित मानव असमर्थता में आबद्ध हो जाता है। फिर भी न जाने क्यों सर्व-समर्थ में अविचल आस्था करने में अपने को असमर्थ मान लेता है! यद्यपि वैधानिक दृष्टि से असमर्थ को ही सर्व-समर्थ से आत्मीय सम्बन्ध हो सकता है। इस वास्तविकता को अपनाये बिना सर्वांश में सदा के लिए साधक असमर्थता की व्यथा से मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी सद्गुरु-वाक्य के आधार पर असमर्थ प्राणी सर्व-समथ के अस्तित्व और महत्व को क्यों नहीं अपनाकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है? यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

विधान के अनुसार सभी साधक आवश्यक कार्य पूरा कर सकते हैं और अनावश्यक कार्य का त्याग कर सकते हैं। परिणाम में विश्राम पा सकते हैं। विश्राम में स्वतः साधक साधननिष्ठहोकर साध्य से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। पर साधक अपनी ही भूल से उत्साहहीन होकर एक अजीब दशा में फँस गया है। साधक को कभी-भी साध्य से निराश नहीं होना चाहिए, अपितु साध्य की प्रीति के लिये उत्तरोत्तर सजगता, तत्परता एवं नित-नव उत्साह बढ़ता रहना चाहिये। उत्साहहीनता के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इस भूल का शीघ्रातिशीघ्र सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है।

साधक के जीवन में उत्साह-रूपी उत्सव सतत् होना चाहिये। उत्साह में चेतना है, उत्साह में सरसता है और उत्साह में सफलता है। उत्साहहीनता जीवन में तभी आती है, जब साधक साध्य की प्राप्ति में अविचल आस्था नहीं करता, जिसका साधक के जीवन में कभी-भी कुछ भी स्थान नहीं है। साध्य उसी को कहते हैं, जो सभी साधकों को मिल सकता है। कारण कि, साध्य अनुत्पन्न हुआ अविनाशी तत्व है। अविनाशी तत्व सर्व देश, काल में सदैव ज्यों-का-त्यों है। उसमें आस्था करना साधक का परम पुरुषार्थ है। साध्य में आस्था 'मैं' के द्वारा होती है, 'यह' के द्वारा नहीं। जो अपने द्वारा स्वीकार किया जाता है, उसे कोई और कभी-भी मिटा नहीं सकता।

अतः प्रत्येक साधक को अपने द्वारा अपने लिए साध्य के अस्तित्व एवं महत्व को अपना लेना चाहिए। जिसने साध्य के अस्तित्व तथा महत्वको अपनाया, उसके जीवनमें किसी और का अस्तित्व तथा महत्व ही नहीं रह जाता। इसी वास्तविकता को प्रीति-स्वरूपा गोपियों ने कहा-'नाहिंन रह्यो मनमें ठौर।' और शरणागत ने कहा कि 'नाहिन रह्यो कोई और।' तो फिर नित्य-मिलन, नित्य-विरह से भिन्न जीवन में कुछ और है ही नहीं। मिलन और विरह प्रेम-सिन्धु के दो तट हैं। पर यह रहस्य उन्हीं को स्पष्ट होता है, जिन्होंने सद्गुरु-वाक्य के आधार पर साध्य की शरणागति स्वीकार की है।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

239

श्री वृन्दावन

21-9-70

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित भक्तिमति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रेमास्पद की प्रीति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है।

जो साधक पूरी शक्ति लगाकर प्रभु का कार्य करते हैं, उन साधकों की सारी व्यवस्था प्रभु स्वयं करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। इतना ही नहीं, साध्य ही की महिमा साधन-तत्व है और साध्य ही की रचना साधक है। जिस प्रकार लहर और सागर में सत्ता जल ही की है, लहर और सागर का किसी भी काल में कोई अस्तित्व ही नहीं है, उसी प्रकार साध्य ही की सत्ता है और किसी की नहीं। इस वास्तविकता में आस्था अनिवार्य है। प्रभु-विश्वासी साधक का रोम-रोम प्रभु-प्रेम से भर जाता है। पर कब? जब उसकी दृष्टि में प्रभु से भिन्न का अस्तित्व ही नहीं रहता। जीव और जगत् उस अनन्त की विभूति हैं, और कुछ नहीं। क्या जिसे इस वास्तविकता में आस्था है, उसकी दृष्टि में कोई और हैं? इससे भिन्न अखण्ड समाधि कुछ नहीं।

तुम जिसकी प्रिया हो, वे परम उदार, परम स्वतन्त्र एवं परम प्रेम से भरपूर हैं। उनके दिये हुए प्रेम से ही प्रेमी उन्हें रस प्रदान करता है। उनकी दी हुई उदारता से ही प्रभु-विश्वासी जगत् को प्रसन्न करता है। उनकी दी हुई स्वाधीनता से ही साधक अविनाशी जीवन से अभिन्न होता है। क्या कहा जाय! साध्य ही साधन-तत्व तथा साधक होकर लीला कर रहे हैं। लीलामय की लीला, अजर, अमर, अविनाशी और रसरूप है। शरणागत को उन्होंने बिना मांगे सब कुछ दिया है, देते हैं, और देते रहेंगे।

मिले हुए से उनकी पूजा करती रहो। प्रीति की भूख ही जीवन की वास्तविक भूख है। उनका कार्य ही सच्ची पूजा है। उनके होकर रहने में ही वास्तविक निर्भयता है। साधना का रस मत लो। साध्य को रस दो। यह तभी सम्भव होगा, जब प्रीति से भिन्न और कोई माँग न रह जाय, पूजा से भिन्न और कोई काम न रह जाय, और उनकी आस्था ही अपना अस्तित्व हो जाय। यह सब सम्भव है। इसमें लेशमात्र भी विकल्प मत करो।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

240

आगरा

6-11-70

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा भक्तिमति,

सर्वदा प्रेमास्पद को लाड़ लड़ाती रहो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम यथोचित।

यदि साधक निःसंकल्प हो जाय, तो सभी आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे हो-होकर निर्विकल्पता में साधक का प्रवेश करा देते हैं। अर्थात् निःसंकल्प होने से निर्विकल्पता प्राप्त होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। शरीर आदि वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग अपने लिए नहीं है, अपितु अपने प्यारे की विश्व-बाटिका के लिए है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। अपने लिए तो एक मात्र सत्संग ही अभीष्ट है। उसी से साधक साधन-निष्ठहो जाता है। सत्संग साधक का अपना स्वधर्म है, शरीर-धर्म नहीं।

'स्व' के द्वारा सत्य को स्वीकार कर साधक बुराई-रहित होकर जगत् के लिए और अचाह होकर अपने लिए एवं आत्मीयता से प्राप्त अखंड स्मृति तथा अगाध प्रियता से प्रेमास्पद के लिए उपयोगी हो जाता है। जीवन उपयोगी हो जाय, यही साधक का लक्ष्य है। अपने लक्ष्य को अपने द्वारा स्वीकार करना एवं उसकी पूर्ति में विकल्प-रहित विश्वास करना अनिवार्य है। जिसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं होता, उसकी आवश्यकता सबल तथा स्थायी हो जाती है। आवश्यकता अनुभव करने में ही साधक

का प्रयास है। उसकी पूर्ति कर देना साध्य का सहज स्वभाव है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में असफलता तथा निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है। जिसे किसी प्रकार की पराधीनता भाती नहीं है, उसी में स्वाधीनता की माँग जागृत होती है। स्वाधीनता की माँग पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर स्वाधीनता प्रदान करने में समर्थ है। यह निर्विवाद सत्य है। सत्य में अविचल आस्था तथा उसे स्वीकार करना साधक का परम पुरुषार्थ है।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

241

श्री वृन्दावन

27-11-70

अहैतुकी कृपा से पालित
दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

सर्वदा प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

संसृति का प्रभाव तुम्हें छू न सकेगा। डरो मत, घबड़ाओ मत, अधीर होने की आवश्यकता नहीं। जिनके हाथ में तुम्हारा हाथ दिया गया है, वे सब प्रकार से पूर्ण तथा समर्थ हैं। वे शरणागत को छोड़ना जानते ही नहीं हैं। तुम उनकी महिमा न भूलो। वही तुम्हारा मूलाधार है। जिन्होंने उनकी महिमा का आश्रय लिया है, वे सभी पार हो गये। इस वास्तविकता से प्रेमियों का इतिहास भरा है। पर उसका दर्शन एकमात्र अकिंचन शरणागत साधकों को ही होता है। यद्यपि संसृति उन्हीं का प्रकाश है, कुछ और नहीं। परन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब शरणागत की दृष्टि में उसका अपना कोई और नहीं रहता। तुम्हारी व्यथा मेरी अपनी व्यथा है। कारण कि, मैंने साधकों की सेवा स्वीकार की थी। तुम अपनी ओर से किसी और के अस्तित्व को ही स्वीकार न करो। वे लीलामय तुम्हें मोह तथा मोहक वन में फँसने न देंगे। उनसे सहायता न माँगो। अपने सहित सारा भार उन्हीं पर डाल दो। तुम उनकी प्रीति हो, इस वास्तविकता को न भूलो। सफलता अवश्यम्भावी है।

बर्तमान कार्य में पूर्ववत् चित्त नहीं लगता, इससे यह स्पष्ट ही है कि अब तुम्हें अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की भूख जगेगी। पूजा स्मृति की तैयारी में है। स्मृति की भूख जगने पर पूजा फीकी-फीकी हो जाती है। तुम अपनी दशा मत देखो, अपितु अपने स्वरूप को देखो। भला तुम तक कभी-कभी सृष्टि पहुँच सकती है? कदापि नहीं। अहंकृति का नाश, योग तथा बोध का उदय एवं स्मृति की जागृति सब एक साथ होती है। इसमें साधक का प्रयास नहीं है अपितु वह साधक की माँग है। माँग प्रयास नहीं कहलाती। कारण कि, उसका सम्बन्ध

शरीर से नहीं है। वर्तमान कार्य से लेकर निर्विकल्प स्थिति तक शरीर का क्षेत्र है।

तुम्हें निर्विकल्पता का बोध है। अतः तुम अवस्था नहीं हो। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं है। तुमसे भी बहुत सूक्ष्म तुम्हारे प्रेमास्पद तुम्हीं में हैं। वे तुम्हें जानते हैं, देखते हैं। तुम उनकी महिमा में डूब जाओ। कभी-कभी कह दिया करो- 'प्यारे! अपनी, महिमा में मेरी अगाध प्रियता एवं अविचल आस्था कर दो। समस्त साधनों में भी तो साध्य की ही सत्ता है। साधक की साधनों से एकता होती है और साधन-तत्व की साध्य से एकता रहती ही है।

सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें साधन-तत्व से अभिन्न कर दें, यही मेरी अपनी माँग है। उन्होंने सदैव मेरी माँग को पूरा किया है। ऐसा अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है। जिन्होंने प्रभु-विश्वासी के द्वारा प्रभु-विश्वास को स्वीकार किया, समर्थ ने अपने विश्वासी की लाज को सदैव रखा है। उनकी महिमा भूल जाने पर साधक अधीर हो जाता है। इस दशा में उनकी महिमा की स्मृति ही एकमात्र अचूक उपाय है, यह सद्गुरु-वाक्य है।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

242

श्री वृन्दावन,
3-12-70

अहैतुकी कृपा से पालित दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

अपने में अपने प्रेमास्पद हैं। उन्हीं की प्रीति होकर उन्हीं को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है। किसी भी कार्य को घबड़ाकर करना भारी भूल है। धीरज जीवन का प्रधान अंग है। उसे सुरक्षित रखना अनिवार्य है। अधीरता तो केवल सोई हुई प्रीति के जगाने में ही चाहिए। शरीर-सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए अधीर होना भारी भूल है। प्रियता में ही प्रियतम का नित्य वास है और प्रियता ही एकमात्र साधक का जीवन है। ज्यों-ज्यों साधक अपने में अपने साध्य को स्वीकार करता है, त्यों-त्यों प्रियता स्वतः सबल तथा स्थायी होती जाती है। प्रियता के सबल होने में ही जीवन की सफलता है। प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, बस यही सफलता की कुँजीहै। जिसे सचमुच अपने लिए कभी कुछ भी नहीं चाहिए उसी में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता से ही प्रियतम को रस मिलता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रहनी चाहिए। आत्मीयता ही प्रियता की जननी है। आत्मीयता को स्वीकार करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

समस्त साधनों का फल आत्मीयता की जागृति में ही है। वे सदैव अपने हैं, यह ध्रुव सत्य है। अपने को अपना स्वीकार करना ही अपना पुरुषार्थ

है। और यह साधक के लिए बहुत ही स्वाभाविक है। वे अपने हैं, इसी में जीवन की पूर्णता है। अपना अपने को स्वभाव से ही प्यारा लगता है। प्यार से ही प्रेमास्पद को रस मिलता है। वे प्यारे लगते रहें, यही माँग सदैव रहनी चाहिए।

प्रियता की माँग काम का अन्त कर साधक को साध्य से अभिन्न करती है, यह अनुभव सिद्ध सत्य है। जहाँ तक हो सके वर्तमान कार्य को विधिवत् पवित्र भाव से पूरा करती हुई प्रीति की भूख बढ़ाती रहो, सफलता अवश्यम्भावी है। सच तो यह है कि प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है। तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, और न शरीर तुम्हारा है। शरीर तो केवल संसार-रूपी वाटिका की खाद है, और कुछ नहीं। साधक का अस्तित्व एकमात्र साध्य की प्रियता है। जीवन का जो सत्य है, उसे अपनाओ, और अभय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

243

प्रयाग
23-1-71

प्रीतिस्वरूपा दिव्य ज्योति श्रीप्रिया,

जिओ, जागो, सदा आनन्द में रहो!

आत्मीय प्रभु-विश्वासी साधकों की व्यथा से व्यथित एक अकिंचन शरणागत की माँग है कि सर्व-समर्थ तुम्हें अपनी मुरलिया बनायें, जिससे तुममें तुम्हारा कुछ न रहकर उन्हीं का प्राण तुम्हारा प्राण हो जाय और तुम सदैव उनके अधरामृत का पान करती हुई उनके प्रेमियों के हृदय में प्रीति को जगाकर प्रेमास्पद की सतत् सेवा करती रहो। तभी मुझे चैन मिलेगा। इसने जिसे प्रेमास्पद के अर्पित किया है, वह प्रेमास्पद की प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करे। प्रीति भिन्न तुम्हारा कुछ भी अस्तित्व न रह जाय, तभी मुझे आराम मिलेगा। यद्यपि एकमात्र प्रीति ही तुम्हारा निज-स्वरूप है और कुछ नहीं, परन्तु तुम्हें कभी-कभी कुछ और भासित होने लगता है। इससे मुझे बड़ी व्यथा होती है। तुम कभी अपने स्वरूप को मत भूलो। यही मेरी सर्वोत्कृष्ट सेवा है।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

.....

244

बम्बई
11-2-71

अहैतुकी कृपा से पालित प्रेमतत्व से निर्मित अनन्त की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमियों के हृदय में प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है, ऐसा मेरा विश्वास है। सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर आपके द्वारा सतत् साधकों की सेवा कराते रहें, यही मेरी उत्कट लालसा है। शरणागत साधक के लिए शरीर का रहना, न रहना समान है। कारण कि, उसकी आत्मीयता तो केवल श्रीहरि में ही है और प्रियता ही उसका जीवन है, जो अविनाशी है। आत्मीय साधकों की व्यथा मेरी अपनी व्यथा है।

प्यारे प्रभु सदैव मेरा दुःख हरते रहते हैं। अतः आत्मीय साधकों को कल्याण अवश्य होगा। वे प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करेंगे ही। जिन्होंने सद्गुरु-वाक्य द्वारा आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया है, प्रियता ही उनका निज-स्वरूप है। प्रियता अनन्त है, नित-नव है और वही तुम्हारा अपना स्वरूप है, तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो।

जब अपने में शरीर-भाव नहीं रहता तब किसी भी शरीर में आसक्ति नहीं रहती, अर्थात् निर्मोहता स्वतः सिद्ध हो जाती है। केवल सद्गुरु-वाक्य से प्राप्त आत्मीयता से जागृत प्रियता ही शेष रहती है। वही प्रभु-विश्वासी शरणागत साधकों का अपना स्वरूप है। प्रियता ही गुरु-तत्व है और उसी से प्रेमियों की एकता होती है, यह सद्गुरु-वाक्य की महिमा है। शरीर चाहे जहाँ रहे, चाहे जैसा रहे, अथवा न रहे, उससे अपनी कोई क्षति नहीं होती। अपने में जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनकी प्रियता ही अपना जीवन है। प्रियता से दूरी, भेद, भिन्नता शेष नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध, प्रेम प्रियता का ही स्वरूप है।

प्यारे प्रभु अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं-इस वास्तविकता को अपने ही निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति होती है और उसी में जीवन है। भूतकाल भूल जाओ, वर्तमान की सरसता से भविष्य उज्ज्वल बनाओ। प्रत्येक दशा में अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करो। जीवन-धन सदैव अपने में ही हैं, इस वास्तविकता में विकल्प मत होने दो। सफलता अवश्यम्भावी है। सर्वदा प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में रत रहो, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

245

बम्बई
14-2-71

अहैतुकी कृपा से पालित, प्रेम तत्व से निर्मित, प्राणनाथ की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

तुम सदैव उनकी हो और वे तुम्हारे हैं। इतना ही नहीं, तुममें तुम्हारा कुछ भी नहीं, सब कुछ उन्हीं का है। उनकी दी हुई प्रियता से ही उन्हें आनन्दित करती रहो। प्रियता की माँग ही जीवन की अन्तिम माँग है, और वही तुम्हारा निज-स्वरूप है।

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। शरीर तो तुम्हें विश्व-बाटिका की सेवा के लिए मिला है। शरीर और विश्व दोनों की उन्हीं से सत्ता पाते हैं, उन्हीं से प्रकाशित हैं और उन्हीं के हैं और वे तुम्हारे अपने हैं।

जीवनोपयोगी महावाक्य-

(1) मेरा कुछ नहीं हैं।

(2) मुझे कुछ नहीं चाहिए।

(3) प्रभु ही अपने हैं।

(4) सब कुछ प्रभु का ही है।

अपना सदैव अपने ही में है। बुराई-रहित होकर भलाई का अभिमान गल जाने पर अपने में सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य आ जाती है और फिर साधक अपने ही में साध्य को पाकर सदा के लिए आनन्द-विभोर जो जाता है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

246

भागलपुर

13-4-71

अनन्त की अहैतुकी कृपा से पालित परम प्रेमास्पद परम सुहृद् सर्वाधार सर्वान्तर्यामी प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद की महिमा से ही उन्हें नित-नव रस प्रदान करती रहो। यही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। इस वास्तविकता से अभिन्न होकर योग, बोध, प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाओ-यही मेरी सद्भावना है।

जीवन की माँग अवश्य पूरी होती है-यह सद्गुरु-वाक्य तथा वेदवाणी है। इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने भूल-रहित होकर अपनी माँग का अनुभव किया है। माँग का अनुभव ही मानव का परम पुरुषार्थ है। माँग काम को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है, यह अनन्त का अनुपम विधान है। विधान का आदर करो और सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। विधान के आदर से ही माँग सबल होती है। इस दृष्टि से विधान में अविचल आस्था अनिवार्य है।

माँग से कभी किसीको निराश नहीं होना चाहिए। काम की निवृत्ति, माँग की पूर्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है। सत्य को स्वीकार करना साधक का स्वधर्म है, जिसे वह सदैव स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है, इतना ही नहीं, सत्य को

स्वीकार करने का दायित्व साधक पर है, शेष सब कुछ अर्थात् साधना का उदय साधक में स्वतः साध्य की अहैतुकी कृपा से होता है। सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता मानव को अपने रचयिता से प्राप्त है। अतः स्वाधीनता का सदुपयोग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल मन्त्र है। मानव स्वाधीनता का सदुपयोग कर अभय हो जाता है, अर्थात् भयहारी हरि उसे अपना लेते हैं। और फिर, कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। स्वाधीनता के सदुपयोग से ही स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता की प्राप्ति में ही अविनाशी, रसरूप, चिन्मय जीवन है।

प्रत्येक साधक को प्राप्त स्वाधीनता के सदुपयोग तथा ज्ञान के प्रकाश से भूल-रहित होकर शीघ्रातिशीघ्र स्वाधीन हो जाना चाहिए। स्वाधीनता की उपलब्धि वर्तमान की वस्तु है। उसे भविष्य पर नहीं टालना चाहिए। वर्तमान की सरसता से ही भविष्य उज्ज्वल होता है। कारण कि, प्रेमास्पद सदैव अपने ही में मौजूद हैं। प्रेमी होने की माँग से ही प्रेमास्पद अपना अनुपम अलौकिक प्रेम प्रदान करते हैं, यह प्रेमियों का अनुभव है। प्रेमास्पद से प्राप्त प्रेम से ही प्रेमास्पद की वास्तविक सेवा-पूजा होती है, अर्थात् उनकी दी हुई साधना से ही साध्य से अभिन्नता होती है।

सत्य को स्वीकार करते ही परम उदार, परम स्वतन्त्र प्यारे प्रभु साधक को साधन-निष्ठकर सदा-सदा के लिए अपना लेते हैं। वे सदैव अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं। तो फिर उनकी नित्य प्राप्ति में विकल्प करना साधक को अपनी ही भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु अपने शरणागतों को निज-ज्ञान के प्रकाश में भूल-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

247

ऋषिकेश
21-4-71

अहैतुकी कृपा से पालित सर्वसमर्थ प्यारे प्रभु की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा साधकों में सोई हुई प्रीति को जगाती हुई प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो। इसी सद्भावना के साथ सप्रेम-यथोचित स्वीकार करें।

प्राणी भूल करते-करते थकता नहीं है और प्राणनाथ सदैव रक्षा करते ही रहते हैं। फिर भी प्राणी उनके प्रेम को न अपनाये, इससे बढ़कर और कोई जड़ता नहीं हो सकती। साधक के साधन-निष्ठहोने में करुणामय का स्वयं संकल्प

है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपने सभी संकल्प प्यारे प्रभु के संकल्प में विलीन कर निर्विकल्प हो जाता है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

248

श्री वृन्दावन
10-11-73

प्रीतिस्वरूपा प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा शरणागत साधकों के हृदय में सोई हुई प्रीति को जगाती रहो, यही मेरी सद्भावना है। कारण कि, साधकों की सेवा में ही साध्य की प्रसन्नता निहित है।

प्राणेश्वर प्रिय साधको, सावधान! निज-ज्ञान गुरु के प्रकाश में अनुभव करो कि उत्पत्ति बिना आधार और प्रतीति बिना प्रकाशक के नहीं होती। इस दृष्टि से जो दृश्य का आधार तथा प्रकाशक है, वही समस्त साधकों का अपना है, अपने में हैं, अभी है, समर्थ तथा अद्वितीय है। उस साध्य में ही साधक की अविचल आस्था तथा श्रद्धा और विश्वास अनिवार्य है। कारण कि, एकमात्र विश्वास ही विश्वासपात्र की प्राप्ति में हेतु है। जिन भाग्यशीलों को यह विश्वास प्राप्त है, वे धन्य हैं। उनके जीवन में किसी अन्य विश्वास की गन्ध ही नहीं रहती। विश्वास से सम्बन्ध और सम्बन्ध से स्मृति तथा प्रियता स्वतः होती है-यह जीवन का सत्य है। सत्य स्वीकार कर साधक को साधन-निष्ठहोने के लिए सतत अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

जो सत्य ज्ञान और आस्था से साध्य है, उसके स्वीकार करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता साधक को साध्य की अहैतुकी कृपा से जन्मजात प्राप्त है। अतः साधक साधन-निष्ठहोने में सर्वदा समर्थ है। इस वास्तविकता को अपनाओ और अभय हो जाओ। इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

249

श्री वृन्दावन
15-11-73

भगतत् कृपाश्रिता प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

उत्पत्ति का आधार, प्रतीति का प्रकाशक जो हैं, वही सदैव, सर्वत्र, सभी का होने से अपना है, अपने में है, और अभी है। जब यह सत्य स्वीकार कर लिया, तो फिर भय, चिन्ता तथा निराशा

के लिये तो कोई स्थान ही नहीं रहह जाता। अतः अपने में अपनी प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहे। कारण कि, प्रेमास्पद के समान प्रेम तत्व भी असीम तथा अनन्त है। शरीर चाहे जैसा रहे, पर विश्वरूपी बाटिका की खाद हो जाय। यह तभी सम्भव होता है, जब साधक अकिंचन, अचाह तथा अप्रयत्न होकर शरणागत हो जाय। यही प्रभु-विश्वासी साधक का परम पुरुषार्थ है।

बड़े हर्ष की बात है कि तुमने साधकों की सेवा सहर्ष स्वीकार की है। मेरे विश्वास के अनुसार साधकों की सेवा में ही साध्य की प्रसन्नता निहित है। यह जीवन का सत्य है। सेवा त्याग तथा प्रेम की जननी है। पर यह रहस्य कोई विरले ही जानते हैं। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करे, और अपने में अपने से भिन्न का अस्तित्व की स्वीकार न करो; तभी चिर-विश्राम, स्वाधीनता, एवं पावन प्रेम की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है।

एक ही अनन्त अनेक रूपों में, अनेक भाव प्रकट होता है। अतः अपने प्रेमास्पद से भिन्न किसी और का अस्तित्व ही स्वीकार न करो। बस तुम्हारी सभी समस्याएँ हल हो जायेंगी और तुम अभय होकर नित-नव रस दान करोगी। और फिर तुम्हारे प्रेमास्पद प्रेमी होकर तुम्हें अपनायेंगे। तुम सदा-सदा के लिए कृतकृत्य हो जाओगी। सर्व समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को अपनी आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता करें, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

250

श्री वृन्दावन
1-1-74

भगवत् आश्रिता प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

अपने में अपना कुछ नहीं हैं, इस वास्तविकता को अपनाकर सर्वांश में रिक्त हो जाओ। प्यारे के प्राणी तुम्हारे प्राण हो जायँ, इसी सद्भावना से प्यारे की प्यारी को बहुत-बहुत प्यार!

सभी साधक साध्य के होकर रहें और उन्हीं की महिमा को अपनाकर सभी के लिए उपयोगी हो जायँ, यह माँग जीवन की माँग है। अनुपयोगी वही रहता है, जिसे अपने लिए किसी से कुछ चाहिए। इस प्रमाद का अन्त करना अनिवार्य है। अपना करके सृष्टि में कुछ नहीं है। अपने, अपने में अवश्य हैं। अपने में अपनी प्रियता स्वतः होती है, की नहीं जाती। करना यही है कि करना कुछ नहीं है।

केवल प्रेमास्पद के अस्तित्व और महत्व को अपनाना है। 'है' को स्वीकार करना और 'नहीं' को 'नहीं' जानकर उससे विमुख होना, यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता साध्य ने अपनी अहैतुकी कृपा

से प्रेरित होकर प्रत्येक साधक को दी है। सत्य को स्वीकार करने मात्र से ही साधक में साधना की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वतः सदैव साध्य से अभिन्न रहती है, कारण कि वह साध्य की महिमा है और वही साधक का जीवन है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनाकर उपयोगी बनाएँ- इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

251

श्री वृन्दावन
4-1-74

परम भागवत् प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

किसी न किसी प्रकार का सुख ही अहंभाव को जीवित रखता है। यह जीवन का सत्य है। जिस माँग का तुम अनुभव कर रही हो, वह माँग स्थायी तथा सबल होने दो। माँग स्वयं सुख को खाकर पूरी हो जाएगी, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। निःसन्देह वे सर्वदा, सर्वत्र अपने ही में मौजूद हैं। उनकी अनुपस्थिति तो है ही नहीं। परन्तु आत्मीयता से जागृत प्रियता उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। प्रेम स्वयं प्रेमी को खाकर प्रेमास्पद के लिए रसरूप होता है। उनको रस देने की उत्कट लालसा उत्तरोत्तर तीव्र होनी चाहिए। यह जीवन उनके लिए उपयोगी हो जाय, उनकी कृपा से हो जाय, अभी हो जाय, यह लालसा स्वयं अहं को खा जायेगी। यह निर्विवाद सत्य है।

प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति में विलीन होकर सोई हुई प्रीति को जगा दे, इस पवित्रता से प्रवृत्ति में आरम्भ होना चाहिए। अपने अपने को प्यारे होते ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु प्रेमी होकर भी जीवित नहीं रहना है, प्रेम से अभिन्न होना है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपना प्रेम प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

252

श्री वृन्दावन
7-1-74

परम भागवत प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

अपनेपन का भास मानव का सर्व-प्रथम भास है, अर्थात् प्रत्येक भाई-बहिन अपने को स्वीकार करते हैं। पर मैं क्या हूँ? यह प्रश्न हमें विचार करने के लिए विवश करता है। यदि मेरी कोई माँग न होती, तो सृष्टि से परे भी कोई जीवन है, यह प्रश्न ही न होता। परन्तु मुझे जीवन चाहिए। जीवन उसे नहीं कहते, जिसका नाश हो जाय और न उसे कहते हैं, जिसमें चेतना न हो और जो रसरूप न हो।

अर्थात् अविनाशी, चिन्मय, रसरूप जीवन की माँग मेरी माँग है। परन्तु जब मैं इस वास्तविक माँग को भोग की रुचि से ढक देता हूँ, तब मेरा सम्बन्ध उत्पन्ना हुए शरीर और संसार से होता है।

यदि मेरी माँग सबल तथा स्थायी हो जाय, तो मेरा शरीर और संसार से सम्बन्ध टूट जाता है। परन्तु शरीर और संसार तो अभिन्न हैं, अर्थात् शरीर से संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। परन्तु मेरा संसार से काल्पनिक सम्बन्ध है। काल्पनिक सम्बन्ध होने के कारण मुझे संसार के प्रति उदार रहना चाहिए। उदार होते ही हृदय करुणा और प्रसन्नता से भर जाता है। करुणा से भोग की रुचि और प्रसन्नता से काम नाश हो जाता है, ज्ञान जिसका स्वरूप है, प्रेम जिसका स्वरूप है, योग जिसकी महिमा है और जो अनुत्पन्न हुआ अविनाशी स्वतन्त्र तत्व है।

योग की माँग भोग की रुचि को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है और फिर मोह और आसक्ति का सदा के लिए अन्त हो जाता है और बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। योग, बोध, प्रेम में ही जीवन हैं, जो अनन्त की महिमा और मानव का स्वरूप है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

253

श्री वृन्दावन
11-1-74

सेवा परायण प्रीतिस्वरुपा प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

मानव जीवन में ही धर्म की चर्चा है। कारण कि, मानव ही धर्मात्मा होता है। जो मानव अपने पर सभी के अधिकार मान लेता है, धर्मात्मा हो जाता है। यही शुद्ध भौतिकवाद है। मन, वाणी, कर्म से बुराई रहित होने पर धर्म अभिव्यक्त होता है और फिर सभी के अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते हैं। इस दृष्टि से धर्मात्मा की माँग सभी को होती है और उसमें स्वाधीन होने की सामर्थ्य आ जाती है। यह धर्म का परिणाम है। कर्तव्य-निष्ठबनाने के लिए ही समय-समय पर राष्ट्र की कल्पना हुई। दूसरों का अधिकार देना मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य है। बल का दुरुपयोग रोकने के लिए ही समस्त सामाजिक प्रयास हैं। अतः मानव मात्र को यह व्रत लेना कि बल का दुरुपयोग नहीं करूंगा-अत्यन्त आवश्यक है। इसी से विश्व-शान्ति की समस्या हल हो जाती है और फिर स्वतः मानव में विवेक का प्रकाश होता है, जो उसे अपने में सन्तुष्ट कर चिर-शान्ति तथा अमरत्व से अभिन्न कर देता है।

विवेक मानव को सजगपूर्वक अधिकार-त्याग की प्रेरण देता है। विवेकी के जीवन में अधिकार-लोलुपता की गंध भी नहीं रहती रहती। दूसरों के अधिकार की रक्षा करना धर्म है और अधिकार-

त्याग का नाम विवेक है दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग करना अनिवार्य है। तभी मानव अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर अपने को अपने में सन्तुष्ट कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है और फिर अशान्ति और पराधीनता की गन्ध भी नहीं रहती। स्वाधीन होते ही साधक 'स्व' में अपने परम प्रेमास्पद को पा जाता है और फिर वास्तविक आस्था उदय हो जाती है। यही आस्तिकवाद है। आस्तिक के जीवन में प्रेम तथा प्रेमास्पद का नित्य विहार ही शेष रहता है। इतना ही नहीं, कर्तव्यनिष्ठजगत् के लिए उपयोगी होता है। यह मानव-जीवन की विलक्षणता है। मानव का निर्माण जिसने किया है, उसी में आस्था रहनी चाहिए।

मानव का स्वरूप क्या है? तो स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्यपरायणता, विवेक और विश्वास ही मानव का स्वरूप है। 'मानव' प्रकृति का कार्य नहीं है। प्रकृति का कार्य तो शरीर है। शरीर मानव का स्वरूप नहीं है। कर्तव्यपरायणता, विवेक का प्रकाश और विश्वास का तत्व जिसमें है, वही 'मानव' है। मानव 'मानव' होने से साधक है। साधक होने से सत्य को स्वीकार करना उसका परम पुरुषार्थ तथा स्वधर्म है। इसी कारण मानव सेवा संघ ने व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामूहिक सत्संग की प्रेरणा दी है। व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा मानव अपने को कर्तव्यनिष्ठ, विवेकी और प्रेम-तत्व से अभिन्न कर सकता है। व्यक्तिगत सत्संग सम्पन्न होते ही व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान हो जाता है। व्यक्तिगत समस्या हल होते ही पारिवारिक तथा सामूहिक समस्या भी हल हो जाती है। अतएव व्यक्तिगत सत्संग परम अनिवार्य है।

मुझ पर सभी का अधिकार है और मेरा किसी पर नहीं है-इस महामंत्र को अपनाकर मानव कर्तव्यपरायण अर्थात् धर्मात्मा और विवेकी हो जाता है। धर्मात्मा होने से जगत् के लिए और विवेकी होने से अपने लिए उपयोगी होता है और फिर उसे अपने रचयिता की आस्था प्राप्त होती है, जिसे अपनाकर वह परम प्रेम से अभिन्न हो जाता है। प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रभु-विश्वास की अपेक्षा है। प्रभु-विश्वास का उपयोग केवल प्रभु-प्राप्ति में ही है।

परमात्मा उसे नहीं कहते, जो सदैव होने से अभी न हो, सर्वत्र होने से अपने में न हो, सभी का होने से अपना न हो तथा अद्वितीय एवं समर्थ न हो। यह भक्त वाणी से सुना है। संसार के काम आने के लिए कर्त्तव्य परायणता पर्याप्त है। सर्व-दुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति तथा अमर जीवन के लिए निज-ज्ञान का आदर अनिवार्य है। ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का रस मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति होती है, यह जीवन का सत्य है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

254

श्री वृन्दावन
15-1-74

भगवत्कृपाश्रिता परम भागवत प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

प्रभु-विश्वास के समान और कोई परम औषधि नहीं है। उसी का सहारा लो, उसी की चर्चा करो, जिससे मानसिक शान्ति सुरक्षित रहे। निश्चिन्तता और निर्भयता आने से प्राण-शक्ति सबल होती है, जो रोग मिटाने में समर्थ है। उसके लिए हरि-आश्रय तथा विश्राम ही अचूक उपाय है। भय तथा चिंता-रहित होने से मानसिक विश्राम होता है और हरि-आश्रय से निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्राप्त होती है। जो सभी के अपने हैं, उन्हीं के होकर रहो, उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करो।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

255

श्री वृन्दावन
18-1-74

प्रभु आश्रिता परम भागवत प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा प्रेमास्पद के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर निश्चिन्त तथा निर्भय रहो, मेरी सद्भावना है।

संकल्प पूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। जीवन की तो वास्तविक माँग है, जो सबल तथा स्थायी हो जाने पर स्वतः पूरी हो जाती है और फिर साधक सदा के लिए निर्विकल्प होकर अभय हो जाता है। संकल्प-पूर्ति के सुख को पसन्द करने से नवीन संकल्प उत्पन्ना होते रहते हैं। इस कारण सजग साधक संकल्प-पूर्ति का सुख नहीं भोगते, उसे जीवन नहीं मानते। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि संकल्प संसार सेऔर माँग अपने परम आत्मीय प्रभु से सम्बन्ध जोड़ती है।

संसार से सम्बन्ध से अभाव, पराधीनता, अशान्ति और नीरसता ही उत्पन्ना होती है। और प्रभु के आत्मीय सम्बन्ध से अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास की जननी है। अतएव सभी संकल्प एक माँग में, सभी सम्बन्ध प्राणप्यारे की आत्मीयता में एवं सभी विश्वास प्रभु विश्वास में विलीन करना अनिवार्य है। इस सत्य को स्वीकार करने में प्रभु-विश्वासी साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता मानव-मात्र को अपने रचियता से मिली है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही जीवन का

सत्य है और सत्य को स्वीकार करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है।

प्रभु-विश्वासी के जीवन में किसी अन्य विश्वास के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम दोनों को पूर्ण आत्मीयता प्रदान करे, इसी सद्भावना के साथ,

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

256

करनाल
28-3-74

अहैतुकी कृपा से पालित प्राणप्यारे की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो और उन्हीं के नाते सद्भावपूर्वक मानव-समाज की मूक सेवा करती रहो, यही मेरी सद्भावना है।

व्यक्तिगत तथा सामूहिक सत्संग के द्वारा ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक शान्ति की स्थापना हो सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है। कर्तव्यपरायणता की विस्मृति से मानव-समाज अधिकार-लोलुपता में आबद्ध होकर संघर्ष में फंस गया है और हमारा देश नेता-विहीन होने के कारण मनमानी करने लगा है। विवेक का अनादर होने के कारण बल का दुरुपयोग होने लगा है यही मूल भूल है। इसका निवारण कर्तव्य-परायणता को अपनाने पर ही सम्भव है। आज हमें जीने और मरने का सदुपयोग करना नहीं आता। यदि मरना भी ठीक आ जाता, तो भी समाज में सजगता आ जाती। इस समय मूक सेवा के अतिरिक्त और कोई अचूक अस्त्र नहीं है। ऐसा मेरा अनुभव है। सुख-दुःख का सदुपयोग भूल जाने से हमारी दुर्दशा हो रही है। सुख-दुःख दोनों ही प्राकृतिक तथ्य हैं और रहेंगे ही। उनके सदुपयोग में ही मानव की स्वाधीनता है, जिसे आज हम भूल गये हैं।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को प्राप्त सुख-दुःख के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन को प्राप्त कर सन्तुष्ट हो जायँ। असन्तुष्ट होने से ही संघर्ष का जन्म होता है और ऐसी दशा में हमें सही राह नहीं सूझती। जीवनधन अपने में है-इस वास्तविकता के भूल जाने से हम परिस्थितियों में जीवन की खोज करते हैं, जो कि सम्भव नहीं है। परिस्थितियाँ साधन-सामग्री भले ही हों, साध्य नहीं है। साध्य की विस्मृति से ही साधन-सामग्री को साध्य मान बैठते हैं, जो कि वास्तव में प्रमाद है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

257

हरिद्वार
2-4-74

परम भागवत
साधननिष्ठप्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर उन्हीं के नाते सोई हुई प्रीति को जगाने के लिए विधिवत् पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो-इस सद्भावना के साथ सप्रेम यथोचित।

सभी जरूरी काम प्रभु के मंगलमय विधान से स्वतः होते रहते हैं और यदि साधक सजगतापूर्वक काम-रहित हो जाय, तो वास्तविक माँग स्वतः पूरी हो जाती है, यह जीवन का सत्य है।

प्रत्येक साधक को अपने ही द्वारा ज्ञान के प्रकाश में अपने आकर्षण को देखना चाहिए। कारण कि, आकर्षण के अनुरूप ही शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं और फिर साधक अपनी वास्तविक माँग को भूल जाता है। इतना ही नहीं, अपने आकर्षण का यथेष्ट अनुभव करने पर वास्तविक माँग की जागृति होती है और वह काम को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। पराधीनता के आकर्षण ने ही हमें 'अपने' से अपने को विमुख कर दिया है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यदि साधक पराधीनता की पीड़ा से पीड़ित होकर स्वाधीनता की माँग अनुभव करे, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने में परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है, यह सजग साधक का अनुभव है।

लक्ष्य पर दृष्टि रखकर पर-सेवा से पराधीनता की रुचि स्वाधीनता की माँग में बदल जाती है। स्वाधीनता की माँग ही स्वाधीनता की प्राप्ति का अचूक उपाय है, यह निर्विवाद सत्य हे। पराधीनता असह्य हो जाय, यही मानव का परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता मानव को अपने रचयिता से जन्मजात् प्राप्त है। मानव अपनी ही भूल से स्वाधीनता से निराश होकर पराधीनता में आबद्ध हो गया है, जो विनाश का मूल है।

वास्तविक मांग अवश्य पूरी होती है, इस सत्य में अविचल आस्था रहनी चाहिए। सर्वतोमुखी विकास स्वतः होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को स्वाधीन होने की तीव्र लालसा प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को सादर अभिवादन!

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

258

श्री वृन्दावन
24-7-74

प्रीतिस्वरूपा प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सब प्रकार से अपने परम प्रेमास्पद की होकर रहो, उन्हीं के नाते सभी को आदर दो और सभी के प्रति सद्भाव रखते हुए सर्वदा उत्तरोत्तर प्रीति की भूख बढ़ती रहे-इसी सद्भावना के साथ स्नेह अभिवादन!

माँग ही माँग की पूर्ति में समर्थ है-इस वास्तविकता को स्वीकार करने पर साधक के जीवन में उत्तरोत्तर उत्कण्ठा तथा लालसा बढ़ती ही रहती है और यही माँग की पूर्ति का अचूक उपाय है। साधक ज्यों-ज्यों साध्य की महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों उसमें स्वतः साधक की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधना जीवन हो जाती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। शरणागत साधक के जीवन में चिर-शान्ति, जीवन-मुक्ति एवं अनन्य भक्ति से शरणागत को सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय रहना चाहिए और प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए, सफलता अवश्यम्भावी है।

जीवन के सत्य को स्वीकार करने पर साधक का कुछ और प्रयास शेष नहीं रहता। जीवन का सत्य क्या है? मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होना और अचाह होकर सभी के प्रति सद्भाव रखना और इस वास्तविकता को स्वीकार करना कि सर्व-समर्थ प्रभु सभी के होने से अपने हैं, तथा सदैव होने से अभी हैं एवं सर्वत्र होने से अपने ही में हैं। अपना अपने को स्वतः प्यारा लगता ही है।

जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता की गन्ध भी नहीं रहती। सर्वांश में नीरसता का नाश होते ही काम, अर्थात् दृश्य का आकर्षण शेष नहीं रहता और फिर शरणागत साधक का प्रेम तथा प्रेमास्पद के नित्य विहार में प्रवेश हो जाता है। प्रीति और प्रीतम का परस्पर प्रेम का आदान-प्रदान स्वभाव में होता ही रहता है। वे प्रेम-निधि मिली हुई प्रीति को उत्तरोत्तर बढ़ाते ही रहते हैं। प्रीतम को प्रीति अत्यन्त प्रिय है और प्रीति ने तो प्रीतम से भिन्न के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया। प्रीति सर्वत्र प्रीतम को ही देखती है और प्रीति की दृष्टि में भी कोई और है ही नहीं। इस दृष्टि से सब ओर सर्वकाल में अपने प्यारे ही हैं। इस वास्तविकता में अविचल आस्था हो जाने पर जीवन साधन और साधन जीवन हो जाता है।

सर्व-समर्थ करुणागसार अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी प्रियता करें-इसी सद्भावना के साथ,

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

259

श्री वृन्दावन
26-7-74

सेवा परायण प्रीतिस्वरूपा प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

सर्वदा जीवन के सत्य को स्वीकार कर प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में नित्य वास करो, इसी सद्भावना के साथ सप्रेम अभिवादन!

आज मानव-समाज संघर्ष, अशान्ति, पराधीनता तथा अनेक अभावों से पीड़ित क्यों है? इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब तक मानव बल का दुरुपयोग तथा ज्ञान का अनादर एवं प्रभु-विश्वास में विकल्प करता रहेगा, तब तक उसकी वही दशा रहेगी, जिसे आज हम लोग देख रहे हैं। प्राणी और मानव में एक भेद है-वह यह कि मानव को मानव के रचयिता ने बल, विवेक तथा विश्वास का तत्व दिया है; अन्य प्राणियों में विवेक और विश्वास का तत्व नहीं है। इस कारण अन्य प्राणी सुख की दास्ता एवं दुःख के भय से पीड़ित ही रहते हैं।

यदि मानव ज्ञान का आदर करे, जो उसे नित्य प्राप्त है, तो बड़ी सुगमतापूर्वक धर्मात्मा होकर जगत् के लिए, जीवन-मुक्त होकर अपने लिए और भक्त होकर प्रभु के लिए उपयोगी हो सकता है। वही मानव अपने ही प्रमाद से बल का दुरुपयोग, विवेक का अनादर और विश्वास में विकल्प करने से सर्वश्रेष्ठ होने पर भी आज पशु, पक्षी तथा हिंसक जन्तुओं से भी निम्न कोटि में चला गया है।

ऐसी भयंकर परिस्थिति ने सजग मानव को अपने जीवन के द्वारा मानवता को विभु बनाना है, जो एकमात्र मिले हुए ज्ञान के प्रकाश का आदर करने से ही सम्भव है। बल के दुरुपयोग न करने का व्रत अनिवार्य है। तभी मानव कर्तव्य-परायण अर्थात् धर्मात्मा हो सकेगा। धर्मात्मा होने से चित्त शुद्ध हो जाता है और ज्ञान पूर्वक अकिंचन तथा अचाह होने से चित्त शान्त हो जाता है, जिसके होते ही मानव आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक गुरुवाणी, वेदवाणी तथा भक्तवाणी से सुने हुए प्रभु में आत्मीयता स्वीकार कर सोई हुई स्मृति तथा प्रियता को जगाकर प्रेम तत्व से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए अभाव, पराधीनता एवं नीरसता से रहित हो जाता है।

अर्थात् मानव धर्मात्मा होकर जगत् के लिए एवं प्रेमी होकर प्रभु के लिए उपयोगी होता है, यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करना ही मानव का स्वधर्म एवं परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता उसे अपने रचयिता से मिली है। मिली स्वाधीनता का सदुपयोग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे तुम उदार, स्वाधीन एवं प्रेम परिपूर्ण

होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाओ- इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

260

श्री वृन्दावन,
30-7-74

अहैतुकी कृपा से पालित प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

प्रेमास्पद को सभी प्रेमी प्रिय है, इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। अब रही अपनी ओर की बात। वे यह जानते हैं कि तुम उनकी हो। भक्त वाणी के आधार पर उन्हें अपना मान लो। बस, इतना ही तुम्हारा प्रयास है। सर्व मान्य सत्य है कि अपना अपने को स्वभाव से प्रिय होता ही है। प्रिय की मधुर स्मृति उत्तरोत्तर बढ़ती है। उनसे भिन्न तुम्हारा और कोई किसी भी काल में नही है। तुम्हें जो कभी भी अपना करके प्रतीत होता था, वह भी उन्हीं का है, उन्हीं का दिया हुआ है। तुम अकिंचन तथा अचाह होकर उनकी पावन प्रीति से अभिन्न हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ सादर प्रेम अभिवादन।

प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करना है। आवश्यक सामर्थ्य स्वतः मिलती है। यह मंगलमय विधान है। सामर्थ्य का सद्व्यय होते ही कर्तव्य प्रियता में स्वतः बदल जाता है। बस, यही सेवा का तत्व है। उदारता, स्वाधीनता तथा प्रियता तुम्हारा निज-स्वरूप है। तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। अतः शरीर कैसा है? इस और ध्यान जाना ही भारी भूल है। सेवा परायण होते ही शरीर की सुरक्षा का प्रश्न समर्थ सेव्य पर हो जाता है, सेवक पर नहीं रहता। सद्भाव की सेवा तो क्रियात्मक सेवा से अधिक महत्वपूर्ण तथा विभु है। इस सत्य को स्वीकार कर सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय रहो।

प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसके लिए कोई क्रियात्मक प्रयोग नहीं है। प्रेमास्पद की महिमा को अपनाना ही अचूक उपाय है। प्रिय के नाते होने वाली प्रवृत्ति पूजा है। पूजा होती रहती है और प्रियता बढ़ती रहती है। यह प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता एवं हृदय में निर्भयता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

261

श्री वृन्दावन
13-8-74

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीतिस्वरूपा प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया,

पर-पीड़ा से पीड़ित होकर प्राणि-मात्र की मूक सेवा करती रहो तथा प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करो, इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन!

मिली हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है, यह प्राकृतिक विधान है। सोई हुई मानवता जगाने के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। आज मानव-समाज अपने सत्य को स्वीकार करने में आनाकानी करने लगा है। उसी का यह परिणाम है कि जो जीवन सभी के लिए उपयोगी था, आज अनुपयोगी हो गया है। ऐसी भयंकर परिस्थिति स्थिति में सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानवमात्र को उदारता, स्वाधीनता और प्रेम प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। प्रत्येक कर्तव्य-कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करती हुई उनकी मधुर स्मृति से अभिन्न हो जाओ और फिर अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर कृतकृत्य हो जाओ। वास्तविक जीवन प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में ही है, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से ही साध्य है।

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

262

श्री वृन्दावन,

16-8-74

परम भागवत स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

अलौकिक, अविनाशी, रसरूप, चिन्मय-जीवन की माँग प्रत्येक साधक की अपनी माँग है। लौकिक सामर्थ्य के द्वारा अलौकिक जीवन की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु अलौकिक जीवन की प्राप्ति के लिए लौकिक शक्तियों के द्वारा लोक-सेवा अत्यन्त आवश्यक है। सेवा का अन्त त्याग तथा प्रेम में स्वतः हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा मन, वाणी कर्म से बुराई-रहित होकर यथाशक्ति सेवा करना अनिवार्य है। सद्भाव असीम और सहयोग यथासम्भव हो सकता है। सहयोग के अन्त में साधक सद्भाव में विलीन होकर स्वतः लोक-सेवा से अभिन्न हो जाता है और फिर सेवा, त्याग, प्रेम जीवन हो जाता है-सेवा अर्थात् उदारता और त्याग अर्थात् स्वाधीनता एवं अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम साधक के विकास की चरम सीमा है। यही साध्य की महिमा है। महामहिम की महिमा से अभिन्न होकर साधक साध्य से अभिन्न होता है। अतः लौकिक सामग्री के द्वारा अलौकिक जीवन के लिए लोक-सेवा अत्यन्त आवश्यक है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अलौकिक

जीवन की आवश्यकता को ही अपनी वास्तविक माँग स्वीकार किया है।

अलौकिक जीवन की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। ज्यों-ज्यों माँग सबल होती जायगी, त्यों-त्यों काम का स्वतः नाश होता जायगा। सर्वांश में काम का नाश होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अविषय होकर अलौकिक जीवन की प्रियता में विलीन हो जाती हैं। यह जीवन का सत्य है। और इसी अलौकिक जीवन को प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार कह सकते हैं। इस जीवन में प्रवेश पाना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रदान करें-इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

263

श्री वृन्दावन,
27-8-74

अहैतुकी कृपा से पालित प्रीति-स्वरूपा प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया!

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो!

यद्यपि तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, यह अनुभूति सत्य है, परन्तु सेवा-सामग्री का उपयोग होता रहो, तो हर्ष होता है। पर क्या किया जाय, इसमें अपना कोई वश तो है नहीं। जैसा उन्हें अच्छा लगे वैसा करे, पर हृदय की व्यथा तो यही है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रेम से भर जाय और अभिमान की गन्ध भी न रहे। अभिमान प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच एक आवरण है। उसकी निवृत्ति होने पर ही प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य विहार सतत होता रहता है। मेरे जानते यही मानव-जीवन के विकास की चरम सीमा है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर करुणामय ने अपने ही में से अपने मानव का निर्माण किया है। मानव उन्हें अत्यन्त प्रिय है। किन्तु मानव में भी उनकी अगाध प्रियता उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। यहाँ तक कि मिलन में विरह, विरह में मिलन सतत होता रहे, यह माँग प्रेमीजनों की अपनी माँग है। इस अलौकिक रस के लिए ही विवेकीजन शान्ति तथा स्वाधीनता में रमण नहीं करते। जब सब कुछ उन्हीं का है और सभी में सदैव वे स्वयं हैं, तो अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता से भिन्न साधक का अस्तित्व ही कुछ नहीं है। सजग साधक को शरीर के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त होना अनिवार्य है, जो एकमात्र अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न से ही साध्य है। सब कुछ उन्हीं का है, इस सत्य को स्वीकार करते ही साधक अकिंचन होकर अभय हो जाता है। किन्तु सत्ता रूप से वे ही हैं, इस वास्तविकता को अपनाते ही प्रियता का उदय होता है। प्रियता जिसमें उदय होती है उसकी अपने से अभिन्न कर, जिसके प्रति होती

है, उसे नित-नव रस प्रदान करती है। यही शरणागत साधकों की उत्कट लालसा रहती है। जीवन प्रिय के लिए रस-रूप हो जाय, इस माँग में समस्त कामनाएँ विलीन हो जानी चाहिए, जो एकमात्र आत्मीय सम्बन्ध से सम्भव है। केवल प्रभु की अपने हैं, यह सभी प्रभु-विश्वासियों का अनुभव है। इस अनुभव में अविचल आस्था कर सभी शरणागतों को सोई हुई आत्मीयता को जगाना चाहिए। उनसे भिन्न अपना करके कुछ नहीं है, इस सत्य को विवेकपूर्वक अनुभव करो और आप्तकाम होकर अपने में अगाध प्रियता का उदय होने दो। जिसे कुछ और चाहिए उसे प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इस सत्य को अपनाकर अचाह एवं अप्रयत्न होकर प्रेमतत्व से अभिन्न हो जाओ, इस सद्भावना के साथ,.....

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

264

श्री वृन्दावन,

12-9-74

परम भागवत प्राणेश्वर की प्यारी मुरलिया!

सर्वदा सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो, और उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव रखो। इसी सद्भावना के साथ सादर सप्रेम अभिवादन।

यह सभी शरणागत साधकों का मत है कि जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब प्यारे प्रभु का है और सभी में वे स्वयं हैं। उनका प्रेम ही एकमात्र अपना जीवन है और प्रेम तथा प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता से ही साध्य है। जिस प्रकार शरीर और संसार की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार साधक का साध्य से नित्य सम्बन्ध तथा जातीय एकता और आत्मीयता है। प्रेमास्पद की अनुपम लीला में जो अभिनय मिला है, उसे पवित्र भाव से विधिवत् करना है। साधक के जीवन में पल भर के लिए ही साध्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए, अपितु सतत स्मृति होती रहे, प्रियता बढ़ती रहे। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक अपनी बनायी हुई भूल का अन्त कर देगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत सत्संग अनिवार्य है। सत्संग-योजना ही एकमात्र व्यक्तिगत तथा सामूहिक समस्याओं का हल है। कारण कि, भूल-रहित होने से ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है। सृष्टि किसी व्यक्ति की बनाई हुई नहीं है। सृष्टिकर्ता ने अपने ही में से सृष्टि का निर्माण किया है। अथवा यों कहो कि अपनी विभूतियों से सृष्टि बनायी है और अपने में से ही साधक का निर्माण किया है। जब साधक इस वास्तविकता आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार कर लेता है, तब उसे

यह चेतना मिलती है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रेम से भर जाय और अहं अभिमान-शून्य हो जाय। इस वास्तविक माँग का अनुभव करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है। माँग ही माँग की पूर्ति में समर्थ है, यह अनन्त का अनुपम विधान है। कारण कि वास्तविक माँग की जागृति होने पर काम अर्थात् दृश्य का आकर्षण शेष नहीं रहता और फिर स्वतः माँग पूरी हो जाती है, यह जीवन का सत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

ॐ आनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

.....

265

श्री वृन्दावन
4-10-74

भगवत् कृपाश्रिता भक्तिमती!

सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो। उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव रखो, तो फिर उन्हीं में नित्य वास रहेगा। यह जीवन का सत्य है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अकिंचन और अचाह होने की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे तुम आत्मीयता से जागृत प्रियता को पाकर कृतकृत्य हो जाओ-यही मेरी सद्भावना है।

मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होना विश्व-सेवा, प्रभु के नाते पवित्र भाव से सभी के प्रति सद्भाव और यथा शक्ति सत्कार्य करना समाज-सेवा, अकिंचन होकर अचाह होना अपनी सेवा और आत्मीयता से जागृत सोई हुई प्रीति जगाना प्रभु-सेवा है। प्रभु-सेवा में सभी सेवाएँ स्वतः विलीन हो जाती हैं। यह जीवन का सत्य है। प्रभु-प्रेमियों के द्वारा स्वतः सभी का सर्वतोमुखी विकास होता है। विश्व-सेवा से साधक अपनी सेवा का अधिकारी हो जाता है और अपनी सेवा होने पर प्रभु-सेवा की सामर्थ्य आती है। सेवा त्याग तथा प्रेम की जननी है। सेवा के लिए बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करना अनिवार्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें सेवा द्वारा त्याग तथा प्रेम प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

अकिंचन

.....

266

इलाहाबाद

.....

प्रिय अभिन्न हृदय,

जो प्राणी स्वयं हार स्वीकार नहीं करता वह कभी न कभी विजय अवश्य पाता है। अतः दुर्बलताओं के होते हुए भी उनके न मिटने का दुःख तथा अच्छाई का चिन्तन लगातार करते रहना चाहिए। यह अखण्ड नियम है कि चिन्तन के अनुसार कर्ता का स्वरूप बन जाता है। क्योंकि सभी प्राणी कल्पतरु के नीचे निवास करते हैं। प्रेम-पात्र का संग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है जो किसी भी प्रेमी को शोभा नहीं देता।

चिन्तन ध्यान आदि तथा संग में बड़ा भेद है। ध्यान आदि से माना हुआ अहंभाव दब जाता है और संग से मिट जाता है क्योंकि चिन्तन-ध्यान आदि से कुछ न कुछ दूरी अवश्य रहती है और संग से किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता। चिन्तन, ध्यान आदि अनेक बार करना पड़ता है और संग सिर्फ एक बार करना पड़ता है, अर्थात् फिर करने का अन्त हो जाता है। जब प्राणी जीवन को सन्तोषजनक पाता है (सज्जनता का अभिमान) तब चिन्तन, ध्यान आदि करता है और जीवन से अरुचि होने पर संग करता है। जीवन का स्वरूप क्या है, यह भली प्रकार यर्थाथ जान लेने पर जीवन से अरुचि अपने आप हो जाती है। गुणयुक्त जीवन से सुख, तथा दोषयुक्त जीवन से दुःख, जीवन के अभिमानी को होता है यह सभी जानते तथा मानते हैं, परन्तु इतने से ही जीवन के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। सुखी जीवन से भी दूसरों को दुःख होता है, परन्तु विचार दृष्टि से देखिये कि दुःख का जन्म कब होता है। जब प्राणी अपने से किसी विशेष व्यक्ति को सुखी देखता है, तब उसके हृदय में दुःख का जन्म होता है। क्योंकि निर्धनों को यदि कोई धनी दिखाई न दे तो निर्धनता का दुःख कुछ नहीं होता। अतः सुखी जीवन ने दुःख को जन्म दिया। सुखी जीवन न तो दूसरों को सुखी बना सकता है और न दूसरे की उन्नति ही कर सकता है और न अपनी ही उन्नति कर सकता है। पूर्ण दुःखी, अधूरा दुखी नहीं, अपनी उन्नति तथा दूसरों को सुख प्रदान करने में सर्वदा समर्थ है। क्योंकि दुःखियों के बिना सुखियों की सत्ता कुछ नहीं रहती। इस दृष्टि से प्यारा दुःखी पूजन करने के योग्य है। दुःखियों का पूजन करने पर जीवन की दोष-रहित अवस्था में भी दुःख का अनुभव हो जाता है; तो उन्नति का मूल है। पूर्ण दुःख होने पर दोषयुक्त जीवन का अन्त हो जाता है। अधूरा दुःख होने पर सुख की आशा के कारण दोषयुक्त जीवन जीवित रहता है। दोषयुक्त प्राणी अपने को दुःखी करता है तथा दूसरे को भी दुःखी करता है और गुणयुक्त प्राणी अपने को तथा दूसरे को सुखी करता है। इस दृष्टि से गुणयुक्त प्राणी दोषयुक्त प्राणी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। विचार दृष्टि से देखो, सुखी जीवन से दूसरों को दुःख, दुःखी जीवन से दूसरों को दुःख, मृत्यु से भी दूसरों को दुःख, (मृत्यु भी जीवन की एक विशेष अवस्था है क्योंकि मृत्यु से भी शरीर का

संग नहीं छूटता) इस दृष्टि से जीवन का स्वरूप क्या है? केवल दुःख।

इस प्रकार जीवन का स्वरूप जान लेने पर जीवन से अरुचि अवश्य हो जाती है। अरुचि होने पर शरीर तथा संसार से असंगता होती है जो उन्नति का मूल है। क्योंकि किसी की असंगता से ही किसी का संग हो जाता है। अतः प्रेमपात्र का संग करो। प्रेमपात्र वही है जो सर्वोत्कृष्ट है अर्थात् जिसके समान दूसरा कोई नहीं है। वह सभी प्राणियों का एक है; अनेक नहीं। उनका संग करने के लिए, अभिलाषा होने पर, सभी प्राणी समर्थ है। क्योंकि वह किसी का तिरस्कार नहीं करता। उनके सिवा दुःखी को अपनाने के लिए सभी असमर्थ हैं। अथवा यों कहो कि उनसे जो भिन्न हैं, वे सभी दुःखी हैं। दुःखी, दुःखी को कैसे अपनायेंगे अर्थात् नहीं अपना सकते। प्रेमपात्र का संग न करना ही दुःख का मूल है जो दुःखी की भूल से स्वयं हुआ है। दुःखी का दुःख उसी समय तक जीवित है जब तक अभागा दुःखी सुख की आशा में सुखियों की ओर देखता है। सुख तथा सुखियों से असंग होते ही दुःख का सदा के लिए अन्त हो जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

आपका अभदेस्वरूप

.....

267

इलाहाबाद

.....

प्रिय अभिन्न हृदय,

प्रेम पत्र मिला। आपने जो इलाज के विषय में लिखा है वह तो भगवान् की कृपा से श्री सद्गुरु वैद्य ने पहले ही कर दियाथा। देहभाव के त्याग के रूप में परम औषध देकर, जीवन को निराशा रूपी आरोग्य प्रदान किया, जिससे मृत्यु का भय भाग गया। प्रिय मित्र! जो मन निजानन्द के लिए मिला है उस मन में मल-मूल-पूर्ण शरीर-जो स्वभाव से ही मलिन है- उसके रखने की वासना बसाकर इलाज कराने का क्या प्रयत्न किया जाए? ऐसा करना विचार दृष्टि से तो उचित नहीं प्रतीत होता। दूसरी दृष्टि से देखिये—जिसका आरम्भ होता है उसका अन्त अवश्य होता है। जब आरोग्य नहीं रहा, तो रोग भी नहीं रह सकता। जब तक जीवन है तब तक जीवन स्वयं रक्षा करता है-ऐसा मेरा विश्वास है। इसलिए कोई चिन्ता की बात नहीं। जीवन का गुलाम बन कर जीना उचित नहीं। जीवन का सदुपयोग करना उचित है। जीवन की आशा तब तक रहती है जब तक अपने में पूर्णता का अनुभव नहीं होता। पूर्णता का अनुभव वासनाओं के त्याग से तथा आत्मभाव से होता है, शरीर के रखने से नहीं बल्कि जीवित शरीर को भी मृतक के समान समझना होगा जो विचार से ही सम्भव होगा।

आपका सेवक

.....

268

इलाहाबाद

.....

प्रिय आत्म स्वरूप,

अपने से भिन्न किसी भी वस्तु को सुख का साधन समझना परम भूल है क्योंकि इसी भूल के होने पर किसी न किसी प्रकार की वासना तथा मलिन अहंकार अर्थात्-मैं शरीर हूँ-इस भाव की उत्पत्ति होती है जो सर्व दुःखों का मूल है।

शरीर और संसार दोनों बीज और वृक्ष के समान हैं। शरीर-भाव-रूपी बीज के होने पर संसार-रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है और संसार रूपी वृक्ष में अनन्त शरीर-भाव-रूपी बीज दिखाई देते हैं ये दोनों स्वरूप से अभेद और प्रतीति मात्र भेद वाले मालूम होते हैं। वास्तव में दोनों एक हैं; ऐसा मेरा अनुभव है। देखिए, जो वस्तु उत्पन्न होती है वही नाश होती है। जो नाश होती है तो वह वस्तु अपनी निजी सत्ता कुछ नहीं रखती। उत्पन्न होने के कारण का अन्त होने पर, उस वस्तु का, जो उत्पन्न हुई है, सदा के लिए अन्त हो जाता है। ऐसा विचार-दृष्टि से देखने में आता है। संसार रूपी वृक्ष शरीर-भाव-रूपी बीज से प्रतीति मात्र उत्पन्न होता है-स्वरूप से नहीं। जो वस्तु स्वरूप से होती है उसका किसी काल में अन्त नहीं होता। परन्तु संसार का अन्त देखने में आता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि संसार स्वरूप से कोई वस्तु नहीं। केवल प्रतीति मात्र है। जिस प्रकार दर्पण में मुख न होते हुए भी उसमें प्रतीत होता है। शरीर-भाव-रूपी बीज तथा संसार रूपी वृक्ष उससे ही उत्पन्न हुआ है जो तत्ववेत्ताओं का निज स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है। इसमें कुछ सन्देह नहीं है। अतएव सारा विश्व आपका निज स्वरूप ही सिद्ध हुआ। इसलिए विश्व में अपने को और अपने में विश्व को अनुभव करो। ऐसा करने पर जीवन में किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती और बिना अनुभव किये पूर्णता कदापि नहीं हो सकती, ऐसा मेरा विश्वास है। ऐसा अनुभव करने के लिए अपने में स्थायी भाव से सर्व शक्तिमान, अखण्ड सत्चित आनन्दघन, शुद्ध-बोध स्वरूप भगवान की स्थापना करो। अर्थात् वह मैं हूँ ऐसा करने पर विश्व से एकता स्वयं अनुभव होगी और हृदय विश्व-प्रेम से स्वाभाविक रूप से भर जायगा। मन सदा निजानन्द की लहरों से लहरायेगा। सब ओर अपना आप ही नजर आयेगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका सेवक

.....

269

इलाहाबाद

.....

प्रिय देवी जी,

प्रसन्न चित्त रहने का स्वभाव बनाओ, जो दूसरों को प्रसन्न रखने से होगा। दूसरों की प्रसन्नता सेवा-भाव से होगी। अपने से बड़ों का सम्मान पूर्वक आज्ञा पालन, और बराबर वालों से प्रेम पूर्वक मेल मिलाप, और अपने से छोटों पर दया के भाव रखना ही, सच्चा सेवा भाव है। दुःख का चिन्तन कभी मत करो। ऐसा करना परम भूल है। दुःख का चिन्तन दूसरों को दुःख देने से होता है। देखिए, कोई भी मनुष्य जब तक अपने को दुःखी नहीं बनाता। तब तक दूसरे को दुःखी नहीं कर सकता। यानी दूसरों के प्रति दुःख के भाव पैदा होने पर अपने को दुःख होता है-ऐसा मेरा अनुभव है। जिस प्रकार क्रोध आने पर पहले अपने को दुःख होता है, फिर उसको होता है जिस पर क्रोध किया जाता है। इसलिए प्रिय बहिन, अपने दुःख से बचने के लिए दूसरों को दुःख देने के भाव कभी मन में लेशमात्र भी उत्पन्न मत होने दो, क्योंकि यह अमूल्य जीवन आनन्द के लिए मिला है। अतएव आनन्दघन भगवान का चिन्तन करते हुए जीवन-लीला समाप्त करनी चाहिये। ऐसा करने के लिए स्वार्थ-त्याग, विश्व-प्रेम तथा आत्मविश्वास चाहिये। ऐसा करने के लिए स्वार्थ-त्याग, विश्व-प्रेम तथा आत्मविश्वास का अवलम्बन करना होगा। यह पत्र आपको बार-बार पढ़ना चाहिये।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका सेवक

.....

270

अजमेर

.....

स्वधर्म प्रिय जनो!

प्रत्येक प्राणी का चित्त सुख तथा दुःख में आबद्ध है। इन दोनों बन्धनों से मुक्त होने पर ही मान जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है।

सुख का बन्धन सेवा से तथा दुःख का बन्धन त्याग द्वारा ही मिट सकता है जिससे प्राणी के जीवन में सच्ची वास्तविकता आ जाती है तथा वह आनन्द का अधिकारी बन जाता है। .....

निवेदक

दुःखियों का पुजारी

271

गंगा पट्टी (इलाहाबाद)

6-1-36

प्रिय आत्मस्वरूप,

साधारण मनुष्य और विचारशील मनुष्य में यही अन्तर है कि विचारशील मनुष्य तो जिस प्रकार जानते हैं, उसको उसी प्रकार का मानते हैं और साधारण मनुष्य तो कुछ दिन बाद उस वस्तु के ज्ञान के विपरीत क्रिया करने लगते हैं। देखो भाई मनुष्य के अनुभव से सिद्ध है कि यह क्षणभंगुर शरीर अधिक विश्वास के योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसी

घटनाएं प्रतिदिन देखने और सुनने में आती हैं कि थोड़े ही समय में कुछ का कुछ हो जाता है। इतना ही नहीं हर श्वाँस काल के गाल में जा रहा है, किन्तु अज्ञान के कारण हमारी दृष्टि उस पर नहीं रहती। विचारशील मनुष्य की दृष्टि में तो यह सारा संसार कालरूपी अग्नि में हर समय जला हुआ नजर आता है और इससे बचने के लिए, अर्थात मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए वह निरन्तर प्रयत्न करता है और जो वस्तु विश्वास करने के योग्य नहीं, उस पर विश्वास नहीं करता एवं जो विश्वास के योग्य है उस पर विश्वास करता है, उससे ही प्रेम करता है और जिससे प्रेम करता है, उसका ही चिन्तन करता है, वही उसका स्वरूप बन जाता है।

सच्चिदानन्दघन आत्मा पर पूरा विश्वास तथा उससे ही अनन्य प्रेम और उसमें ही सन्तुष्ट हो नित्य आनन्द प्राप्त करना चाहिए। विश्वास और प्रेम प्रत्येक मनुष्य में स्वाभाविक हैं, क्योंकि हर मनुष्य किसी न किसी पर विश्वास तथा प्रेम अवश्य करता है; यह प्रत्येक मनुष्य के अनुभव से सिद्ध है। एक छोटा सा बालक भी, जब कि वह अबोध अवस्था में होता है, अपनी माता पर विश्वास तथा उससे प्रेम करता है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जो किसी न किसी पर विश्वास न करता हो, परन्तु अज्ञान के कारण अनित्य वस्तुओं पर विश्वास करने वाला कभी नित्यानन्द नहीं प्राप्त कर सकता।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

तुम्हारा

.....

272

अलमोड़ा,
16-6-36

प्रिय आत्मस्वरूप

विचारपूर्वक ज्ञान की दृष्टि से एक में अनेक और अनेक में एक अर्थात् आत्मा में जगत् तथा जगत् में आत्मा को देखना ही परम तप है। क्योंकि जिस प्रकार जल से लहर उत्पन्न होकर जल में स्थित होकर और अन्त में जल ही में लय हो जाती है, इसी प्रकार वह अनन्त सृष्टि, जो मन तथा इन्द्रियों से जानी जाती है, शुद्ध सच्चिदानन्दघन बोध-स्वरूप आत्मा से उत्पन्न होती है। वास्तव में ब्रह्म तथा जगत् में काल्पनिक भेद है; तत्व की दृष्टि से आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं। इस प्रकार का स्थायी भाव दृढ़ होने से सर्व वासनाओं का त्याग स्वाभाविक हो जाता है, परन्तु इसके लिए देहाभिमान को गलाना होगा और इन्द्रियजन्य विषयों का विषवत् त्याग करना होगा।

प्रिय आत्मस्वरूप, इस शरीर को भगवान् कहीं रक्खें, परन्तु आपका अहंभाव स्थायी रूप से शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा में हो, अर्थात् जल-प्रवाह के समान निरन्तर चलते-चलते-फिरते, उठते-बैठते यह चिन्तन हो कि मैं शरीर, मन,

बुद्धि आदि सबसे परे शुद्धबोध-स्वरूप आत्मा हूँ, जो कि ज्ञानयोगियों का निजस्वरूप तथा भक्तों का भगवान है, जिसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। यही जीवन का मुख्य लक्ष्य है। जब तक मन की यह दशा न हो जाए कि आत्मा के सिवा कोई भी बाहरी वस्तु आपको आनन्द का हेतु न प्रतीत हो, उस समय तक चैन से समय काटना विचारशील मनुष्य का काम नहीं है, क्योंकि मन का अपने अधीन होना ही - मनुष्यता और मन के अधीन होना ही- पशु-स्वभाव, कहलाता है। ऐसा विचारशील महात्माओं का कथन है।

तुम्हारा

.....

273

अलमोड़ा
17-6-36

प्रिय आत्मस्वरूप,

जो बुराई अच्छाई के स्वरूप में मालूम होती है, उसका निकलना बड़ा कठिन हो जाता है। जिस प्रकार ईश्वर को मानना अच्छाई है, परन्तु उस तत्त्व का बिना अनुभव किये केवल मान कर ही सन्तोष कर लेना महान भूल है। क्योंकि जो नहीं मानते और नहीं जानते, वे लोग कम से कम अपने आपको धोखा तो नहीं देते। यद्यपि ईश्वर को न मानने वाले बड़ी गलती पर हैं, परन्तु वे कभी न कभी ईश्वर को अवश्य मान लेंगे, क्योंकि मेरे जानते उन्होंने सच्चाई को प्यार किया है, और जो लोग मानते हैं पर जानते नहीं, उन्होंने सच्चाई को प्यार नहीं किया, क्योंकि जैसा ज्ञान हो उसके अनुकूल ही क्रिया करना और उसको ही मानना सच्चाई है। ईश्वर है यही समझकर सन्तोष मत करो, बल्कि उसका अनुभव करने के लिए अखंड प्रयत्न करो। प्रभु हर देश, हर काल में हैं, परन्तु न जानने की दूरी है। जिस प्रकार कोई वस्तु अपने पास हो और उसको भूल जाने से वह अपने दूर मालूम होती हो, इसी प्रकार वह प्रभु सर्वदा अत्यन्त समीप हैं, केवल अज्ञान की दूरी है।

अब विचार-दृष्टि से देखिये कि जिसका किसी काल में भी आपसे वियोग नहीं होता, वह क्या है? उसका अनुभव करने के लिए प्रथम यह अनुभव करो कि जो वस्तु हर काल में नहीं रहती, वह क्या है? तो मालूम होगा कि शरीर आदि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो हर काल में एकरस रहे। तो फिर हमको उसका अनुभव करने के लिए कि जो सर्वदा अखण्ड एकरस है, अपने को शरीर आदि प्रत्येक वस्तु से ऊपर उठाना होगा। ऐसा करने से उसका अनुभव अवश्य हो जायगा। परन्तु यह वही कर सकता है, जो अपने आप को धोखा नहीं देता और सच्चाई को प्यार करता है। देखिए, कोई भी शरीर ऐसा नहीं हो सकता जो सर्वदा समीप रहे, तो फिर किसी भी शरीर का स्मरण करना भूल के सिवा और क्या हो

सकता है? ऐसा करना ही असत् को प्यार तथा अपने आपको धोखा देना है। यह बुराई है, जो देखने में तो अच्छाई मालूम होती है, लेकिन सत्य के अनुभव में रुकावट डालने वाली महान बाधा है। देखिए मन में किसी प्रकार का भी चिन्तन होने पर बुद्धि स्थिर नहीं होती और जब बुद्धि स्थिर नहीं होती, तो आत्मानुभव किसी प्रकार हो सकता है? इसलिए जहाँ तक हो सके बुद्धि को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मा पर पूरा विश्वास करो। शारीरिक आवश्यकताएँ ईश्वर की मरजी पर छोड़ दो। शरीर आदि किसी भी वस्तु की आशा मत करो, क्योंकि निराशा ही परम सुख है। आगे और पीछे का चिन्तन मत करो, बल्कि वर्तमान में नित्य आनन्द अनुभव करने का प्रयत्न करो। जीवन तथा मृत्यु में भेद मत समझो, वर्तमान समय को सबसे उत्तम समझो, क्योंकि वर्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत और आने वाला भविष्य अपने-आप सँभल जाता है। हर अवस्था में प्रसन्नचित्त रहने का स्वभाव बनाओ। हर्षपूर्वक कठिनाई सहन करो। रागद्वेष तथा मोह का अन्त कर दो। आत्मानुराग से हृदय भर लो।

ॐआनन्द, आनन्द, आनन्द!

तुम्हारा

.....

274

फैजाबाद
19-7-36

प्रिय आत्मस्वरूप,

बाहरी सहायता से पूर्ण होने वाली कामनाओं का इरादा न रखने पर, जीवन-यात्रा सुलभ तथा शान्त अवश्य हो जाती है-इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वास्तव में यही उत्तम जीवन है। परन्तु किसी प्रकार की मजबूरी तथा संकोचवश कामनाओं को प्रकट न करना अर्थात् दबा देना कोई विशेष मूल्य नहीं रखता।

किसी भी प्रकार की कामना न रखने वाला राजाओं का राजा; जो शक्ति प्राप्त है उससे कुछ कम कामना रखने वाला धनी; शक्ति के समान कामना रखने वाला-मजदूर; शक्ति से अधिक कामना रखने वाला-कंगाल है।

तुम्हारा

.....

275

11-8-1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

क्या आप वास्तव में निर्जन स्थान में वास करना चाहते हैं? उसका रास्ता तो तंग और कठिन है। वहाँ बिना सामान के अकेले जाना होता है। लेकिन आपने उनका साथ कर रखा है कि जिनके साथ बहुत सा सामान और जन-समुदाय है। अनेक सज्जन, मित्र, बहन, भाई, माता और भोले-भाले सुन्दर बच्चे

हैं। बँगला, जिसमें कोच आदि अनेक सामान, इतना ही नहीं बल्कि मल-मूत्र-पूर्ण विकारयुक्त-शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदि अनेक साथी हैं और अनेक साथियों के सम्बन्धी हैं। तो भला इनका साथ करके वहाँ कैसे जा सकते हो? इसलिए प्रिय मित्र, निर्जन स्थान में जाने के लिए सबका त्याग अवश्य करना होगा। परन्तु जब तक आप विचाररूपी तलवार से उनको समाप्त नहीं कर देंगे तब तक आपका साथ कब छोड़ने वाले हैं।

सबसे असंग होने पर ज्ञानरूपी प्रकाश होगा। जिससे अज्ञान रूपी अन्धकार समाप्त हो जाएगा। जिसके समाप्त होने से विषय रूपी सर्प और काम, क्रोध आदि डाकू, राग-द्वेष रूपी खूँखार जानवर, वासना रूपी जहरीले बिच्छू मार्ग में सता नहीं सकेंगे। और तृष्णा रूपी खाई तथा आशा रूपी अनेक गड्ढ़ों से भी बच जाआगे। आगे चलकर समतारूपी मनोहर वन मिलेगा। जहाँ पर पहुँचते ही सफर की थकावट दूर हो जाएगी, फिर वहाँ से चलकर मुदिता यानी अखण्ड प्रसन्नता रूपी सुन्दर सरोवर मिलेगा जिसमें स्नान करते ही सब, दुःख दूर हो जाएँगे। कुछ और आगे चलकर निर्जन स्थान है जिसकी सुन्दरता कही नहीं जा सकती, क्योंकि वह मन-बुद्धि का विषय नहीं है। वहाँ जाकर सदा के लिए आना-जाना बन्द हो जाता है और परमानन्द प्राप्त होता है। परन्तु विचाररूपी तलवार प्राप्त करने के लिए सेवा-भावरूपी थाली में आँसूरूपी मोती रख कर भगवान की भेंट करो। परम कृपालु भगवान् अवश्य दया करेंगे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

276

काशी

....,

प्रिय

जब तक आत्मानुभव न हो तब तक चैन से मत रहो। उसके लिए अपना सब कुछ बलिदान कर डालो। परन्तु यह ज्ञानरूपी अग्नि से होगा क्योंकि संसार का मूल कारण अज्ञान है और ज्ञान ध्यान से, ध्यान आत्मचिन्तन से, आत्मचिन्तन त्याग से, त्याग तप से। विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए हर्षपूर्वक कठिनाईयों को सहन करना तप है और तप आत्मा पर पूरा विश्वास करने से होता है। यह अच्छी तरह समझ लो कि पूरा विश्वास एक पर हो सकता है-अनेक पर नहीं। यदि उसके बिना चैन है तो समझना चाहिये कि अभी इस अभागे मन में प्रेम पैदा नहीं हुआ, क्योंकि यह अखण्ड नियम है कि प्रेमी को प्रेम-पात्र के बिना कल नहीं पड़ती। जब तक जीवित शरीर मृतक के समान न

मालूम हो तब तक प्रेम पैदा नहीं हो सकता-ऐसा मेरा विश्वास है। यह ध्यान रहे कि साधन में शिथिलता न आने पावे, बल्कि दिन-पर-दिन उत्साह बढ़ाते रहना चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

277

पलिया कलाँ
28-8-1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

यह नियम है कि कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान के बिना नहीं रह सकती यानी जिसमें कल्पना की जाती है उसके बिना और अधिष्ठान कल्पित वस्तु के बिना रह सकता है। क्योंकि वास्तव में कल्पित वस्तु की कोई निजी सत्ता नहीं होती, बल्कि अधिष्ठान की सत्यता से ही सत्य-सी मालूम होती है। जिस प्रकार लहर जल के बिना नहीं रह सकती, किन्तु जल बिना लहर के रह सकता। क्योंकि लहर की जल के बिना कोई निजी सत्ता नहीं बल्कि सर्वदा जल के सिवाय कुछ और है ही नहीं, सिर्फ नाम और रूप की कल्पना कर ली है और वह वायु का दोष आने से प्रतीत होती है क्योंकि जल के स्थिर होने से लहर के नाम-रूप का पता नहीं चलता इसी प्रकार ब्रह्म जगत् के बिना रह सकता; क्योंकि जगत् और ब्रह्म में केवल काल्पनिक भेद है-स्वरूप से नहीं। इसलिए ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है।

विचार-दृष्टि से देखिए कि जब हम शरीर को अपना आप समझते हैं तब शरीर सत् और चेतन तथा सुखरूप मालूम होता है, जिसके होने से वासनारूपी वायु चलने लगती है, जिससे अनन्त संसार प्रतीत होता है क्योंकि आत्मानुभव होने पर जब मल-मूत्र-पूर्ण शरीर में अहंभाव नहीं रहता तब वासनारूपी वायु शान्त होती है जिसके होने से यह संसार, वह ब्रह्म और मैं, ये तीनों एक हो, केवल अखण्ड सत्-चित्-आनन्द शुद्धबोधस्वरूप परम तत्त्व शेष रहता है। इसलिए जब तक आत्मानुभव न हो तब तक चैन से न रहो। इसके लिए हर समय जल-प्रवाह के समान विचारपूर्वक आत्म-चिन्तन करते रहना चाहिए। यही सब रोगों की औषधि है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

278

इलाहाबाद,
2-10-1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

सत्य की खोज के लिए शरीर इत्यादि प्रत्येक असत्य वस्तुओं से अपने को ऊपर उठाना होगा। जब तक लेशमात्र भी संसार सुखरूप, सत्यरूप और सुन्दर-मालूम होता है। तब तक समझना चाहिए कि अभी इस अभागे मन में सत्य की तलाश नहीं हुई। इसलिए प्रिय मित्र, विचारपूर्वक शान्त-चित्त से इस संसार को भली भाँति समझ लो। परन्तु यह अच्छी तरह से ध्यान रखो कि जिसको जैसा समझो उसके साथ उस प्रकार का ही व्यवहार करो-अर्थात् अपने ज्ञान के विपरीत कोई भी क्रिया मत करो। विचार-दृष्टि से देखिये कि ऐसी अनेक घटनाएँ देखने तथा सुनने में आती हैं कि थोड़े ही समय में कुछ का कुछ हो जाता है। परन्तु साधारण मनुष्य की उस पर दृष्टि नहीं जाती। इससे वह बार-बार संसार-सागर में गोते लगाता है। परन्तु विचारशील मनुष्य अखण्ड प्रयत्न कर इससे पार हो जाता है।

आगे और पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो। बल्कि वर्तमान समय का सदुपयोग करने के लिए हर समय ध्यान रखो, क्योंकि ऐसा करने से भविष्य तो सँभल ही जाता है और बिगड़े हुए भूत का भी प्रभाव जाता रहता है।..... विचारशील प्राप्त वस्तु में राग नहीं रखते और अप्राप्त की इच्छा नहीं करते। इसलिए हर समय परमानन्द में सन्तुष्ट हो परम शान्ति तथा नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका सेवक,

.....

279

इलाहाबाद

2-10-1936

प्रिय देवी जी,

माता का स्वभाव पृथ्वी के समान सहनशील होना चाहिए क्योंकि वास्तव में माता किसी शक्ल का नाम नहीं है, जिस प्रकार मुंसिफ किसी शक्ल का नाम नहीं है, बल्कि मुंसिफी करने वाला मुंसिफ कहलाता है। भगवान् ने आपको माता का पद दिया है, इसलिए उसको नियमपूर्वक पूरा करने का प्रयत्न करो। परन्तु यह ध्यान रखे कि पार्ट करने वाला ऐक्टर (actor) अपने को पार्ट से सर्वदा अलग समझता है। इसलिए अपने को स्त्री कभी मत समझो। समीप रहने वाले जन-समुदाय के सुख का सदा ध्यान रखो। हर समय प्रसन्न चित्त रहने का स्वभाव बनाओ। विचारशील मनुष्य अपने मन को साफ करते हैं, और अपनी ही भूल पर दृष्टि रखते हैं।..... बच्चों को योग्य बनाने के लिए सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका सेवक

.....

280

फतेहगढ़
23-10-1936,

प्रिय आत्म स्वरूप,

विचार-दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि यह स्थूल, यानी जो किसी नाम तथा रूप में देखने में आता है, वास्तव में संसार अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि महाभूतों से अभेद अर्थात् एक है। परन्तु इसका अनुभव इस स्थूल शरीर से ऊपर उठने पर होता है। फिर उसे सारा संसार अपना स्थूल शरीर मालूम होता है। स्थूल शरीर के बढ़ जाने पर सूक्ष्म शरीर का दायरा भी बढ़ जाता है। जो पहले किसी जाति, परिवार तथा इष्ट मित्रों में था—अर्थात् थोड़े से समुदाय से ही मन को जो लगाव था-वह फिर विश्वप्रेम में बदल जाता है, अर्थात् सब के साथ समान प्रेम तथा सम्बन्ध हो जाता है। जिस प्रकार पहले एक शरीर से अहंभाव होने पर सूक्ष्म शरीर भी छोटा था और कारण शरीर भी छोटा-सा मालूम होता था, यानी यह समझता था कि मैं एक छोटी चीज हूँ, कि जिसका सम्बन्ध एक शरीर तथा कुछ थोड़े सम्बन्धियों से हैं, यानी एक अपनी छोटी सी दुनियाँ मालूम होती थी अब जिस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म शरीर का दायरा, यानी स्वरूप बढ़ गया, इसी प्रकार कारण शरीर का भी दायरा जो पहले छोटा सा था, वह महान् हो जाता है, और फिर वह अपने को सारे विश्व में देखता है। यह अवस्था होने पर वासनाओं का नाश हो जाता है। और स्थायी भाव होने पर अपने को सबसे अलग और सबमें देखता है और यह मालूम होता है कि यह सारा जगत् जिससे उत्पन्न होकर स्थित रहता है, अन्त में जिसमें लय हो जाता है-देखने वाला अपने को उस परम तत्व से भिन्न, यानी अलग नहीं पाता। अपने को उससे अभेद देखता है।

प्रिय मित्र, पहले स्थूल से अपने को ऊपर उठाइयेगा। स्थूल शरीर से ऊपर उठाने पर किसी प्रकार की चाह वासना की उत्पत्ति नहीं होती। और वासनाओं का त्याग होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है। विचार-दृष्टि से देखिए कि वास्तव में जब हम असत्य-शरीर सेअपने को एक कर देते हैं तब अनेक असत्य वस्तुओं की चाह यानी वासना उत्पन्न होती है। असत्य की चाह मिटने पर सत्य का अनुभव स्वयं हो जाता है। क्योंकि सत्य तो हर समय हर स्थान में सर्वदा परिपूर्ण है। उसके लिए किसी असत्य, यानी जो सदा नहीं रहती, उस वस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं है। बल्कि एक मात्र असत्य से अपने को ऊपर उठाना है।

देखो भाई, यदि यह सारा संसार, जो कि मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि से जाना जाता है, वास्तव में सत्य होता तो यह आपकी सत्ता के बिना अपने को प्रकाशित यानी जाहिर करता? परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। क्योंकि जिन मन,

बुद्धि आदि से यह संसार मालूम होता है यदि आप अपने को उन सबसे ऊपर उठा लेवें तो फिर वह आपकी सत्ता के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, यानी अपने को भी जाहिर नहीं कर सकते। जिस प्रकार आँख ने यह कभी नहीं कहा कि मैं आँख हूँ तथा न कभी मन, प्राण आदि किसी ने भी कहा कि मैं हूँ। यह सब आपकी सत्ता से सत्ता वाले हैं। क्योंकि जो इन सबसे परे है उसका स्वरूप सत्य है क्योंकि वह सदा रहता है और चैतन्य है क्योंकि वह अपने को स्वयं प्रकाशित करता है।

जो अपने को स्वयं प्रकाशित करे वही चैतन्य है और इन सबसे अधिक प्यारा है। इसलिए मालूम होता है कि आनन्द का केन्द्र भी वहीं है। क्योंकि जिससे आनन्द नहीं मिलता, वह प्यारा नहीं मालूम होता। अब विचार-दृष्टि से देखिए कि संसार के सारे पदार्थ शरीर के लिए प्यारे होते हैं। क्योंकि शरीर की रक्षा के लिए बाहरी सभी वस्तुओं का त्याग सभी कर देते हैं। पर शरीर से अधिक इन्द्रियाँ प्यारी होती हैं, क्योंकि जब कोई आपत्ति शरीर पर आती है तो इन्द्रियों की रक्षा करता है और जब प्राणों पर आती है तो इन्द्रियों को भेंद कर देता है। परन्तु जब स्वयं दुःखी होता है तो प्राणों का भी त्याग कर देता है। इससे मालूम होता है कि जो इन सबसे परे हैं उसको सबसे अधिक प्यार करता है, क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सबका त्याग तो हो सकता है परन्तु जो इन सबसे पर हैं उसका त्याग कभी किसी काल में भी नहीं कर सकता, क्योंकि वह सत्य है और चैतन्य है और आनन्दघन है।

प्रिय मित्र! अपने को सच्चिदानन्दघन को समर्पण कर डालो, यही परम पुरुषार्थ है। अर्थात् 'यह' संसार और 'वह' परमात्मा और 'मैं', इन तीनों को एक समझो, क्योंकि जो जिसमें उत्पन्न होकर जिसमें स्थित रहता है और अन्त में उसमें ही लय हो जाता है-वह वास्तव में वही होता है। इसमें कुछ भी संन्देह नहीं।

आनन्द, आनन्द, आनन्द।

आपका

अभेदस्वरूप

.....

281

फतेहगढ़

10-1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

सायंकाल को सब काम समाप्त होने पर सोने से पहले शान्त चित्त से विचारपूर्वक उस दिन के सब कामों पर दृष्टि डालो और देखो कि कोई काम गलत तो नहीं हुआ। यदि कोई गलत मालूम पड़े तो फिर दुबारा उसके न होने का दृढ़ संकल्प करो और सर्वशक्तिमान अन्तर्यामी से यह प्रार्थना करो कि हे नाथ, शरीर, मन, वाणी से कोई काम स्वार्थ और आसक्ति से न हो। फिर नियम-पूर्वक जप करके सो जाओ। प्रातः काल का जप

करने के बाद सद्भाव से हृदय में यह भावना करो कि हे भगवान्! सेवा करने के लिए सत्य ज्ञान दीजिए और मन पवित्र तथा शरीर को बलवान बनाइये। फिर यथा-शक्ति सेवाभाव से काम करने में प्रवृत्त हो जाओ। यह अखण्ड नियम है कि भावना के अनुकूल क्रिया करने पर कालान्तर में भावना करने वाले का वही स्वरूप बन जाता है, अर्थात् उसमें वही शक्तियाँ आ जाती हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

हर अवस्था में प्रसन्नचित रहने का स्वभाव बनाओ, ईश्वर पर पूरा विश्वास करो। अपने दुःख का कारण और को मत समझो। आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करो। वर्तमान में जो कुछ काम हो उसे यथाशक्ति नियमपूर्वक पूरा करने का प्रयत्न करो। परन्तु अनुकूल होने पर हर्ष और प्रतिकूल होने पर शोक मत करो, बल्कि उससे पार होने की भावना करो। यह संसार थियेटर की कम्पनी के समान है, इसलिए मालिक के सामने पार्ट करके दिखा देना है; लेकिन यह भलीभांति समझ लो कि पार्ट करने वाला एक्टर उसको सत्य नहीं मानता और सर्वदा उस क्रिया से अपने को अलग जानता है। इससे वह क्रिया वास्तव में दुःख-सुख का हेतु नहीं होती।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका

अभेदस्वरूप

282

.....

11-1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

सच्चाई सबसे नजदीक है। उसके लिए सफर नहीं करना है। और न किसी बाहरी चीज की आवश्यकता ही है। बल्कि बुद्धि आदि हर एक को सच्चाई की भेंट कर देना है। जिस प्रकार दीपक सूर्य के निकलते ही अपने को उसके भेंट कर देता है। जब तक अपने को अपनी दृष्टि से अभय, शान्त तथा पवित्र न देख लो चैन से न रहो। दूसरों की दृष्टि में अच्छा बन जाना बड़ी बात नहीं है। क्योंकि वास्तव में अपने को अपनी ही दृष्टि से ठीक-ठीक देखा जा सकता है। सच्चाई कहीं दूर नहीं है। कुल झुठाई को फेंक देने पर सच्चाई अपने आप प्राप्त हो जाती है।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका

अभेदस्वरूप

.....

283

अलमोड़ा

.....

प्रिय आत्मस्वरूप,

जो लोग शरीर के लिए संसार को समझते हैं, वे विषयों के दास हो वासनारूपी जाल में फँस कर दुःख

उठाते हैं और जो शरीर को संसार के लिए समझते हैं वे संसार से पार हो नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

284

.....
1936

प्रिय आत्मस्वरूप...,

इस जीवन के प्रत्येक श्वाँस का सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोग करने के लिए समय तीन प्रकार के कार्यों में बाँटना होगा—1- स्वार्थ को त्याग, परमात्मा के नाते, शरीर आदि से प्रत्येक क्रियाओं को सेवाभाव से करना। इस बात का अच्छी तरह से ध्यान रहे कि मन किसी भी क्रिया के बदले में प्रसन्नता तो नहीं खरीद लेता? ऐसा करना तो बड़ी भूल है। 2- हर समय आत्मचिन्तन करते हुए, स्वरूप में स्थित होने के लिए चित्त में तत्परता करते हुए, यदि स्थिति न हो तो, जिस प्रकार मछली जल के बिना तड़पती है, तड़पते रहना। 3-निज आनन्द की घटाओं से मन को भरकर, अर्थात् ध्याननिष्ठ हो, नित्य आनन्द हो, स्वरूप में स्थित हो, परम शान्ति प्राप्त करना।

विचारशील मनुष्य की कोई भी व्यर्थ चेष्टा नहीं होती। शरीर, मन तथा इन्द्रियों से व्यर्थ चेष्टा करने वाला मनुष्य कभी आत्मिक उन्नति नहीं कर सकता। इन्द्रियों से जगत् को सत्य देखना शरीर एवं इन्द्रियों की व्यर्थ चेष्टा है और आगे-पीछे की बातों का चिन्तन करना मन की व्यर्थ चेष्टा है। यह पत्र आपको प्रतिदिन पढ़ना चाहिए, जब तक कि सब बातें व्यवहार में न आ जाएँ।

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द
आपका
अभेदस्वरूप

.....

285

.....
1936

प्रिय आत्मस्वरूप

अध्यात्म-जगत् में पैर रखते ही-यह जो कुछ है-अर्थात् मन तथा इन्द्रियों के द्वारा जो जाना जाता है, वह उसका है, यह आस्तिक पुरुष की प्रथम अवस्था है। इस अभाव के दृढ़ होने से मन सच्चिदानन्दघन, शुद्ध बोधस्वरूप परम तत्त्व में स्वाभाविक ही स्थिर हो जाता है। और मन के स्थिर होते ही, यह जो कुछ है, उसका ही स्वरूप है, ऐसा भाव होता है क्योंकि मन का यह स्वभाव है कि यह जिससे सम्बन्ध करता है, उसका ही स्वरूप हो जाता है; क्योंकि मन वास्तव में स्वतः सत्ता वाला तत्त्व नहीं है। यह तो अज्ञान के कारण आत्मा में अनात्म वस्तु की जो कल्पना है, बस यही मन का

स्वरूप है। और यह नियम है कि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न कुछ नहीं होती, और कल्पित वस्तु में जो सत्यता प्रतीत होती है, वह वास्तव में अधिष्ठान की होती है, वस्तु की कुछ नहीं। यह सब उसका ही स्वरूप है; ऐसा दृढ़ बोध होना दूसरी अवस्था है। और जो अन्तिम अवस्था है, वह वाणी के द्वारा कही नहीं जा सकती, किन्तु संकेतमात्र यह कह सकते हैं कि यह जो कुछ था, वह वास्तव में किसी काल में हुआ ही नहीं, ऐसा अनुभव ज्ञान वाले पुरुषों का कथन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

286

फतेहगढ़
1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

देखो भाई, बन्धन तथा सुख-दुःख किसी वस्तु के सम्बन्ध से नहीं होता, किन्तु कर्ता की अविवेक दृष्टि के कारण प्रत्येक वस्तु दुःख और बन्धन का कारण बन जाती है, और वही वस्तु विवेक दृष्टि से आनन्द का हेतु प्रतीत होती है। परन्तु इस बात का अच्छी तरह ध्यान रहे कि वस्तु में स्वयं सत्यता कुछ नहीं है, उसमें दृष्टि रखने वाले द्रष्टा सत्यता से सत्यता होती है, इसलिए द्रष्टा को अपनी दृष्टि अपने में लीन करने से परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतः यह सब कुछ ही, मुँह दिखावे के लिए उसकी भेंट करना होगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप।

.....

287

.....

1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

ज्यों-ज्यों इस क्षणभंगुर शरीर तथा असत्य वस्तुओं में अविश्वास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दघन अन्तरात्मा पर विश्वास होता है, उससे प्रेम स्वाभाविक ही हो जाता है। भगवद् प्रेम वह गणना है कि एक और एक मिलकर दो नहीं, किन्तु एक हो जाते हैं, और प्रेम वह ऐनक है, जिसके लगाने से भिन्न प्रकार की वस्तुएँ एक ही प्रकार की प्रतीत होती है। अर्थात् प्रेमी को अपने प्रेम-पात्र के सिवाय कुछ भी नजर नहीं आता। सदा उसके ही दर्शन की इच्छा करना चाहिए कि जिसके एक ही बार दर्शन करने से चित्त सदा के लिए छिन जाता है। किन्तु उसके लिए जिस समय आपका मन इस प्रकार का बन जाय कि उसके बिना न रह सके और जिस प्रकार मछली जल के बिना तड़फती है, तड़फने लगे, बस उसी समय

परम दयालु भगवान स्वयं अपना लेंगे; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। देखो भाई, इस बात का आपको अच्छी तरह ध्यान रहे कि साधन में शिथिलता तो नहीं आती या नित्य आनन्द के बिना पूर्ण हुए ही कहीं मन सन्तुष्ट तो नहीं हो जाता या किसी क्रिया के बदले में प्रसन्नता तो नहीं खरीद लेता अथवा शुभ क्रिया मात्र से ही सन्तुष्ट होकर मन थक तो नहीं जाता, ऐसा होना बड़ी भूल है, अर्थात् अच्छाई के रूप में बुराई बन कर सत्य से विमुख कर देने वाली है। यह बात साधारण मनुष्य के समझ में नहीं आती, क्योंकि जब तक मन स्थायी भाव से आत्मस्वरूप में स्थित नहीं होता, उस समय तक नित्य आनन्द प्राप्त नहीं होता है और न शरीर-इन्द्रिय आदि तथा अपनी क्रियाओं से पार होता है। इसलिए आत्मा में स्थायी भाव से उसे प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। जब तक कोई आवश्यकता नहीं, आपको अधिक पत्र व्यवहार करना ठीक नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

288

.....

1936

मेरे निजस्वरूप परम आस्तिक प्रिय,

बहुत -बहुत प्यार, सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। जाने हुए असत् का त्याग करने पर किए हुए, अर्थात् भुक्त-अभुक्त के परिणामस्वरूप चित्त के राज्य में जो सिनेमा प्रतीत होता है, उससे असहयोग कर निश्चिन्त तथा निर्भय होना है। तुमने अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वासपूर्वक जिनकी शरणागति स्वीकार की है, वे अपनी अहैतुकी कृपा से विवश हो स्वयं अपनी सेवा के योग्य बना लेते हैं, यह उनका स्वभाव ही है। परन्तु प्यारे, अपनी की हुई आस्था और उनकी दी हुई आस्था में एक बड़ा भेद है। अपनी की हुई आस्था में, 'मुझमें आस्था है।' यह भासित होता है और जब वे आस्था प्रदान करते हैं, तब आस्था ही जीवन है—अर्थात् आस्था से भिन्न जीवन कुछ नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। वे परम कृपालु अपनी आस्था के अधीन हो अखण्ड स्मृति तथा अगाध-प्रियता प्रदान करते हैं, यह उनकी महिमा है। अपना किया हुआ, करने की रुचि को पूरा करता है और कुछ नहीं। अतः यह पुकार रहे कि अविचल आस्था दीजिए, अपनी शरण लीजिए। असमर्थता की व्यथा में ही सच्ची पुकार है, जिसे वे परम कृपालु सुनते हैं और द्रवित हो जाते हैं—कारण कि वे करुणासागर हैं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने साधन-जनित सुख का भोग नहीं किया और अहैतुकी कृपा का आश्रय लिया है।

जिस प्रकार अनन्तकाल का अन्धकार वर्तमान में नाश हो जाता है, उसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर के विकार शरणागत होते ही स्वतः मिट जाते हैं। यह

अनन्त का मंगलमय विधान है। गुणों के अभिमान ने ही दोषों को नाश नहीं होने दिया। साधन का अभिमान ही असाधन का मूल है और असाधन के ज्ञान में ही असाधन का नाश है। अतः सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर रहो। यही सफलता की कुंजी है। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ हैं। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

.....

289

.....

1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

जो अत्यन्त प्रिय है, वही आनन्द का केन्द्र है, क्योंकि प्राणीमात्र आनन्द की इच्छा करता है और जब तक आनन्द प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक स्थिर नहीं होता। अत्यन्त प्रिय वही है, जिसका किसी काल में प्राणी त्याग नहीं करता। जिसका कभी त्याग नहीं करता, उसमें देश तथा काल की दूरी नहीं हो सकती, अर्थात् वह हर देश, हर काल में है, केवल न जानने की दूरी हो सकती है। इसलिए प्रिय मित्र, जो सर्वदा अत्यन्त समीप है, उसको जानो। अब विचार दृष्टि से देखिए कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रत्येक वस्तु का त्याग कभी न कभी स्वयं हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सर्व का जानने वाला है, उसके सिवाय और कोई शरीर आदि बाहरी वस्तु सर्वदा अत्यन्त समीप नहीं रह सकती। इसलिए प्रिय मित्र, आनन्द के लिए किसी बाहरी वस्तु की खोज मत करो। सर्व को जानने वाले को किसी और की सहायता से नहीं जान सकते; बल्कि जो कुछ जानने में आता है, उससे विचार-पूर्वक ऊपर उठने पर उसका अनुभव स्वयं हो जाता है, जो आनन्द का भण्डार है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

290

पलिया कलाँ

1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

सत्य की खोज के लिए अपने को शरीरादि प्रत्येक असत्य वस्तु से ऊपर उठाना होगा। जब तक लेशमात्र भी संसार सुख-रूप, सत्य और सुन्दर मालूम होता है तो समझना चाहिये कि अभी इस अभागे मन में सत्य की तलाश नहीं है। इसलिए प्रिय मित्र विचारपूर्वक शान्त चित्त से इस संसार को भली-भाँति समझ लो। परन्तु अच्छी तरह ध्यान रखो कि जिसको जैसा समझो उसके साथ उस प्रकार का व्यवहार करो। अर्थात् अपने ज्ञान के विपरीत कोई भी क्रिया मत करो। विचार दृष्टि से देखिये कि ऐसी अनेक घटनाएँ देखने तथा सुनने में आती हैं कि थोड़े ही समय में कुछ का कुछ हो जाता

है। परन्तु साधारण मनुष्य की उस पर दृष्टि नहीं होती। इससे बार-बार संसार-सागर में गोते लगाता है। परन्तु विचारशील मनुष्य अखण्ड प्रयत्न कर इससे पार हो जाता है। आगे और पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो, बल्कि वर्तमान समय का सदुपयोग करने के लिए हर समय ध्यान रखो क्योंकि ऐसा करने से भविष्य तो सँभल ही जाता है और बिगड़े हुए भूतकाल का भी प्रभाव जाता रहता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

291

.....

1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

क्या यह आप भलीभांति अनुभव नहीं कर चुके हैं कि दुःख वास्तव में देह को अपना स्वरूप समझने पर ही उत्पन्न होता है। ऐसा कोई भी दुःख नहीं है कि जो शरीर को अपना आप न समझने से सदा के लिए न मिट जाए। क्योंकि सब प्रकार के दुःख शरीर को अपना आप समझने पर ही होते हैं, और इस भूल के निकल जाने पर सभी दुःखों का अन्त अपने आप हो जाता है। यह अखण्ड नियम है कि जब तक हम अपने को शरीर समझते हैं तभी तक दूसरे के शरीर तथा संसार के अनेक पदार्थों में आसक्त हो उनके गुलाम बन जाते हैं। और यह विचार करने पर स्वयं अनुभव होता है कि जब हम अपने आपको किसी काल में भी शरीर अनुभव नहीं करते तब हमको किसी भी पदार्थ की इच्छा तथा किसी भी शरीर से मिलने तथा दर्शन करने की अभिलाषा बाकी नहीं रहती, और न कुछ करने के लिए जानने के लिए शेष रहता, बल्कि मानव आत्मभाव को प्राप्त हो नित्य आनन्द का अनुभव करता है। वास्तव में तो उस महापुरुष की दृष्टि में सृष्टि का लेशमात्र भी स्वरूप शेष नहीं रहता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

292

.....

1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

अपने से भिन्न किसी वस्तु को सुख का साधन समझना परम भूल है क्योंकि इसी भूल के होने पर किसी न किसी प्रकार की वासना तथा मलिन अहंकार अर्थात् मैं शरीर हूँ इस भाव की उत्पत्ति होती है जो सर्व दुःखों का मूल है।

शरीर-भाव और संसार दोनों बीज और वृक्ष के समान हैं। शरीर-भाव रूपी बीज के होने पर संसार-रूपी वृक्ष प्रतीति मात्र उत्पन्न होता है। और संसार रूपी वृक्ष में अनन्त शरीरभाव रूपी बीज दिखाई देते हैं। यह दोनों स्वरूप से अभेद और प्रतीति मात्र भेद वाले मालूम होते हैं। वास्तव में दोनों एक हैं। ऐसा मेरा अनुभव है।

देखिए, जो वस्तु उत्पन्न होती है वही नाश होती है। जो वस्तु नाश होती है वह अपनी निजी सत्ता कुछ नहीं रखती। बल्कि जिससे उत्पन्न होती है उसकी ही सत्ता से सत्ता वाली होती है। उत्पन्न होने के कारण अन्त होने पर उस वस्तु का, जो उत्पन्न हुई है, सदा के लिए अन्त हो जाता है। ऐसा विचार दृष्टि से देखने में आता है।

संसार रूपी वृक्ष, शरीर रूपी बीज से, प्रतीति मात्र उत्पन्न होता है, स्वरूप से नहीं। क्योंकि जो वस्तु स्वरूप से होती है उसका किसी काल में अन्त नहीं होता। परन्तु संसार का अन्त देखने में आता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि संसार स्वरूप से कोई वस्तु नहीं केवल प्रतीति मात्र है। जिस प्रकार दर्पण में मुख न होते हुए भी प्रतीत होता है। शरीर-भाव रूपी बीज तथा संसार रूपी वृक्ष उससे ही उत्पन्न होता है जो तत्त्व वेत्ताओं का निज स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है। इसमें कुछ सन्देह नहीं है। अतएव सारा विश्व आपका निज स्वरूप ही सिद्ध हुआ। इसलिए विश्व में अपने को और अपने में विश्व को अनुभव करो, ऐसा करने पर जीवन में किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। और ऐसा बिना अनुभव किये पूर्णता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा मेरा विश्वास है।

ऐसा अनुभव करने के लिए अपने में स्थाई सर्व शक्तिमान सच्चिदानन्दघन शुद्ध बोध-स्वरूप भगवान की स्थापना करो। अर्थात् 'वह मैं हूँ' ऐसा करने पर विश्व से एकता स्वयं अनुभव होगी और हृदय स्वाभाविक विश्व प्रेम से भर जायगा। मन सदा निजानन्द की लहरों में लहरायेगा। सब ओर अपना आप ही नजर आयेगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

.....

293

.....

1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

विचारशील वह पुरुष है जो जब तक अपने को अपनी दृष्टि से पवित्र, शान्त तथा आनन्दमय नहीं देख लेता, उस समय तक सन्तुष्ट नहीं होता। दूसरों की दृष्टि से अच्छा बन जाना कोई कठिन बात नहीं है, क्योंकि अपने आपको धोखा देना ही महा पाप है। परन्तु जब तक वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं करता तब तक शान्ति प्राप्त होती नहीं इसलिए

विचार इस बात पर करना है कि दुःख का कारण क्या है? विचार करने पर मालूम होगा कि दुःख का कारण अज्ञान के सिवाय कुछ है ही नहीं। और अज्ञान, ज्ञान से ही दूर हो सकता है, और ज्ञान, उस आत्मा का स्वरूप है जो मन तथा बुद्धि और इन्द्रियों का विषय नहीं, किन्तु बुद्धि आदि जिनकी सत्ता से अपने सत्त्व को बनाए रखती है। यह नियम है कि हर वस्तु वास्तविक केन्द्र तक पहुंचे बिना ठहरती नहीं। इसलिए उसको अपने में देख लेना और उसके सामने सब कुछ छोड़ देना ही परम पुरुषार्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

294

फर्रूखाबाद
7-4-1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

जो हर काल में अखण्ड, एक-रस तथा आनन्दघनहै उसका अनुभव करना ही आस्तिकता है। केवल मान कर ही सन्तुष्ट हो जाना भूल है। क्योंकि वास्तव में जो है उसको जानना चाहिए। जो हर काल में नहीं है उससे ऊपर उठने पर जो है उसका अनुभव स्वयं हो जाता है-इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वर्तमान जीवन को अपनी दृष्टिसे आप देखने पर जब तक पूर्णता प्राप्त नहीं होती तब तक हृदय में असन्तोष तथा बेचैनी उत्पन्न अवश्य होती है। असन्तोष तथा बेचैनी को आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन कर, आशा रूपी जाल में फँस कर-दुर्बल कर दबा देना भूल है। अर्थात् झूठा सन्तोष करके बेचैनी को शान्त नहीं करना चाहिए। बल्कि यथाशक्ति जबतक पूर्ण सन्तोष न हो न हो बेचैनी बढ़ाते रहना चाहिए। यहाँ तक कि बेचैनी स्वयं बेचैन होकर सदा के लिए विदा हो जाए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप।

.....

295

बस्ती
अप्रैल 1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

आनन्द का केन्द्र, सर्वदा अत्यन्त समीप है। उसका अनुभव करने के लिए किसी बाहरी सहायता की खोज करना महान दुःख का हेतु है। परन्तु ऐसा वह कर सकता है कि जिसको स्वाभाविक रूप से हर समय बिना यत्न किये यह अनुभव होता है कि मैं शरीर किसी काल में नहीं हूँ। ऐसा होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है क्योंकि शरीर से अभेदता, अर्थात् एक होने पर वासनाओं की उत्पत्ति होती है। और वासनाओं का

उत्पन्न होना ही ध्यान का विघ्न है। अतएव शरीर से असंग अर्थात् ऊपर उठने से वासनाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं और वासनाओं के नष्ट होने पर ध्यान अवश्य हो जायगा—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु इसके लिए आत्मा पर पूरा विश्वास कर-मरने से पहले-जीते जी मरना होगा। अर्थात् शरीर आदि अपना सब कुछ सप्रेम, प्रसन्नता पूर्वक समर्पण करना होगा। प्रिय, हर समय ध्यान रखो कि हम शरीर नहीं हैं बल्कि जल प्रवाह के समान हृदय आत्म-भाव से भरते रहना चाहिए।

हर एक कार्य करते समय यह सद्भाव से दृढ़ भावना हो कि हम भगवान की सेवा कर रहे हैं। यहाँ तक कि यदि आप हाथ तथा मुँह धो रहे हों, हृदय में यह भावना हो कि हम भगवान् का हाथ तथा मुँह धो रहे हैं क्योंकि वास्तव में सब कुछ उसका है जिसकी सारी दुनियाँ है। ऐसा अनुभव कर लेना ही सच्ची आस्तिकता है। हर समय प्रसन्नचित रहने का स्वभाव बनाओ। अपने को कभी शरीर मत समझो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप।

.....

296

बस्ती
अप्रैल, 1937

भगवन्,

हर समय लगातार यही भली प्रकार ध्यान रहे कि जिसका यह सब कुछ है, उससे भेद न होने पाए, अर्थात् उसकी सेवा-पूजा तथा उसके ध्यान में ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रवृत्त रहें, क्योंकि सम्बन्ध तथा प्रेम वह वस्तु है जो क्षण भर के लिए भी टूटता नहीं बल्कि स्थायी होता जाता है और प्रेमी प्रेमपात्र से अभेद हो जाता है-इसमें कुछ सन्देह नहीं। परन्तु प्रेम एक से ही संभव है, अनेक से नहीं। प्रेमी को तो एक में अनेक और अनेक में एक का स्वाभाविक, बिना यत्न किये, अनुभव होता है।

आपका अभेदस्वरूप

.....

297

फतेहगढ़
21-4-1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

जो विचारशील पुरुष अपने को मल-मूत्रपूर्ण क्षण-भंगुर शरीर से ऊपर उठा लेता है, वहीं संसार से पार हो जाता है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसकी आवश्यकता शरीर के लिए न हो। हृदय को अपनी दृष्टि से स्वयं देखो कि उसमें कौन सी भावनाएँ अंकित, अर्थात् बैठी हुई हैं। जिस प्रकार की भावनाएं होती हैं, उसी के अनुरूप इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रवृत्ति अपने आप होती है। भावना के प्रतिकूल इन्द्रिय,

मन, बुद्धि की प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती, यह अखण्ड नियम है। वास्तव में सत्य भावनाओं से अतीत है, परन्तु अपवित्र भावनाओं (विषयों की गुलामी) के नष्ट करने के लिए हृदय में पवित्र भावनाएँ जितेन्द्रियता, सदाचार, सेवा, त्याग हर समय स्वाभाविक रूप से रहनी चाहिए, क्योंकि सत्य कल्पवृक्ष के समान है। जिस प्रकार की भावनाएँ होती हैं उसी के अनुरूप शक्तियाँ कर्ता में स्वयं आ जाती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। शरीर को अपना आपा समझने से अपवित्र भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और आत्म-भाव उत्पन्न होने पर सब भावनाओं का अन्त हो जाता है तथा हृदय नित्यानन्द से भर जाता है। प्रिय मित्र, जब तक हृदय से विषयों की वासना का अन्त नहीं होगा, तब तक, जो हर काल में अखण्ड, एकरस तथा आनन्द का केन्द्र है, उसका अनुभव कदापि नहीं हो सकता। वासनाओं का अन्त आत्म-ध्यान से, आत्म-ध्यान त्याग से, त्याग-सेवा से और सेवा सदाचार से ही सम्भव है।

वास्तव में उसे ही अपना सच्चा जीवन समझना चाहिए कि जो स्वाभाविक रूप से, बिना यत्न किये जीवन का अंग बन जाता है। सदाचार कहीं बाहर से खरीदने की वस्तु नहीं है, वह तो अपने आप उत्पन्न होने की वस्तु है। वह बुराइयों (विषयों की गुलामी) से ऊपर उठ जाने पर अपने आप उत्पन्न होता है। हृदयगत सद्भावनाओं को बाहर से भरने की जो कोशिश की जोयगी वह स्थायी नहीं बन सकती, अर्थात् वह जीवन का स्वरूप नहीं हो सकती और कच्चे रंग के समान किसी घटना-विशेष के घटित होते ही उड़ जाती है। इसलिए हर समय इस बात पर अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए कि स्वाभाविक गति क्या है? और सरलता के साथ प्रत्येक काम को हृदय की गति के अनुकूल, पवित्र भाव से करने का स्वाभाविक यत्न करना चाहिए। किसी बाहर सहायता की खोज कभी मत करो, क्योंकि बाहरी सहायता आत्म-विश्वास से विमुख करती है। ॐआनन्द!

ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

अकिन्चन

.....

298

चित्रकूट
11-9-1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

अपनी विचार-दृष्टि से देखो कि अपने लिए क्या चाहते हो, अर्थात् किसके प्राप्त करने पर किसी प्रकार की कमी नहीं रहेगी यानी पूर्णता प्राप्त होगी। इसका भलीभाँति निश्चय करना ही जीवन का परम लक्ष्य कहा जाता है। जो चाहते हो, जब तक वह प्राप्त न हो, तब तक प्राप्त न होने का दुःख लगातार बढ़ते रहना चाहिए। यहाँ तक कि फिर किसी

प्रकार से भी सहन न हो। ऐसा होने पर जो चाहते हो वह अवश्य प्राप्त होगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, परन्तु चाह सच्ची होनी चाहिए। सच्ची चाह होने पर ही उसके पूरे न होने का दुःख इस प्रकार होता है कि वह सहन नहीं होता। जीवन की सारी क्रियाएँ एक ही लक्ष्य के लिए होनी चाहिए, क्योंकि यही सच्चाई है। क्रियाएँ स्वरूप से देखने में भिन्न-भिन्न प्रकार की भले ही हों, परन्तु उन सबका लक्ष्य एक होना चाहिए, यह भली-भाँति समझने की बात है। ऐसा होने पर सारा जीवन लक्ष्य की पूर्ति का साधन बन जाता है, जिससे जीवन-यात्रा सुलभ तथा सरल हो जाती है और लक्ष्य की पूर्ति अवश्य होती है।

लक्ष्य एक ही सच्चा होता है। क्रियाओं में अनेकता होती है, लक्ष्य में नहीं। इसलिए क्रियाओं को लक्ष्य कभी मत समझो, बल्कि क्रियाओं के अन्त होने पर लक्ष्य पर सदैव दृष्टि रक्खो और जब तक लक्ष्य न प्राप्त हो, चैन से न रहो।

शारीरिक दशा कहने में नहीं आती, क्योंकि कथन उसका हो सकता है, जो एकसा रहे। इस सराय में रोग-रूपी मुसाफिर तो ठहरे ही रहते हैं। वास्तव में तो जीवन की आशा ही परम रोग और निराशा ही आरोग्यता है। देह-भाव का त्याग ही सच्ची औषधि है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

299

चित्रकूट
11-10-1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

जब हम अपने को शरीर समझते हैं तब दूसरे से मोह उत्पन्न हो जाता है, यह स्वाभाविक अवस्था है। परन्तु जब भगवान की कृपा से विचार की उत्पत्ति होती है, तब "मैं शरीर हूँ" यह भाव नष्ट हो जाता है। इसके होते ही सारे शरीरों में अपने को और अपने में सारे शरीरों कर अनुभव कर चित्त सन्तुष्ट हो जाता है, जिससे मोह का अभाव होकर शुद्ध प्रेम हो जाता है। फिर क्रिया-शक्ति सेवा-भाव में, भाव-शक्ति आत्म अनुराग में और विचार-शक्ति आत्म-अनुभव में स्थायी रूप से लग जाती है, अर्थात् जो कार्य वर्तमान में उपस्थित हो उसमें सारी वृत्तियाँ लगाकर करने पर वह कार्य आनन्द का हेतु प्रतीत होता हो, और उसके करने में किसी प्रकार का संकोच न हो, और न किसी प्रकार का अहित हो, अर्थात् शारीरिक तथा सामाजिक उन्नति का प्रतिबन्धक न हो और उसके पूरा होने पर त्याग स्वाभाविक हो जाय और होना न होना अपने लिए समान ही प्रतीत हो, तब सेवा भाव की क्रिया समझनी चाहिए। ऐसा तब ही होगा, जब हम सबको आत्मभाव से अनुभव करने का प्रयत्न

करेंगे, अर्थात् सारे विश्व को अपना स्वरूप समझेंगे और अनुराग, प्रत्येक वस्तु के नाम रूप को हटाकर, अपने को देखकर करेंगे।

जिस प्रकार दर्पण में अपने मुख को देखनेवाला, अपने मुख का अनुभव तथा अनुराग करता है, उसे यह प्रतीत नहीं होता कि मैं किसी और को देख रहा हूँ तथा किसी और को प्यार कर रहा हूँ। यह दशा मन के आत्मनुरागी हो जाने पर होती है। विचार उस शक्ति का नाम है जिससे अपने लक्ष्य का बोध होता है। जो कुछ, मन तथा इन्द्रियों से जाना जाता है, उससे सन्तुष्ट हो, जो सबको जानता है, उसके बोध के लिए प्रयत्न करना केवल रह जाता है। उसका बोध किसी और की सहायता से नहीं होता। बल्कि सबको त्याग व उस पर ही पूरा विश्वास करने से एक ऐसी ज्ञान रूपी धारा उत्पन्न होती है जिससे उसका अनुभव स्वयं हो जाता है जब तक लेशमात्र भी किसी की आशा है, तब तक समझना चाहिए कि अभी विचार की उत्पत्ति नहीं हुई और न सच्ची आस्तिकता समझनी चाहिए। क्योंकि परमात्मा का मानना आस्तिकता नहीं है बल्कि उसका जानना आस्तिकता है। केवल मानकर ही सन्तोष करना, बड़ी भूल है, अर्थात् अच्छाई के रूप में बुराई तथा नास्तिकता, आस्तिकता के स्वरूप में हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

300

.....

11-10-1936

प्रिय आत्मस्वरूप,

कामना ही क्रोध में हेतु हैं, चाहे वह शुभ कामना हो अथवा अशुभ। यद्यपि अशुभ से शुभ श्रेष्ठ है, परन्तु शुभ कामना भी दुःख का कारण है। कामना देहाभिमान से उत्पन्न होती है। देह-अभिमान गलत ज्ञान से, यानी ज्ञान की कमी से उत्पन्न होता है, जो सर्व पाप का मूल है। ज्ञान की कमी विचार से, विचार त्याग से, त्याग विचारवानों की सेवा तथा आज्ञा-पालन से होता है। जब तक अपने में किसी प्रकार की कमी शेष है, तब तक ही बाहर से आने वाले आक्रमण प्रभाव डालते हैं अथवा दुःखी करते हैं। दुःख अपनी कमी से होता है, दूसरों से नहीं। जब तक कोई भी अपने से कम मालूम पड़े तब तक समझना चाहिए कि मन शुद्ध नहीं हुआ। मन शुद्ध होने पर गुणहीन पुरुष के प्रति भी आदर के भाव होते हैं, जिस प्रकार सूर्य मल-मूत्र को भी अपना प्रकाश देता है। यदि भक्त बनना चाहते हो तो गुणहीन पुरुष को भी आदर के भाव से देखो। देखो, जो गुणहीन पुरुष, जिसको तुम बुरा समझते हो अर्थात् अपने से कम समझते हो, वह भी प्रभु की धूप, वायु, जल आदि को पाता है उसी प्रकार जिस प्रकार गुणवान।

प्रभु के भक्त बनने के लिए प्रभु के स्वभाव को, जो गुणहीन का भी आदर करते हैं, धारण करना होगा प्रेम करो, गुलामी नहीं। प्रेम के बदले में किसी प्रकार की आशा करना गुलामी है। केवल प्रेम करना है, जो भगवान का स्वरूप है। प्रेमी के हृदय में कामना तथा क्रोध उत्पन्न नहीं होता, ऐसा मेरा अनुभव है। यदि किसी के साथ कोई भलाई की हो तो उसे भूल जाओ-नहीं तो देह-अभिमान नहीं मिट सकता। यह अखण्ड सिद्धान्त है। भलाई भगवान् की कृपा से होती है। देह-अभिमान के कारण मालूम होती है कि हमने यह भलाई की है। इस भूल के होने से भलाई बुराई का स्वरूप बन जाती है, अर्थात् भलाई के फल से तो मन शुद्ध होना था-कि जिसके होने से हृदय आत्मानुराग से भर जाता है, पर नहीं होता, बल्कि भलाई करने का अभिमान बने रहने पर देह-अभिमान तथा गलत ज्ञान बना रहता है, जो दुःख का मूल है। यदि विचार-दृष्टि से देखा जाए तो मालूम होगा कि जिस भलाई का हम अभिमान करते हैं वह बिल्कुल झूठा है। परन्तु यह बात साधारण व्यक्ति की समझ में नहीं आती। देखिये, जब तक नियम है कि अपने ही कर्म का फल अपने को मिलता है तो जिसको तुम्हारे हाथों से सुख मिल रहा है, वास्तव में वह उसके ही कर्म का फल है। किसी विशेष शक्ति की प्रेरणा से तुम्हारे हाथ मजबूर हैं उसको सुख देने के लिए। यदि भाव की पवित्रता है, अर्थात् यह समझते हो कि हम भगवान् की सेवा कर रहे हैं तो इस पवित्र भाव से ही तुम्हारा मन शुद्ध होगा, जो परम सुख का मूल है। जिसकी सेवा की जाय उसका विशेष अहसान समझना विचारशील का काम है, क्योंकि सेवा करने से ही तो मन शुद्ध होगा। उस पर अहसान जताना और मन में अभिमान रखना, अविचारी का काम है। अविचार दुःख का मूल है। भगवान की कृपा से यदि कोई भलाई हो गई हो तो भूल जाओ, ऐसा करना ही परम तप है, यानी मन ऐसा हो जाय कि इसकी स्मृति भी न रहे कि हमने कुछ किया है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

301

फर्रुखाबाद
1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

आप जिस साधन को करते हैं, उसको स्थायी रूप से जीवन का अंग बनाइये, अर्थात् चलते-फिरते, उठते-बैठते, हर घण्टे में कम-से-कम कुछ मिनट उसे जरूर करना चाहिए। परन्तु साधन करते हुए लक्ष्य पर (जिसको प्राप्त करना है) दृष्टि (हार्दिक भाव) रखनी चाहिए। जिस प्रकार भोजन करते समय हृदय में यह भावना होती है कि भूख अवश्य दूर हो जावेगी और भूख दूर होने पर भोजन की क्रिया समाप्त भी हो जाती

है, इसी प्रकार हृदय में सद्भाव से यह भावना हो कि साधन करने से लक्ष्य अवश्य प्राप्त होगा। लक्ष्य पूरा होने से साधन अपने आप समाप्त हो जाता है।ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

302

फतेहगढ़
1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

सत्य किसी बाहरी सहायता से नहीं पाया जा सकता। इसकी प्राप्ति के लिए असत्य के त्याग के सिवाय और कोई साधन कदापि नहीं है और त्याग, करने वाला अपने आप स्वयं कर सकता है, कोई दूसरा नहीं कर सकता। क्योंकि प्रिय मित्र! अनेक प्रिय वस्तुएँ स्वरूप से छूट चुकी हैं, किन्तु उनकी सुन्दरता और चाह बाकी है। इसलिए वस्तुओं के त्याग का फल कुछ नहीं मिलता। वास्तव में तो चाह का त्याग ही त्याग है, क्योंकि चाह के समूह का नाम ही अहंकार तथा खुदी है। इसलिए चाह के त्याग होने पर अहंकार गल जाता है और अहंकार के गल जाने पर सत्य का अनुभव अवश्य ही होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। असत्य की जरूरत नहीं और सत्य सब काल में सदा है, इसलिए दूर नहीं।

चाह किसकी की जाय? अहंकार चाह के आधार से अपने को जीवित रखना चाहता हैं। प्रिय, चाह के त्याग से ध्यान स्वयं हो जाता है। इसलिए हर समय देखते रहो कि कोई चाह तो नहीं उठती है। यदि उठती है तो उसे भगवान् के अर्पण कर दो।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर प्रत्येक वस्तु में होते हैं। जिस प्रकार आम है, जिसको हाथ से पकड़ सकते हैं-वह उसका स्थूल शरीर है, और रूप-स्वाद-सूक्ष्म शरीर है, उसको हाथ से नहीं पकड़ सकते, परन्तु जान सकते हैं, देख सकते हैं, चख सकते हैं और जिसमें वह स्वाद इत्यादि ठहरे हुए हुए हैं-वह कारण शरीर है। वह सूक्ष्म बुद्धि से जाना जाता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों ही बदलते हुए देखने में आते हैं। क्योंकि यदि उस आम को दूसरी चीजों का संग करा दें तो उसका स्वरूप, स्वाद इत्यादि अर्थात् उसका स्वभाव बदल जाता है परन्तु आम अनार नहीं हो जाता। इसलिए कारण शरीर वही रहता है। वह तो बगैर नष्ट किये नहीं मिटता। जो हाथ से पकड़ा जा सकता है-वह स्थूल शरीर है। और जिस प्रकार के विचार, भावनाएं अन्तःकरण में मौजूद हैं और जिनके जाग्रत होते ही स्थूल शरीर क्रिया करता है-वह सूक्ष्म शरीर है। और जिसमें वह भावनाएँ ठहरी हुई हैं-वह कारण शरीर है।

अब विचार-दृष्टि से देखिए कि वह क्या है? वह 'मैं' कि जो अपने को स्त्री

तथा अनेक कल्पनाओं के अन्दर कैद किये हुए हैं, उसका वास्तविक स्वरूप अज्ञान ही कहा जा सकता है। अर्थात् अज्ञान ही कारण शरीर है। वह कारण शरीर आत्मा के ज्ञान से नष्ट हो जाता है। और उसके नष्ट होते ही स्थूल और सूक्ष्म बदलते रहते हैं, नष्ट नहीं होते। इसलिए आत्म-भावना से कारण शरीर को जला दो। ऐसा करने पर अखण्ड ध्यान तथा समाधि अवश्य हो जायगी। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

303

फतेहगढ़
1937

भगवन्,

प्रत्येक क्षण, प्रत्ये श्वाँस काल रूपी अग्नि में लगातार जल रहा है। उस पर दृष्टि रख, जीवन की आशा को त्याग, मरने से पहले जीते-जी मर जाना चाहिए, अर्थात् जीवन तथा मृत्यु के स्वरूप में भेद मिटा देना चाहिए। ऐसा होने पर आपको अपने वास्तविक स्वरूप का बोध अवश्य होगा और ऐसा होने से यह सर्व जगत्, जो प्रतीत होता है, लय हो जाता है, वही आपका वास्तविक स्वरूप है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। देह में आत्म-बुद्धि का त्याग होने पर जीवन और मृत्यु में भेद नहीं रहता, ऐसा अनुभव करने वाले महापुरुषों का कथन है।

विचार-दृष्टि से देखिए। 'मैं शरीर हूँ'-यह भाव होने पर अनेक वासनाओं की उत्पत्ति होती है और वासनाओं के अनुरूप बुद्धि की प्रवृत्ति होती है, और बुद्धि की आज्ञानुसार मन, इन्द्रिय आदि कार्य करते हैं। परन्तु 'मैं शरीर हूँ' यह भाव नष्ट होने पर वासनाओं का अन्त हो जाता है और वासनाओं के अन्त होने पर बुद्धि क्रिया-रहित हो स्थिरता प्राप्त करती है और जिससे फिर सत्य का अनुभव स्वयं हो जाता है।

सत्य के अनुभव के लिए किसी बाहर सहायता की खोज करना भूल है, क्योंकि सत्य अनेक नहीं हो सकते और असत्य से सत्य जाना जा नहीं सकता, बल्कि जब हम असत्य का सहारा पकड़ते हैं, जब सत्य से विमुख हो जाते हैं। असत्य से ऊपर उठने पर सत्य का अनुभव स्वयं हो जाता है।

..... एक पर ही पूरा विश्वास करो, जीवन तथा मृत्यु में भेद न समझो, वर्तमान समय में जो कार्य उपस्थित हो उसको पूरा कर, आगे और पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो। यह सदा ध्यान रखो कि जीवन-यात्रा भगवत् सेवा तथा भगवत्-स्मरण के सिवाय और किसी भी कार्य में न लगे, अर्थात् प्रत्येक कार्य का स्वरूप भगवत्-सेवा हो जाना चाहिए। ऐसा होने पर भगवत्-ध्यान अपने आप हो जाता है।

देखिए, जब हम किसी काम को भगवत्-सेवा के भाव से करते हैं, तब फिर उस काम का प्रभाव मन पर भवगत्-अनुराग के सिवाय और कुछ नहीं पड़ता, और न फिर किसी छोटे तथा बड़े काम में भेद ही प्रतीत होता है। भगवत्-सेवा करने वालों का ऐसा अनुभव है। भगवत्-प्रेमियों का जीवन तथा काम अपने लिए कुछ नहीं रह जाता, बल्कि अन्त में प्रेमी और प्रेम-पात्र में किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता, अर्थात् अखण्ड अभेदता प्राप्त होती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

304

टूँडला
17-2-1938

अपने को शरीर समझने पर मोह की उत्पत्ति होती है, जो दुःख का मूल है। प्रेम आत्मा का स्वरूप है। प्रेम और मोह दोनों प्रकाश और अन्धकार के समान हैं। प्रेम से मोह का और प्रकाश से अन्धकार का नाश होता है। यह भली भाँति समझ लो कि अन्त उसी वस्तु का होता है जो स्वरूप से कुछ नहीं होती, बल्कि किसी कारण से प्रतीति-मात्र होती है। प्रकाश की कमी से अन्धकार और अविचार के कारण प्रेम को शरीर में बाँध देने से मोह की प्रतीति होती है। देखिए, जिस प्रकार गंगा का पवित्र जल, जो आनन्द का हेतु हैं, गढ़े में बँध जाने से अनेक विषैले कीड़ों को उत्पन्न कर दुःख का कारण होता है, इसी प्रकार पवित्र प्रेम मलमूत्र-पूर्ण शरीर में बँध जाने से अनेक वासना रूपी कीड़ों को उत्पन्न कर महान दुःख का कारण होता है। मोह से स्वार्थपरायणता तथा विषयों से राग स्वाभावित होता है। और प्रेम से मन, राग-रहित हो निजानन्द का अनुभव करता है तथा हृदय विश्वप्रेम से भर जाता है। अतएव प्रिय मित्र, पवित्र प्रेम को शरीर में मत बँधने दो। वास्तव में यही पाठ उत्तम है-जिसे हर दम पढ़ना चाहिए। इसके पढ़ने से शान्ति अवश्य प्राप्त होगी-ऐसा मेरा विश्वास है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

305

टूण्डला
17-2-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, अर्थात् काम के स्वरूप में सामने हैं, उनको विचारपूर्वक, सेवा-भाव से, पूरा करो और नए संकल्प उत्पन्न मत होने दो। यही सर्वोत्तम साधन है, जिससे दुःख तथा संसार का अन्त अवश्य हो जाता है।

संकल्पों का अन्त आत्म-भाव तथा भगवत्-परायणता से होगा। कोई भी बाह्य कारण उपस्थित न होने पर विमलता-पूर्वक, प्रेमी का प्रेम-पात्र में विलीन होकर स्थिर भाव का प्राप्त हो जाना भगवत्-परायणता है। ऐसा हो जाने पर भगवत्-स्वरूप का अनुभव स्वयं होगा। परन्तु जब तक सारी क्रियाएँ प्रयोजन-रहित नहीं होगी, तब तक भगवत्-परायणता सर्वथा असम्भव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

306

बस्ती
18-6-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

हर्ष शोक से, भोग रोग से, संयोग वियोग से रहित नहीं है। अतएव धीरज धारण कर विचार-पूर्वक यथाशक्ति कर्त्तव्य पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए मोहवश मृतक मनुष्य का स्मरण कर दुःखी होने से मृतक के सूक्ष्म शरीर को दुःख अधिक होता है, क्योंकि जब तक सम्बन्ध शेष रहता है, तब तक उसे दूसरी योनि धारण करने में विलम्ब होता है। यदि सद्भाव से, प्रसन्नतापूर्वक मृतक मनुष्य से सम्बन्ध विछेच्छ कर दिया जाए, तो फिर वह अपने कर्मों के अनुसार शीघ्र, सुगमता से दूसरी योनि धारण कर लेता है। इसलिए हृदय से सम्बन्ध तोड़ना परम आवश्यक है। यदि हो सके तो सर्वान्तर्यामी आनन्दघन-भगवान् से थोड़े-थोड़े समय बाद, बार-बार प्रार्थना करो कि वह मृतक पुरुष की आत्मा को शान्ति प्रदान करें। इस प्रकार का चिन्तन 24 घण्टे में कई बार करना चाहिए जब-जब मोह के आवेश के कारण उनका स्मरण हो, तब-तब हृदय में यह भावना करो कि आपका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है।

दुःख में धैर्य धारण करना विचारवान का कर्तव्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

307

बस्ती
10-7-38

प्रिय आत्मस्वरूप!

अपने जीवन का भली प्रकार पाठ पढने से हृदय में एक अजीब सी विचार-धारा उत्पन्न होती है, ऐसा मेरा अनुभव है। यदि उस उत्पन्न विचार-धारा को जीवन का प्रोग्राम (कार्य-क्रम) बना लिया जाय तो जीवन का परम लक्ष्य (aim) भयरहित नित्य-शान्ति, अवश्य प्राप्त होती है।

जीवन का जो स्वरूप सामने है, उससे सच्चा सन्तोष (पूर्णता) अपनी दृष्टि से अपने को प्राप्त है या नहीं-ऐसा देखिये। सच्चा संतोष होने पर किसी प्रकार की अभिलाषा तथा कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। यदि सच्चा सन्तोष नहीं है, तो जिस प्रकार के जीवन का स्वरूप देखना चाहते हो, जिससे सच्चा संतोष होगा, इस पर विचार कीजिये। जैसा देखना चाहते हो उसकी अभिलाषा स्थायी अचल है या नहीं? स्थायी अभिलाषा एक ही होती है, अनेक नहीं। कभी कुछ और कभी कुछ, यदि ऐसी अभिलाषा हो तो समझना चाहिए कि अभी अभिलाषा स्थायी नहीं है, इसलिए को स्थायी बनाओ।

जो अभिलाषा है, उसके पूरा होने के लिए स्थायी साधन है या नहीं? जब तक साधन में सद्भाव नहीं होता, तब तक साधन स्थायी नहीं। तब तक साधन स्थायी नहीं होता। साधन स्थायी होने पर जीवन-यात्रा सुलभ हो जाती है और सफलता अवश्य प्राप्त होती है। साधन की खोज बिना किये चैन से मत रहो। सच्चा साधन मिलने पर, साधन जीवन का स्वरूप बन जाता है, नहीं तो साधन करना एक बोझ सा रहता है और उत्साह शिथिल होकर साधन धीरे-धीरे मिट जाता है। सच्ची चाह होने पर साधन स्वयं मिल जाता है, क्योंकि जिसके सामने चाह रहती है, वह कल्पतरु के समान है अतएव प्रत्येक माँग की पूर्ति अवश्य होती है, परन्तु माँग सच्ची होनी चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

308

बस्ती
25-7-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

सत्य को केवल असत्य के त्याग से अनुभव कर सकते हैं। अब विचार यह करना है कि त्याग का स्वरूप क्या है? वास्तव में प्रत्येक वस्तु का अर्थ मनुष्य की अपनी योग्यता के अनुरूप होता है, जैसे कुछ लोग बुरे कर्मों को त्याग कर शुभ कर्मों को ग्रहण करना ही त्याग का स्वरूप समझ लेते हैं। यह अर्थ भी साधारण दृष्टि से उचित है, किन्तु इस अर्थ से त्याग के पूर्ण स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि एक आधार को त्याग कर दूसरा आधार बना लेना-चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, वह वास्तविक नहीं कहा जा सकता। और यह अखण्ड नियम है कि त्याग के बिना सत्य का अनुभव कदापि नहीं हो सकता। त्याग सीखने और समझने की वस्तु नहीं है, और न वह सिखाया जा सकता है, बल्कि सत्य की अभिलाषा स्थायी होने पर त्याग स्वयं उत्पन्न हो जाता है।

स्थायी अभिलाषा एक होती है, अनेक नहीं। यदि हम चाहे तो त्याग रूपी अमृत का रस हम स्वयं चख सकते हैं, जिसके चखते ही चखने वाला अमर हो जाता है, और सब प्रकार से शोक से पार हो आनन्द में स्थायी निवास करता है। क्या हमने अपने में कभी ऐसे जीवन का अनुभव किया कि जिसमें सभी प्रकार के बाह्य अथवा भीतरी आधार से अपने को ऊपर उठा लिया हो, अर्थात् जब हमारा कोई भी आधार न हो? ऐसा जीवन सच्चे त्याग से, त्याग सेवा-भाव से, सेवा-भाव आस्तिक बुद्धि से, जो हर काल में अखण्ड एकरस है, उस पर पूरा विश्वास आस्तिक-बुद्धि विचार से, विचार दुःख से, और दुःख अपने जीवन की घटनाओं के स्मरण तथा विचार करने से स्वयं उत्पन्न होता है।

जिस पर जीवन की घटनाओं का प्रभाव नहीं होता, उस पर और किसी का प्रभाव होना कठिन है, क्योंकि जीवन की घटनाएँ तो स्वयं अपने अनुभव की चीज हैं और इसलिए वह गलत नहीं हो सकतीं। परन्तु साधारण मनुष्य अनुभव पर पूर्ण विश्वास न करने के कारण, सच्चाई की खोज के लिए बाहर भटकते फिरते हैं। देखिये, जितना वैराग्य आपको आपका शरीर सिखा सकता है, उतना किसी भी पुस्तक के पढ़ने से तथा वैराग्य पुरुष के कथन से नहीं सीखा जा सकता, क्योंकि जो वस्तु अपने में उत्पन्न नहीं होती, उस वस्तु का अनुभव नहीं हो सकता। बाह्या सहायता तो केवल अपने में उपजी हुई बुद्धि का कारण हो सकती है। जिस प्रकार किसी ने पढ़ा कि मोह दुःख का मूल है, परन्तु इसको भली-भाँति वही समझ सकता है कि जिसको मोह से दुःख हुआ हो।

अतएव प्रिय मित्र, अपने अनुभव पर पूरा विश्वास कर उसके अनुरूप जैसा विश्वास हो, जीवन का स्वरूप बनाओ, अर्थात् जैसा ज्ञान हो वैसा ही आचरण हो। ऐसा करने से, कभी-न-कभी सच्चाई का अनुभव अवश्य होगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

309

बस्ती
जुलाई 1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

वर्तमान में आनन्द अनुभव करने का प्रयत्न करो, अर्थात् आनन्दघन भगवान् को अपने में देखो। जो अपने से भिन्न प्रतीत हो, उसका त्याग करो। ऐसा करने पर शान्ति अवश्य प्राप्त होगी- इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

वर्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत तथा आने वाला भविष्य स्वयं सँभल जाता है। जो अपने को

वर्तमान में नही सँभाल सकता, वह अपने को भविष्य में कभी नहीं सँभाल सकता। शुद्ध-हृदय त्याग से, त्याग सेवा से, सेवा अपने पर शासन करने से हो सकती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

310

बस्ती
जुलाई 1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

किसी वस्तु से राग तथा द्वेष करना भूल है, क्योंकि राग और द्वेष ही वास्तव में सच्चाई से विमुख करते हैं। देखिये, जिस वस्तु से राग हो जाता है, उसके दोष (बुराई) भी अच्छाई तथा गुण मालूम होते हैं और जिस वस्तु से द्वेष हो जाता है, उसका गुण (अच्छाई) भी दोष तथा बुराई मालूम होते हैं। इसलिए राग तथा द्वेष जब तक बाकी हैं, तब तक किसी वस्तु का यथार्थ समझना तथा जान पाना कठिन है।

—मालूम यह होता है कि सारी वस्तुओं का मूल कारण तो एक ही है जिस प्रकार दर्पण तथा मिट्टी का जिस वस्तु से गलत ज्ञान निकल जाता है, उसमें गुण उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार साफ होने पर मिट्टी से दर्पण उत्पन्न होता है, और न होने पर मिट्टी ही रह जाती है। वास्तव में तो दर्पण मिट्टी ही है। इसी प्रकार गुण और दोष एक ही वस्तु से उत्पन्न होकर अपने आपको प्रकट करते हैं। विद्या से गुण और अविद्या से अवगुण समझना चाहिए, किसी वस्तु से नहीं। क्योंकि राग तथा द्वेष भी अविद्या का ही स्वरूप है, जो अपने को शरीर समझने पर उत्पन्न होता है। राग और द्वेषमिटाने के लिए शरीर-भाव का अत्यन्त अभाव करना होगा। जब तक यह स्वाभाविक न हो जाए कि मैं शरीर किसी भी काल में नहीं हूँ, तब तक राग और द्वेष कदापि नहीं मिट सकता।

यदि अपने को अच्छा बनाना चाहते हो, तो राग व द्वेष को त्याग प्रत्येक वस्तु से प्रेम करो। प्रेम के उत्पन्न होने पर किसी भी प्रकार की वासना शेष नहीं रहती। जब तक किसी प्रकार की वासना शेष है, तब तक समझना चाहिए कि प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि प्रेम उत्पन्न होने पर हृदय आनन्द तथा समता से भर जाता है और सब ओर अपना आपा ही नजर आता है। प्रेम उत्पन्न करने के लिए अपने आप पर शासन करना चाहिए। जो अपने आप पर शासन कर सकता है, वह सब कुछ कर सकता है। अपने पर शासन करने के लिए गुणहीन वस्तुओं को आदर के भाव से देखो, परन्तु उनसे राग मत करो। क्योंकि राग के होने पर द्वेष का होना स्वाभाविक हो जाता है और हृदय अखण्ड पवित्र प्रेम से विमुख हो जाता है। ऐसा मेरा अनुभव है।

शरीर—भाव से राग और आत्म-भाव से प्रेम उत्पन्न होता है। प्रेम से हृदय

निर्भयता तथा अखण्ड प्रसन्नता व सत्यता से भर जाता है, जो जीवन का परम लक्ष्य है। हर समय प्रसन्नतापूर्वक आत्मचिन्तन करो। आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन करना परम भूल है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

311

बस्ती
जुलाई 1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

ज्ञान अखण्ड, एकरस, नित्य है और क्रिया परिवर्तनशील, अर्थात् बदलती रहती है। ज्ञान निज आनन्द के लिए है और क्रिया संसार के लिए होती है। संसार स्वभाव से परिवर्तनशील है। इसलिए क्रिया का बदलना अनिवार्य है। शरीर और संसार स्वरूप से एक हैं, उनमें सिर्फ माना हुआ भेद प्रतीत होता है।

प्रिय मित्र! शरीर के विशेष रोगी होने पर दो प्रश्न उत्पन्न हुए 1. शरीर को किस प्रकार रखना?, 2. और अपनी ओर से संसार को क्या कहना हैं? इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए भागीरथी तट पर एकान्त वास किया और सर्वान्तर्यामी की ओर से जो उत्तर मिला वह लिखा जाता है, अन्यथा अपनी ओर से क्या होना है?

1. आत्म-विश्वास तथा आस्तिक-भाव आनन्द का मूल है।
2. देह-भाव के त्याग से आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है।
3. "मैं क्या हूँ" इसका यथार्थ निर्णय करने से देह भाव का त्याग होता है।
4. वर्तमान जीवन पर असन्तोष होने से 'मैं क्या हूँ', यह निर्णय करने का भाव उत्पन्न होता है।
5. दुःख के ठहर जाने पर वर्तमान जीवन से असन्तोष होता है।
6. विषयों के सुख का त्याग होने पर दुःख ठहर जाता है। वास्तव में दुःख प्राणि-मात्र के अनुभव की चीज है, परन्तु विषयों का राग अंकित होने से दुख दब जाया करता है और समय-समय पर बार-बार आता जाता है।
7. जीवन की घटनाओं का यथार्थ पाठ पढ़ने से विषयों का सुख मिट जाता है, जो उन्नति का सर्वोत्तम साधन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

312

फर्रुखाबाद
12-8-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

जब तक अविचार के कारण किसी प्रकार का राग अंकित है, तब तक संसार का स्वरूप सत्य मालूम होता है।

ऐसी दशा में मन विषयों का स्मरण-चिन्तन तथा ध्यान करता है। विचार उत्पन्न होने पर संसार का स्वरूप अनित्य मालूम होता है। ऐसी दशा में मन भगवत्-स्मरण-चिन्तन तथा ध्यान करता है। भगवत्-स्वरूप का साक्षात्कार, अर्थात् यथार्थ ज्ञान होने पर, संसार का स्वरूप मिथ्या मालूम होता है। ऐसी दशा में स्थायी भाव से अखण्ड सच्चिदानन्दघन भगवान् का अपने में अनुभव होता है। साधारण मनुष्य जिस प्रकार सोते समय अपने को सब ओर से हटा कर सुखपूर्वक सो जाता है और यह नहीं समझ पाता कि किस काल में सो गया, उसी प्रकार विचारशील अपने को सब ओर से हटा कर आत्मलीन होकर अखण्ड सच्चिदानन्द भगवान् का अनुभव करता है और यह नहीं समझ पाता कि शरीर-भाव कब मिट गया।

1. शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल सुख तथा दुःख के रूप में सामने भले ही नाचता रहे, किन्तु आपको असंगता-पूर्वक साक्षी भाव से देखते हुए निजानन्द में मग्न रहना चाहिए।
2. शरीर चाहे जिस दशा में क्यों न रहे, संसार भले ही कुछ क्यों न कहे, किन्तु आपको सद्भाव-पूर्वक, लगातार अपने से अपने में अखण्ड सच्चिदानन्दघन भगवान् का अनुभव करना चाहिए।
3. संसार भले ही आपको अपना अंग न समझे, अर्थात् अपने से भिन्न कल्पना करता रहे, किन्तु आपको अभेद भाव से हर्षपूर्वक यथाशक्ति सेवा करते रहना चाहिए।

पहला उसूल ज्ञान-निष्ठा का है, दूसरा भक्ति-निष्ठा का है और तीसरा कर्मनिष्ठा का है। एक समय में एक ही उसूल को जीवन का स्वरूप बनाया जा सकता है। कर्म से प्रारम्भ होकर, ज्ञान पर अन्त होता है। किस उसूल को जीवन का अंग बनाया जाय, इसे अधिकारी स्वयं अपनी योग्यता के अनुसार निर्णय कर सकता है। जिस समय पहला उसूल जीवन का अंग बन जायगा, उस समय स्थायी भाव से शान्ति प्राप्त होगी। और सब कुछ करते हुए जीवन-मुक्ति का आनन्द आयेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

313

फतेहगढ़
अगस्त 1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

अपने को शरीर समझने पर ही मोह की उत्पत्ति होती है, जो दुःख का मूल है। प्रेम आत्मा का स्वरूप है। प्रेम और मोह प्रकाश और अन्धकार के समान हैं।

प्रकाश से अन्धकार का अन्त होता है, प्रेम से मोह का। नाश उस वस्तु का होता है जो स्वरूप से नहीं होती। इसलिए अन्धकार तथा मोह स्वरूप से कोई वस्तु नहीं, केवल प्रतीति मात्र हैं। प्रकाश की कमी से अन्धकार और पवित्र प्रेम को शरीर में कैद करने से मोह की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार गंगा का पवित्र जल भी जो आनन्द का हेतु है, गडढ़े में बँध जाने पर विषैले कीड़ों को उत्पन्न कर दुःख का कारण हो जाता है। इसी प्रकार पवित्र प्रेम मल-मूत्र पूर्ण शरीर में वासनारूपी कीड़े पैदा कर अनेक दुःख का कारण बन जाता है। मोह से स्वार्थपरायणता तथा विषयासक्ति स्वाभाविक होती है। प्रेम से स्वार्थ-भाव के त्यागपूर्वक, मन राग-रहित होकर, आत्मानुराग में विलीन हो पूर्णता को प्राप्त होता है। फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती-ऐसा मेरा विश्वास है।

हे अभिन्न हृदय! पवित्र प्रेम को शरीर रूपी गढ्ढे में फँसने न दो। यही उत्तम पाठ है जिसे पूरे मनोयोग के साथ पढ़ना चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

314

फर्रुखाबाद
अगस्त 1937

प्रिय आत्मस्वरूप,

योग से शक्तियों का विकास, भोग से शक्तियों का विनाश और त्याग से शान्ति की प्राप्ति होती है। संसार को सद्भाव पूर्वक देखने से, अर्थात् सत्य समझने से भोग, विषयों को दुःखरूप समझने से योग और संसार के स्वरूप का विचार पूर्वक यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग का होना स्वाभाविक है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

315

.....
11-9-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

जो कुछ नहीं चाहता उसे सब कुछ प्राप्त होता है। जो कुछ चाहता है, उसे कुछ नहीं हाथ आता। कुछ न करने से सब कुछ होता है, कुछ करने से कुछ नहीं होता। जब कुछ नहीं जानता तब सब कुछ जानता है। जब कुछ जानता है तब कुछ नहीं जानता-ऐसा मेरा अनुभव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

316

फतेहगढ़,
7-10-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

निजस्वरूप रूपी जल में चाह रूपी वायु के चलने से समुद्र-रूप ईश्वर और लहर-रूप जीवन तथा क्रिया-रूप संसार मालूम होता है। यद्यपि जल से भिन्न कुछ नहीं है, परन्तु इसका अनुभव चाह के मिटने से ही होता है। जरूरी इच्छाओं को सेवा-भाव से पूरा करो और बिना जरूरी इच्छाओं का त्याग करो। सेवा-भाव से किया हुआ कार्य भगवत्प्रेम में बदल जाता है, क्योंकि भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती। की हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवान् संसार के स्वरूप में मालूम होते हैं। जिसने सब प्रकार की इच्छाओं को मिटा कर आनन्दघन, अचिन्त्य निजस्वरूप का अनुभव किया, वह पूजने योग्य हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

317

फतेहगढ़,
24-10-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

सुखी जीवन से संसार को सुख और दुःखी जीवन से संसार को दुःख अपने आप होता है। अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल है। अभिमान-रहित अच्छाई पूजन करने योग्य है। विषयों का पुजारी शान्ति नहीं पाता। किसी का निरादर न करने वाले आदर और त्याग करने वाले को आनन्द अवश्य मिलता है।

साधारण मनुष्य जीने की बड़ी इच्छा तो रखते हैं, किन्तु जीवन का सदुपयोग करने का कुछ भी ध्यान नहीं रखते और इसलिए दुःखी होते हैं। विचारशील मनुष्य जीने की इच्छा से अधिक जीवन का सदुपयोग करने का प्रयत्न करते हैं।

गलत ज्ञान से इच्छाओं की उत्पत्ति होती है, जो दुःख का मूल है। कर्म से इच्छाओं की पूर्ति होती है जो सुख का मूल है। यथार्थ ज्ञान से इच्छाओं की निवृत्ति होती है, जो आनन्द का मूल है। सुख से दुःख दब जाता है। आनन्द से दुःख मिट जाता है।

अविचार रूपी भूमि में राग-द्वेष रूप वृक्ष अपने आप उपजता है। वृक्ष के हरे-भरे होने पर गलत ज्ञान रूपी फल अपने आप आ जाता है, जो दुःख का हेतु हैं।

विचार रूपी भूमि में त्याग तथा प्रेमरूप वृक्ष अपने आप उपजता है और वृक्ष के हरे-भरे होने पर यथार्थ ज्ञान रूपी फल अपने आप आ जाता है, जो आनन्द का हेतु है।

संसार को न समझने से अविचार और संसार को भली प्रकार समझने से विचार उत्पन्न होता है। प्रिय मित्र! संसार को भली प्रकार समझने के लिए शरीर को भली प्रकार समझ लो, क्योंकि शरीर संसार का ही अंग है। जो शरीर को भली प्रकार नहीं समझ सकता वह संसार को कदापि नहीं समझ सकता। जो मालूम होता है (संसार) उसका त्याग ही, जो नहीं मालूम होता-(परमात्मा) उसका प्रेम बन जाता है। क्योंकि किसी का त्याग ही किसी का प्रेम बनता है-ऐसा नियम है। त्याग और प्रेम बीज और वृक्ष के समान हैं। प्रेमरूप मनोहर सुन्दर वृक्ष को सत्संग-रूप जल से सींचते रहना चाहिए। जो प्रेमी अपने प्रियतमके वियोग के दुःख से दुःखी है, उसको और किसी के दुःख से दुःखी होने की फुरसत नहीं मिलती। जो प्रेमी अपने प्रियतम को पा चुका है, उसको और किसी वस्तु के पाने की अभिलाषा नहीं रहती। बढ़ा हुआ रोग आरोग्यी में और बढ़ा हुआ प्रेम प्रेमपात्र में विलीन हो जाता है। सच्चा प्रेमी स्थायी भाव से प्रियतम को अपने में और अपने को प्रियतम में अनुभव करता है, क्योंकि प्रेमी की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती-ऐसा मेरा अनुभव है।

जीवन का सदुपयोग करने पर जीने की इच्छा नहीं रहती, ऐसा मेरा अनुभव है।

यदि हो सके तो इस पत्र को लगातार कुछ दिन विचार-पूर्वक पढ़ना चाहिए, केवल एक बार पढ़ कर ही मत रख दीजियेगा।.....

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप
.....

318

बरेली
1-12-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

सद्भावपूर्वक की हुई अभिलाषा अवश्य पूर्ण होती है। जिस अभिलाषा को हम किसी प्रकार त्याग नहीं सकते, वही अभिलाषा सद्भावर्पूक की जा सकती है। यथाशक्ति पूरा प्रयत्न करने पर यदि अभिलाषा पूर्ण न हो, तब सद्भावर्पूक प्रार्थना करनी चाहिए। यह भली प्रकार समझ लो कि जिससे हम प्रार्थना करते हैं वह कल्पतरु के समान सर्वथा पूर्ण हैं। इसलिए अपनी की हुई प्रार्थना पर अखण्ड विश्वास करना अनिवार्य है।

सब प्रकार का अभिमान गल जाने पर ही सद्भावर्पूक प्रार्थना होती है। प्रार्थना सर्वदा क्रिया के अनुसार और क्रिया प्रार्थना के अनुसार करनी चाहिए। जब क्रिया-शक्ति समाप्त हो जाती है और अभिलाषा पूरी नहीं होती, तब अभिलाषा-पूर्ति के लिए हृदय में जो भाव उत्पन्न होते हैं वही सच्ची प्रार्थना है। किन्तु यह हमेशा ध्यान में रहे कि जब तक अभिलाषा पूर्ण न हो जाय, तब तक किसी प्रकार सन्तोष नहीं करना चाहिए, अर्थात् बेकली तथा बेचैनी बढ़ती रहनी चाहिए। बेकली जब असह्य हो जाती है, बस उसी समय उस बेकली का अन्त हो जाता है-ऐसा अखण्ड नियम है। देखो, जिसमें अभिलाषा उत्पन्न होती है वह स्वयं अभिलाषा का स्वरूप धारण कर लेता है। और सब प्रकार की अभिलाषाओं का अन्त होने पर वह सत्ता मिट जाती है जिससे अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं। उस सत्ता के मिट जाने पर जो अनन्त तथा पूर्ण है, वही शेष रह जाता है, क्योंकि जो पूर्ण है उसका किसी काल में अभाव नहीं होता। अभिलाषा अपूर्ण में ही उत्पन्न होती है, अर्थात् जब तक मिट कर पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक किसी-न-किसी प्रकार की अभिलाषा बनी ही रहती है, क्योंकि पूर्ण होने पर ही अभिलाषाओं का अन्त हो सकता है।

अपूर्णता अभिलाषाओं के आधार पर ही जीवित है। अतएव अभिलाषाओं के मिट जाने पर अपूर्णता मिट जाती है। यदि अपूर्णता स्वरूप से सत्य होती तो मिट नहीं सकती थी, किन्तु मिट जाती है, इसलिए, मालूम होता है कि वह अपूर्णता स्वरूप से सत्य नहीं है, ऐसा मेरा विचार व अनुभव है।

आवश्यक कामनाओं को सेवा-भाव से पूर्ण करो, बिना जरूरी कामों का त्याग करो। ऐसा करने से काम का अन्त

हो जायगा और सब प्रकार के कामों का अन्त होने पर राम अवश्य मिल जायेगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। जीवन-काल में ही जीवन के सब कामों का अन्त कर देना परम आवश्यक है। ऐसा होने पर जीवन तथा मृत्यु में भेद नहीं रहता।

सत्य की आवाज को किसी व्यक्ति की आवाज, सत्य के ज्ञान को किसी व्यक्ति का ज्ञान, सत्य के प्रेम को किसी व्यक्ति का प्रेम और सत्य के आनन्द को किसी व्यक्ति का आनन्द और सत्य के सौन्दर्य को किसी व्यक्ति का सौन्दर्य समझना परम भूल है। इस भूल के होने से ही व्यक्तियों से राग हो जाता है, जो दुःख का मूल है। राग से दुःख तथा त्याग से आनन्द अवश्य मिलता है।

सब प्रकार से उनका हो जाने पर शरीर आदि से असंगता अवश्य हो जाती है। असंगता दृढ़ होने पर स्थायी शुद्ध प्रेम हो जाता है, जो आनन्द का मूल है। शुद्ध प्रेम होने पर प्रीतम से अभेदता अवश्य हो जाती है। प्रिय मित्र! आपको अपने सत्य पर पूरा विश्वास करना चाहिए और उसकी रक्षा के लिए बड़ी से बड़ी कठिनाई हर्षपूर्वक सहन करना चाहिए। सत्य स्वरूप भगवान् सब प्रकार से सिखाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

319

लखनऊ
9-12-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

जब शरीर तथा संसार की ओर से कोई किसी प्रकार का सुख न मालूम हो, तब भगवान् की असीम कृपा समझनी चाहिए, क्योंकि दुःख रूप अग्नि में संसार की सत्ता, सुन्दरता और सुखरूपता जल कर भस्म हो जाती है, सब कुछ जल जाने पर अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है अर्थात् दुःख स्वयं दुःखी होकर नष्ट हो जाता है और फिर सब ओर आनन्द ही आनन्द नजर आता है।

प्रिय मित्र! किसी की भूल देखने के लिए भी देखने वाले को स्वयं को भूलना पड़ता है, क्योंकि जब तक वह अपने में शरीर-भाव नहीं धारण करता, तब तक संसार नहीं दिखाई देता, ऐसा मेरा अनुभव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

320

मिर्जापुर
20-12-1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

सद्भावपूर्वक की हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए आनन्दघन भगवान संसार के रूप में प्रतीत होते हैं। यदि हम सब प्रकार की इच्छाओं का त्याग कर शरीर-भाव को समर्पण कर दें तो फिर शुद्ध बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन भगवान् का अनुभव होता है। इच्छाओं की उत्पत्ति का मूल कारण शरीर-भाव ही है, जो केवल आत्म-भाव से ही मिट सकता है। जिसने की हुई कल्पनाओं का जीवन में ही अन्त कर कल्पनाओं से परे निज स्वरूप का अनुभव किया, वह पूजन करने योग्य है। शरीर-भाव मिटाने के लिए जरूरी इच्छाओं को सेवा-भाव से पूरा करना और बिना जरूरी इच्छाओं का त्याग करना परमावश्य है। सब प्रकार से उनका हो जाने पर सेवा-भाव अपने आप उत्पन्न होगा, जो उन्नति का मूल है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

321

मिर्जापुर
22-12-1938

भगवन्,

यह काफी ध्यान रखना चाहिए कि की हुई क्रियाओं का प्रभाव मन पर क्यों अंकित होता है? जब तक क्रियाओं का प्रभाव अंकित होता है तब तक मन अमन अर्थात् अविषय नहीं हो सकता। जब तक मन अविषय नहीं होता जब तक शान्ति कहाँ? शान्ति के बिना स्थायी आनन्द कदापि नहीं मिल सकता। ऐसा मेरा अनुभव है।

सारी क्रियाओं का एक अर्थ होने पर क्रियाओं का राग अंकित होता ही नहीं।

राग के बिना द्वेष हो ही नहीं सकता। क्योंकि किसी का राग ही किसी का द्वेष बनता है। राग-द्वेष रहित होने पर हृदय में शुद्ध प्रेम उत्पन्न होता है। यह भली प्रकार समझ लो कि वास्तव में वही प्रेम, प्रेम है जो किसी के आधार पर जीवित नहीं है। सच्चे प्रेमी को आधार की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि अग्नि को अग्नि क्या जलायेगी। वास्तव में तो प्रेमी और प्रेद दो वस्तु किसी काल में नहीं होते। जैसा अपने को देखना चाहते हो उसके सद्भावपूर्वक मन में रख कर क्रिया करो। ऐसा करने से प्रत्येक क्रिया साधन का रूप बन जायगी। और ऐसा करने से ही प्रत्येक क्रिया का एक अर्थ होगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

322

लखनऊ
23-12-1938

मेरे निजस्वरूप,

साधारण मनुष्य भूल से किसी-न-किसी को आधार बना लेते है। इसी से बार-बार सुखी-दुःखी होते हैं। और विचारशील सब प्रकार के आधार को त्याग, जीवन में मृत्यु का अनुभव कर, अभय हो जाते हैं, और परम शान्ति पाते हैं। जो जीवन में मृत्यु का अनुभव नहीं कर सकते, वे परमात्मा का ध्यान कदापि नहीं कर सकते। क्योंकि जब तक शरीर आदि से असंग नहीं हो जाते, तब तक मन अविषय नहीं होता। और जब तक मन अविषय नहीं होता तब तक ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान के बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। और जब तक मन शुद्ध नहीं होता, तब तक आत्म-अनुभव नहीं हो सकता।

सद्भावपूर्वक की हुई इच्दाओं की पूर्ति के लिए, आनन्दघन भगवान् संसार के रूप से प्रकट होते हैं। जिसने सब प्रकार की इच्छाओं को त्याग, स्वयं शुद्ध भगवत्स्वरूप का अनुभव किया, वह पूजन करने योग्य है। जरूरी इच्छाओं को सेवाभाव से पूरा करो और बिना जरूरी इच्छाओं का त्याग करो। जो काम सेवाभाव से किया जाता है, उस काम का फल कुछ नहीं बनता, बल्कि काम समाप्त होते ही हृदय में एक अजीब प्रेम-धारा उत्पन्न होती है और जब तक वह प्रियतम में विलीन नहीं हो जाती, बहती रहती है-अर्थात् किसी प्रकार चैन नहीं पड़ता।

काम और सेवा में यही बड़ा भेद है कि काम तो फल में बाँध देता है, और सेवा स्वामी से मिला देती है। वास्तव में तो सेवा-भाव वाली क्रिया, स्वामी की पूजा होती है, क्योंकि सच्चे भक्त की दृष्टि में दुनियाँ नहीं रहती। अपने घर को, तन को, मन को भगवान् का वृन्दावन बना लो और इन्द्रिय-रूपी सखियों से, उनकी प्रेममयी लीला का रसास्वादन करो। अपने सत्य पर पूरा विश्वास करो, आप स्वय अपने दुःखों का अन्त कर सकते हो। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। दुःख बेचारा उसी समय तक रहता है जब तक आप रखना चाहते हो।सुख और दुःख आपके बनाए हुए खिलौने हैं। यदि आप चाहो तो तोड़ सकते हो दुःख मिटाने के पहले सुख और दुःख मिटाने के पहले सुख का त्याग करो, फिर बेचारा दुःख स्वयं दुःखी होकर भाग जायगा। विचारपूर्वक त्याग करने से सब प्रकार का दुःख मिट सकता है। ऐसा मेरा अनुभव है। त्याग उन्नति के लिए महामन्त्र है। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न समझना त्याग का सच्चा स्वरूप है।

अपने को देकर उनको ले लो, नहीं तो काल-चक्र खा जायगा। यह भलीभाँति समझ लो कि जो देता है, वही पाता है। जिसने जीवन की कल्पनाओं का

जीवन में ही अन्त कर दिया है, वही धन्य है। कल्पनाओं से परे आपको निज-स्वरूप है। इसलिए अपने को सर्वदा सर्वकाल में कल्पनाओं से परे अनुभव करो।

जो शरीर आदि पर विश्वास नहीं करता, वही सच्चा आस्तिक है। क्योंकि जो हर काल में नहीं है (संसार) उस पर विश्वास करने वाला नास्तिक है। किसी-न-किसी पर हर एक मनुष्य विश्वास करता हैं, परन्तु विचारशील, जो हर काल में है, उसी पर विश्वास करता है। अब विचार करो कि हर काल में क्या है? आपका शरीर, जैसा दस वर्ष पहले था वैसा अब नहीं है। तो इससे मालूम होता है कि शरीर हर काल में एकसा नहीं रहता। यह आप भली प्रकार जानते हैं कि आपके विचार अब पहले जैसे नहीं है, लेकिन शरीर और विचारों का जानने वाला कभी नही बदला। अब यह जानना है कि जानने वाला कौन है? शरीर और विचारों से अपने को ऊपर उठाओ। तब आप स्वयं जानने वाले को जानोगे। उसको जानने के लिए किसी और की सहायता मत ढूँढो, वह अत्यन्त समीप है। उसको जानते ही आप स्वयं वही हो जाओगे। परन्तु जब तक ऐसा अनुभव न कर लो, तब तक सुन कर सन्तोष मत करो।

देखो, जो दुनियाँ इस समय आपको मालूम होती है वह स्वप्न में नहीं मालूम होती। और स्वप्न की दुनियाँ जागने पर नहीं मालूम होती। स्वप्न के सुख-दुःख जागने पर झूठे हो जाते हैं। जब गहरी नींद आती है-यानी सुषुप्ति में, दोनों दुनिया में से कोई नहीं मालूम होती। अब विचार करो कि इन तीनों दशाओं को जानने वाला कौन है? यदि तीन होते, तो एक दूसरी अवस्था की याद न रहती। लेकिन जानने वाले को तीनों दशाओं की याद है। जिसने तीनों दशाओं का अनुभव किया है, वह तीनों अवस्थाओं से परे है। इसलिए अपने को, तीनों अवस्थाओं से परे उस जानने वाले को समर्पण कर दो, अर्थात् उससे अभेद हो जाओ। ऐसा करने से अवस्थाओं का भेद मिट जायगा और आपको अखण्ड रस का अनुभव होगा। जो जीवन का परम लक्ष्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

323

मिर्जापुर
दिसम्बर 1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

जीवन से अधिक जीवन के सदुपयोग करने का ध्यान रखना चाहिए। साधारण मनुष्य जीने की तो बड़ी इच्छा करते हैं, किन्तु जीवन का दुरुपयोग करने से नहीं डरते, इसीलिए दुःख पाते हैं। विचारशील जीने से अधिक जीवन के सदुपयोग करने की इच्छा करते हैं।

सुखी जीवन से संसार को सुख और दुःखी जीवन से संसार को दुःख अपने आप होता है। अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल है। अभिमान-रहित अच्छाई पूजन करने योग्य है। विषयों का पुजारी शान्ति नहीं पाता। किसी का निरादर न करने वाले को आदर तथा त्याग करने वाले को आनन्द अवश्य मिलता है। जो प्रेमी अपने प्रीतम के वियोग के दुःख में दुःखी हैं, उसको किसी और दुःख से दुःखी होने की फुर्सत नहीं मिलती। जो प्रेमी अपने प्रीतम को पा चुका है उसे किसी और वस्तु के पाने की अभिलाषा नहीं रहती। जो मालूम होता है उसका त्याग ही, जो नहीं मालूम होता, उसका प्रेम बन जाता है। गलत ज्ञान से इच्छाओं की उत्पत्ति, कर्म से इच्छाओं की पूर्ति, यथार्थ ज्ञान से इच्छाओं की निवृत्ति होती है। इच्छाओं की उत्पत्ति दुःख का मूल है। इच्छाओं की पूर्ति सुख का मूल है। इच्छाओं का मिट जाना आनन्द का मूल है। अविचाररूपी भूमि में राग-द्वेष-रूपी वृक्ष अपने आप उत्पन्न होता है। वृक्ष के हरे-भरे होने पर गलत ज्ञानरूपी फल अपने आप आ जाता हे, जो दुःख का मूल है। इसी प्रकार विचाररूपी भूमि में त्याग तथा प्रेमरूपी वृक्ष अपने आप उपजता है और वृक्ष के हरे-भरे होने पर यथार्थ ज्ञानरूप फल अपने आप आ जाता है, जो आनन्द का मूल है।

जिस हृदय में राग-द्वेष निवास करता है उसमें उसी काल त्याग तथा प्रेम निवास नहीं कर सकता, क्योंकि दिन और रात एक समय में नहीं रहते, यह नियम है। राग और द्वेष बीज और वृक्ष के समान हैं उसी प्रकार त्याग और प्रेम भी। संसार को भली प्रकार न समझने पर अविचार और भली प्रकार समझने पर विचार उत्पन्न होता है। संसार को समझने के लिए शरीर को भली प्रकार समझना चाहिए, क्योंकि शरीर संसार का अंग है। जो शरीर को नहीं समझ सकता, वह संसार को कभी नहीं समझ सकता।

यदि किसी काम को करने की बार-बार इच्छा होती है, तो यही समझना चाहिए कि वह काम हमने अभी उचित रीति से नहीं किया; क्योंकि प्रत्येक काम का आरम्भ काम के अन्त के लिए होता है, बार-बार करने के लिए नहीं होता है। जीवन का सदुपयोग होने पर जीवन के रखने की इच्छा बिल्कुल नहीं रहती।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

324

मिर्जापुर
सन् 1938

प्रिय आत्मस्वरूप,

सद्भाव पूर्वक की हुई भावनाओं के अनुसार इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीवन मिलता है। जब शरीर इस

प्रकार का हो जाता है कि जरूरत की पूर्ति के लिए काम नहीं कर सकता तब उस शरीर को प्रकृति माता कुछ काल के लिए अपने में विलीन कर लेती है और उन शक्तियों को जो कि कम हो जाती हैं उनको प्रदान कर फिर जीवन स्वरूप में प्रकट कर देती है। अतएव मृत्यु जीवन के लिए होती है और जीवन मृत्यु के लिए, जिस प्रकार निद्रा जगने के लिए और जागना निद्रा के लिए अनिवार्य है। यदि जीवन और मृत्यु के झंझटों से बचना चाहते हो तो सब प्रकार की इच्छाओं का अन्त कर डालो। क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीवन मिलता है और जीवन की उत्पत्ति के लिए मृत्यु होती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

325

काशी
1-1-39

प्रिय आत्मस्वरूप को स्पेरम समर्पण!

किसी प्रकार की लकड़ी क्यों न हो, किन्तु अग्नि का संग करने पर अग्नि हो जाती है। इसी प्रकार सत् का संग करने पर सभी सत् हो जाते हैं। ऐसा मेरा अनुभव है। जो अपने में असत् को (शरीर) धारण करते हैं, उनको सब ओर असत् संसार ही मालूम पड़ता है। जो अपने में सत् स्वरूप परमात्मा की स्थापना करते हैं, उनको सब ओर आनन्दघन भगवान के सिवाय और कुछ भी मालूम नहीं होता।

लकड़ी अग्नि होकर ही अग्नि को भली प्रकार जान सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। उसी प्रकार हम सत्-स्वरूप होकर ही सत् को जान सकते हैं, अन्य किसी भाँति नहीं। अतएव अपने में स्थायी भाव से सत्य की स्थापना करो ओर फिर अपना सब कुछ उन्हें समर्पण कर दो, अर्थात् शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को उनके पूजन की सामग्री बना दो। ऐसा करने पर सब कुछ उनका ही स्वरूप मालूम होगा। अर्थात् असत् संसार मिट जायगा और सब ओर प्रीतम ही प्रीतम नजर आयेगा।

जिस प्रकार मछली जल के बिना जीना पसन्द नहीं करती, उसी प्रकार सच्चा प्रेमी प्रीतम के बिना जीना पसन्द नहीं करता। प्रीतम की याद के आधार पर जिन्दा रहना शोभा नहीं देता, वह प्रेम क्या, जो वियोग को सहन कर सकता है? वह तो केवल धोखा है। यह भली प्रकार समझ लो कि जो बुराई अच्छाई के रूप में आती है, वह अत्यन्त दुःखदायी होती है। याद के आधार पर जीवित रहना वह बुराई है जो अच्छाई के रूप में मालूम पड़ती है, क्योंकि जिसको याद किया जाय, उसका प्राप्त करना ही परम आवश्यक है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

326

लखनऊ,
14-1-1939

प्रिय आत्मस्वरूप,

विचारपूर्वक अपनी दृष्टि से अपनी रुचि को देखिये कि वह क्या है? जो रुचि किसी भी प्रकार न मिटाई जा सके, उसको स्थायी तथा प्रबल बनाइये। प्रबल रुचि से और सब प्रकार की रुचियाँ मिट जाएँगी, केवल एक ही शेष रहेगी। फिर यथाशक्ति उसको पूरा करने का प्रयत्न करो। यदि सफलता न हो तो व्याकुलतापूर्वक मूक प्रार्थना करो अर्थात् मन, इन्द्रियादि भी जिसे न सुन सकें। फिर उस रुचि को अनन्त सत्य के समर्पण कर दो। बस, उसी काल में सफलता अवश्य प्राप्त होगी, क्योंकि सत्य की अभिलाषा ही सत्य प्राप्ति का मार्ग है। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछलियों को खाकर स्वयं मर जाती है, उसी प्रकार सत्य की अभिलाषा, और सभी अभिलाषाओं को मिटा कर अन्त में स्वयं भी शान्त हो जाती है। उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है।ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

327

लखनऊ
14-1-1939

प्रिय आत्मस्वरूप परम पवित्र तपस्वी,

संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता आनन्द के अभिलाषी को आशा तथा भय के जाल में बाँधकर आनन्द से विमुख कर देती है। यदि आशा और भय को विचारपूर्वक मिटा दिया जाय तो फिर बेचारा संसार निर्जीव तथा नीरस हो जाता है। संसार के सभी रस मिट जाने पर एक अलौकिक रस का अनुभव होता है, जो कहने में नहीं आता। उस अनोखे रस का अनुभव होते ही किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती अर्थात् सभी अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है। और स्थायी प्रसन्नता जीवन का स्वरूप हो जाती है। हृदय से राग-द्वेष मिट जाता है, स्वाभाविक अखण्ड समाधि प्राप्त होती है। शरीर-भाव गलकर ब्रह्मभाव हो जाता है। अपने सिवाय और कोई मालूम नहीं होता। हृदय में प्रेम की गंगा लहराती है। हर्ष और शोक सदा के लिए चले जाते हैं। शरीर चाहे जिस दशा में क्यों न रहे, उसका लेशमात्र भी प्रभाव अपने पर नहीं होता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

328

लखनऊ
जनवरी1939

प्रिय आत्मस्वरूप,

जीवन को जिस कल्पना में बाँध दिया हो उसके विपरीत क्रिया करने पर कर्ता का अपमान तथा संसार का अहित होता है। बुराई का चिन्तन बुराई से अधिक बुरा है, क्योंकि चिन्तन के अनुसार कर्ता का स्वरूप बन जाता है।

जो बिना सीखे हो वही सच्चा ज्ञान है, अर्थात् स्वभावतः आ जाय।

जो बिना हेतु के हो वही सच्चा प्रेम है और जो बिना किये हो वही सच्चा त्याग है, क्योंकि सच्चा त्याग करना नहीं पड़ता, हो जाता है। त्याग से प्रेम और प्रेम से ज्ञान अवश्य होता है। त्याग और प्रेम बीज और वृक्ष के समान हैं जो विचार रूपी भूमि में उपजते हैं। वृक्ष हरा-भरा होने पर ज्ञानरूपी फल अपने आप आ जाता है, जिसको पाकर कुछ पाना नहीं रहता, अर्थात् ज्ञान से जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। प्रेमरूप मनोहर सुन्दर वृक्ष को सत्संगरूपी जल से सींचते रहना चाहिए। चाह से रहित होने पर सत् का संग होगा, क्योंकि असत् के संग से ही बार-बार चाह उत्पन्न होती है। सत् की चाह तो एक बार उत्पन्न होकर पूर्ण हो जाती है। असत् वास्तव में स्वरूप में नहीं है, इसलिए उसकी चाह पूर्ण नहीं होती।

यह भली प्रकार ध्यान रखो कि कोई काम किसी आवेश में आकर न किया जाय। सच्चे प्रेमी की आवाज प्रेमपात्र के सिवाय और कोई नहीं सुन पाता। प्रेमरूपी धन अधिक से अधिक छिपाना चाहिए, यहाँ तक कि मन और इन्द्रियों को भी पता न चले। प्रेमी किसी की सहायता नहीं चाहता, यदि किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता मालूम होती हो तो समझ लो कि इस अभागे हृदय में सद्भावपूर्वक प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ। प्रेमी प्रीतम को अपने में अथवा अपने को प्रीतम में विलीन कर देता है, वहाँ किसी और के लिए स्थान नहीं रहता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

329

लखनऊ
17-2-1939

प्रिय आत्मस्वरूप को सप्रेम समर्पण,

साधारण मनुष्य शरीरादि वस्तुओं के संग से दुःख मिटाना चाहते हैं, परन्तु ऐसा करने से दुःख किसी प्रकार मिट नहीं सकता, क्योंकि शरीरादि के संग से चाह उत्पन्न होती है, जो दुःख का

मूल है। दुःख का कारण मिट जाने पर फिर दुःख उत्पन्न नहीं होता और जो दुःख उत्पन्न हो चुका है वह अपने आप शान्त हो जाता है क्योंकि लकड़ी-रहित अग्नि स्वयं बुझ जाती है। यह समझ लो कि दुःख आपका बनाया खिलौना है। यदि तुम चाहो तो तोड़ सकते हो। ऐसा कोई दुःख नहीं जो मिट नहीं सकता। क्योंकि जो वस्तु स्वरूप से सत्य होती है वह मिट नहीं सकती। दुःख वास्तव में स्वरूप से सत्य नहीं। बल्कि अविचार के कारण मालूम होता है।

देखो, यदि आपको अपने से सबल कोई व्यक्ति न मालूम हो तो आप दुःख का अनुभव नहीं कर सकते। और यदि आपको अपने से निर्बल कोई न मालूम हो तो आप सुखी न होगे। अतः सिद्ध हुआ कि सुख और दुःख आप अपनी परिस्थिति के अनुसार बना लेते हैं। कोई भी परिस्थिति सत्य नहीं होती। अतः सुख-दुःख सत्य नहीं। यदि आपको वह अवस्था प्राप्त हो कि न किसी से सबल न निर्बल, तो आप सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकते, अर्थात् किसी प्रकार का दुःख नहीं रह सकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

330

अलीगढ़

प्रिय आत्मस्वरूप,

सप्रेम समर्पण!

कई स्थानों से घूमता हुआ कृपा पत्र मिला।

1. जो सत्य के बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते वे सत्य को अवश्य पाते हैं, क्योंकि व्याकुल हृदय की पुकार अवश्य सफल होती है।
2. जो अपने को सब ओर से हटा लेता है उसको सब कुछ अवश्य मिलता है, अर्थात् किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती।
3. सब प्रकार की आशा तथा भय के मिट जाने पर पवित्र प्रेम उत्पन्न होता है।
4. प्रेमरूप सूर्य के उदय होते ही मोहरूप अन्धकार मिट जाता है।
5. प्रेम से इच्छाओं की निवृत्ति और मोह से इच्छाओं की उत्पत्ति होती है।
6. प्रेम से यथार्थ ज्ञान और मोह से गलत ज्ञान उत्पन्न होता है।
7. प्रेम अपने से, मोह शरीर से होता है।
8. प्रेम एक से, मोह अनेक से होता है।
9. प्रेमी को अनेक में एक ही मालूम होता है।
10. प्रेम के उदय होते ही विषय-विकार मिट जाते हैं।
11. जिस प्रकार नदी मिट कर समुद्र का अनुभव करती है उसी प्रकार अहंकार मिटने पर ही आत्म - अनुभव होता है।

12. अरे दुनिया के दुःखियों! अब देर मत करो। व्याकुल हृदय से आनन्दघन भगवान् को बुलाओ। वह अवश्य आयेंगे, आयेंगे, आयेंगे।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

331

कर्णवास
26-3-39

प्रिय आत्मस्वरूप को सप्रेम समर्पण !

कई स्थानों पर घूमता हुआ कृपापत्र मिला।

1. जो अपने दोषों और दूसरों के गुणों पर दृष्टि रखता है वह उन्नति अवश्य करता है।
2. जो गुण और दोष दोनों से ऊपर उठ चुका है, वह पूजन करने योग्य है।
3. अपनी दृष्टि में अपने को जो आदर के योग्य नहीं पाता वह महान दुःखी है।
4. संसार दोषयुक्त जीवन को निरादर के भाव से और गुणयुक्त जीवन को आदर के भाव से अवश्य देखता है।
5. जब तक अपने से भिन्न और किसी की आशा करता है, तब तक सुख-दुःख से बच नहीं सकता, ऐसा मेरा अनुभव है।

पत्र पढ़कर प्रसन्न होना बड़ी भूल है, क्योंकि यदि पत्र पढ़ने की चाह न होती तो प्रसन्नता किसी प्रकार नहीं हो सकती थी। चाह का होना दुःख का मूल है। यदि आप अखण्ड प्रसन्नता चाहते हों तो सब प्रकार की चाह को विचाररूपी अग्नि में भस्म कर दें।

स्वप्न का अधिक होना कई कारणों से होता है-

1. गहरी नींद का न आना।
2. जन्म-जन्मान्तर के संस्कार।
3. जाग्रत अवस्था के व्यवहार में सद्भाव, अर्थात् उसे सत्य समझना।
4. अविद्या आदि।

यह नियम है कि अधिक दुःख-सुख होने पर अवस्था भंग हो जाती है, इसलिये जो अपने को सब अवस्थाओं से ऊपर नहीं उठा लेता, वह स्थायी शान्ति नहीं पाता। अतएव अपने को सब अवस्थाओं से ऊपर उठाओ। देखो, अवस्थाओं का जानने वाला अवस्थाओं से वास्तव में भिन्न होता है क्योंकि जानने वाला यदि अवस्थाओं से अलग न होता तो उसे अवस्थाओं का ज्ञान किसी प्रकार से नहीं हो सकता था, परन्तु जब भूल से अपने को अवस्था से मिला देता है, तब सुखी-दुःखी होता है।

जब तक अपने को अवस्थाओं से भिन्न अनुभव न कर लो, तब तक चैन

से मत रहो। अब देर मत करो, व्याकुल हृदय से आनन्दघन भगवान् को बुलाओ, वे अवश्य आयेंगे।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

332

बरेली
6-5-1939

मेरे निज स्वरूप,

'मैं उनका हूँ, और वह मेरे हैं'- इस भाव के दृढ़ होने पर उनकी याद अपने आप आती है, और उनके बिना किसी प्रकार कल नहीं पड़ती। यह भक्त की प्रथम अवस्था है। वह मेरे हैं, इस भाव के दृढ़ होने पर उनका ध्यान अपने आप होता है और ध्यान आते ही असह्य दुःख होता है। यह भक्त की दूसरी अवस्था है। उनके सिवाय किसी काल में और कुछ है ही नहीं (अर्थात् में कुछ नहीं हूँ) यह अनुभव होने पर स्थायी अखण्ड प्रसन्नता होती है और फिर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। यह भक्त की अन्तिम अवस्था है।

पूजन, पूज्य, पुजारी, तीनों के मिट जाने पर उनके एक हो जाने पर आनन्द का अनुभव होता है। मन, इन्द्रिय आदि जिन साधनों से प्रियतम की आराधना की जाती है वही पूजन है। कर्तापन का भाव ही पुजारी है।

प्रेमी का स्नान क्या है?—रोना। प्रेमी का ध्यान क्या है?—अपने आप को मिटा देना। प्रेमी की पूजा क्या है? सच्ची व्याकुलता। प्रेमी का भोजन क्या है? हर्ष और शोक। प्रेमी निवास कहाँ करता है? जहाँ और कोई न हो। प्रेमी का पाठ क्या है? मौन

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका
अभेदस्वरूप

.....

333

बरेली
10-5-1939

मेरे आत्मस्वरूप,

भूतकाल को भूल कर, भविष्य की आशा को छोड़कर और वर्तमान की आवश्यकता नियमानुसार क्रियाओं से असंग हो जाने पर आत्मानुभव अवश्य होगा। देखो, भूतकाल के भूल जाने से जीवन में की हुई क्रियाओं का प्रभाव मिट जाएगा और भविष्य की आशा न करने से सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होगी। यह भली प्रकार समझ लो कि व्याकुलता ही प्रेम-पात्र से मिला सकती है। भविष्य की आशा सच्ची व्याकुलता नहीं उत्पन्न होने देती। भविष्य की आशा तो तब करनी चाहिए कि जब हमारा प्रियतम हमसे

देश-काल की दूरी पर हो। जो सर्व देश और सर्व-काल में है, उसके मिलने के लिए भविष्य की आशा करना परम भूल है। जिस प्रकार मछली जल के बिना किसी प्रकार जीवन रखना पसन्द नहीं करती, उसी प्रकार जब हम अपने प्रेम-पात्र के बिना किसी प्रकार जीवन पसन्द नहीं करेंगे, तब हमारा प्रेम-पात्र हमको अवश्य मिल जाएगा, ऐसा मेरा अनुभव है।

सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होने पर किसी प्रकार की बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। जो प्रेमी अपने प्रियतम के वियोग में दुःखी है, उसको संसार के दुःखों से दुःखी होने की फुरसत नहीं मिलती। उसके कान संसार की आवाज सुन नहीं पाते, उसकी आँखें संसार को देख नहीं पातीं, उसका मन संसार का चिन्तन नहीं करता, उसका हृदय संसार से मिल नहीं सकता, ऐसा मेरा अनुभव है।

334

.....

29-10-1939

मेरे आत्मस्वरूप,

1. कर्तव्य का यर्थाथ ज्ञान होने पर गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती।
2. जो करना चाहिये, उसके करने से करने का अन्त हो जाता है।
3. सब प्रकार की क्रियाओं का अभाव होने पर कर्ता का अन्त हो जाता है।
4. सुख और दुःख बीज और वृक्ष के समान हैं, क्योंकि सुख रूप बीज से ही दुःख रूप वृक्ष हरा-भरा होता है।
5. किसी का न होना, किसी का होना हो जाता है।
6. जिस प्रकार गोल चक्र में घूमने वाला कभी घूमने का अन्त नहीं पाता, उसी तरह बार-बार एक ही प्रकार की क्रिया करने वाला कभी करने का अन्त नहीं कर पाता।

क्या कभी अपने को 'चैक' (check) किया, और यह जाना आप क्या चाहते हैं? जो चाहते हैं, उसकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है? क्या इन परम आवश्यक प्रश्नों को हल किये बिना कभी शान्ति मिल सकती है कदापि नहीं। जो आप चाहते हैं, वही आप का प्रेमपात्र है। प्रेमपात्र का यथार्थ ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है। ज्ञान से संसार के बन्धन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। वह कौन है, जिसके बिना आप किसी प्रकार नहीं रह सकते? जब तक उसे न जान लो किसी प्रकार चैन से न रहो। यद्यपि उसके बिना जाने किसी को भी चैन नहीं मिलता, फिर भी उसके लिए व्याकुल होना है। क्योंकि दुःख में सुख का भाव हो जाने से जीवन में एक अजीब कँगलापन तथा झूठा सन्तोष आ गया है, जिससे सद्भाव पूर्वक स्थायी व्याकुलता नहीं होने पाती। व्याकुलता के

बिना किसी प्रकार भी अपने प्रेमपात्र को नहीं जान सकते। दुःख को दबाओ मत बल्कि मिटा दो, क्योंकि दबा हुआ दुःख बार-बार आ जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि अभागे दुःखी का दुःख उसी समय तक जीवित है, जब तक दुःखी दुःख को संसार की सहायता से मिटाना चाहता है। पवित्र त्याग तथा प्रेम के आ जाने पर दुःख अपने आप मिट जाता है। त्याग करने की चीज है, अर्थात् उसे सभी कर सकते हैं। किसी का त्याग किसी का प्रेम अपने आप हो जाता है। त्याग आ जाने पर शरीर आदि सभी वस्तुओं से असंगता हो जाती है। संसार से असंगता आते ही 'उनका' संग हो जाता है। यदि उनका संग नहीं होता तो समझना चाहिये कि अभी संसार का संग बाकी है। स्मरण, ध्यान के आधार पर कब तब जीवित रहोगे, वह स्मरण निर्जीव है जो उनके संग में नहीं बदलता।

जो जरूरी काम नहीं करते हैं उनको किसी-न-किसी प्रकार मजबूर होकर करने पड़ते हैं। जरूरी काम से मुँह छिपाना उचित नहीं है। जरूरी काम वही है, जिसके करने से करने का अन्त हो जाए। अपनी प्रत्येक क्रिया को विचार पूर्वक देखो। उसकी खोज करो कि सबसे अन्त में क्या करना है। जो सबसे अन्त में करना है, उसको भविष्य की आशा पर मत छोड़ो अगर भविष्य की आशा पर छोड़ोगे और बार-बार उन्हीं क्रियाओं को करोगे कि जिन्हें कर चुके हो, तो वही दशा होगी जो गोल चक्र में घूमने वाले की होती है।

बनेंगे उनके दीवाने जो हम,
फिरेंगे पीछे हमारे वह भी।

जो हम करेंगे निसार तन मन,
वह जान हम पर फिदा करेंगे।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

335

इटावा
14-12-39

प्रिय आत्मस्वरूप,

1. जो दुःख देता है वह भी सेवा ही करता है।
2. जो करना चाहिये उसका करना कोई विशेषता नहीं है, बल्कि उसका स्वयं ही अर्थात् अपने आप हो जाना विशेषता है।
3. जो नहीं करना चाहिये उसका न करना कोई विशेषता नहीं है, बल्कि उसका किसी प्रकार अपने आप न होना विशेषता है।
4. करना तथा न करना उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक सीमित अहंभाव, अर्थात् महदूदियत रहती है।

5. संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता, अर्थात् शत्रुता तथा मित्रता पर विश्वास करना परम भूल है, क्योंकि बेचारे संसार की, स्वरूप से किसी काल में भी स्थिति नहीं है।
6. शत्रुता और मित्रता का भाव बेचारे को दुःखहारी हरि से मिलने नहीं देता, क्योंकि मित्रों का राग और शत्रुओं का द्वेष मन को अमन नहीं होने देता।
7. शत्रुता और मित्रता का भाव मिट जाने पर अभेदता का भाव अपने आप उत्पन्न होता है।
8. अभेदता का भाव उत्पन्न होते ही सब प्रकार की अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है, क्योंकि अभिलाषा तब उत्पन्न होती है, जब स्वरूप से एकता हो और न जानने से भेद मालूम होता हो, क्योंकि जिससे एकता नहीं होती उसकी अभिलाषा किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकती, ऐसा अनेक युक्तियों से अनुभव हो चुका है।
9. सब प्रकार की अभिलाषाओं का अन्त हो जाने पर सीमित भाव मिट जाता है। भगवान्! कृपया सद्भाव स्वीकार कीजिये।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

336

लखनऊ
31-12-1939

अनावश्यक काम को न रखने पर आगे पीछे का चिन्तन मिट जाता है और आवश्यक काम पूरा करने के लिए अतयन्त प्रबल अभिलाषा उत्पन्न होता है। जो जरूरी है उसको भविष्य की आशा छोड़ देना परम भूल है। जिसके बिना किसी प्रकार भी रह सकते हैं उसको आवश्यक काम नहीं समझना चाहिये। क्योंकि आवश्यक काम वह है जिसके बिना किसी प्रकार भी नहीं रह सकते। बेचारा मन अनन्तकाल से स्थायी आनन्द की खोज में भटकता है। परन्तु विलासी अहंभाव बेचारे मन को जो करना चाहिए नहीं करने देता, बल्कि मल-मूत्र-पूर्ण दुर्गन्धि से भरे हुए शरीर पर सुगन्धित वस्तुएँ तथा अनेक अलंकार सुन्दर वस्त्रों से सुशोभित करने के लिए बेचारे मन को मजबूर करता रहता है। यद्यपि मन, बुद्धि, आदि सभी उस अभागे कंगाल, विलासी की आज्ञा का पालन अनन्त काल से करते-करते अनेक बार काफी थक चुके हैं। परन्तु विलासी अपने स्वभाव को नहीं बदलता। इसलिए अब उस विलासी अहंभाव को विचार रूपी गोली से मार देना परमावश्यक है। जिसको शरीर का ज्ञान नहीं होता उसको संसार का का ज्ञान नहीं हो सकता और जिसको शरीर का पाठ करना नहीं आता उसको पुस्तकों के पाठ से कुछ लाभ नहीं होता। इसलिए अब अपने शरीर का पाठ करना सीखो। क्योंकि शरीर का भली प्रकार पाठ करने से विलासिता का अन्त हो जाता है। विलासिता का अन्त होने पर एक अनौखी व्याकुलता उत्पन्न होती है, जो कहने में नहीं और फिर जीवन और मृत्यु में कुछ भेद नहीं मालूम होता। उस अवस्था के बिना सत्य का अनुभव किसी प्रकार नहीं हो सकता। जिस प्रकार बिना नींव के मकान किसी तरह नहीं बन सकता उसी प्रकार बिना सत्य के अनुभव के, सेवा करने का भाव पूरा नहीं हो सकता। क्योंकि सेवा वहीं कर सकता है जिसे अपने लिए कुछ भी करना बाकी नहीं होता। साधारण मनुष्य शुभ कर्म को सेवा समझकर झूठा सन्तोष कर लेते हैं। कर्म में रुचि उसी समय तक रहती है जब तक किसी न किसी प्रकार की विलासिता हृदय में छिपी रहती है। विलासिता का अन्त होने पर त्याग के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। ऐसा मेरा अनुभव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

337

.....
7-1-1940

मेरे निज स्वरूप,

1. जो किसी को नहीं चाहता उसको सभी चाहते हैं।
2. जो कुछ नहीं करता वह सब कुछ करता है।
3. यदि संसार पर शासन करना चाहते हो तो संसार को अपनी इच्छा-पूर्ति का साधन मत बनाओ। बल्कि यथाशक्ति उसकी पूर्ति का साधन बन जाओ।
4. करने से भोग और कुछ न करने से योग अपने आप हो जाता है।
5. यदि स्थायी आनन्द चाहते हो तो सत्य का अनुभव करो।
6. यदि सत्य का अनुभव करना चाहते हो तो असत्य का त्याग करो। क्योंकि सत्य का अनुभव करने के लिए किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता नहीं है।
7. अपने में शरीर भाव के धारण करने पर आनन्दघन भगवान् संसार के स्वरूप में प्रतीत होते हैं।

त्याग उसी का करना चाहिए कि जो त्याग करने वाले का त्याग करता है। विचार दृष्टि से देखिए कि शरीर आदि सभी वस्तुएँ लगातार जल-प्रवाह के समान अलग हो रही है। इसलिए उन सबसे अपने को ऊपर उठा लेना परम आवश्यक है। यदि त्याग न किया तो जब वे त्याग कर देंगे तो उनकी याद आएगी, जो सत्य की याद नहीं करने देगी। याद उन्हीं चीजों की आती है जो अपनी ओर से त्याग कर देती है। इसलिए त्याग कर देने वाली चीजों का त्याग कर देना ही परम आवश्यक है। जिस काल में त्याग करने वाली सभी वस्तुओं का त्याग हो जाता है उसी काल में सत्य का अनुभव अपने आप हो जाता है। यदि सत्य का अनुभव आवश्यक हो गया हो तो उसको भविष्य की आशा पर मत छोड़ो। भविष्य की आशा सच्ची व्याकुलता नहीं उत्पन्न होने देती। जो देश काल की दूरी पर नहीं हैं वह वर्तमान में ही मिल सकता है। सत्य का अभिलाषी उस समय तक सत्य को नहीं पा सकता जब तक कि सत्य के बिना वह किसी प्रकार भी रह सकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

338

.....

12-1-1940

मेरे निजस्वरूप,

जीवन की अनेक घटनाओं ने यह भली-भाँति सिखा दिया है कि संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास करना परम भूल है। उसी भूल के कारण बेचारा आनन्द का अभिलाषी प्राणी, भय और आशा के जाल में फँस जाता है। यदि विचार रूप अग्नि से संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता को जला दिया जाय तो सारा संसार निर्जीव तथा नीरस हो जाता है। और सभी रस के मिटने पर, एक परम पवित्र विचित्र रस

का अनुभव होता है। क्योंकि किसी का न होना किसी का होना हो जाता है। इस अजीब रस का अनुभव होने पर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। अर्थात् सभी अभिलाषाओं का सदा के लिए अन्त हो जाता है। उस रस को मनुष्य-मात्र प्राप्त कर सकता है। क्योंकि उसको प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि अपने बनाए हुए सभी संगठन मिटाने पड़ते हैं। अपनी बनाई हुई वस्तुओं को मिटाने के लिए सभी स्वतन्त्र होते हैं। सत्य का कोई रास्ता नहीं है, सिवा इसके कि सत्य की सद्भावपूर्वक अभिलाषा उत्पन्न हो जाए यही केवल एक मार्ग है। विचार दृष्टि से देखिए जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा कर स्वयं अन्त में मर जाती है। उसी प्रकार सत्य की अभिलाषा सभी अभिलाषाओं को खाकर अन्त में अपने आप मिट जाती है। सब उसी काल में सत्य का अनुभव हो जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

339

.....

21-3-1940

मेरे निजस्वरूप,

यह एक नियम है कि क्रियाओं का अभाव होने पर कर्ता का अभाव हो जाता है। अर्थात् क्रियाओं का समूह कर्ता का स्वरूप है। अतः निन्दा करने से कर्ता को स्वयं निन्दनीय हो जाना पड़ता है। निन्दा वही करता है जिसको अपनी स्तुति की अभिलाषा होती है। अभिलाषा उसी वस्तु की होती है जो अपने में नहीं होती। अर्थात् जो स्तुति के योग्य नहीं होता वही स्तुति की अभिलाषा करता है। दोष रहित प्राणी किसी प्रकार निन्दा कर नहीं सकता। कर्ता की कोई नित्य स्वतन्त्रत सत्ता नहीं होती। वह क्रियाओं का स्वरूप होता है। क्रिया, कर्ता, और फल देखने में अलग-अलग वस्तु हैं मगर वास्तव में एक ही हैं, क्रियाओं के अभाव में कर्ता का अस्तित्व नहीं। जो वकालत नहीं करता वह वकील नहीं। जब क्रिया ही कर्ता का स्वरूप है तब निन्दक, निन्दनीय होकर निन्दा करता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

340

.....

22-2-1940

मेरे निजस्वरूप,

लोग दूसरों को दुःख क्यों देते हैं? जो स्वयं दुःखी नहीं होता, वह बेचारा किसी को दुःख दे नहीं पाता। अर्थात् दुःखी होकर ही दूसरों को दुःख देता है।

यदि यह चाहो कि वह दुःख न दे तो ऐसा प्रयत्न करो कि वह दुःखी न रहे। जब उसका दुःख मिट जाएगा फिर वह किसी को किसी प्रकार का दुःख नहीं दे पाएगा। क्योंकि दी वही वस्तु जाती है जो अपने पास होती है। जब उसके पास दुःख रहा ही नहीं तो दे कहाँ से सकता है। इसलिए विचारशील को चाहिए कि दुःखी का भूलकर भी तिरस्कार न करे। बल्कि उसका दुःख मिटाने का यथाशक्ति प्रयत्न करे। जो दूसरों का दुःख मिटाता है उसका दुःख अपने आप मिट जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

341

.....
17-3-1940

मेरे निजस्वरूप,

शरणागति जीवन में एक बार होती है। जो संसार से आनन्द लेता है वह शरणागति नहीं प्राप्त कर सकता। इसके लिए समय नहीं लगता। व्याकुलता पूर्वक स्मरण करने से किसी का स्मरण किसी का विस्मरण हो जाता है। सत्य का स्मरण, संसार का विस्मरण होने पर ही होता है। शरणागति कर्म नहीं बल्कि जब कर्म कोई सुख नहीं दे पाता तब शरणागति का भाव उदय हो जाता है। शरणागति होने पर स्थायी संग होता है। जो भक्तों की शरणागति है वही तत्वेत्ताओं का ज्ञान है। शरणागति के लिए आस्तिकता की जरूरत होती है। मानी हुई आस्तिकता आस्तिकता नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

342

.....
16-3-1940

मेरी निजस्वरूपा

जो अच्छाई तथा गुण मालूम होते हैं वे वास्तव में अपने नहीं होते। क्योंकि जैसे आँख, देखने वाली शक्ति को कभी नहीं देख पाती, वैसे ही जो अच्छाई अपनी हो जाती है वह मालूम नहीं होती। यदि दूसरों की वस्तुओं ने समय पर काम नहीं दिया तो उसका दुःख ही क्या? यदि अच्छाई न होने का सच्चा दुःख है तो अच्छाई अवश्य ही आ जाएगी। दुःख को अपनाओ। क्योंकि यह नियम है कि जो अपना हो जाता है वह स्वयं रक्षा करता है। इसलिए जो महानुभाव दुःख को अपना लेते हैं उनकी रक्षा दुःख अवश्य करता है। जो दुःख से डरते है उनको दुःख, दुःखी करता है। बुराई को याद करना बुराई से भी अधिक बुराई है। देखो, जिसके चले जाने के बाद यदि आप

उसे बराबर याद करते हैं, तो वह बेचारा मजबूर होकर कभी-न-कभी आ जाता है। अतः जिसको आप नहीं बुलाना चाहते उसकी बिल्कुल याद मत करो। बुराई की याद करना बुराई को बुलाना है। बुराई के निकल जाने पर अच्छाई अपने आप आ जाती है। क्योंकि स्थान खाली नहीं रहता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

343

काशी
7-4-1940

प्रिय अभिन्न हृदय,

अपनी कमी अनुभव करने पर दुःख, और दूसरों की कमी देखने पर क्रोध आता है। दुःख से बुद्धि शुद्ध हो जाती है, और क्रोध से अशुद्ध हो जाती है। बुद्धि शुद्ध होने पर कर्त्तव्य का ज्ञान स्वयं हो जाता है और बुद्धि अशुद्ध होने पर कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है। कर्त्तव्य का ज्ञान होने पर उन्नति की ओर, और कर्त्तव्य से विमुख होने पर अवनति की ओर जाता है। कर्त्तव्य पूरा होने पर कमी मिट जाती है।

विचार दृष्टि से देखो कि कमी वास्तव में जिसमें होती है वह एक है। जिसमें कमी नहीं होती वह भी एक है। जिसमें कमी है उसका संग करने से कमी और जो पूर्ण है उसका संग करने से पूर्णता प्राप्त होती है। शरीर और संसार अंग और अंगी के समान हैं। इसलिए जब तक शरीर में अहंभाव होता है तब तक कमी किसी प्रकार नहीं मिटती। शरीर का अहंभाव मिटते ही विश्व से ऐक्य अनुभव होता है और फिर हृदय शुद्ध प्रेम से भर जाता है। शुद्ध प्रेम प्रेमपात्र से अभेद कर देता है। क्योंकि जिससे प्रेम होता है उसको न भूलता है ओर न दूरी रहती है। दूरी और भूल मिटते ही अखण्ड समाधि तथा अपार आनन्द अनुभव होता है। प्रेम करने के लिए सभी समर्थ हैं। इसलिए सद्भाव पूर्वक अभिलाषा होने पर आप आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

344

.....
28-4-1940

मेरे निजस्वरूप,

जिस प्राणी को अपने कर्त्तव्य का बल होता है वह कर्त्तव्य की शक्ति समाप्त कर देने पर भगवत्-प्राप्ति कर पाता है। और जिस प्राणी को अपने

कर्त्तव्य का बल नहीं होता वह भगवत् कृपा से भगवत् प्राप्ति कर लेता है। उनकी कृपा का आधार सर्वोत्तम है। कृपा का अभिलाषी निरन्तर कृपालु की बाट देखता रहता है, यहाँ तक कि प्रेमपात्र की प्रतीक्षा में पलक तक चलाने की फुरसत नहीं मिलती। मन इन्द्रियादि चेष्टा-रहित हो जाते हैं, और हृदय एक अजीब मधुर रस से भर जाता हैं ऐसी अवस्था बनाई नहीं जाती, बल्कि हो जाती है। यह नियम है कि बनाई हुए सभी वस्तुएँ मिट जाती हैं, इसलिए अपने को बनाओ मत। जिस समय आपके हृदय की सरलता कम हो उस समय सचेत हो जाना चाहिए। करने के आधार से किसी प्रकार उनको नहीं पाया जा सकता, क्योंकि करने वाले मजदूर होते हैं। कर्त्तव्य का अभिमान सच्ची व्याकुलता होने नहीं देता। अभिमान मिटने पर व्याकुलता अपने आप आ जाएगी।

दूसरों के कर्त्तव्य को वही देखता है जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। उन्होंने कृपा नहीं की यह कैसे जाना? आपको जो करना है वह कर डालो। उनको जो करना है वह स्वयं करेंगे। जिसने उनकी कृपा का सहारा पकड़ा है वह सभी पार हो गये हैं, ऐसा अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है। जो संसार का सहारा नहीं पकड़ता उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

जिस समय आप अकेले हो जायेंगे वे बिना बुलाये आ जायेंगे। यदि उनसे मिलना चाहते हो तो अकेले हो जाओ। मिलने से पहले स्तुति करना अपने आप को धोखा देना है। क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं उसकी स्तुति कैसी? मिलने की भावना पूरी होने पर हृदय की जो दशा होती है वह स्तुति है। दूसरों की की हुई स्तुति आपके किस काम आएगी? संसार से निराश हो जाओ, यही सच्चा भजन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

345

.....

अप्रैल-1940

मेरे निजस्वरूप,

सत्य की अनुभूति मनुष्यमात्र अवश्य कर सकता है। इसके लिए कभी निराश नहीं होना चाहिए। जो सत्य के बिना नहीं रह सकता, उसको सत्य अवश्य मिलता है। अतएव अपने को ऐसा बनाओ कि हृदय सत्य के बिना किसी प्रकार रह न सके। अर्थात् सत्य के बिना मिले सन्तोष न हो। यह उन्नति का मुख्य साधन है। जिसको पाकर फिर कुछ पाना शेष न रहे, उसके मिलने पर समझ लो कि हमको सत्य मिल गया। यह भली प्रकार समझ लो कि सच्चाई को किसी और की गवाही की जरूरत नहीं है। अर्थात् सत्य वह है कि जिसको पाकर किसी प्रकार की चाह नहीं रहती, कोई

कमी नहीं रहती। ऐसा मेरा अनुभव है। सत्य सब प्रकार से पूरा है। अतएव सत्य की अनुभूति होने पर असत्य, अर्थात् अपूर्णता मिट जाती है। अपूर्णता, चाह और संसार तीनों एक ही वस्तु हैं क्योंकि अपूर्णता से चाह और चाह से संसार की प्रतीति होती है। सत्य की अभिलाषा उत्पन्न होने पर और सब अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है। अर्थात् जो भगवान् को चाहता है वह किसी और को नहीं चाहता। सत्य को जानो, मानो मत। असत्य मानने पर जीवित है और सत्य जानने पर अनुभूत होता है। सत्य को मानने की किसी काल में भी आवश्यकता नहीं होती। असत्य का (संसार) का सभी कार्य मानने पर होता है। इसलिए जिन साधनों से असत्य की अनुभूति होती है, उन साधनों से सत्य की अनुभूति किसी प्रकार नहीं हो सकती। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से असत्य जाना जाता है, सत्य नहीं। अतएव सत्य के जानने के लिए अपने आपको बुद्धि आदि से ऊपर उठाओ। ऐसा करने से सत्य का मार्ग दिखाई देगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

346

ब्रज यात्रा के मार्ग में
3-8-1940

मेरे निजस्वरूप,

संसार के सभी प्राणी परस्पर एक दूसरे से अपने-अपने अधिकार के लिए चीखते हैं, परन्तु पाते नहीं। विचार करने से मालूम होता है कि अधिकार वास्तव में माँगे नहीं जाते हैं और न आसुरी बल के आधार पर प्राप्त किये जाते है। यदि किसी की निर्बलता के कारण राक्षसी बल से अधिकार प्राप्त कर भी लिया जाय तो फिर वह अधिकार कुछ काल में अवश्य छिन जाता है। क्योंकि वह अधिकार हृदय पर नहीं होता। अधिकर के समय पर भी विरोध शक्ति हृदय में काम करती रहती है, और कालान्तर में परस्पर एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करती रहती है। अर्थात् सच्चा शासन हो ही नहीं पाता। अधिकार तो कर्त्तव्य का दास है। जो अपने कर्त्तव्य का पालन करता है उसको बिना अभिलाषा के भी अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है और जो प्रेमी अपने आप को मिटा देता है उसका अधिकार प्रेमपात्र पर हो जाता है। यद्यपि कर्त्तव्य की गुलामी परम भूल है परन्तु कर्तव्य पूरा करने पर ही कर्ता से कर्तव्य पार हो सकता है। यदि कर्तव्य से पार होना चाहते हों तो कर्तव्य पूरा करने पर जो अधिकार अपने आप मिले, उससे प्रसन्नता न खरीदो। ऐसा कर्ता, कर्तव्य की गुलामी से छूट जाता है। अर्थात् संसार उस पर शासन नहीं कर

पाता। तब प्रेमी प्रेमपात्र की ओर देखने का अधिकारी होता है। और फिर प्रेमपात्र की ओर देखते ही प्रेमी स्वयं मिट जाता है। प्रेमी का कर्त्तव्य क्या है? मिट जाना। मर जाना। अधिकर क्या है? आनन्द। अर्थात् प्रेमी आनन्द को पाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

347

मथुरा
19-8-1940

मेरे निजस्वरूप,

दुःख होने पर संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अतः दुःख जीवन की परम आवश्यक वस्तु है। सुखी प्राणी कभी संसार को जान नहीं पाता। अतः सुख का विचारपूर्वक त्याग कर देना विचारशील का काम है, क्योंकि सुख के निर्मूल होने पर दुःख अपने आप मिट जाता है। सुख और दुःख के मिट जाने पर अपार आनन्द की अनुभूति होती है। दुःख रूप भगवान् सुख मिटाने के लिए अवतार लेते हैं। अतः दुःख का हृदय से प्रसन्नता पूर्वक स्वागत करो। प्रेमपात्र के स्मरण चिन्तन तथा ध्यान के आधार पर जीवित मत रहो। क्योंकि ऐसा करने से अहंकार मिटता नहीं, बदल जाता है। अहंकार के रहते हुए आनन्द की अनुभूति किसी प्रकार नहीं हो सकती। अहंकार मिटाने के लिए तो प्रेमपात्र का संग करना होगा।

संग और चिन्तन में बड़ा भेद है। चिन्तन-ध्यान करते हुए कुछ न कुछ दूरी रहती है। और संग करने पर दूरी मिट जाती है। उनका संग करने के लिए अकेले हो जाइये। जब तक और कोई आपके साथ है तब तक उनका संग नहीं हो सकता परम कृपालु निरन्तर प्रतीक्षा कर रहे हैं कि जब आप अकेले हो जायँगे तब वह आपको अपना लेंगे। देखो, कोई भी प्रेमी अपने प्रेमपात्र से किसी के सामने नहीं मिलता। जब प्रेमी और प्रेमपात्र के सिवाय कोई नहीं होता तब मिलाप हो जाता है। ऐसा अनुभव हो चुका है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

348

.....
5-1-1940

प्रिय आत्मस्वरूप,

विचार दृष्टि से देखिये। कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं कि जिनके बिना दुःख पूर्वक रहते हैं और कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके बिना सुख पूर्वक रहते हैं। परन्तु

विचारशील को तो उसकी खोज करना है कि जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते। जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते वह सर्वदा प्राप्त है। परन्तु फिर भी दूरी क्यों मालूम होती है? यदि इस पर विचार किया जाए तो यही मालूम होता है कि सिर्फ न जानने की दूरी है। हमारी जानने की शक्ति सुख और दुःख में लगी रहती है, इसलिए अपने प्रेमपात्र को नहीं पाते।

सुख का लालच तथा दुःख का भय जीवन का स्वरूप बन गया है। जब यह जीवन बदल जायगा अर्थात् सुख का लालच और दुःख का भय न रहेगा तब एक अजीब शक्ति आ जायगी जिससे फिर न जानने की दूरी मिट जाएगी। शक्ति हीनता को विचार रूप अग्नि में जला दीजिये। विचारशील की गिरावट भी ऊँचाई का कारण हो जाती है। हारा हुआ योद्धा बड़ी प्रबलता से लड़ता है और अन्त में विजय अवश्य प्राप्त करता है। विजय तो वही नहीं पाता जो हार के डर से डरकर तथा जीत के अभिमान में आकर लड़ने का भाव मिटा देता है। अनेक बार हारने पर भी लड़ने का भाव जीवित रखना विचारशील का काम है। जिसके बिना किसी भी प्रकार रह सकते हैं उसकी इच्छा करना ही बन्धन तथा दुःख का मूल है। जिसके बिना किसी भी प्रकार नहीं रह सकते उसमें अपने को विलीन कर देना मोक्ष तथा आनन्द है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

349

चम्बल तट अबारी
19-12-1940

मेरे निजस्वरूप,

आनन्दघन भगवान् जब विशेष कृपा करते हैं तब रोग के रूप में प्रकट होते हैं। क्योंकि रोग होने पर शरीर का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। शरीर और संसार का स्वरूप एक है, अतः संसार का ज्ञान हो जाता है। इस अभागे शरीर से संसार के प्राणियों को काफी दुःख हुआ है। यदि इसके स्वभाव को देखा जाय तो यही रुचि होती है कि इसका शीघ्रतिशीघ्र अन्त हो जाय तो कोई हानि नहीं। परन्तु स्थूल शरीर के अन्त होने से तो कुछ लाभ नहीं होता। सूक्ष्म और कारण, सभी शरीरों का अन्त हो जाए तो कहीं इस अभागे से छुटकारा मिल सकता है।

ज्ञान का सर्वोत्तम साधन केवल विचार है। सच्चा दुःख होने पर विचार करने की शक्ति जाग्रत होती है। जिसका हृदय दुःख से हरा-भरा रहता है उस हृदय के सभी विकार बड़ी सुगमता से मिट जाते हैं। अतः प्यारे दुःख को अनेक बार धन्यवाद है। विचारशील को दुःख आने पर यही समझना चाहिए कि, मेरा प्रेमपात्र मुझे याद कर रहा है और जब

सुख मालूम हो तो समझना चाहिए हम अपने प्यारे से दूर हो रहे हैं। यदि अपना कोई निजी दुःख न भी हो, तो दूसरों के दुःख से दुःखी होना परम आवश्यक है। ऐसा करने से अपने निजी दुःख का दुःख नहीं होगा। जो प्राणी दुःखियों को आदर भाव से अपना लेते हैं, उनका निजी दुःख इस प्रकार मिट जाता है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रका मिट जाता है। सच्चे सेवक का हृदय सदा पराये दुःख से हरा-भरा रहता है।

सेवा करने के लिए मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है क्योंकि एकान्त में बैठकर भी मौन होकर भी यदि कोई अर्थ का साधन न हो तो भी, सारे संसार की मूक सेवा कर सकता है। संसार भले ही उसको न जाने परन्तु उसकी पवित्र भावनाओं से संसार का कल्याण अवश्य होता है। ऐसा प्राणी कभी न कभी संसार के हृदय पर शासन अवश्य करता है। सेवा की पूर्णता होने पर त्याग के भाव उत्पन्न होते हैं। त्याग आते ही, संसार से विमुख हो आनन्द का अनुभव करता है। और फिर कुछ संसार से विमुख हो आनन्द का अनुभव करता है। और फिर कुछ करना शेष नहीं रहता। त्याग से सभी अभिलाषाएं पूर्ण हो जाती हैं। त्याग जीवन की अन्तिम अवस्था है। त्याग से ही जीवन सार्थक हो जाता है। त्याग करने में करने वाला सर्वदा स्वतन्त्र है।

जो प्राणी संसार के तुच्छ ऐवश्र्य तथा माधुर्य की ओर देखता है, वह अपने प्रेमपात्र अर्थात् निजस्वरूप के अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से विमुख हो जाता है। यह भली प्रकार समझ लो कि आपकी रुचि के बिना आप के ऊपर संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति शासन नहीं कर सकती। जब आप संसार के तुच्छ ऐश्वर्य तथा माधुर्य को स्वीकार करते हैं, तब दुःखी संसार आपको दुःख देने के लिए समर्थ होता है। आप अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए सर्वदा समर्थ हैं। अतः उन्नति से निराश होना परम भूल है।

सेवा करने के बदले में जो कुद मिले उसे स्वीकार मत करो अर्थात् उसका प्रभाव मन पर मत होने दो। यही बड़ी उत्तम बात है। संसार आपको तब जानेगा जब आप अपने को जानेंगे। संसार की ओर से आदर की अभिलाषा को कुचल दो। अर्थात् उसका अन्त कर दो। किसी न किसी का चिन्तन-ध्यान तो रहता ही होगा। क्योंकि चिन्तन-ध्यान की शक्ति तो सिद्धावस्था में मिटती है। ज्ञान बदलता नहीं, अवस्था बदल जाती है। ज्ञान तो सभी वासनाओं के अन्त होने पर होता है और अवस्था चित्त के निरोध होने पर होती है। चित्त का निरोध होने पर भावनाओं की पूर्ति के लिए शक्तियों का विकास होता है। और ज्ञान होने पर सभी वासनाओं का अन्त होता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

350

चम्बलतट अबारी
8-1-1941

मेरे निजस्वरूप,

प्रेमपात्र का संग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान, तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है जो किसी भी प्रेमी को शोभा नहीं देता। चिन्तन, ध्यान आदि तथा संग में बड़ा भेद है। ध्यान आदि से माना हुआ अहं-भाव दब जाता है और संग से मिट जाता है। क्योंकि चिन्तन, ध्यान आदि से कुछ न कुछ दूरी अवश्य रहती है। पर संग से किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता। चिन्तन-ध्यान आदि अनेक बार करना पड़ता है, और संग केवल एक बार करना पड़ता है, अर्थात् फिर करने का अन्त हो जाता है। जब प्राणी जीवन सन्तोषजनक पाता है तब चिन्तन, ध्यान आदि करता है, और जीवन से अरुचि होने पर संग करता है।

जीवन का स्वरूप क्या है? यह भली प्रकार यथार्थ रूप में जान लेने पर जीवन से अरुचि अपने आप हो जाती है। गुणयुक्त जीवन से सुख तथा दोषयुक्त जीवन से दुःख, जीवन के अभिमानी को होता है। यह सभी जानते तथा मानते हैं। परन्तु इतने से ही जीवन के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। सुखी जीवन से भी दूसरों को दुःख होता है। यह बात सुनने में कुछ अजीब सी मालूम होती है, परन्तु विचार-दृष्टि से देखिए कि दुःख का जन्म कब होता है? जब प्राणी अपने से किसी विशेष सुखी व्यक्ति को देखता है तब उसके हृदय में दुःख का जन्म हो जाता है। क्योंकि यदि निर्धनों को कोई धनी न दिखाई दे तो निर्धनता का दुःख नहीं होता। अतः सुखी जीवन ने दुःख को जन्म दिया। सुखी जीवन न तो दूसरों को सुखी बना सकता है, और न दूसरों की उन्नति कर सकता है। पूर्ण दुःखी-अधूरा नहीं-अपनी उन्नति करने, तथा दूसरों को सुख प्रदान करने में सर्वदा समर्थ है। क्योंकि दुखियों के बिना सुखियों की सत्ता कुछ नहीं रहती। इस दृष्टि से प्यारा दुःखी पूजन करने योग्य है। दुःखियों का पूजन करने पर जीवन की दोष रहित अवस्था में दुःख का अनुभव हो जाता है, जो उन्नति का मूल है। पूर्ण दुःख होने पर दोष सहित जीवन का अन्त हो जाता है। अधूरा दुःख अर्थात् सुख की आशा के आधार पर दोष-युक्त जीवन, जीवित रहता है। दोषयुक्त प्राणी अपने को दुःखी करता है तथा दूसरे को भी दुःखी करता है। और गुणयुक्त प्राणी अपने को सुखी तथा दूसरे को दुःखी करता है। इस दृष्टि से तो गुणयुक्त प्राणी, दोषयुक्त प्राणी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। परन्तु गुणों का अभिमानी प्रेमपात्र से विमुख अवश्य रहता है। विचार-दृष्टि से देखो, सुखी जीवन से दूसरों को दुःख। और दुःखी जीवन से दूसरों को दुःख और मृत्यु से भी दूसरों को

दुःख मृत्यु भी जीवन की एक विशेष अवस्था है, क्योंकि मृत्यु से भी शरीर का संग नहीं छूटता। इस दृष्टि से जीवन का स्वरूप क्या है? केवल दुःख। इस प्रकार जीवन का स्वरूप जान लेने पर जीवन से अरुचि अवश्य हो जाती है। अरुचि होने पर शरीर तथा संसार से असंगता होती है जो उन्नति का मूल है।

किसी की असंगता से ही किसी का संग होता है। अतः प्रेमपात्र का संग करो। प्रेमपात्र वही है जो सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् जिसके समान दूसरा नहीं है। वह सभी प्राणियों का एक है, अनेक नहीं। उसका संग करने के लिए, अभिलाषा होने पर सभी प्राणी समर्थ हैं। क्योंकि वह किसी का तिरस्कार नहीं करता। उनका सिवाय दुःखी को अपनाने के लिए सभी असमर्थ हैं। अथवा यों कहो कि उनसे भिन्न सभी दुःखी हैं। दुःखी, दुःखी को कैसे अपनायेंगे? उनका संग न करना ही दुःख का मूल है, जो दुःखी की स्वयं भूल से हुआ है। दुःखी का दुःखी उसी समय तक जीवित है, जब तक अभागा दुःखी सुख की आशा में सुखियों की ओर देखता है। सुख तथा सुखियों से असंग होते ही दुःख का सदा के लिए अन्त हो जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

351

काशी
20-2-1941

मेरी निज स्वरूपा माता जी,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। वृत्तियों का निरोध यद्यपि एक अवस्था है, किन्तु अवस्था से परे होने के लिए निरोध आवश्यक है। क्रिया-जन्य निरोध, और स्वाभाविक निरोध में अन्तर है। असंग होने पर स्वाभाविक निरोध होता है और भाव के आवेश में आकर क्रिया-जन्य निरोध होता है। क्रिया-जन्य निरोध किसी प्रकार शक्तिदाता अवश्य है, परन्तु शान्ति देने में असमर्थ है। असंगतापूर्वक स्वाभाविक निरोध शक्ति तथा शान्ति दोनों के लिए समर्थ है। जिस प्रकार फल का मूल्य देने से बाग की छाया तथा वायु बिना मूल्य मिलती है उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान-पूर्वक, तत्त्वनिष्ठ होने से निरोध अर्थात् योग स्वाभाविक हो जाता है। विश्वासमार्गी प्रथम निरोध और कृपासाध्य विचार उत्पन्न होने पर असंगता का अनुभव करता है। इस दृष्टि से निरोध हृदय तथा दिमाग की एकता वाला विचार अवश्य है। बोध के लिए जिस विचार की आवश्यकता है वह तो राग-रहित अर्थात् भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर तथा तीव्र व्याकुलता बढ़ने पर दुःखहारी हरि विचार के रूप में प्रकट होते हैं। साधारण प्राणी विचार के साधन को विचार अथवा ज्ञान

के साधन को ज्ञान और निरोध के साधन को निरोध समझते हैं।

राग से कामना उत्पन्न होती है। कामनाओं के आधार पर ही माने हुए अहंभाव में क्रिया होती है। कामना-रहित होते ही अहंभाव की सत्ता तथा क्रिया शेष नहीं रहती। उस काल में विचार भगवान् गुरुदेव के रूप में प्रकट होते हैं। वह विचार जीवन में सिर्फ एक बार होता है। जो विचार प्रयत्नपूर्वक किया जाता है वह वास्तव में विचार नहीं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार विचार का उदय होते ही अविचार शेष नहीं रहता। यदि अन्धकार न हो तो प्रकाश की कल्पना की नहीं जा सकती, उसी प्रकार यदि विचार न हो तो फिर विचार की कल्पना नहीं की जा सकती।

वृत्ति कभी चेतन नहीं होती, वह चाहे रजोगुणी हो अथवा सतोगुणी। क्रिया पर अक्रियता शासन करती है। इस दृष्टि से सतोगुणी वृत्ति, रजोगुणी से आदरणीय है। जिस प्रकार बहुत बढ़िया शीशे के अन्दर लैम्प की रोशनी रहती है, उसी प्रकार सतोगुणी वृत्ति में चैतन्यता प्रतीत होती है। वास्तव में सतोगुणी वृत्ति में चैतन्यता लेशमात्र भी नहीं है। अहम्-स्फूर्ति, अज्ञान नाश करने में समर्थ है, परन्तु स्फूर्ति की संज्ञा निरर्थक है क्योंकि स्फुरण वृत्ति-जन्य ज्ञान है और सत्य कल्पनातीत है। जब तक प्रमाद होता है तब तक अहम्-स्फूर्ति आदरयोग्य है। प्रमाद-रहित तत्वनिष्ठा होने पर अहम् से भिन्न कुछ है ही नहीं। अतः उसमें स्फूर्ति की कल्पना करना, अपना कोई अर्थ नहीं रखता। जिस प्रकार दो की अपेक्षा एक गणना है, एक की अपेक्षा एक नहीं। उसी प्रकार अहम्-वृत्ति की अपेक्षा अहम्-स्फूर्ति बोध है। जब तक असत्, जड़, दुःखरूप की सत्ता स्मृति में शेष है तब तक अहम् में सत्, चित् आनन्द की निष्ठा अनिवार्य है। आत्मा का प्रकाश, आनन्द तथा सत्ता अभेद है, अर्थात् उनमें अलग-अलग भिन्नता नहीं की जा सकती। क्योंकि जो सत् है वही चित् है, वही आनन्द है। अनुभव से भिन्न कथन करना होता है। यही अनुपस्थिति है। चेतन है, ऐसा कथन तब होता है जब चेतन की जिज्ञासा होती है। जब तक किसी प्रकार की दूरी न हो तब तक जिज्ञासा बन नहीं सकती। अर्थात् सभी कथन, चाह होने पर होते हैं। जिस प्रकार भोग की चाह होने पर ही संसार की प्रीति तथा संसार का कथन होता है। उसी प्रकार चेतन योग की चाह होने पर चेतन आदि का कथन होता है। चाह आवश्यकता होने पर, अथवा सुनने पर बनावटी चाह भी होती है। सच्ची चाह, अधिक काल तक नहीं ठहर पाती, पूर्ण हो जाती है और बनावटी चाह अधिक काल तक रहती है उसी चाह के आधार रहती है। उसी चाह के आधार पर जड़ होकर चेतन का कथन करते हैं। क्या अन्धकार ने कहीं सूर्य को और सूर्य ने कहीं अन्धकार को देखा है? जड़ होकर जड़ का अनुभव करते हो, और चेतन होकर चेतन का। चेतन की चाह होने पर

तीव्र व्याकुलता से भिन्न कुछ नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से जड़ और चेतन का कथन एकमात्र वृत्ति के सिवाय और क्या है? जड़ से अवस्था-भेद होता है चेतन में भेद नहीं। तत्त्व-दृष्टि से तो सच्चिदानन्दघन से भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रीति की सत्ता को स्वीकार करना, जड़ प्रतीति का अभाव कर, चेतना का अनुभव होते ही चेतन से भिन्न कुछ भी नहीं रहता। प्रतीति के साधन बदलने पर प्रतीति बदल जाती है। इस दृष्टि से जड़ में अवस्था-भेद सिद्ध होता है। हृदय तथा दिमाग की एकता होने पर निरर्थक भाव ठहर नहीं पाते, अर्थात् वही भाव उत्पन्न होते हैं जो जीवन का स्वरूप हो जाते हैं। हृदय और दिमाग के एक होने पर सच्चाई का व्यवहार होता है। वह प्राणी अपने आपको धोखा नहीं दे पाता। उसको आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन करने की फुर्सत नहीं मिलती। वह बेचारा असत् होकर सत् की बातें नहीं करता। वह प्रीतम की प्रशंसा ही सुनकर सन्तोष नहीं कर लेता।

विषय-राग उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक दुःख की कमी पूर्ण नहीं होती। दुःख की कमी पूर्ण होने पर विषयों में राग लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। दुःख की कमी पूर्ण करने के लिए विश्व के साथ नाता स्थापित करना अनिवार्य है। संसार से भिन्न होकर जो दुःख है वह तो सिर्फ दुःख का ज्ञान कराने के लिए समर्थ है। दुःख का ज्ञान होने पर विश्व का दुःख अपना दुःख होना चाहिए। यही दुःख का पूर्ण होना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

352

.....
23-2-1941

मेरे निज-स्वरूप,

आत्म-समर्पण का वही अधिकारी है, जो अपनी पूर्ति के लिए संसार की ओर नहीं देखता, अर्थात् यह भली प्रकार समझ लेता है कि संसार मेरी पूर्ति में असमर्थ है। ऐसा होते ही विषयों के चिन्तन का अन्त हो जाता है। विषयों के चिन्तन का अन्त होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध नहीं रहता। बस उसी काल में आत्मनिष्ठ, आत्मविद् (अभेद) हो जाता है क्योंकि अविषय होने पर मन की सत्ता शेष नहीं रहती। यही अखण्ड ध्यान है।

जो चाह किसी प्रकार मिटाई न जा सके और जिसकी पूर्ति संसार भी न कर सके, ऐसी दशा में बेचारा चाह करने वाला, काफी दुःखी हो जाता है। उस दुःख की निवृत्ति के लिए वह अनेक प्रकार के मनोराज्य करता है। मनोराज्य के लालच में फँसा हुआ कभी दुःखी, कभी सुखी

हुआ करता है, परन्तु स्थिरता नहीं पाता। उसके लिए प्रेमपात्र को समर्पण कर देने के सिवाय और कोई साधन शेष नहीं रहता। समर्पण करने पर किसी प्रकार की अपनी निजी रुचि जीवित नहीं रखनी चाहिए। सिर्फ लक्ष्य की पूर्ति का भाव हो। प्रेमपात्र में किसी प्रकार की कमी नहीं देखना चाहिए। अपने और प्रेमपात्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार के भाव का अन्तर नहीं होना चाहिए अर्थात् यह अखण्ड धारणा हो कि मेरा प्रेम-पात्र मेरी कमी की पूर्ति के लिए सर्वदा समर्थ है। इस भाव के आते ही अपने में सच्चा संतोष आ जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

353

लखनऊ
6-3-1941

मेरे निज स्वरूप,

साधारण प्राणी अभ्यास का अभ्यास करते हैं। और विचारशील वैराग्य का अभ्यास करते हैं। अभ्यास का अभ्यास एक प्रकार की अवस्था होती है, इसलिए स्थायी नहीं रहती। वैराग्य का अभ्यास करने से स्वरूप-स्थिति होती है, इसलिए वह स्थायी रहती है। राग मिटाने के लिए भगवान् दुःख के स्वरूप में प्रकट होते हैं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए सुख के स्वरूप में। सुख और दुःख कुछ-न-कुछ सिखाने के लिए ही आते हैं। हर रूप में उनके सिवाय और किसी को न देखो, किन्तु लक्ष्य-दृष्टि से अपने में ही उनको देखो। सुख-दुःख तथा अपने स्वरूप में उनका ही अनुभव हो। जब यह भाव आ जाता है कि वे इच्छाओं की पूर्ति के लिए सुख के रूप में प्रकट हुए हैं और राग मिटाने के लिए दुःख के रूप में प्रकट हुए हैं, तब फिर दुःख और सुख की सत्ता नहीं रह जाती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

354

दारा नगर, बनारस
7-4-1941

प्रिय आनन्दघन माता,

कृपा पत्र मिला। उत्तर में देरी हुई। क्षमा करियेगा।

क्रिया को भाव में विलीन करने का अर्थ यही है कि शरीरादि से जो कुछ क्रिया हो वह एक ही भाव में विलीन हो जाय, अर्थात् प्रेम-पात्र की सेवा का भाव रहे। आन्तरिक अर्थ यह है कि क्रिया-शक्ति शान्त होकर केवल भाव रह जाय।

क्रिया-शक्ति के शान्त होते ही इन्द्रियादि की चेष्टा नहीं रहती और फिर संसार का अभाव हो जाता है। संसार का अभाव होते ही भाव-शक्ति प्रेम-पात्र में विलीन हो जाती है उस अवस्था का वास्तविक ज्ञान होने पर भाव-शक्ति ज्ञान में विलीन हो जाती है। जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा टूटने पर मिट्टी का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार क्रिया-शक्ति तथा भाव-शक्ति का अभाव होने पर सत्य का ज्ञान हो जाता है। जिसको एक बार मिट्टी का ज्ञान हो जाता है, उसको फिर अनेक घड़े दिखने पर भी मिट्टी ही मालूम होती है, अर्थात् संसार तथा प्रेम-पात्र में कुछ भी अन्तर नहीं मालूम होता।

रोना सर्वोत्तम साधन है, परन्तु विचारपूर्वक होना चाहिए। रोने से जो अवस्था प्राप्त होती है, यदि उस अवस्था में सन्तोष कर लिया जाय, तो साधन खुराक बन जाता है। इसलिए जो सबसे अन्तिम अवस्था होती है, अर्थात् जो रस मालूम होता है उसको भी सत्य मत समझो, अर्थात् उससे भी ऊपर उठ जाओ। अन्त में जिसका अभाव किसी प्रकार न हो, उसमें स्थायी अपनत्व अनुभव करो। भाव से उत्पन्न होने वाला जो रस है उसका आस्वादन करने से साधन खुराक बन जाता है। यद्यपि संसार के रस से भाव का रस कहीं अधिक मधुर है, परन्तु अपार नित्य रस की तुलना में उसका मूल्य कुछ भी नहीं है। भाव के रस के आधार पर अहंभाव को जीवित रखना परम भूल है। इस रस ने बड़े-बड़े विरक्तों को गुलाम बनाया है। इसलिए बड़ी सावधानीपूर्वक उसका त्याग करो। उसका त्याग प्राणों से भी अधिक कठिन है, क्योंकि उस रस के लिए प्राणों का देना कुछ भी मूल्य नहीं रखता। कारण, कि उस रस का आस्वादन मन को कैद कर लेता है।

मन की प्रसन्नता के लिए प्राण साधारण मनुष्य भी दे देते हैं। उस रस का त्याग करते ही अहंकार मर जायगा, और जिस प्रकार हरे वृक्ष की मूल काट देने पर कुछ दिन तक वह हरा-भरा दीखता है, परन्तु अन्त में सदा के लिए मिट जाता है। अहंकार के गलते ही प्रेमी और प्रेम-पात्र एक हो जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

355

टूण्डला
17-5-1941

मेरे निजस्वरूप,

विश्व एक जीवन है, भिन्नता का भाव मिटा दो। पूर्ण चाह रहित हो जाने पर एक जीवन का अनुभव होगा। चाह

की दीवारों ने एक जीवन अनुभव करने की शक्ति छिपा दी है।

"ॐ" का जप करने का अर्थ यही है कि "मैं शरीर नहीं बल्कि आनन्दघन आत्मा हूँ।" अपने प्रियतम को अपने से भिन्न किसी और में अनुभव मत करो। अपने में पूर्ण संन्तुष्ट हो जाने पर, करने का भाव उदय नहीं होता। करने का भाव मिटते ही अहंकार मिट जाता है। मन, बुद्धि आदि को बदलने की कोशिश मत करो, बल्कि उनसे असंग हो जाओ। मन बुद्धि आदि, सभी विषयों की चाह मिटने पर, परम पवित्र हो जाते हैं। शरीर भाव तथा सम्बन्ध भाव का त्याग करने पर आत्म-भाव जाग्रत हो जाता है। निरन्तर आत्म-भाव अनुभव का प्रयत्न करो। शरीर भाव की ऐनक आत्म रूपी आँख से उतार दो। विषयों का अनुभव करने को शरीर रूप यन्त्र मिला था, विषयों की चाह मिटने पर शरीर रूपी यन्त्र बेकार हो जाता है, यदि लेशमात्र भी शरीर में सार्थकता प्रतीत होती है तो समझलो कि अभी विषयों का राग छिपा है। निज-स्वरूप का प्रमाद न हो यही अभ्यास निरन्तर किया जाए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

356

राजघाट
23-5-1941

मेरे निजस्वरूप,

सब प्रकार की परिस्थितियों से निसंग होने जैसा अनुभव होता है, यद्यपि वह कहने में नहीं आता, परन्तु उसके बिना और किसी प्रकार से निजानन्द का अनुभव हो नहीं सकता। निजानन्द के बिना स्थायी प्रसन्नता मिल नहीं पाती। जिससे देशकाल की दूरी है,वह प्रेम पात्र हो नहीं सकता। निर्दोषता से प्रीति और सदोष का त्याग स्वाभाविक होता है। परन्तु राग-द्वेष होने पर यह स्वाभाविक स्वभाव दब जाता है। गहराई से देखो- शरीर में अनेक दोष हैं, परन्तु राग होने के कारण असंग होना कठिन सा हो गया है। इसका कारण केवल राग है, और कुछ नहीं। जिससे राग होता है उसकी प्रतिकूलता होने पर द्वेष अपने आप आ जाता है। पूरी तरह राग मिटने पर द्वेष मिट जाता है। जिसको शरीर से राग नहीं रहता, उसको किसी भी वस्तु से राग नहीं रहता। राग त्याग से मिटता है। राग मिटते ही पवित्र प्रेम का उदय होता है, प्रेम का उदय होते ही भिन्नता का भाव मिट जाता है। भिन्नता का भाव मिटते ही निर्भरता, समता, प्रसन्नता निर्विकल्पता, अपने आप आ जाती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

357

राजघाट
28-5-1941

मेरे निजस्वरूप,

रहना वहीं उचित है जहाँ चित्त में प्रसन्नता रहे अथवा जहाँ रहना पड़े। यदि बाहरी परिस्थिति अनुकूल न हो तो चित्त को बदल देना चाहिए। जीवन यात्रा वीरता पूर्वक व्यतीत करना है। सुख और दुःख बनाए हुए खिलौने हैं। इनका अपने ऊपर प्रभाव नहीं होने देना चाहिए। हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि न जलने पाये बल्कि आनन्द का सागर लहराता रहे। प्यारे! आनन्द से जातीय सम्बन्ध है। जिससे जातीय सम्बन्ध होता है, उसका अभाव नहीं होता बल्कि प्रमाद अवश्य होता है। प्रमाद का कारण केवल अविचार है।

विचार से अविचार मिटाकर वर्तमान में ही निजानन्द का अनुभव कर अभय हो जाओ।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

358

.....
19-9-1941

मेरे निजस्वरूप,

साधारण मानव तथा असाधारण मानव के व्यवहार में क्या अन्तर होता है? साधारण मानव अपनी रुचि के अनुसार स्वादिष्ट भोजन को उत्तम भोजन मानते हैं। परन्तु असाधारण अर्थात् विचारशील, उसी भोजन को उत्तम मानते हैं, जिसके खिलाने में खाने वाले की अपेक्षा खिलाने वाले को अधिक प्रसन्नता होती है। अभक्ष्य वस्तुओं को भोजन के अर्थ में नहीं समझना चाहिए। साधारण मानव उन्हीं वस्त्राभूषणों को उत्तम मानते हैं जो उनकी रुचि के अनुसार हों परन्तु विचारशील, केवल पहनाने वाले की प्रसन्नता जिन वस्त्रादि से होती हों, उन्हीं को उत्तम मानते हैं। साधारण मानव उसी समुदाय को पसन्द करते हैं जो उनकी पूर्ति में समर्थ हो। परन्तु विचारशील तो केवल समुदाय की पूर्ति के लिए ही समुदाय में रहना पसन्द करते हैं। गहराई से देखो, जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था में समुदाय का संग होता है, उन दोनों अवस्थाओं में यदि कभी सुख की झलक आ भी जावे तो दुःख कहीं अधिक मात्र में होता है। परन्तु सुषुप्ति, समाधि तथा मुक्ति आदि में किसी प्रकार के समुदाय का संग नहीं होता। वहाँ दुःख का लेशमात्र भी नहीं होता। इसी कारण विचारशील समुदाय से सुख की आशा नहीं रखते।

सुषुप्ति और समाधि में यही अन्तर है कि सुषुप्ति में अज्ञान और समाधि में ज्ञान है। समाधि और मुक्ति में यही अन्तर है कि समाधि के कारण शरीर शेष रहता है, और मुक्ति में शरीर का अन्त हो जाता है। सुषुप्ति थकावट से होती है, और समाधि विषय-राग मिटने से। मुक्ति तत्त्व ज्ञान से होती है। विषय-विराग दुःख से होता है, तत्त्वज्ञान जिज्ञासा से होता है। वह जीवन धन्य है जो दुःख का आदर तथा सुख का निरादर करता है। सुख का तब अनुभव करता है जब किसी दुःखी की अपेक्षा होती है। जैसे निर्धन की अपेक्षा धनी को सुख है या यों कहो कि निर्धन की कृपा से धनी को सुख है।

सुख जीवन की सबसे बुरी अवस्था है। क्योंकि आनन्द की अभिलाषा जाग्रत नहीं हो पाती। आनन्द यद्यपि अपनी जातीय वस्तु है पर इस अभागे सुख ने उस जातीय वस्तु से हटा कर अपनी ओर आकर्षित कर दीन बना दिया है। परमप्रिय दुःख की शरण लेकर सुख को हटाओ।

दुःख क्या है? आनन्द के बिना किसी प्रकार चैन न हो। यही पवित्र दुःख का स्वरूप है। सुख की अभिलाषा तो सुख की गुलामी है, दुःख नहीं। सुख, इन्द्रिय तथा विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, परन्तु आनन्द का अनुभव विषयों के त्याग से होता है। विषयों का त्याग करने के लिए संसार की आवश्यकता नहीं होती। संसार की आशा तो केवल विषयी प्राणी करता है। आनन्द की अभिलाषा जाग्रत होने पर विषय-अभिलाषा मिट जाती है। किसी भी व्यक्ति को व्यक्तिगत भाव से मत देखो, अपनी ओर से जिस भाव की कल्पना की हो, उस भाव से देखो, अथवा भगवत् भाव से या अभेद भाव से देखो। भाव कर्ता की योग्यता के अनुसार होता है। अनेक क्रियाओं के करने का ढंग, भिन्न-भिन्न प्रकार का होते हुए भी क्रियाओं का अर्थ एक होना चाहिए। क्योंकि जीवन का लक्ष्य एक है। जो प्रेमी प्रेमपात्र के नाते से सभी क्रियाओं को करता है, उसकी अनेक क्रियाएँ एक ही अर्थ में विलीन हो जाती हैं।

संसार में वही आदर पाता है जो अपना मूल्य संसार से अधिक कर लेता है, अर्थात् जो संसार की प्रसन्नता के लिए उसकी ओर देखता है, अपनी प्रसन्नता के लिए नहीं। ऐसा विचारशील, संसार का चिन्तन नहीं करता, बल्कि संसार उसका चिन्तन करता है। हृदय में किसी के भी प्रति, लेशमात्र भी द्वेष न हो बल्कि प्रेम का सागर लहराता रहना चाहिये। हृदय में किसी भी वस्तु के प्रति लेशमात्र भी दीनता न हो बल्कि सभी वस्तुओं के प्रति असंग, उदासीन रहना चाहिए। साधारण मनुष्य, जिनकी प्रसन्नता मिट्टी के मकान, तथा मल-मूत्र पूर्ण शरीर के आधार पर जीवित है, वे बेचारे दयाके पात्र हैं। यदि उनके हित के लिए आवश्यकतानुसार उदासीनता धारण करनी पड़े तो कोई हानि नहीं। उदासीनता द्वेष नहीं होती।

यह भली प्रकार समझ लो कि पवित्र उदासीनता, मानव जीवन का सर्वोत्तम भूषण है। इस भूषण को पहनते हो संसार का मूल्य घट जाता है। यही वह ऐनक है कि जिसके लगाने से अनेक प्रकार का संसार, एक सा प्रतीत होने लगता है। यही वह कवच है जिसे पहनने से सुख-दुःख रूपी वाणों का प्रभाव नहीं होता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

359

अजमेर
23-11-1941

प्रिय आनन्द स्वरूप,

जीवन की आशा प्रायः सभी को होती है परन्तु जीवन का सदुपयोग विचारशील ही कर पाते हैं। जीवन का सदुपयोग होने पर जीवन की आवश्यकता शेष नहीं रहती। अर्थात् नित्य जीवन के बिना चैन से रहना हृदय की दुर्बलता तथा बुद्धि का प्रमाद है। हृदय की दुर्बलता सुख के आधार पर जीवित है। और बुद्धि का प्रमाद अविचार के आधार पर जीवित है। अविचार को विचार से और सुख को दुःख से मिटा दो। जो मानव दुःख के आने पर दुःख का सदुपयोग नहीं करते उनको अनेक बार दुःख की शरण लेनी पड़ती है। दुःख का सदुपयोग करो। संसार की वस्तुओं से अपना मूल्य अधिक करलो। विषय रूपी वन में कब तक रहोगे? क्या प्रेमपात्र की याद नहीं आती? यदि आती है तो उसके लिए क्या करते हो? यदि नहीं आती तो क्यों नहीं आती? क्या उनके बिना आनन्द अनुभव कर सके हो? यदि नहीं कर सके तो किस आधार पर जीवित हो? इन सभी आवश्यक प्रश्नों को सद्भावपूर्वक उत्पन्न करलो। प्रश्न उत्पन्न होने पर उनकी पूर्ति के साधन स्वयं आ जाएँगे।

दुःखी त्याग से, सुखी सेवा से उन्नति करता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

360

चम्बल तट
1-2-1942

मेरे निजस्वरूप,

रोग शरीर का राग मिटाने के लिए, अथवा दूसरों का पुण्य-कर्म बढ़ाने के लिए आता है। अथवा आरोग्य शरीरों को सुख प्रदानकरने के लिए आताहै। रोगावस्था में शरीर के साथ मजाक करने का अवसर मिलता है। रोग होने पर निज स्वरूप में निष्ठा हो जानी चाहिये, क्योंकि

दुःख से असंगता स्वाभाविक होती है। जैसे टूटे मकान में सूर्य का प्रकाश और वायु अपने आप आते हैं, उसी प्रकार रोग आ जाने पर वैराग्य रूपी वायु और ज्ञान रूपी प्रकाश स्वयं होता है। शरीर तथा संसार की अनुकूलता की आशा मत करो। शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता मिट जाने पर काम का अन्त हो जाता है। काम का अन्त होते ही राम अपने आप आ जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

361

चम्बल तट
10-2-1942

मेरे निजस्वरूप,

मैं क्या हूँ?

गहराई से देखो जब आप अपने को शरीर से मिला देते हैं, तब आप अपने को संसार का अंग मानते हैं। उस मानी हुई अवस्था में, अर्थात् शरीर-भाव को लेकर संसार की सेवा करनी चाहिये। सेवा प्रेम को उत्पन्न करने का सर्वोत्तम साधन है। सेवा से की हुई प्रवृत्ति, स्वाभाविक निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि सेवक की रुचि, उस प्रवृत्ति से कुछ लेने को नहीं होती।

जब आप अपने में जिज्ञासु भाव धारण करते हैं, अर्थात् आप में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि "मैं क्या हूँ? संसार क्या है? सत्य क्या है?" तब आपको दोष युक्त सत्ता का त्याग और निर्दोषता से अपनत्व करना चाहिए, सभी दोष युक्त वस्तुओं से असंग होने पर अर्थात् निर्दोष्ता से अभेद होने पर,उत्पन्न हुए सभी प्रश्न स्वयं हल हो जायेंगे। जब तक दोष युक्त सत्ता से संग रहता है तब तक यथा समय अनेक प्रश्न तथा भाव उठते ही रहेंगे। जीवन का यह समय हैं, सर्वोत्कृष्ट समय है कि जब अपने पर सद्भावपूर्वक प्रश्न उठने लगते हैं, क्योंकि प्रश्न का स्थायी हो जाना उत्तर का सर्वोत्तम साधन है। कहो कि फिर प्रश्न हल क्यों नहीं होते?, तो उसका कारण प्रश्न का अधिक काल तक स्थायी न रहना है। साधारण प्राणी कठिनाई के भय से प्रश्नों को दबाते रहते हैं। यह उनकी परम भूल है। प्रश्न का उत्पन्न होना परम सौभाग्य है। जब तक प्रश्न स्वयं हल न हो तब तक समझ लो कि प्रश्न अभी हृदय और बुद्धि दोनों से नहीं उत्पन्न हुआ। अथवा यों कहो कि बुद्धि तथा हृदय में अभी एकता नहीं हुई। बुद्धि और हृदय की एकता होते ही आवश्यक शान्ति अवश्य आ जाती है। ऐसा अनेक बार अनुभव हुआ है।

मैं कहाँ रहूँ?

गहराई से देखो व्यक्ति भाव से प्रत्येक जीवन पथिक के समान है। यह आप जानते ही होंगे कि पथिक कहाँ ठहरते हैं। सराय में, या धर्मशाला में, या किसी धर्मात्मा का अतिथि बन कर पथिक ठहरता है। परन्तु वास्तव में पथिक

ठहरता नहीं बल्कि थकावट दूर करता है। अर्थात् शक्ति-संचय करता है। हे जिज्ञासु! शक्ति संचय के लिए विषय-निवृत्ति सर्वोत्तम स्थान है और स्वाभावतः प्राप्य भी है। ठहरने में स्वतन्त्रता भी है। जब आवश्यक शक्ति आ जावे तब अभिलाषानुसार अपने आनन्दघन प्रेमपात्र में, अर्थात् निजस्वरूप में सर्वदा ठहरना। जिज्ञासु रूपी पथिक को तब तक चलते रहना चाहिए जब तक चलने की शक्ति तथा मार्ग का अन्त न हो जाए। चलने की शक्ति कब तक रहती है। यदि इस पर विचार किया जाए तो यही प्रतीत होता है कि जब तक किसी भी क्रिया से, भाव से तथा अवस्था से रसास्वादन होता रहता है तब तक पथिक चलता ही रहता है। यदि चलने का अन्त करना है तो किसी भी क्रिया, भाव तथा अवस्था से रस न लो। अवस्थाओं से परे मार्ग भी शेष नहीं रहता, अर्थात् ठहरने का स्थान आ जाता है, वही आपका निज स्वरूप है।

मैं सब कुछ भूल जाऊँ?

यह भाव तब उठता है, जब हृदय में दुर्बलता तथा मस्तिष्क से थकावट हो। क्या चूहे के आँख बन्द करने से बिल्ली भाग जाएगी? कदापि नहीं। भूल मत जाओ, बल्कि, भूल का अन्त कर दो। भूल का अन्त होते ही सब कुछ निकल जाता है। और जो है, वह मिल जाता है। सब कुछ क्या है? शरीर भाव धारण करने पर संसार, और प्रेमी हो जाने पर, प्रेम-पात्र और बोध हो जाने पर निजस्वरूप। जिज्ञासा काल में सब कुछ अनित्य सत्ता प्रतीत होती है। बोध काल में अनित्य, मिथ्या हो जाता है और विषयासक्ति काल में सब कुछ सत्य सा मालूम होता है। वास्तव में तो सब कुछ क्या है? कुछ नहीं! कुछ नहीं की निवृत्ति कैसे होगी? कुछ नहीं से। कुछ नहीं का अर्थ क्या है? पूर्ण निवृत्ति। पूर्ण निवृत्ति कैसे होती है? अपने आप। परन्तु प्रतीत क्यों नहीं होती? प्रवृत्ति का लालच शेष रहने पर। प्रवृत्ति का लालच कब तक रहता है? जब तक सभी प्रवृत्तियाँ एक ही भाव से नहीं की जातीं। भाव में भिन्नता कब तक रहती है? जब तक प्रवृत्ति से रस लिया जाए।

प्रवृत्ति काल में प्रवृत्ति पूर्ण हो, किन्तु अपने लिए न हो ऐसा जीवन हो जाने पर पूर्ण निवृत्ति तथा पूर्ण प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में भेद नहीं रहता। भेद मिटते ही सब प्रकार के व्यर्थ चिन्तन का अन्त हो जाता है। अथवा यों कहो कि स्वाभाविक अभिलाषा के अनुरूप, स्वरूप, हो जाता है। यह सभी जानते हैं कि अभिलाषा के अनुरूप स्वरूप होने पर अभिलाषा शेष नहीं रहती। अभिलाषा मिटते ही, मैं क्या हूँ? संसार क्या है? सत्य क्या है? अपने से भिन्न अनुभव नहीं होता।

द्वेष तथा त्याग में भेद है। द्वेष से अरुचि तो हो जाती है किन्तु जिससे द्वेष किया जाता है उससे सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। त्याग से अरुचि स्थायी हो जाती है और सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जाता है। जिसका त्याग करना हो, त्याग-कर्ता उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता क्योंकि सत्ता को स्वीकार न करने पर ही

पूर्ण त्याग हो जाता है। जो सत्ता को स्वीकार करते हैं और त्याग भी करना चाहते हैं, वे त्याग तो नहीं कर पाते बल्कि अपना कुछ मूल्य बढ़ा लेते हैं। मूल्य बढ़ जाने पर निरादर मिट जाता है। साधारण प्राणी उसको त्याग मान बैठते हैं। गहराई से देखो, त्याग आने पर, प्रेम स्वयं आ जाता है। प्रेम से ज्ञान अपने आप हो जाता है। त्याग कब उत्पन्न होता है? जब अपने में से मानी हुई अहंता निकाल दी जाय। मानी हुई अहंता निकल जाने से विषयों का राग शेष नहीं रहता। अतः राग मिटते ही त्याग आ जाता है। वह सभी जानते हैं।

अब पाठक समझ गये होंगे कि क्या करना चाहिए। प्रथम माने हुए भाव के अनुसार सेवा करना। कब तक? जब तक जिज्ञासा उत्पन्न न हुई हो। जिज्ञासा उत्पन्न होने पर मानी हुई अहंता का निकाल देना ही परम कर्त्तव्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

362

.....

30-3-1942

मेरे निज-स्वरूप,

भोगी सदैव अपने में दीनता का अनुभव करके अपनी पूर्ति के लिए संसार तथा ईश्वर का मुखापेक्षी रहता है।

योगी संसार से अपना मूल्य अधिक रखता है। परन्तु ईश्वर का दीन रहता है।

तत्त्ववेत्ता संसार तथा ईश्वर दोनों से अभेद हो दोनों को अपने में लीन कर लेता है।

भोगी बेचारा संसार की कोई सेवा कर नहीं पाता। योगी स्थूल सूक्ष्म किसी न किसी क्रिया द्वारा ही संसार की सेवा करता है। तत्वेत्ता बिना किसी क्रिया के ही संसार की सेवा पूर्ति करता है। उदाहरण के लिए जैसे कोई निर्धन जब धनी के पास जाता है तो पहले धनी इस निर्धन के दुःख से दुःखी होकर धन द्वारा उसकी पूर्ति करता है। योगी अपनी सूक्ष्म शक्तियों द्वारा दुःखी की अशान्ति हर लेता है।

तत्वेत्ता दुःखियों के दुःख से दुःखी नहीं होता फिर भी दुःख हर लेता है। क्योंकि सर्वोत्तम सेवा वही कर पाता है जिसको किसी प्रकार का कभी दुःख नहीं होता। उसे संसार भले ही न जाने किन्तु संसार की सबसे बड़ी सेवा उसी के द्वारा होती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

363

.....

5-4-1942

मेरे निजस्वरूप,

राम को कौन पाता है? और कहाँ? राम को वही पाता है जो काम का अन्त कर देता है। अर्थात् जिसको वस्तुओं में, अवस्थाओं में, परिस्थितियों में सौन्दर्य नहीं प्रतीत होता तथा जिसके लिए सभी परिस्थितियाँ कंटक हो गयी हैं।

राम अपने में, अथवा रामायण में, अथवा राम की अभिलाषिणी सीता में, अथवा अपने भक्तों में, अथवा पूर्ण दुःखियों में मिलते हैं। 'पूर्ण दुःखी' वह है जिसे संसार प्रसन्नता नहीं दे पाता। 'भक्त' वह है जो राम से विभक्त नहीं होता। 'सीता' वही है जो राम के बिना किसी प्रकार रह नहीं सकती।

अशुद्ध भोजन से शरीर अशुद्ध हो जाता है तथा अशुद्ध चिन्तन से सूक्ष्म शरीर आदि अशुद्ध हो जाते हैं। क्योंकि जिस प्रकार अन्न आदि स्थूल शरीर का भोजन है उसी प्रकार स्मरण, चिन्तन, ध्यान आदि सूक्ष्म शरीर का भोजन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका

अभेदस्वरूप

.....

364

काशी

9-5-1942

मेरे निज-स्वरूप माता जी,

कृपा पत्र मिला। जो प्राणी वर्तमान परिस्थिति से उत्पन्न सुख तथा दुःख का सदुपयोग करता है वह सहज ही में असार संसार से पार हो जाता है।

सुख का सदुपयोग सेवा और दुःख का सदुपयोग त्याग है। जब सुखी प्राणी सुख दुःखियों को बाँट देता है तब सुख आनन्द में बदल जाता है, क्योंकि सुख बाँटने पर हृदय पवित्र दुःख से भर जाता है। पवित्र दुःख वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। वासनाओं का अन्त होने पर मानी हुई अहंता मिट जाती है। मानी हुई अहंता के मिटने पर केवल आनन्द ही आनन्द शेष रहता है।

जब प्राणी सेवा करने के योग्य अपने को नहीं पाता तब केवल त्याग से ही आनन्द पा सकता है। सभी वस्तुओं से अवस्थाओं से तथा परिस्थितियों से सम्बन्ध-विच्छेद कर देना ही सच्चा त्याग है। वस्तुओं आदि से सम्बन्ध शेष न रहने पर हृदय वासना रहित हो जाता है। निर्वासना परम पवित्र अमूल्य आनन्द प्रदायिनी परम औषधि है, जो सभी रोगों को मिटाने में सर्वदा समर्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका

अभेदस्वरूप

.....

365

सप्त सरोवर, हरिद्वार
28-6-1942

मेरे निज-स्वरूप,

जिस प्रकार भोजन आदि करने से शरीर स्वस्थ रहता है, उसी प्रकार अपनी अनुभूति को यदि अपना लिया जाए तो प्राणी स्वस्थ होकर अपने निज-स्वरूप अर्थात् अपने प्रेमपात्र का अनुभव कर सकता है।

अनुभूति का निरादर करने से अनुभूति घट जाती है और आदर करने से बढ़ जाती है। जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, और साधारण प्राणी घटना का चिन्तन करते रहते हैं, जो व्यर्थ है। जो प्रसन्नता किसी भी माने हुए आधार पर उत्पन्न हुई है वह कभी न कभी घोर दुःख में विलीन होगी। अतः सभी माना हुआ निकाल देने पर प्रसन्नता मिल सकती है। मानी हुई सभी सत्ताएँ केवल विश्वास के आधार पर जीवित है। विश्वास की आवश्यकता उस समय तक होती है जब तक अनुभूति का आदर नहीं होता। अनुभूति का आदर होने पर यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे नित्य जीवन प्राप्त होता है। संसार का सभी व्यवहार विश्वास के आधार पर जीवित है, अर्थात् विश्वास के निकाल देने पर व्यवहार नहीं हो सकता। परन्तु यह सभी विचारशील जानते हैं कि प्रत्येक व्यापार का स्वाभावतः अन्त, जिस निर्दोष तत्व का संकेत करता है, उसका अनुभव करने पर ही, स्वतन्त्रता, प्रसन्नता, निर्भयता, समता आदि अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य जीवन का स्वरूप हो जाता है, जो प्राणी की स्वाभाविक अभिलाषा है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

366

गंगातट सप्त सरोवर, हरिद्वार
5-7-1942

प्रिय आत्मस्वरूप,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। प्रवृत्ति बुलाने पर आती है और अपने आप चली जाती है। निवृत्ति भले ही अच्छी न लगे लेकिन आती भी है अपने आप। प्रवृत्ति, निवृत्ति में विलीन होकर, निवृत्ति प्रेमपात्र से अभेद करने में समर्थ है, अथवा यों कहो कि संसार की अपूर्णता का संकेत है। प्यारे! इन्द्रियादि की प्रवृत्ति का स्वाभाविक अन्त जिस निर्दोष तत्व का संकेत करता है, उसकी ओर जाना अनिवार्य है क्योंकि प्रेमी का वही प्रेमपात्र है-जिसका त्याग न हो सके। जिसका त्याग किया जा सकता है, वह प्रेमपात्र नहीं हो सकता। अतः प्रवृत्ति केवल मार्ग का स्थान है, रहने का नहीं। इस वर्ष

चतुर्मास अजमेर में होगा। चतुर्मास के विधान के अनुसार पूर्णमासी तक वहाँ पहुँच जाना चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

367

अजमेर
26-10-1942

भक्तवर माता जी,

जोधपुर से वापस आने पर पत्र स्वरूप में दर्शन मिला। साधारण प्राणी साधन को जीवन का अंग बनाते हैं और विचारशील जीवन को साधन बनाते हैं।

गहराई से देखिये-वर्तमान जीवन, वास्तविक नित्य जीवन का एक मात्र साधन है। परन्तु जब प्राणी प्रमादवश वर्तमान जीवन को ही जीवन मान लेता है तब अनेक साधनाओं से जीवन को सुशोभित करने का उसी प्रकार प्रयत्न करता है, जिस प्रकार विषयी अपने को शरीर समझकर अनेक अलंकारों से शरीर को सुशोभित करने का प्रयत्न करता है। जैसे प्रत्येक अलंकार सर्वदा शरीर से भिन्न रहता है, वैसे ही प्रत्येक साधन जीवन से भिन्न रहता है। जो वस्तु जीवन से भिन्न रहती है, वह जीवन में परिवर्तन नहीं कर पाती, बल्कि जीवन का एक श्रृंगार मात्र रहती है। श्रृंगार की आवश्यकता उसको होती है जिसको अपनी सुन्दरता पर विश्वास नहीं होता। अतः जीवन को साधन बनाना अनिवार्य है।

जब तक जीवन साधन नहीं हो पाता, जब तक वियोग होने वाली वस्तुओं की आवश्यकता होती है क्योंकि स्वयं सुन्दर होने पर अलंकारों की आवश्यकता नहीं रहती। पूर्ण अपनत्व का भाव सर्वोत्तम सुन्दरता है जिसको देख प्रेम-पात्र स्वयं मोहित हो जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

368

अजमेर
15-11-1942

भक्तवर माता जी,

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। मन बालक और शरीर वृद्ध, आपने भी क्या ड्रामा बनाया है। पुष्कर से अपना मूल्य अधिक बढ़ा लो, भाग्य पर शासन करो। आप उसकी ओर देखो, जो आपके बिना नहीं रह सकता। निरादर के जीवन का अन्त कर दो।

रोग की चिन्ता रोग से भी अधिक रोग है। अतः रोग की चिन्ता न

करना परम औषधि है। रोग शरीर की वास्तविकता समझाने के लिए आता है। साधारण प्राणी शरीर की सुन्दरता में आसक्त होकर रोग से डरते हैं। वास्तव में रोग अरोग्य की अपेक्षा, जीवन की अधिक आवश्यक वस्तु है। क्योंकि आरोग्य से प्रमाद, तथा रोग से जागृति होती है। विचारशील को रोग से न डरकर उसका सदुपयोग करना चाहिए। सब महानुभावों को यथायोग्य।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

369

चम्बलतट, अबारी
10-1-1942

मेरे निजस्वरूप भक्तवर,

आपने लिखा है कि दो चार लाइन पढ़ने से शान्ति मिल जाती है। यह शान्ति नहीं है बल्कि संकल्प-पूर्ति का रस है। यह रस वास्तव में विष से भी अधिक विष है, क्योंकि विष के जीवन के सेवन करने से तो एक बार ही मरना होता है और संकल्पों की पूर्ति का रस लेने पर तो अनेक बार मरना होता है। संकल्पों की निवृत्ति करने से सच्ची शान्ति मिलेगी। शान्ति पत्र में कहाँ मिल सकती है? जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हों उनको धर्मानुकूल पूरा कर डालो और नवीन संकल्प उत्पन्न न होने दे। ऐसा करते ही आप अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव करोगे। यह भली प्रकार समझ लो कि अपने लिए, अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भिन्नता से किसी प्रकार भी एकता नहीं हो सकती।

गहराई से देखिये कि जब आप अपने में शरीर-भाव धारण करते हैं तब आपको उस धारण किये हुए स्वभाव के अनुरूप संसार की ओर ले जाने वाले अनेक संकल्प उत्पन्न होते हैं। यदि आप अपने की ओर ले जाने वाले अनेक संकल्प उत्पन्न होते हैं। यदि आप अपने में से उस स्वभाव को-जो मान करके धारण कर लिया है-निकाल डालें तो आनन्दघन भगवान् तुरन्त ही अपना लेंगे और फिर किसी प्रकार की कमी शेष न रहेगी।

जो प्राणी संसार की वस्तुओं से अपनी पूर्ति की इच्छा करते हैं, वे बेचारे सर्वदा दीन बने रहते हैं। और जो प्राणी किसी पथिक के मार्ग के गड्ढे की मिट्टी बन कर भी किसी की पूर्ति कर देते हैं वह इन्द्र से भी अधिक बड़ेपन का अनुभव करते हैं। क्योंकि इन्द्र बेचारा इन्द्रासन से अपनी पूर्ति का अनुभव करता है, अतः वह दीन है। दूसरे की पूर्ति करने वाले में लेश मात्र भी दीनता नहीं रहती बल्कि चाहे कितने ही छोटे रूप में क्यों न हो, ऐश्वर्य तथा माधुर्य ही रहता है। क्योंकि यदि ऐश्वर्य न हो तो पूर्ति नहीं कर सकता,

कारण कि जिस अंश में बड़ापन होता है उस अंश में ही दूसरे की पूर्ति कर सकता है। और यदि माधुर्य न हो तो दूसरे को अपना नहीं सकता। अतः सेवक में ऐश्वर्य तथा माधुर्य आ जाते हैं-जो भगवान् का स्वरूप है। सेवक का जो स्वभाव है वह भगवान् का स्वरूप है, स्वभाव स्वरूप में विलीन हो जाता है। अतः छोटे से छोटा सेवक भी बड़ी सुगमतापूर्वक आनन्दघन भगवान् का अनुभव कर लेता है, और बड़े से बड़ा विषयी प्राणी सर्वदा आनन्दघन भगवान् से दूर रहता है। अपने लिए संसार की वस्तुओं की इच्छा करना यही बेचारे विषयी प्राणी का स्वभाव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

370

.....
8-2-1943

मेरे निज-स्वरूप,

कृपया शून्य से विमुख होकर अपने में ही सन्तुष्ट हो जाइये। शून्य दृश्य जगत का मूल कारण है। कार्य से अरुचि होने पर शून्य में स्थिति होना सुख अवश्य है किन्तु निजानन्द से विमुख कर देता है। शून्यता में प्रीति विषयों का वैराग्य सिद्ध करती है, जो किसी सीमा तक आदरणीय है, क्योंकि संसार शून्य से भिन्न कुछ नहीं। परन्तु हमारी स्वाभाविक अभिलाषा तो नित्य जीवन की है। नित्य जीवन अपने स्वयं-प्रकाश, निज-स्वरूप में सन्तुष्ट होने पर ही अनुभव होता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

371

नाथद्वारा
24-8-1943

श्रद्धेय ब्रह्मनिष्ठ,

सर्वदा अचिन्त रहो। कृपा-पत्र मिला। विचारशील प्राणी अपनी दृष्टि से अपने को देखने का प्रयत्न करते हैं। संसार की दृष्टि में अच्छा तथा बुरा होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। जो अपनी दृष्टि में अपने को सब प्रकार से आदर के योग्य पाता है वही पूर्णतया निर्दोष है।

जब अपनी दृष्टि से अपने में किसी प्रकार की कमी दिखाई देने लगती है तब हृदय में विचित्र व्याकुलता उत्पन्न होती है, जो उन्नति का मूल है। क्योंकि सच्ची व्याकुलता की अग्नि में सभी दोष जल जाते हैं, असत्य से असंग तथा सत्य से अभेद करने में व्याकुलता समर्थ है।

जब तक प्राणी अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की खोज करता है तब तक बेचारा अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। अपनी

प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की खोज वही करता है जो अपने को शरीर मानता है। यह नियम है कि जिससे हम अपने को मिला देते हैं उसमें प्रियता तथा आसक्ति स्वाभाविक हो जाती है। क्योंकि अपने आप से सभी को अत्यन्त एकता तथा प्रियता एवं प्रेम होता है।

शरीर में आसक्ति तथा प्रियता होते ही संसार की वस्तुओं की आवश्यकता उत्पन्न होती जाती है, क्योंकि वस्तु होकर ही वस्तुओं की आवश्यकता अनुभव करता है। यदि अपने में से वस्तु भाव निकाल दिया जाए तो फिर किसी भी वस्तु की आवश्यकता लेश मात्र भी शेष नहीं रहती।

जब हम अपने में से वस्तु-भाव निकाल देते हैं तब आनन्दघन, स्वाभाविक निरन्तर हममें ही निवास करते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

372

.....

31-4-1943

मेरे निज-स्वरूप,

प्रत्येक परिस्थिति को जाता हुआ देखो आता हुआ नहीं। जाता हुआ देखने से सुख में आसक्ति और दुःख का भय नहीं होगा और नित्य की अभिलाषा सबल तथा जाग्रत हो जायगी। किसी दुःखमय परिस्थिति से हार स्वीकार न करो। परिस्थिति का सदुपयोग करने से परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रहेगा। जब तक सम्बन्ध प्रतीत होता रहे समझ लो अभी परिस्थिति का सदुपयोग नहीं किया। प्रत्येक परिस्थिति औषधि के समान है क्योंकि अनित्य जीवन, रोग है। यदि परिस्थिति का यथोचित उपयोग कर लिया जाए तो अनित्य जीवन का रोग मिट जाएगा और नित्य जीवन प्राप्त होगा।

नित्य जीवन से निराश नहीं होना चाहिए न उसके लिए भविष्य की आशा करनी चाहिए।

भोगत्व भाव मिट जाने पर कर्तापन मिट जाएगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका

अभेदस्वरूप

.....

373

जोधपुर

24-1-43

मेरी निज-स्वरूप भक्तवर माता जी,

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला।

रोग वास्तव में तप है, क्योंकि यदि रोग न हो तो इन्द्रियों के रस से विरक्ति नहीं हो सकती, और न शरीर का यथार्थ ज्ञान होता और न सेवा करने वालों को अवसर मिलता।

सेवा करने से हृदय पवित्र होता है। देखिये, रोग भगवान् की कृपा से रोगी का तथा और लोगों का कितना लाभ हुआ। सृष्टि का विधान न्यायपूर्ण है। अतः प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करने पर प्राणी की उन्नति अवश्य होती है। विचारशील को किसी भी परिस्थिति से डरना नहीं चाहिए, बल्कि उसके सदुपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका

अभेदस्वरूप

.....

374

उदयपुर-मेवाड़

29-9-1943

पूज्या भक्तवर माता जी,

पत्र के रूप में दर्शन मिला।

वियोग के भय से वही बच सकता है जो संयोग में ही पूर्ण वियोग का

अनुभव कर लेता है। मृत्यु पर वही विजय प्राप्त करता है जो सर्व वासनाओं का अन्त कर नित्य जीवन का अनुभव कर लेता है।

रोग पर वही वियज प्राप्त कर सकता है जो शरीर से असंगता का अनुभव कर लेता है।

नित्य जीवन वही पाता है जिसको वियोग परम प्रिय है क्योंकि वियोग के द्वारा ही नित्य योग हो सकता है।

विचार दृष्टि से देखिये, वियोग संयोग की अपेक्षा सबल तथा स्वतंत्र है। जो सबल तथा स्वतंत्र है उसको अपना लेने पर ही शान्ति मिल सकती है। जिस प्रकार समुद्र का पानी भाप बन कर अनेक स्थानों पर फैल जाता है उसी प्रकार तत्त्व-वेत्ता तत्त्व-निष्ठ होकर सर्वत्र फैल जाता है।

तत्त्व-निष्ठ वहीं हो सकता है जो तीनों प्रकार (स्थूल-सूक्ष्म-कारण) के शरीरों से अपने को असंग कर लेता है। तत्त्व-वेत्ता का मन तथा प्राण मृत्यु होने पर गमन नहीं करता, क्योंकि वासना के बिना गमन नहीं हो सकता और वासना रहते हुए तत्व-वेत्ता नहीं हो सकता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

375

अजमेर
21-10-1943

मेरे निजस्वरूप,

जब प्राणी को अपनी वास्तविकता आवश्यकता का ज्ञान हो जाता है तब जीवन में घोर व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह सारा संगठन, जिसको अपना सब कुछ देकर बनाया है निरर्थक हो जाता है। साधारण प्राणी इच्छाओं को आवश्यकता मान लेते हैं। इच्छाओं की उत्पत्ति तो, आवश्यकता के भूलने पर होती है। गहराई से देखिये, हम अपने में बड़ापन, तथा हमको प्यार मिले, यह देखना चाहते हैं। संसार के बड़े-से-बड़े प्राणी को भी प्यार एवं बड़ापन बुरा नहीं लगता क्योंकि यह उसकी वास्तविक आवश्यकता है।

प्यार कब मिलता है? जब किसी के काम आ जाते हैं, क्योंकि जिसके काम आ जाते हैं वहीं प्यार करता है। बड़ापन कब मालूम होता है? जब हमको अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमको ऐसे जीवन की आवश्यकता है कि हमको अपने लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता न हो तथा दूसरों के काम आवें। इस आवश्यकता के जाग्रत होने पर वस्तु, अवस्था आदि की इच्छाओं का अन्त हो जाता है।

जिस काल में आवश्यता सभी इच्छाओं को खा लेती है उसी काल में आवश्यकता की पूर्ति की शक्ति अपने आप आने लगती है, अर्थात् ज्यों-ज्यों वर्तमान परिस्थिति तथा सभी वस्तु, अवस्था आदि से असंगता होती जाती है, अथवा यों कहो कि परिवर्तनशील जीवन नित्य जीवन में विलीन हो जाता है। आवश्यकता के प्रमाद ने हमको संगठन का दास बना दिया है। जीवन में दासत्व के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि जो हमारे बिना रह सकता है, हम भी उसके बिना रह सकते हैं। हमको उसी की आवश्यकता है, जिसको हमारी है। हम इसलिए दुःखी है कि हम उसकी ओर देखते हैं जो हमारी ओर नहीं देखता। हमारे इस दुःख का अन्त हमारी आवश्यकता जाग्रत होने पर बड़ी सुगमतापूर्वक हो सकता है।

जिस प्रकार लकड़ी अग्नि को जलाकर अपने आप शान्त हो जाती है, उसी प्रकार व्याकुलता सभी निर्बलताओं को जलाकर अपने आप शान्त हो जाती है।

जबसे हमने परिवर्तनशील संगठन को अपना बनाया है, तबसे हम अपरिवर्तनशील आनन्दघन प्रेम-पात्र से दूर हो गये हैं। यद्यपि हमारी और उनकी दूरी केवल न जानने की है, देश-काल की नहीं। न जानने की दूरी जिज्ञासा जाग्रत होने पर मिट जाती है। जब हम सब प्रकार से उनके हो जाते हैं तब वह हमें अपना लेते हैं। हम उनसे इसलिए दूर हैं कि हम उनसे विमुख होकर संगठन की ओर देखते हैं। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि वह तो हमारी ओर देखते हैं और हम संगठन की ओर। जब हम उनकी ओर देखेंगे तब दूरी का अन्त हो जाएगा। हमको बस यही करना है कि एक बार उनकी ओर देखें।

उनकी ओर तब देख सकते हैं जब उनके हो जाएं। उनके तब हो सकते हैं जब किसी और के न रहें। हमारे और उनके बीच में जो भिन्नता के भाव उत्पन्न हो गये हैं, उनका अन्त करना अनिवार्य है। यदि हम पतित हैं तो वे पतित-पावन हैं, यदि हम असमर्थ हैं तो वे समर्थ है। पतित और पतित पावन का ही मिलन हो सकता है। देखिये, औषधि और रोग मिलकर ही एक होते हैं। जिस प्रकार रोग और औषधि मिलने पर भिन्न-भिन्न नहीं रहते बल्कि एक अलौकिक आरोग्य, जो वास्तव में न रोग है और न औषधि, के रूप में एक हो जाते हैं, दो भिन्न-भिन्न नहीं रहते, उसी प्रकार असमर्थ और समर्थ, पतित और पतित-पावन मिलकर असीम, अनन्त और नित्य निर्विकार हो जाते हैं। यह भी एक प्रकार का संकेत है। वास्तव में तो जो हो जाता है कहने में नहीं आता। कथन-गुण और दोष का ही हो सकता है। जब तक हमको अपने दोष दीखते हैं तब तक उनमें गुण दीखते हैं, जब हम उनके हो जाते हैं, तब उनके गुण हमारे दोषों को खा लेते हैं। उनमें अनन्त गुण हैं, यद्यपि वे सर्व गुणों से अतीत भी है।

भला जिनमें अनन्त गुण हों और सर्व गुणों से अतीत भी हों, उनका कथन कैसे हो सकता है, प्राणी उनका कथन नहीं कर सकता, उनसे अभेद हो सकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

376

प्रयाग
28-1-1944

मेरे निजस्वरूप,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। आज भगवान् प्रयाग से काशी ले जा रहे हैं। पूर्व वर्ष आपके द्वारा ही भगवान ने काशी से विदा किया था। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग सर्वोत्कृष्ट साधन है। भक्तों की प्रत्येक प्रवृत्ति किसी-न-किसी पूर्ति का साधन होती है, अर्थात उनकी अपनी पूर्ति के लिए किसी भी प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती। प्रवृत्ति की सुन्दरता इसी में हैं कि किसी के काम आ जाय। अकेला होना बड़ा ही उत्तम है, परन्तु शरीर से अकेला होना, अकेला होना नहीं है। जब प्राणी माने हुए सम्बन्धों से तथा स्वीकृतिजन्य सत्ता से अपने को अतीत कर लेता है, तब अकेला हो पाता है। अकेला होने पर निर्वासना (desirelessness) अपने आप आ जाती है, निर्वासना आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि अलौकिक दिव्य गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जब प्राणी उन गुणों का उपभोग नहीं करता तब प्रेम पात्र से अभेद हो नित्य जीवन का अनुभव कर कृत-कृत्य हो जाता है, और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

377

पुष्कर
11-11-1943

मेरे निजस्वरूप,

निर्भयता, निश्चिन्ता आने पर ही आराम मिल सकता है। जब प्राणी अपने आपको अनन्त शक्ति के समर्पण कर देता है, तब सब प्रकार से अचिन्त हो जाता है। जो प्राणी अपनी सीमित मिली हुई शक्तियों का भरोसा करता है तो वह बेचारा अभय नहीं हो पाता। अपनत्व के बल पर ही उनको खरीद सकते हो, और किसी प्रकार नहीं। क्योंकि जो सब प्रकार से उनका हो जाता है उसे अपनाने के लिए वह विवश हो जाते हैं, जिस प्रकार शिशु अपनत्व के बल पर ही, अयोग्य होते हुए भी, पिता की सम्पत्ति का मालिक हो जाता है। इस बात का केवल इतना ही अर्थ है कि अपनत्व का बल गुणों के बल

से विशेष बल है। भला जिसमें अनन्त गुण हों उसे सीमित गुणों से कैसे पा सकते हैं? कदापि नहीं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

378

.....
15-12-1943

मेरे निजस्वरूप,

सर्व अवस्थाओं से अतीत होने पर ही सतत जाग्रति हो सकती है, और सतत जाग्रति होने पर ही अमरत्व का अनुभव हो सकता है। अमरत्व का अनुभव होने पर ही प्रेम-पात्र के वियोग का भय मिट सकता है। वियोग का भय मिटने पर ही सर्वोत्कृष्ट नित्य जीवन का अनुभव हो सकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

379

बनारस
9-2-1944

मेरे निजस्वरूप,

सभी संस्कार अहंता में अंकित रहते हैं, परन्तु अहंता परिवर्तित होने पर पूर्व संस्कार भुने हुए बीज के समान निर्जीव हो जाते हैं। अर्थात् उसमें उपजने की शक्ति नहीं रहती। अतः पूर्व संस्कारों को निर्जीव करने के लिए अहन्ता परिवर्तन परम अनिवार्य है। यह अखण्ड सत्य है कि अहंता के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। अतएव पवित्र अहंता होने पर पवित्र प्रवृत्ति होगी और अपवित्र अहंता होने पर अपवित्र प्रवृत्ति होगी। जो विचारशील सद्भाव पूर्वक यह स्वीकार कर लेता है कि मैं भक्त हूँ अर्थात् भगवान् का हूँ, उसमें भक्ति अपने आप आ जाती है, क्योंकि यह भक्ति का स्वभाव है।

भक्त होते ही जीवन दो भागों में विभाजित हो जाता है-एक तो भक्त का निज का जीवन और एक भगवान् के नाते विश्व-सेवा। उन दोनों प्रकार के जीवन में अन्तर केवल इतना होता है कि एक तो एक्टिंग के भाव से करता है और एक जीवन बुद्धि से। भक्त का जीवन भगवान् के पवित्र प्रेम की प्रतीक्षा तथा प्रेमपात्र के प्रेम का आस्वादन अर्थात् प्रेमपात्र के प्रेम से छक कर पूर्ण हो जाना ही है। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पति के नाते सभी सम्बन्धियों की सेवा करते हुए अपने लिए केवल पति का प्रेम ही स्वीकार करती है उसी प्रकार भक्त भगवान् के नाते एक्टिंग के रूप में विश्व सेवा करते हुए अपने लिए

केवल प्रेमपात्र के प्रेम को स्वीकार करता है। क्योंकि प्रेमपात्र का प्रेम ही प्रेमी का जीवन है।

ज्यों-ज्यों निर्वासना दृढ़ होती जाती है त्यों-त्यों निर्भयता बढ़ती जाती है, क्योंकि भय का मूल कारण वासना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

380

दारानगर, बनारस
18-2-1944

श्रद्धेय भक्तवर माता जी,

कल बलिया से आ गया। माँ, भक्त का हृदय समुद्र के समान होता है। जिस प्रकार समुद्र में नदियों के आ जाने से कोई हर्ष नहीं होता, प्रत्युत वह आई हुई नदियों को प्रसन्नतापूर्वक अपना लेता है अर्थात् उनके काम आ जाता है।

माँ का हृदय स्वार्थ-रहित होता है। जिस प्रकार माता यशोदा ने वात्सल्य रस का आस्वादन करने के लिए बाल स्वरूप भगवान् की पवित्रता पूर्वक सेवा की थी उसी प्रकार प्रत्येक माँ को करना चाहिए। परन्तु बालक में आसक्ति लेशमात्र भी नहीं होनी चाहिए। हृदय में यही भाव रहे कि हमारी इच्छा की पूर्ति के लिए आनन्दघन भगवान् बालक के स्वरूप में प्रकट हुए हैं। इस भाव से की हुई बालक की सेवा भगवत्-पूजा हो जायगी।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप
.....

381

दारानगर, काशी
23-2-1944

मेरे निज-स्वरूप,

मन बेचारा जिसकी खोज में है उसको जब तक नहीं प्राप्त करेगा तब तक कुछ न कुछ करता ही रहेगा। मन को रस की (नित्य रस) आवश्यकता है, परन्तु अनित्य रस ने उसकी आवश्यकता को निर्बल बना दिया है। अतः सबसे प्रथम उसको उसकी आवश्यकता का ज्ञान करा दो। मन की प्रत्येक प्रवृत्ति हमारी स्वीकृति के अनुरूप होती है। यदि प्राणी अपनी स्वीकृति का परिवर्तन कर ले तो मन की प्रवृत्ति अपने आप बदल जाती है अर्थात् जैसी अहंता होती है वैसी ही मन की प्रवृत्ति होती है। अतः जो प्राणी अपने को भक्त स्वीकार कर लेता है उसका मन अपने आप भगवान् की ओर चला जाता है। जो अपने को जिज्ञासु मानते हैं उनका मन अपने आप विचार की ओर चला

जाता है। और जो विचारशील अपने में से मानी हुई सत्ता निकाल देते हैं उनका मन अमन होकर अपने आनन्दघन, नित्य, निर्विकार, तत्त्व से अभेद हो जाता है। अतः जैसी मन की प्रवृत्ति करनी हो वैसी ही अहंता कर डालो। यदि, प्रवृत्ति का अभाव करना हो तो मानी हुई अहंता का अभाव कर डालो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

382

मुजफ्फरपुर
10-4-1944

मेरे निज-स्वरूप भक्तवर,

अकस्मात पत्र के रूप में उपस्थित होने का भाव उत्पन्न हुआ। अतः इसी कारण लिखा जा रहा है।

प्यारे, प्रवृत्ति का सौन्दर्य यही है कि किसी के काम आ जायें। और निवृत्ति का सौन्दर्य यही है कि अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव हो जावे। जो प्रवृत्ति किसी के हित का साधन नहीं होती वह त्याग करने योग्य है और जो निवृत्ति प्रेमपात्र से अभेद नहीं करती वह निर्जीव है। निर्जीव निवृत्ति निरर्थक होती है।

वृत्तियों का स्फुरण न होना निवृत्ति है। सर्वहितकारी वृत्तियों का स्फुरण होना प्रवृत्ति है। निवृत्ति से निज-स्वरूप का ज्ञान होता है और प्रवृत्ति से संसार का यथार्थ ज्ञान होता है। संसार का यथार्थ ज्ञान होने पर संसार से निवृत्ति और प्रेम-पात्र का यथार्थ ज्ञान होने पर प्रेम-पात्र से एकता अपने आप हो जाती है। क्योंकि यह नियम है कि प्रतिकूल ज्ञान से निवृत्ति और अनुकूल ज्ञान से एकता स्वाभाविक होती है।

प्यारे, प्रवृत्ति और निवृत्ति दाएँ बाएँ पैर के समान हैं, प्रेम-पात्र तक पहुँचने के लिए साधन मात्र हैं। अर्थात् प्रवृत्ति तथा निवृत्ति जीवन यात्रा के दो अंग हैं। प्रवृत्ति द्वारा राग को जानकर राग की निवृत्ति करना और निवृत्ति द्वारा सीमित अहं-भाव (Limited personality) को मिटाकर प्रेम-पात्र से अभेद हो जाना हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

383

बलरामपुर
14-4-1944

मेरे निजस्वरूप,

पत्र के रूप में दर्शन मिला।

जब प्राणी की आन्तरिक इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है तो वाह्य परिस्थिति विघ्न करती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में तो सभी को वैराग्य रहता

है परन्तु अनुकूल परिस्थितियों में किसी विचारशील ही को वैराग्य रहता है। अपनी कमी को देखने का प्रयत्न करते रहें। क्योंकि कमी को देखते ही व्याकुलता उत्पन्न होगी। व्याकुलता सभी निर्बलताओं को खा लेती है। ज्यों-ज्यों व्याकुलता बढ़ती है त्यों-त्यों निर्बलताएँ अच्छाई में बदलती जाती है। व्याकुलता के बिना जीवन निर्जीव यन्त्र के समान बेकार है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

384

बलरामपुर
18-4-1944

मेरे निज-स्वरूप,

प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक प्राणी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर उन्नति अवश्य कर सकता है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

स्वतन्त्र, नित्य, सत्ता कल्पतरु के समान है, प्रत्येक प्राणी उसी की छाया में निवास करता है, नित्य सत्ता प्राणी की रुचि के अनुसार विकास कर सीमित विकास से ऊपर उठने के लिए ह्रास भी करती है अर्थात् सीमित विकास का ह्रास अनिवार्य है। इस युनिवर्सल ला। (विश्वजनीन कानून) को जो प्राणी समझ लेता है वह सीमित विकास की रुचि को मिटाने के लिए एवं स्वतन्त्र सत्ता से अभेद होने के लिए उसी प्रकार विकल हो जाता है जिस प्रकार मछली जल के लिए।

अपनी परतन्त्रता का ज्ञान होने पर प्राणी के हृदय में व्याकुलतापूर्वक स्वतन्त्रता की आवश्यकता जाग्रत होती है। बेचारी परतन्त्रता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक प्राणी स्वतंत्रता को अपना जीवन नहीं मानता।

भोग के लिए प्राणी परतन्त्र अवश्य है किन्तु नित्य जीवन, नित्य रस एवं पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र सत्ता प्राणी को अपनाने के लिए निरन्तर सीमित विकास रूपी परतन्त्रता को छिन्न भिन्न करती रहती है। मानो यह पाठ पढ़ाती है कि सीमित विकास में अपने को आबद्ध मत करो।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन परतन्त्रता नहीं है, प्रत्युत स्वतन्त्रता ही है। सभी निर्बलताएँ उसी काल तक जीवित हैं जब तक प्राणी अपने से भिन्न की खोज करता रहता है।

जो आपके बिना नहीं रह सकता, जब आप अपने को उनकी ओर से, जो आपके बिना रह सकते हैं, विमुख कर लेंगे तब जो आपका है वह अपने आप आपको अपना लेगा। अर्थात् आपको अपने प्रेम पात्र का ज्ञान हो जाएगा। प्यारे, आप उनकी ओर देखते हैं

जो आपके नहीं है। अतः आप अपने प्रेम पात्र को नहीं जान पाते। आप सच मानिये कि आपका प्रेम-पात्र निरन्तर आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। आप उसकी ओर नहीं देख सकता। इसलिए आप उसको नहीं जानते। गहराई से देखिये। सूर्य की ओर मुँह करने पर सूर्य का ज्ञान हो जाता है और छाया पीछे-पीछे दौड़ती है। परन्तु सूर्य से विमुख होने पर छाया आगे दौड़ती है और सूर्य का भी ज्ञान नहीं होता। उसी प्रकार जब प्राणी परिवर्तनशील संसार की ओर देखता है जो सत्य की छाया मात्र है जब संसार उससे आगे ही दौड़ता रहता है। परन्तु जब प्राणी संसार से विमुख होकर सत्य की ओर देखता है तब संसार उसके पीछे दौड़ता है और सत्य से अभेदता भी रहती है।

"सबहिं नचावत राम गोसाई" यह उस भक्त के हृदय की पुकार है कि जिसका अहं भाव मिट गया हो। देखिये सूर्य के बिना कोई आँख नहीं देखती किन्तु देखने का भाव तथा रूप की आसक्ति आँख में होती है, सूर्य में नहीं। उसी प्रकार नाचने का रस तथा नाचने का भाव प्राणी में होता है, राम में नहीं। अर्थात् सत्य असत्य को सत्ता देता है, और कुछ नहीं करता। सत्य की आवश्यकता असत्य को खा लेती है और सत्य से अभेद कर देती है। प्राणी असत्य का उपयोग करने में तथा उसको सुरक्षित रखने में परतन्त्र और सत्य की आवश्यकता जाग्रत होने पर सत्य से अभेद होने में सर्वदा स्वतन्त्र है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

385

मुरादाबाद
3-5-1944

मेरे निजस्वरूप,

अहन्ता परिवर्तित होने पर प्रवृत्ति-परिवर्तन हो जाता है क्योंकि सभी प्रवृत्तियों का जन्म अहंभाव के अनुसार ही होता है। अतः भक्त में भक्ति तथा जिज्ञासु में विचार एवं विषयी में कर्म अपने आप उत्पन्न होते हैं। कर्म से वासनाओं की पूर्ति और विचार से वासनाओं की निवृत्ति एवं भक्ति से आनन्द की उत्पत्ति अपने आप होती है।

प्यारे! जीवन में सबसे काला समय वही है कि जब प्राणी उसकी ओर देखता है, जो उसकी ओर नहीं देखता। अर्थात् प्रवृत्ति वही सार्थक है जो किसी न किसी की पूर्ति का साधन होती है। अपनी पूर्ति के भाव से हुई प्रवृत्ति बन्धन का कारण बन जाती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

386

हरिद्वार
16-5-1944

मेरे निजस्वरूप परमप्रिय,

संसार का होकर ईश्वर-चिन्तन भी संसार को ही प्राप्त कराता है और ईश्वर का होकर संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर से मिलता है। अतः विचारशील प्राणी ईश्वर का होकर अपने आप आये हुए सभी आवश्यक कार्यों को अभिनय के स्वरूप में करता हुआ सुगमता पूर्वक ईश्वर को पा लेता है। अतः सद्भाव पूर्वक आनन्दघन भगवान् से सम्बन्ध करना परम अनिवार्य है। सम्बन्ध होते ही विरह अपने आप उत्पन्न होता है। अर्थात् सम्बन्ध करना पड़ता है और विरह उत्पन्न होता है। जो करना पड़ता है उसका करना ही कर्तव्य है। कर्त्तव्य पालन करते ही अधिकार अपने आप प्राप्त होता है। क्योंकि अधिकार कर्त्तव्य का दास है। विचारशील अधिकार मांगते नहीं कर्त्तव्य पालन करते हैं। और साधारण प्राणी अधिकार मांगते हैं-कर्त्तव्य की ओर ध्यान नहीं देते। कर्त्तव्य पालन के बिना मिला हुआ अधिकार छिन जाता है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

387

सप्त सरोवर, हरिद्वार
17-5-1944

मेरे निजस्वरूप पूज्या माँ,

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। सच्चाई का मार्ग सिखाया नहीं जाता उत्पन्न होता है। प्रत्येक प्राणी में किसी न किसी प्रकार की गति होती ही रहती है अर्थात् कुछ-न-कुछ करता ही रहता है परन्तु जब प्राणी अपनी ओर से कुछ नहीं करता अर्थात् किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं होने देता तब कुछ न करने से सच्चे कर्त्तव्य का जन्म होता है। करना (instinct) है, क्रिया जीवन है। क्रिया-जन्य रस में आसक्ति होती है।

ज्यों-ज्यों क्रिया-जन्य आसक्ति का रस मिटता जाता है त्यों-त्यों इन्द्रियातीत अचिन्त्य आनन्दघन भगवान् से दूरी मिटती जाती है करने के रस ने प्राणी को नित्य योग से विमुख कर अस्वाभाविक परिवर्तनशील भोग में लगा दिया है। अतः विचारशील प्राणी को भोग से अपना मूल्य अधिक बढ़ा लेना चाहिए। ज्यों-ज्यों प्राणी भोग से अपना मूल्य बढ़ाता है त्यों-त्यों भोग अपने आप अपनी सार्थकता के लिए प्राणी के समीप आने लगते हैं। प्राणी सबसे बड़ी भूल यही करता है कि भोग से अपना मूल्य घटा कर भोगों की ओर दौड़ता है। जिसका मन हिमालय की भाँति अचल हो जाता है उसी मन से आनन्द की गंगा निकलती है।

माँ! आगे-पीछे का सोचना बिल्कुल बन्द कर दो। अपने आप आये

हुए कार्य को न्याय तथा नियम पूर्वक अभिनय के स्वरूप में प्रेमपात्र के नाते पूरा कर डालो। जब प्रत्येक प्रवृत्ति लीलावत् होने लगेगी तब प्रवृत्ति के अन्त में मन अपने आप हिमालय की भांति अचल हो जायगा।

माँ! मन को एक समय में एक ही काम में लगाना तथा सभी कामों से हटा लेना, मन को अचल अचिन्त करने का सबसे सरल उपाय है। अपने ऊपर केवल यही उत्तरदायित्व है कि अपने आप आये हुए काम को न्याय पूर्वक पूरा करना तथा मन में किसी भी काम को जमा न रखना-जिस प्रकार अथाह जल में नाव डूबती नहीं उसी प्रकार काम से ऊपर रहने वाला प्राणी संसार सागर में डूबता नहीं। नाव वही डूबती है जिसके भीतर पानी भर जाता है। मन वही डूबता है जिस मन में काम भर जाता है। अतः मन में से भरे हुए काम को निकाल दो। माँ! काम करने से प्राणी ईश्वर से विमुख नहीं होता। जो प्राणी काम को मन में जमा रखता है वही ईश्वर से दूर हो जाता है। अतः किसी भी काम को मन में जमा न रखना ईश्वर प्राप्ति का सबसे सुगम उपाय है। प्राणी का मन नित्य रस, नित्य जीवन चाहता है। उसके न मिलने से मन में अभाव सा भास होता है। प्रसन्नता इसलिए नहीं आती कि प्रतिदिन मन अपने बनाये हुए गोल चक्र में तेली के बैल की भाँति घूमता है। नित्य नवीनता नहीं मिलती। माँ! विचारशील प्राणी को अपने को किसी भी परिस्थिति में आबद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि सच्चाई सभी अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से अतीत है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

388

हरिद्वार
19-5-1944

मोहन आश्रम,

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग उन्नति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। क्योंकि वर्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत और आने वाला भविष्य अपने आप सँभल जाते हैं। और वर्तमान के बिगड़ जाने से बना हुआ भूत और आने वाला भविष्य अपने आप बिगड़ जाते हैं। अतः विचारशील को गम्भीरता पूर्वक सावधानी के साथ वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

389

हरिद्वार
24-5-1944

भक्तवर,

वर्तमान जीवन का यथार्थ अध्ययन करने पर यही मालूम होता है कि वर्तमान जीवन, जीवन नहीं है प्रत्युत जीवन का साधन है। अतः वर्तमान जीवन में जीवन बुद्धि का त्याग परम अनिवार्य है-जीवन-बुद्धि का त्याग करते ही वर्तमान जीवन की आसक्ति मिट जायगी। आसक्ति मिटते ही प्राणी उसी प्रकार स्वस्थ हो जाता है जिस प्रकार भूख लगने पर भोजन का अधिकारी हो जाता है-अर्थात् स्वस्थता का वास्तविक अर्थ यही है कि प्राणी की सच्ची भूख जाग्रत हो जाय। यह नियम है कि भूख लगने पर भोजन में प्रवृत्ति अपने आप हो जाती है। आसक्ति के रोग से आनन्द एवं नित्य जीवन की भूख कम हो गई है। विचाररूपी औषधि से आसक्ति का रोग मिटाना है। रोग मिटते ही भूख जाग्रत होगी और भूख लगते ही सर्वशक्तिमान आनन्दघन भगवान् तृप्त कर देंगे।

प्यारे, रोग रोगी की बनाई हुई वस्तु है तथा आरोग्य स्वाभाविक है। गहराई से देखिये, सभी रोग संयोग से उत्पन्न होते हैं। संयोग प्राणी अपनी रुचि के अनुसार करता है, किन्तु वियोग स्वाभाविक हो जाता है। संयोग की आसक्ति के कारण वियोग से डरता है। वास्तव में सच तो यह है कि अपने आप आया हुआ वियोग नित्य योग, नित्य जीवन, नित्य रस प्रदान करने में सर्वदा समर्थ है। अतः वियोग का अपना लेना परम अनिवार्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

390

मोहन आश्रम, हरिद्वार
26-5-1944

मेरे निजस्वरूप,

हठयोग तथा राजयोग में केवल यही अन्तर है कि हठयोग प्रथम प्राण का निरोध करने का प्रयत्न करता है तथा राजयोग प्रथम मन के निरोध करने का प्रयत्न करता है। मन के निरोध से प्राण का निरोध अपने आप हो जाता है, और प्राण के निरोध से मन दब जाता है। अतः विचारशील प्राणी प्राण-निरोध की अपेक्षा मन-निरोध पर अधिक ध्यान देते हैं। मन का निरोध प्रेम-पात्र के नाते वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से तथा वासनाओं के त्याग से और आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से एवं एक काल में एक ही कार्य करने से, कार्य करते समय पूरी शक्ति लगा देने से और कार्य के अन्त में कार्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर देने से अपने आप हो जाता है मन का निरोध होने पर छिपी हुई शक्तियों का विकास होने लगता है।

माँ! यदि प्राणी प्रथम साधन अर्थात् जिसको उसने आरम्भ किया है, उस कार्य को यदि ठीक-ठीक कर लेता है। तो उससे आगे आने वाला साधन अपने आप उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार जन्म मृत्यु में बदलता है, उसी प्रकार प्रत्येक साधन आगामी साधन में अपने आप बदल जाता है, अर्थात् जब साधक अपनी योगयता के अनुसार किसी भी साधन को आरम्भ कर देता है तो आवश्यक साधन तथा शक्तियाँ अपने आप प्रकट होने लगती हैं।

आध्यात्मिक उन्नति भौतिक उन्नति में यही अन्तर है कि आध्यात्मिक उन्नति का साधक योग्यतानुसार साधन आरम्भ करते ही स्वतन्त्रता पूर्वक सफलता प्राप्त करता है क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति निज की सम्पत्ति है। भौतिक उन्नति का साधक प्रत्येक स्टेज (stage) पर कुछ-न-कुछ वाह्य सहायता एवं परतन्त्रता का अनुभव करता है। इसी कारण भौतिक उन्नति में सदैव परतन्त्रता बनी रहती है, क्योंकि उसका जन्म परतंन्त्रता से ही होता है।

माँ! सच बात तो यह है कि आध्यात्मिक उन्नति, प्राणी सर्वदा स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है। क्योंकि स्वतंत्रता का साधन परतन्त्रता कदापि नहीं हो सकता। अतः आप अपनी योग्यता के अनुसार अपने मन इन्द्रिय आदि को सब ओर से हटा लो। सब ओर से हटाने पर आपको अपने ही में अपने प्रेमपात्र का अनुभव होगा। माँ! संसार से सच्ची निराशा एवं अपने को सब ओर से हटा लेना आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोत्कृष्ट सुगम साधन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

391

हिसार
17-7-1944

मेरे निजस्वरूप,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। संसार नाट्यशाला है। इसमें प्रेम-पात्र की ओर से जो पार्ट मिला है, नियमानुसार पूरा करो, परन्तु अभिनय में जीवन-बुद्धि मत रखो। अभिनय की प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है। क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति-भेद नहीं होता। एक ही भाव से की हुई प्रवृत्तियाँ एक ही अर्थ रखती हैं, अर्थात् क्रिया-भेद होने पर भी लक्ष्य भेद नहीं होता, परन्तु जब प्राणी संसार-रूप अभिनय में जीवन-बुद्धि कर लेता है, तब भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न अर्थ रखती हैं और अनुकूल प्रवृत्तियों से राग तथा प्रतिकूल प्रवृत्तियों से द्वेष होने लगता है। इतना ही नहीं, प्रवृत्तियों का रस कर्ता पर शासन करने लगता है। यह नियम है कि जिन प्रवृत्तियों में क्रिया-जन्य रस आने लगता है, उन प्रवृत्तियों की वासना पुनः उत्पन्न होने लगती है। वासनाओं के जाल में फँसा हुआ प्राणी भूत-भविष्य की सत्ता स्वीकार करता है, किन्तु जो सच्चा आस्तिक है, वह भगवान् का होकर धर्मानुसार उपस्थित प्रत्येक प्रवृत्ति को अभिनय के रूप में प्रीतिपूर्वक पूरी शक्ति लगाकर करता है और प्रवृत्ति के अन्त में व्याकुलता पूर्वक प्रेम-पात्र की कृपा की बाट देखने लगता है। ज्यों-ज्यों प्रेम-पात्र की प्रतीक्षा प्रबल होती जाती है, त्यों-त्यों प्रेम-पात्र की कृपा का अनुभव स्वतः होता है। भक्त के हृदय में प्रेम-पात्र के प्रेम के मिलने की पीड़ा सदैव बनी रहती है। भक्त के शरीर, मन, इन्द्रिय आदि यन्त्रवत् प्रेम-पात्र के नाते विश्व की सेवा करते रहते हैं, किन्तु प्रत्येक सेवा प्रेम-पात्र की प्रसन्नतार्थ ही करते हैं। सेवक अन्य सेवक का आस्वादन नहीं करता, क्योंकि अन्य प्रवृत्ति का आस्वादन करने पर वह उस प्रवृत्ति में फँस जाता है। जिस प्रकार व्यापारी व्यापार करते हुए धन की वासना उत्तरोत्तर बढ़ाता ही जाता है, उसी प्रकार अभिनय के रूप में सेवा करते हुए भक्त के हृदय में भगवान की आवश्यकता उत्तरोत्तर प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। प्रेम-पात्र की आवश्यकता प्रेम-भाव से भी अधिक महत्व की वस्तु है, क्योंकि प्रेम-पात्र (सत्य) असत्य (जगत) को प्रकाशित करता है, और सत्य प्रेम-पात्र की आवश्यकता असत्य जगत् को खाकर प्रेम-पात्र सत्य से अभेद कर देती है। मन आदि सभी यन्त्र विश्व-सेवा के लिए मिले हैं। जब सेवा का पाठ पूरा हो जाता है, तब निर्वासना स्वतः आ जाती है। निर्वासना आते ही प्रेमी अपने में ही प्रीतम को पाता है। जिस प्रकार सर्प का विष नष्ट हो जाने पर सर्प के काटने का भय शेष नहीं रहता, उसी प्रकार निर्वासना आ जाने पर मन-इन्द्रियों के व्यापार से किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं होता अथवा यों कहो कि निर्वासना आ जाने पर भूत-

भविष्य की सत्ता नहीं रहती और वर्तमान से सम्बन्ध नहीं रहता। प्यारे, वर्तमान परिस्थिति का सम्बन्ध तथा उसका सद्भाव वर्तमान परिस्थिति का उपभोग उत्पन्न करता है। जिस प्रवृत्ति का प्राणी उपभोग करने लगता है, उस प्रवृत्ति की वासना बन जाती है। अतः प्रत्येक प्रवृत्ति उपासना के भाव से की जाए, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रेम-पात्र का पूजन बना लो। यह बात मन में से बिलकुल निकाल दो कि केवल ध्यान आदि की प्रवृत्ति तो प्रेम-पात्र की प्राप्ति का साधन है, और अन्य धर्मानुसार प्रवृत्तियाँ प्रेम-पात्र की प्राप्ति का साधन नहीं है। सच बात तो यह है कि प्रेम का पात्र का होकर प्रत्येक धर्मानुसार प्रवृत्ति अभिनय के स्वरूप में करने पर प्रेम-पात्र की प्राप्ति का साधन हो जाती है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टा शरीर की प्रसन्नता के लिए ही होती है, उसी प्रकार प्रेम-पात्र की ओर से मिली हुई प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेम-पात्र की प्राप्ति तथा उसकी प्रसन्नतार्थ ही होती है। प्यारे, संसार का होकर स्मरण, चिन्तन, ध्यान भी प्रेम-पात्र से प्रेमी को मिलाने में असमर्थ हैं, क्योंकि सभी प्रवृत्तियाँ अहंता की रुचि की पूर्ति करती है, अर्थात् संसार का होकर ध्यानादि भी प्रेम-पात्र से मिलाने में असमर्थ हैं और प्रेम-पात्र का होकर धर्मानुसार अभिनय के स्वरूप में की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेम-पात्र से मिलाने में समर्थ है। अतः प्रेम-पात्र के होकर वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना प्रेम-पात्र से अभेद होने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने को पूरा लगा दो, अर्थात् बचाओ मत। पूरा जग जाने पर पूरा हट जाना अपने आप होगा। प्रीति की कमी से नींद आती है। यह नियम है कि जब प्राणी जो करता है, उसमें अपने को पूरा लगा देता है, तब उसको की हुई प्रवृत्ति का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। प्रवृत्ति का यथार्थ ज्ञान निवृत्ति उत्पन्न कर देता है। अतः जिन प्रवृत्तियों का त्याग नहीं हो सकता, उनको पूरी शक्ति लगाकर पवित्रतापूर्वक कर डालो। ऐसा करने से सारा जीवन साधन हो जायेगा, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेम-पात्र का पूजन होगी। हम सब, बड़ी भूल यही करते हैं कि हम प्रवृत्तियों का विभाग कर देते हैं। हमको जो कुछ मिला है, वह केवल प्रेम-पात्र की प्राप्ति के लिए मिला है। मिली हुई वस्तुओं का दुरुपयोग प्रेम-पात्र से मिलने नहीं देता। अतः हमको केवल दुरुपयोग से विरोध है, प्रवृत्तियों से नहीं। प्रवृत्तियाँ बेचारी तो बिना ही प्रयत्न अपने आप निवृत्ति में विलीन हो जाती है। स्वतः आई हुई निवृत्ति पूजन करने योग्य है। हठ पूर्वक, अभिमानपूर्वक की हुई निवृत्ति प्रवृत्ति की भूल है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

392

मोहन आश्रम, हरिद्वार
9-6-1944

मेरे निजस्वरूप,

प्राणी के जीवन में क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति विद्यमान है। जब प्राणी प्रत्येक क्रिया को एक ही भाव में विलीन करता है, तब पवित्रतापूर्वक की हुई प्रवृत्ति स्वतः निवृत्ति में बदल जाती है। ऐसी अवस्था में क्रिया-शक्ति भाव-शक्ति में परिवर्तित हो जाती है। भाव-शक्ति के जाग्रत होते ही विरह-अग्नि उत्पन्न होती है। ज्यों-ज्यों विरहाग्नि बढ़ती जाती है, त्यों-तयों प्रेम-पात्र से दूरी मिटती जाती है, अर्थात् सभी विकार विरहाग्नि से भस्मीभूत होते जाते हैं। विकार मिटते ही भाव-शक्ति, तत्व-ज्ञानी से अभेद हो जाती है, अर्थात् प्रेमी अपने प्रियतम को अपने से भिन्न नहीं पाता। आवश्यकता की पूर्ति में प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। परतन्त्र तो केवल भोग-इच्छाओं की प्रवृत्ति मात्र में है। संसार से सच्ची निराशा परम बल है। सब ओर से अपने को हटा लेना सहज योग है। अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना ज्ञान योग है। सब प्रकार के चिन्तन का अन्त कर देना ध्यान-योग है। विश्व-सेवा के भाव से प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रेम-पात्र के नाते कर देना कर्म-योग है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

393

उदयपुर, मेवाड़
19-8-1944

मेरे निज-स्वरूप प्रेम-मूर्ति,

प्रत्येक प्राणी को अपने अपने स्थान पर धर्मानुसार स्वीकृति के अनुसार अच्छे से अच्छा अभिनय करना चाहिए। यह सभी विचारशील जानते हैं कि अभिनय में जीवन-बुद्धि नहीं होती। जिस प्रवृत्ति में जीवन-बुद्धि नहीं होती उसके होने का सद्भाव नहीं होता। जिस प्रवृत्ति का सद्भाव नहीं होता उसका राग अंकित नहीं होता। राग रहित की हुई प्रवृत्ति बन्धन का कारण नहीं होती क्योंकि उसकी वासना नहीं बनती। यह नियम है कि सर्व वासनाओं का अन्त होने पर प्रेमी अपने में ही अपने प्रीतम को पाता है। सभी प्रवृत्तियों को लीलामय भगवान् की लीला समझ कर लीलावत् करनी चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

394

बम्बई 29-9-1944

मेरे निज-स्वरूप भक्तवर,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। जब प्राणी अपनी दृष्टि से अपनी भूल जान लेता है तब भूल मिटाने की शक्ति आ जाती है, क्योंकि भूल का ज्ञान यथार्थ ज्ञान से होता है। अपने ज्ञान का आदर करो अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन बना लो। ज्यों-ज्यों प्राणी अपने ज्ञान का आदर करता जाता है त्यों-त्यों ज्ञान स्वतः बढ़ता जाता है। ज्ञान और जीवन में भेद रखना ज्ञान का निरादर करना है। ज्ञान का निरादर करने से ज्ञान घट जाता है। व्याकुलता उत्पन्न न होने का दुःख व्याकुलता उत्पन्न करने में समर्थ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

395

जोधपुर
22-9-1944

मेरे निजस्वरूप परम उदार प्रेममूर्ति परम प्रिय,

पूर्व पत्र का उत्तर दे दिया था- मिला होगा। जीवन स्वयं रक्षा करता है, विचारशील केवल अपने कर्त्तव्य की ओर देखते हैं। परिणाम पर दृष्टि नहीं रखते। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग उन्नति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। मानव-जीवन में विश्राम तथा चैन के लिए कोई स्थान नहीं है अर्थात् उत्तरोत्तर आवश्यकता जाग्रत होनी चाहिए। ज्यों-ज्यों भोग इच्छा मिटती जाती है त्यों-त्यों स्वाभाविक आवश्यकता (natural want) जाग्रत होती जाती है। ज्यों-ज्यों स्वाभाविक आवश्यकता जाग्रत होती जाती है, त्यों-त्यों प्रेमपात्र से दूरी मिटती जाती है। अतः प्रेमपात्र की आवश्यकता प्रेमपात्र से अभेद करने में समर्थ है।

प्यारे, किसका दर्शन करना है? मलमूत्र पूर्ण शरीर तो समीप होने पर भी दूर ही रहता है। ज्ञान का भाव की दृष्टि से देशकाल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती। देखिए गहरी नींद में प्राणी वाह्य संसार से प्रसन्नतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। उस काल में किसी प्रकार का भय तथा चिन्ता नहीं रहती और जाग्रत की निर्बलता भी मिट जाती है। वैसे ही यदि प्राणी जाग्रत में सुषुप्तिवत् हो जाए तो वह समाधि अर्थात् शक्ति-संचय का साधन स्वतः प्राप्त कर लेता है।

प्यारे, आस्तिकता सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करती है, परतन्त्रता नहीं बनती। आस्तिकता आ जाने पर सभी परिस्थितियों में दासता सदा के लिए विदा हो जाती है। अतः प्रेम-पात्र के नाते वर्तमान् परिस्थिति का सेवा भाव से सदुपयोग करते हुए प्रेम-पात्र की कृपा की प्रतीक्षा करो। वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों का लेशमात्र भी आह्वान नहीं

करना चाहिए। दर्शन का अर्थ जानना है। यदि जानना है तो अपने को जानो। यदि सेवा करना है तो संसार सेवा करो। यदि किसी का होकर रहना है तो भगवान् के होकर रहो। ऐसा करने से सभी निर्बलताएँ स्वतः मिट जाऐंगी।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

396

अजमेर
18-10-1944

मेरे निजस्वरूप प्रेम-मूर्ति,

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। जब प्राणी तप नहीं करता तब उसको रोग के स्वरूप में तप करना पड़ता है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

यात्रा करने से रजोगुणी प्राणियों को लाभ होता है। निर्बल तथा निर्धन को विशेष लाभ नहीं होता।

देखो, जब प्राणी सुख आने पर वह नहीं करता जो करना चाहिए तब दुःख अपने आप आ जाता है। दुःख जीवन की आवश्यक वस्तु है। दुःख प्राणी को त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। ज्यों-ज्यों त्याग बढ़ता जाता है त्यों-त्यों दुःख अपने आप मिटता जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप
.....

397

देहली
15-11-1944

मेरे निज स्वरूप परम उदार स्वधर्मनिष्ठ प्रिय,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। जो प्रोग्राम उपस्थित है उसके परिवर्तन में अपने को स्वतन्त्र नहीं पाता, क्योंकि केवल अपनी ओर से नहीं बना है। अनेक बार मिलने की इच्छा सद्भाव पूर्वक सम्बन्ध तो स्थापित करती है किन्तु मिलने पर मिलने की निरर्थकता भी सिद्ध करती है।

प्यारे, शरीर मिलने पर भी दूर ही रहता है। भाव की एकता एवं विचारों की एकता तथा स्वरूप की एकता वास्तव में मिलन है। अतः प्रेम-पात्र के होकर उनके पवित्र प्रेम-मिलन की प्रतीक्षा निरन्तर स्वतः होनी चाहिए। जो किसी का नहीं रहता, उसके वे अवश्य हो जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

398

लखनऊ
3-12-1944

मेरी निजस्वरूपा परम उदार पूज्या माँ,

विचारशील उपस्थित प्रोग्राम को पवित्रतापूर्वक करने का प्रयत्न करते हैं।, व्यर्थ चिन्तन नहीं करते। व्यर्थ चिन्तन से शक्ति क्षीण होने के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं होता। मानव-जीवन में व्याकुलता के बिना विकास नहीं होता। परन्तु व्याकुलता तथा चिन्ता में भेद हैं। चिन्ता उन्नति से निराश होने पर होती है और व्याकुलता उन्नति की ओर जाने पर होती है। व्याकुलता बढ़ जाने पर विषय-निवृत्ति अर्थात् त्याग अपने आप आ जाता है। चिन्ता संसार की दासता उत्पन्न करती है। अतः विचारशील चिन्ता का नितान्त अन्त कर देते हैं।

जब प्राणी अपने पर अपनी कृपा करने लगता है तब उस पर जगत् तथा ईश्वर स्वयं कृपा करने लगते हैं। अर्थात् अपने अपने के, साथ वह करो जो करना चाहिए अपने को अभागा अर्थात् बुरा मत समझो और न दूसरों को बुरा समझो। अपने बल से अपने पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करो। सेवा और त्याग को जीवन बना लो। मन में से राग-द्वेष निकाल दो। प्राणी मात्र के प्रति हित तथा प्यार का भाव बना लो। बुरे से बुरे प्राणी को भी बुरा मत समझो। अपने दुःख का कारण किसी और को कभी मत समझो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

399

गीता प्रेस, गोरखपुर
7-12-1947

मेरे निजस्वरूप, प्रेम-मूर्ति स्वधर्मनिष्ठ प्रिय।

जब प्राणी वह कर डालता है जो उसे करना चाहिए तब सफलता स्वतः होने लगती है। प्राकृतिक विधान (Natural Law) हमसे वह आशा नहीं करता जो हम नहीं कर सकते। इस दृष्टि से मनुष्य मात्र कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही सभी उलझने अपने आप सुलझ जाती हैं।

आस्तिकवाद प्राणी की परतंत्रता हर लेता है क्योंकि परतन्त्रता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक प्राणी सब प्रकार से प्रेमपात्र का हो नहीं जाता। प्रेमपात्र का होकर उनके नाते विश्व की सेवा करना और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सब ओर से अपने को हटाकर प्रेम-पात्र में लग जाना, ऐसा करने से वर्तमान में ही प्रेमपात्र को पाकर प्राणी कृतकृत्य हो जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

400

.....
17-12-1944

मेरे निजस्वरूप,

जिस प्रकार प्रत्येक काष्ठ अग्नि बन कर अपने कारण में विलीन हो जाता है उसी प्रकार भक्त की प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति बन कर प्रेम-पात्र में विलीन हो जाती है। जिज्ञासु की प्रत्येक प्रवृत्ति विचार बन कर तत्त्वज्ञान में विलीन हो जाती है, विषयी की प्रवृत्ति विषय बनकर विषयी को बाँध लेती है। अपने को भक्त स्वीकार करते ही भक्ति स्वतः उत्पन्न होती है, प्रथम व्याकुलता और अन्त में आनन्द की गंगा लहराती है। यही भक्ति है। जब तक अपने में से विषयी स्वभाव का अन्त न कर दो तब तक चैन से मत रहो, किन्तु उस व्याकुलता को इन्द्रियों द्वारा प्रकट मत होने दो। ऐसा कोई बाहरी साधन मत करो जिससे दम्भ तो बढ़ जाय और हाथ कुछ न आए। मोह को लेशमात्र भी जीवित न रखो। संसार से सुख की आश न करो, प्रत्युत निरन्तर सेवा करते रहो। सेवा वस्तुओं तथा इन्द्रियों द्वारा नहीं होती, सेवा सेवक का स्वभाव है अर्थात् भक्त होने पर भक्ति द्वारा स्वतः विश्व की सेवा होती है। वस्तुओं द्वारा तो समाज के ऋण से मुक्त होता है अतः किसी भी वस्तु को बिगाड़ने का तथा उसको अपना समझने का किसी को लेशमात्र भी अधिकार नहीं है। सद्भावपूर्वक अपनत्व तथा उनको वर्तमान जीवन की वस्तु समझना ही वास्तविक आस्तिकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

401

कलकत्ता
28-12-1944

मेरी निजस्वरूपा परम उदार स्वधर्मनिष्ठ पूज्या माँ,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। भक्त के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः जो कर सकती हो उसे करती रहो, जो नहीं कर सकती उसके लिए चिन्ता न करो। अपना सब कुछ प्रेमपात्र के समर्पण कर अचिन्त हो जाओ। प्रेमपात्र किसी के ऋणी नहीं रहते। जिस प्रकार बीज गल जाने पर स्वतः वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक समर्पण हो जाने से आवश्यकता की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति अवश्य हो जाती है। दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आया है, चिन्ता के लिए नहीं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

402

इलाहाबाद
18-1-1945

मेरे निजस्वरूप स्वधर्मनिष्ठ प्रिय,

पत्र के रूप में दर्शन मिला।

भक्त-दृष्टि से सहनशीलता आदरणीय है किन्तु अन्याय का सहन करना न्याय दृष्टि से निन्दनीय है। उत्तम पुरुषों का परिवर्तन ज्ञान से, मध्यम पुरुषों का लालच से तथा निकृष्ट पुरुषों का भय से होता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

403

चम्बल तट अबारी
1-2-1945

मेरे निजस्वरूप प्रेममूर्ति,

जब प्राणी उन सभी चेष्टाओं का अन्त कर देता है जो दूसरों के हित तथा प्रसन्नता का साधन नहीं हैं तब उसकी सभी निर्बलताएँ स्वतः मिटने लगती हैं और छिपी हुई शक्तियों का विकास होने लगता है क्योंकि दोष की निवृत्ति होने पर गुण स्वतः आ जाते हैं। सभी दोषों का मूल स्वार्थभाव और सभी गुणों का मूल सेवा-भाव है। अतः प्रत्येक आवश्यकता प्रवृत्ति को सेवा भाव से, अभिनय के, रूप में, पर की प्रसन्नता के लिए करते रहो। अपनी प्रसन्नता के लिए अपने प्रेम-पात्र से भिन्न की ओर मत देखो। यही सच्ची आस्तिकता तथा तप है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

404

काशी
19-2-1945

मेरे निजस्वरूप प्रेम-मूर्ति स्वधर्मनिष्ठ प्रिय,

अपनी निर्बलताओं का ज्ञान विचारशील के हृदय में पीड़ा उत्पन्न करता है। वह पीड़ा ज्यों-ज्यों प्रबल होती है त्यों-त्यों निर्बलता मिटाने की आवश्यकता प्रबल होती जाती है। आवश्यकता तथा इच्छा में यही भेद है कि इच्छा पूर्ति न होने पर कालान्तर में मिट जाती है अर्थात् प्राणी उससे निराश हो जाता है और पूर्ति होने पर पुनः उसी प्रकार की अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। परन्तु आवश्यकता उत्तरोत्तर प्रबल ही होती जाती है। यहाँ तक कि सभी इच्छाओं को खा लेती है, सभी परिस्थितियों से अतीत कर देती है, और

सभी वस्तुओं से सम्बन्ध विच्छेद कर देती है। इतना ही नहीं पूर्ति होने पर पुनः उत्पन्न नहीं होती। यही आवश्यकता की महत्ता और इच्छा की न्यूनता है। अतः अपनी निर्बलता का ज्ञान मौलिक आवश्यकता जाग्रत करने में समर्थ है। इसी कारण विचारशील सतत् अपनी निर्बलताओं को देखकर मिटाने का प्रयत्न करते हैं। हार स्वीकार नहीं करते। सभी निर्बलताएँ मिट सकती है क्योंकि अपनी बनाई हुई होती है। प्राणी, प्रयत्न से उसी को मिटा सकता है जो उसकी बनायी हुई है। भगवान की अहैतुकी कृपा होने पर अपनी निर्बलताओं का ज्ञान होता है। किन्तु जो प्राणी निर्बलता को निर्बलता जानकर उसे मिटाने का प्रयत्न नहीं करता वह भगवान् की सुधामयी कृपा का दुरुपयोग करता है। अतः प्राकृतिक विधान से मिले हुए ज्ञान के अनुरूप जीवन बनाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

405

दारा नगर, बनारस
2-3-1945

मेरी निजस्वरूपा परम उदार पूज्या माँ,

सच तो यह है कि हम लोग प्रतिकूल परिस्थिति का उपयोग करना नहीं जानते। अनुकूल परिस्थितियों की दासता ने हम लोगों पर अपना पूरा अधिकार कर लिया है परन्तु फिर भी मस्तिष्क आस्तिकता का गीत गाता है। निम्नलिखित कहानी विचार पूर्वक पढ़ियेगाः-

कहानी-

"एक पथिक अपना सारा बोझ ऊँट पर लाद कर चला जा रहा था। उसने सोचा कि ऊँट पर बोझ अधिक है। उसने उसी बैठी हुई अवस्था में कुछ बोझ अपने सिर पर रख लिया। कुछ दूर चलने के पश्चात् उसकी गर्दन दबने लगी अर्थात् वह बोझ से दब कर विशेष उद्विग्न होने लगा। इतने में अकस्मात् एक सन्त मिल गये। सन्तों का स्वभाव सहज ही सर्व हितैशी होता है। बेसमझ पथिक को दुःखी देख कर कहने लगे "प्यारे पथिक सिर पर बोझा क्यों रखे हो?" पथिक ने कहा—"महाराज, ऊँट पर बहुत बोझा है, यह समझ कुछ बोझ मैंने अपने ऊपर रख लिया है"। सन्त ने कहा—"भाई तुम किस पर बैठे हो?" पथिक ने कहा—महाराज बैठा तो ऊँट पर ही हूँ।" सन्त ने कहा-"फिर बोझा किस पर रहा?" क्या तुम्हारी इस बुद्धिमता से ऊँट का बोझा घट गया?"

पथिक की समझ में सन्त की वाणी आ गयी। उसने सिर की पगड़ी तक

उतार कर रखी दी और निश्चिन्त ही प्रसन्नता पूर्वक यात्रा करने लगा।

देखो माँ! यही हम बनावटी आस्तिक प्राणियों की दशा है। वैसे तो हम अपना सारा बोझ तथा अपने को भगवान पर रख देते हैं, किन्तु उसमें से कुछ बोझा (आसक्ति) रूप अपने सिर पर रख बोझ से पिचे जा रहे हैं। और यह समझ रहे हैं कि हमने ऊँट पर से बोझ कम कर लिया है। किसी विचारशील का संकेत पाकर यदि हम अपने को सर्व भाव से भगवान् के समर्पण कर अचिंत हो जायें तो हमारी जीवन-यात्रा भी पथिक के समान प्रसन्नता पूर्वक सफल हो जाय।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

406

काशी
2-9-1945

मेरे निजस्वरूप,

पत्र के रूप में भेंट हुई। आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से और किसी भी कार्य को मस्तिष्क में जमा न रखने से तथा प्राप्त कार्य को पूरी शक्ति लगाकर करने से आलस्य मिट जाता है और काम का बोझा नहीं मालूम देता। वक्त काटना उन्हीं प्राणियों को कठिन हो जाताहै, जो प्रत्येक कार्य के अंत में प्रेम-पात्र का चिन्तन तथा ध्यान नहीं करते। जो साधक शरीर आदि प्रत्येक वस्तु को अपना नहीं मानते, प्रत्युत संसार रूपी वाटिका की, प्रेम-पात्र के नाते, शरीर से सेवा करते हैं वे न तो थकते हैं और न असफलत होते हैं। असफलता का हेतु एकमात्र स्वार्थ है। थकावट का कारण केवल व्यर्थ चेष्टाओं का करना है। अतः अपने को सेवक बना लो। फिर सभी कार्य सुगमता पूर्वक स्वयं होने लगेंगे।

थोड़े-थोड़े समय बाद प्रेम-पात्र से, मूक होकर, प्रार्थना करो कि हे नाथ, अपनी अनंत शक्ति से अपने इस शरीर को संसार की सेवा के योग्य बना दो। सेवा का भाव स्थायी होते ही शक्ति का विकास अवश्य होगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

407

नाथद्वारा
28-9-1945

मेरे निजस्वरूप स्वमर्धनिष्ठ प्रिय,

सप्रेम यथायोग्य।

प्रत्येक प्राणी में योग्यता की भिन्नता होती है, इस कारण साधन में भेद होता है। किन्तु साध्य की एकता होती है।

जो साधक अपनी दृष्टि से अपनी निर्बलताओं को देख कर उनके त्याग में

समर्थ है, उनको प्रथम मन, इन्द्रिय आदि की स्थिरता प्राप्त होती है और अन्त में तीव्र जिज्ञासा के कारण असह्य व्याकुलता स्वतः आ जाती है। व्याकुलता की जागृति और अखण्ड प्रसन्नता की प्राप्ति युगपद् होती है। किन्तु कुछ लोग उस व्याकुलता को व्याकुलता नहीं मानते। वास्तव में तो ऐसा कोई विकास नहीं होता जिसके मूल में व्याकुलता न हो।

केवल विचार तथा अभ्यास के बल पर इन्द्रिय आदि में स्थिरता आ सकती है किन्तु स्थिरता के रस का बन्धन तीव्र व्याकुलता के बिना मिट नहीं सकता। अतः व्याकुलता अन्तिम साधन है।

साधारण प्राणी केवल भावावेश को व्याकुलता समझने लगते हैं जो वास्तव में हृदय की दशा विशेष है। व्याकुलता आकर तब जाती है जब प्रेमी तथा प्रेम-पात्र अभिन्न हो जाते हैं। व्याकुलता की अग्नि सभी विकारों को भस्म कर देती है। जब तक कोई विकार शेष रहता है तब तक व्याकुलता की अग्नि शान्त नहीं होती। यही वास्तव में व्याकुलता है।

सावन-भादों की नदी की भाँति घटने-बढ़ने वाली दशा भावावेश है, व्याकुलता नहीं। हाँ यह अवश्य है कि जिस प्रकार नदी का वेग सभी कचरे को बहा देता है उसी प्रकार भावावेश, हृदयशील प्राणियों के हृदय के कचरे को बहा देता है। विचारशील हृदय के कचरे को विचार की अग्नि से दग्ध कर देता है। अन्त में दोनों ही साधक एक ही परम तत्त्व में विलीन हो जाते हैं।

विचारशील में त्याग का बल होता है। भावुक भक्त शिशु के समान है और विचारशील, प्रौढ़ प्राणी के तुल्य है। अतः अपनी योग्यता के अनुसार जो साधन सुगम मालूम हो उसी का अनुसरण करना चाहिए। योग्यता-भेद होने के कारण प्रत्येक साधक के साधन में भिन्नता अनिवार्य है। किन्तु जब साधक अपनी योग्यता के अनुसार साधन में सफल हो जाता है तो साध्य से एकता अवश्य हो जाती है। अर्थात् अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार साधन करके साधक एक ही तत्त्व को पाता है क्योंकि सत्य में कल्पना-भेद भले ही हो, वस्तु-भेद नहीं हो सकता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

408

जोधपुर,
18-10-1945

मेरे निजस्वरूप भक्तवर परम प्रिय.....,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। विचारशील तथा हृदयशील के पठन-पाठन तथा चिन्तन-ध्यान में योगयता-भेद होने के कारण दृष्टिकोण में भेद रहता है अर्थात् जिस प्रकार की रुचि होती है उसी प्रकार के ग्रन्थों का साधक पाठ करता है क्योंकि एकनिष्ठता सफलता की कुंजी है।

अब रही चिन्तन-ध्यान की बात, विचारशील प्रथम जानने का प्रयत्न करता है और उसके पश्चात् जाने हुए तत्त्व में प्यार उत्पन्न होता है।

हृदयशील विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर प्रथम प्यार करता है और अन्त में उसे जान कर कृतकृत्य हो जाता है।

हृदयशील और विचारशील में अन्तर केवल इतना है कि हृदयशील प्यार के पश्चात् जानता है और विचारशील जानने के पश्चात् प्यार करता है।

गहराई से देखिये, जिसे जानता है उसी से प्यार होता है और जिससे प्यार होता है उसी को जानता है अर्थात् जानकारी प्यार में और प्यार जानकारी में स्वतः विलीन हो जाता है। दोनों प्रकार के साधकों में आरम्भ में भेद और अन्त में अभिन्नता होती है।

विचारशील में दोषों के त्याग का बल होता है। दोषों का त्याग निर्दोषता से प्यार उत्पन्न करता है।

हृदयशील में निर्दोषता की प्रियता का बल होता है। निर्दोषता की प्रियता दोषों के त्याग की शक्ति प्रदान करती है।

इस दृष्टि से दोनों साधकों में आरम्भ में भेद और अन्त में एकता सिद्ध होती है। साधारण व्यक्ति बुद्धिजन्य विश्वास तथा विकल्प रहित विश्वास को विचार मान लेते हैं जो वास्तव में नहीं है। जिस प्रकार किसी को भगवान के निराकार स्वरूप में प्यार है-यह बुद्धि जन्य विश्वास है। किसी को भगवान् के साकार स्वरूप में प्यार है-यह हृदय जन्य विश्वास है। ये दोनों साधक विचारक नहीं है।

विचारक के मन में भगवान क्या है? यह प्रश्न जाग्रत होता है।

निराकार का प्रेमी मन इन्द्रिय आदि के व्यापार को शान्त कर अचिन्त होता है जिससे ध्यान स्वतः होता है।

साकार का प्रेमी मन, इन्द्रिय, आदि के व्यापार को अपने स्वीकार किए हुए एक ही प्रतीक में भाव के अनुसार विलीन करता है इससे भी ध्यान अपने आप हो जाता हैं

साधक अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुरूप साधन करने पर उत्तरोत्तर विकास पाता है, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। सभी साधन साधक की दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। इस कारण साधन में भेद होने पर भी साध्य में भेद नहीं होता। जिस प्रकार धन के अभिलाषी भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन से एक ही प्रकार का धन प्राप्त करते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका

अभेदस्वरूप

409

देहली,
17-11-1945

मेरे निज स्वरूप भक्तवर,

एक समय में एक ही कार्य हो, ऐसी धारण बनाने के लिए कार्य कुशलता, भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखना परम अनिवार्य है।

कार्य कुशलता से क्रिया शक्ति का सदुपयोग होगा। भाव की पवित्रता से मानसिक शक्ति का सदुपयोग होगा और लक्ष्य पर दृष्टि रखने से विचार शक्ति का सदुपयोग होगा। इन तीनों का एक स्वरूप हो जाने पर विक्षेप मिट जाएगा।

प्रत्येक प्रवृत्ति कर्ता का परिचय है। अर्थात् ज्यों-ज्यों कर्ता में पवित्रता आती है त्यों-त्यों प्रवृत्ति स्वयं पवित्र होती है। अर्थात् पवित्र कर्ता से पवित्र प्रवृत्ति होती है। कर्ता जिस ज्ञान तथा भाव के आधार पर प्रवृत्ति आरम्भ करता है अन्त में प्रवृत्ति उसी भाव तथा ज्ञान को सिद्ध करती है। अतः निज ज्ञान के अनुरूप प्रवृत्ति होने पर सभी दोष मिट जाते हैं। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपनी सभी प्रवृत्तियों को पति की प्रसन्नता का साधन बना, पति के प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो जाती है उसी प्रकार प्रेमी अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रेमपात्र की प्रसन्नता का साधन बना, प्रेम-पात्र का प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

जीवन की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को एक ही भाव में विलीन कर दो। अर्थात् क्रिया-भेद होने पर भी लक्ष्य भेद तथा प्रीति-भेद नहीं होना चाहिए। ऐसा करने से प्रत्येक कार्य प्रेमपात्र की प्रसन्नता का हेतु बन जाएगा। जिस कार्य में प्रीति की न्यूनता होती है उसी कार्य से मन इधर उधर चला जाता है। आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से तथा वर्तमान परिस्थितियों का सदुपयोग करने से अथवा सब प्रकार से प्रेमपात्र के हो जाने से सभी विक्षेप मिट जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

410

आगरा
21-12-1945

भक्तवर परम प्रिय,

काफी दिन पूर्व पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला था। उत्तर में देर हुई क्षमा कीजिए। आपने जो लिखा है, वह ठीक है-परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि कारण के परिवर्तन से कार्य का परिवर्तन होता है। अतः इन्द्रियों के परिवर्तन के लिए मन का परिवर्तन आवश्यक है और मन के परिवर्तन के लिए बुद्धि का परिवर्तन आवश्यक है और बुद्धि के परिवर्तन के

लिए सीमित अहम् भाव जो किसी न किसी स्वीकृति में आबद्ध है, उसी स्वीकृतियों का परिवर्तन आवश्यक है, क्योंकि स्वीकृति के अनुरूप वासना जागृत होती है, और वासनाओं के अनुरूप बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि कार्य करते हैं। इस दृष्टि से साधक को सब ओर से प्रथम अपवित्र स्वीकृतियों को हटा कर पवित्र स्वीकृतियों की स्थापना करनी चाहिए।

पवित्र स्वीकृति ज्यों-ज्यों दृढ़ होती जाएगी, त्यों-त्यों पवित्र भावनाएँ स्वतः उत्पन्न होने लगेंगी। यह नियम है कि सद्भाव के अनुरूप प्रवृत्ति स्वयं होने लगती है। अतः अहंभाव के पवित्र होने पर पवित्र भावनाएँ और पवित्र भावनाओं के अनुरूप मन इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति बिना ही प्रयत्न स्वाभाविक होने लगेगी। यही वास्तव में सहज और सुगम उपाय है।

अहंभाव के शुद्ध करने का प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होगा क्योंकि मन इन्द्रिय आदि तो बेचारे, यन्त्रवत् हैं। अतः सबसे प्रथम साधक को अपने में भक्त-भाव की स्थापना करनी चाहिए। "मैं भक्त हूँ" इस भाव की दृढ़ता होते ही भक्ति स्वतः आ जाएगी।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

411

13-2-1946

मेरे निजस्वरूप,

प्राकृतिक विधान के अनुसार रोग वास्तव में तप है। किन्तु साधारण प्राणी उससे भयभीत होकर वास्तविक लाभ नहीं उठा पाते। रोग से शरीर की वास्तविकता का ज्ञान होता है तथा इन्द्रिय-लोलुपता मिट जाती है। भयंकर रोग छोटे-छोटे रोगों को मिटाकर आरोग्य तथा विकास प्रदान करता है। भोगवासनाओं का अन्त कर देने पर मन में स्थिरता स्वतः आ जाती है। ज्यों-ज्यों स्थिरता स्थायी होती जाती है त्यों-तयों रोग मिटाने की शक्ति अपने आप उत्पन्न होती जाती है। शरीर से अपनत्व हटा लो, हृदय में केवल प्रीति की गंगा लहरानी चाहिए। राग-द्वेष रहित होना ही वास्तविक पवित्रता है। पवित्रता आते ही प्रीति स्वतः उत्पन्न होती है। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रीति स्वयं प्रीतम से अभिन्न कर सब प्रकार से अभय कर देती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

412

आगरा, 19-2-1946

मेरे निज-स्वरूप,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। मानसिक बल शारीरिक बल की अपेक्षा अधिक महत्व की वस्तु है। परन्तु कुछ कार्यों के लिए शारीरिक बल की भी परम आवश्यकता है। अन्तर केवल इतना है कि मानसिक बल शारीरिक बल के बिना निरर्थक हो जाता है। इसी कारण विचारशील व्यक्ति मन को स्वस्थ रखने का विशेष प्रयत्न करते हैं। ज्यों-ज्यों सेवा और त्याग सबल तथा स्थायी होते जाते हैं त्यों-त्यों मन स्वतः स्वस्थ होता जाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

413

काशी
6-3-1946

मेरे निजस्वरूप,

शरीर, मन, इन्द्रियादि के व्यापार को देखो और असंग हो जाओ। ऐसा करते ही निर्वासना स्वतः आ जायगी। निर्वासना आ जाने पर प्रेमी अपने में ही प्रीतम को पा सब प्रकार से अचिन्त तथा अभय हो जाता है अर्थात् अहंता अभिमान-शून्य हो जाती है और हृदय में केवल प्रीति की गंगा लहराती है तथा शरीर विश्व के काम आ जाता है। यही मानव जीवन की पूर्णता है।

भूल कर भी किसी के दोष मत देखो क्योंकि जब दोषी स्वयं जानता है और नहीं मानता तो फिर अन्य किसी को दोष देखने का क्या अधिकार? दोष करना, अथवा किसी में दोषी भाव की स्थापना करना समान अर्थ रखता है। इस कारण विचारशील न तो किसी को दोषी मानते हैं, न किसी के दोष देखते हैं और न स्वयं दोष करते हैं। प्रत्येक बुराई का उत्तर भलाई से दो अथवा सहन करो और मौन हो जाओ। क्योंकि बुराई का उत्तर बुराई से देना पशुता है।

यदि प्रीतम का प्रेम नहीं मिला तो कोई बात नहीं किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य किसी को जीवन की वस्तु मत बनाओ, न चैन से रहो।

स्थायीप प्रसन्नता न मिलने पर विचारशील चैन से नहीं रहते क्योंकि परिवर्तनशील प्रसन्नता से बेचैनी कहीं अधिक मूल्य की वस्तु है। स्थायी प्रसन्नता के बिना चैन से न रहना साधक का परम पुरुषार्थ है। जहाँ तक हो सके प्रत्येक क्षण के अन्त में देखो कि उनकी अहैतुकी कृपा का दरवाजा क्यों नहीं खुला? उनकी अहैतुकी कृपा का बल सभी बलों में श्रेष्ठ है। अपना सब कुछ समर्पण कर अपने में ही अपने प्रीतम को देखो-यही वास्तविक योग है।

आत्म-समर्पण सच्चा भजन है। सभी अवस्थाओं से अतीत हो जाना त्याग है। आयी हुई प्रतिकूलता को प्रसन्नता

पूर्वक सहन कर लेना तप है। लेशमात्र भी सुख-दुःख में आबद्ध चित्त आनन्द से विमुख हो जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

414

आगरा,
10-3-1946

मेरे निज-स्वरूप,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करने पर शक्ति बिना ही माँगे मिल जाती है, क्योंकि दाता प्रेम तथा न्याय का भण्डार हैं। कर्तव्य पालन में असमर्थता स्वीकार करन प्राकृतिक विधान के विपरीत है, क्योंकि साधक को वह नहीं करना है जो नहीं कर सकता।

भक्त-भाव का सद्भाव हो जाने पर प्रेम-पात्र से सम्बन्ध की दृढ़ता होते ही प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है, यह निर्विवाद सत्य है।

छिपा हुआ राग आलस्य उत्पन्न करता है, क्योंकि उत्साह हीनता तभी आती है जब रुचि के विपरीत पार्ट करना पड़े। राग रहित होते ही सभी एक्टिंग समान अर्थ रखती हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

415

कराँची
13-4-1946

भक्तवर परम स्नेही पूज्या माँ,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। धर्म-प्रियता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों मोह-प्रियता स्वतः मिटती जाती है। इसके अतिरिक्त मोह-निवृति का अन्य कोई उपाय नही है। साधारण प्राणी मोह को सुरक्षित रखने के लिए पुण्य कर्म करते हैं। विचारशील मोह को मिटाने के लिए दुःखी प्राणियों की सेवा करते हैं। गहराई से अपने मन को देखो कि क्या अब तक जो कुछ किया है वह केवल छिपे हुए मोह की रक्षा के लिए किया है? यह नियम है कि जब प्राणी अपनी दृष्टि से अपनी भूल देख लेता है तो उसे मिटाने की शक्ति स्वतः आ जाती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका
अभेदस्वरूप

.....

416

सोलन,
20-5-1946

भक्तवर परम उदार प्रिय,
सादर अभिनन्दन।

प्रत्येक व्यक्ति में, समाज में, राष्ट्र में दो प्रकार की मनोवृत्तियाँ सतत कार्य करती रहती हैं—उपार्जन तथा उपभोग। ज्यों-ज्यों उपार्जन करने वाली मनोवृत्ति सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों गुणों का विकास स्वतः होता जाता है और ज्यों-ज्यों उपभोग की वृत्ति सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों ह्रास स्वतः होता जाता है। अर्थात् विकास का मूल है उपार्जन, तथा ह्रास का मूल उपभोग है। उपार्जन काल में उपभोग कदापि नहीं हो सकता और उपभोग काल में उपार्जन नहीं हो सकता। प्रत्येक उपभोग के मूल में स्वार्थ तथा राग निवास करता है। प्रत्येक उपार्जन के मूल में सेवा तथा त्याग निवास करता है। हितकारी चेष्टाओं का करना उपार्जन और इन्द्रिय लोलुपता के कारण अहितकारी चेष्टाओं का करना उपभोग है। वस्तु द्वारा वस्तु तथा अवस्थाओं द्वारा क्रिया-जन्य रस का आस्वादन करना उपभोग और किसी निर्बलता के मिटाने के लिए शक्ति-संचय करना उपार्जन कहलाता है। उपभोग से प्राणी वस्तुओं का दास और उपार्जन से वस्तुएँ प्राणी की दास बन जाती हैं। उपभोग सीमित तथा परतन्त्र बनाता है और उपार्जन असीमित तथा स्वतन्त्र बनाता है। उपभोग अनित्य जीवन और उपार्जन नित्य जीवन की ओर ले जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

417

नाथद्वारा
3-9-1946

भक्तवर परम प्रिय,

बहुत दिनों बाद पत्र के रूप में दर्शन मिला। प्रत्येक गुण स्वार्थ-त्याग करने पर ही, उन्नति का साधन होता है। स्वार्थयुक्त प्राणी का गुण भी वास्तव में दोष ही है। जिस प्रकार प्राण सहित शरीर ही वस्त्र तथा अलंकारों से सुशोभित हो सकता है, प्राण रहित नहीं उसी प्रकार स्वार्थ रहित होने पर ही गुण प्राणी को सुशोभित करते हैं।

ज्यों-ज्यों आत्म-विश्वास सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों स्वार्थ-त्याग करने की शक्ति स्वतः होती जाती है क्योंकि जब प्राणी अपने से शरीर आदि वस्तुओं का मूल्य अधिक बढ़ा लेता है तभी स्वार्थ में आबद्ध हो जाता है। अतः आत्म-विश्वास प्राप्त करने के लिए वस्तुओं की दासता का त्याग परम अनिवार्य हैं

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

418

सोलन
10-5-1947

मेरे निजस्वरूप,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। समय का सदुपयोग बड़े महत्त्व की वस्तु हैं, क्योंकि जो समय निकल जाता है वह किसी भी प्रकार हाथ नहीं आता है। इस कारण विचारशील प्रत्येक स्वाँस का सदुपयोग करते हैं। जो काम करना हो उसको पूरी शक्ति लगाकर पवित्रता पूर्वक करते रहो, ऐसा करने से काम से अरुचि न होगी और न व्यर्थ चिन्तन होगा। व्यर्थ चिन्तन करने में शक्ति का ह्रास हो जाता है और अचिन्त रहने से मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता आ जाती है जो वास्तव में मानव की माँग है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

419

नयी दिल्ली
29-10-1947

मेरे निजस्वरूप,

आपका ता. 26-6-47 का पत्र मिला। मैं इधर कुछ दिनों से अधिकतर हरिद्वार में रहा।

किसी को अपना न समझना अथवा सभी को अपना समझना तत्त्व दृष्टि से उचित मालूम होता है। परन्तु इस बात पर विचार करना है कि किसलिए सबको अपना समझना चाहिये और किसलिए किसी को अपना नहीं समझना चाहिए। यदि कुछ देना हो तो सभी अपने हैं। अर्थात् सेवा करने के लिए सभी को अपना समझना चाहिए। और यदि कुछ लेना हो तो किसी को अपना नहीं समझना चाहिये, अर्थात् अपने हित के लिए संसार की आशा नहीं करनी चाहिये। उपर्युक्त दोनों सद्भावनाओं का अपने-अपने स्थान पर यथेष्ट उपयोग करने पर प्राणी सभी प्रतिकूलताओं पर विजय पाकर कृतकृत्य हो जाता है। यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

420

2-11-1947

मेरे निज-स्वरूप,

उन्नतिशील मन की तीन प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं जिनमें दो- प्रथम व द्वितीय से गुणों का विकास और तीसरी से आध्यात्मिक उन्नति होती है। प्रथम, अशुद्ध संकल्पों को त्याग शुद्ध संकल्पों का स्वाभाविक उत्पन्न होना

अर्थात् सहज भाव से ही मन में सर्वहितकारी सद्भावनाओं का निवास करना। द्वितीय, सहज भाव से उत्पन्न हुई सद्भावनाओं का स्थायी हो जाना अर्थात् विकल्प रहित होकर शुद्ध संकल्पों का दृढ़ हो जाना। तीसरा, शुद्ध संकल्पों का अभिमान गल जाने पर निःसंकल्पता का आ जाना-जिसके आते ही प्रेमी को प्रेमास्पद तथा साधक को सिद्धि एवं जिज्ञासु को तत्त्व ज्ञान स्वतः हो जाता है। उस निःसंकल्पता को प्राप्त करने के लिए अपने में से सभी सम्बन्धों का, सब प्रकार के चिन्तन का विचारपूर्वक त्याग करना परम अनिवार्य है। यह भली प्रकार समझ लीजिये कि प्राणी भलाई करने से, भला नहीं होता प्रत्युत भला होने पर भलाई स्वतः होने लगती है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से प्रकाश अपने आप फैलता है। अतः भक्त होने पर भक्ति, पवित्र होने पर पवित्रता, अभिमान शून्य होने पर निःसंकल्पता, स्वार्थ भाव का अन्त होने पर उदारता, राग-द्वेष रहित होने पर त्याग, प्रेम आदि आवश्यक शक्तियाँ, अपने-आप आ जाती हैं। निर्वासना आध्यात्मिक उन्नति का प्राण है, संकल्प-शुद्धि गुणों के विकास का साधन है और दृढ़ संकल्प निर्बलता हटाने का महा मन्त्र है। अतः उपर्युक्त तीन प्रकार की अवस्थाओं में ही मन को विचरना चाहिए। यदि आप का मन आपकी बात न माने तो उसे अपना मत समझो। यह भली प्रकार समझ लो कि आपके सहयोग के बिना आपका मन कुछ नहीं कर सकता। मन प्रेमपात्र के रहने का मन्दिर है। तन विश्व की सेवा का साधन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

421

अहमदाबाद
16-12-1947

मेरी निजस्वरूप,

यह भली प्रकार समझ लो कि अधिकार कर्त्तव्य का दास है। क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठ प्रणियों को अधिकार स्वतः ही मिल जाता है और कर्त्तव्य-पालन न करने पर मिला हुआ अधिकार छिन जाता है। इसी कारण विचारशील अधिकार माँगने का प्रयत्न नहीं करते, प्रत्युत अपने कर्त्तव्य-पालन में सर्वदा तत्पर रहते हैं। प्रत्येक कर्ता अपने कर्त्तव्य में सर्वदा स्वतन्त्र है। अकर्त्तव्य केवल मिली हुई शक्ति के दुरुपयोग में है। अतः मिली हुई शक्ति का सदुपयोग कर कर्त्तव्यनिष्ठ बन जाओ, यही उन्नति का मूल है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

422

त्रिवेणी तट, प्रयाग
12-2-1948

मेरे निज-स्वरूप प्रिय,

सादर अभिवादन। पत्र के रूप में दर्शन मिला। दीनवत्सल श्रद्धेय बापू का शरीरांत उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार क्षमाशील ईसा का। उसका परिणाम विरोधी विचारधारा पर विजय प्राप्त करना अवश्य है। हमें गाँधीजी के नाम-रूप को त्याग उनके सिद्धान्त का आदर करना चाहिए। नाम-रूप की आसक्ति, मोह उत्पन्न कर, उससे भिन्नता स्थापित करती है। कोई भी नियम क्रोध तथा आवेश में आकर नहीं बनाना चाहिए, और न किसी नियम को जीवन भर के लिए करना चाहिए। आपके सभी नियम परम सुन्दर हैं परन्तु नम्बर 2 का नियम जो गाँधीजी के ध्यान करने का है उसमें गाँधीजी के सिद्धान्तों को ध्यान करना अधिक श्रेयस्कर होगा।

की हुई भूल का पुनः न करना ही वास्तव में प्रायश्चित है। उपवास की अपेक्षा किसी दीन को दान देना अधिक महत्त्व रखता है। उपवास तप का अंग है, दान सेवा का। तप शक्ति का विकास करता है और सेवा हृदय का विकास करती है। हृदय का विकास होने पर ही प्राणी शक्ति का प्रयोग कर सकता है। अतः शक्ति-संचय से पूर्व हृदय को विकसित करने का विशेष ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि मिली हुई शक्ति का सदुपयोग करने पर आवश्यक शक्ति स्वतः मिल जाती है, यह निर्विवाद सत्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

423

हरिद्वार
8-6-1947

मेरे निज स्वरूप परम उदार प्रिय,

मेरे कहने का भाव यह है कि धन की अपेक्षा शारीरिक स्वास्थ्य को अधिक समझना चाहिये और शरीर की अपेक्षा विवेकवती बुद्धि को अधिक समझना चाहिये। विवेक से मोह की निवृत्ति होती है और शुद्ध अनुराग की उत्पत्ति होती है, जो उन्नति का मूल है।

अनुराग हृदय की एक दशा है जो प्रेमी को प्रेमपात्र से, जिज्ञासु को तत्त्व ज्ञान से, योगी को योग से, सेवक को सेवा से, भक्त को भगवान् से, व्यक्ति को समाज से, शरीर को विश्व से, और तुच्छ को महान् से अभिन्न कर देती है। अतः अनुराग प्राप्त करने के लिए विवेक परम आवश्यक है। विवेक की उत्पत्ति निःसंकल्प होने पर ही संभव है। निःसंकल्पता आत्मसमर्पण से ही प्राप्त होती है। इस कारण आस्तिक प्राणियों

को अपना सब कुछ अपने इष्ट-देव के समर्पण कर देना चाहिए। अर्थात्-

मेरा मुझ में कुछ नहीं,
जो कुछ है सो तोर।

\+ + +

बराये नाम भी अपना न कुछ बाकी निशाँ रखना।

न तन रखना, न मन रखना, न जी रखना न जाँ रखना।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

424

यमुना नगर
27-11-1948

मेरे निज-स्वरूप,

उन्नतिशील मानव केवल वर्तमान का सदुपयोग तथा आदर करते हैं। आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन नहीं करते। पूरी शक्ति लगाकर पवित्रता पूर्वक प्रभु के नाते वर्तमान कार्य करते रहो। कार्य के अन्त के में या तो अपने इष्ट-चिन्तन से विषय-चिन्तन मिट जाएगा और अचिन्त होने से अपने में ही अपने इष्ट का अनुभव होगा।

प्राणी परिस्थिति परिवर्तन में भले ही पराधीन है पर उसके सदुपयोग में सर्वथा स्वाधीन है। यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध है। क्योंकि कर्त्तव्य पालन में कर्त्ता असमर्थ नहीं है और कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर असफलता नहीं है। तो फिर निराशा के लिए कौन सा स्थान है?

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

425

गीता भवन
27-7-1949

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपने जो कुछ लिखा है ठीक ही है। परन्तु भैया! व्यर्थ चिन्तन से बड़ी हानि होती है। चिन्तन केवल उसका करना चाहिए, जिसे प्राप्त करना हो। इस दृष्टि से सर्व-समर्थ भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु चिन्तन करने योग्य नहीं है। अतः सब प्रकारसे प्रभु के होकर रहो। और उनके ही नाते अभिनय के रूप में प्रत्येक कार्य करो। अभिनयकर्ता अपनी वास्तविक स्थिति को नहीं भूलता। उसके अभिनय से देखने वाले भले ही भूल जाँय। मन में कभी भी दुर्विचार मत आने दो। असावधानी ही परम भूल है। मन को पवित्र भावनाओं से भर लो अथवा खाली करलो क्योंकि भावनाओं के अनुरूप ही जीवन हो जाता है और मन खाली हो जाने पर मन उस प्रभु का मन्दिर बन जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

426

मसूरी
18-9-1949

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

इधर कुछ दिनों से शरीर अस्वस्थ सा रहता है। मेरा विचार किसी हिल स्टेशन पर एक आश्रम के निर्माण करने का है। सफलता सर्व समर्थ प्रभु की कृपा पर निर्भर है। समझ के अधीन मन को रखना चाहिये। अर्थात् विवेक पूर्वक कर्म होना चाहिये क्योंकि प्राणी का विकास तभी होता है जब विवेक-अधीन मन हो जाने पर जितेन्द्रियता स्वाभाविक आ जाती है, और व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है। व्यर्थ चिन्तन मिट जाने पर सार्थक चिन्तन स्वतः उत्पन्न होता है, जो उन्नति का मूल है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

.....

427

22-1-1950

मेरे निज स्वरूप,

निष्क्रियता कोई अभ्यास नहीं है, वासनाओं का त्याग हो जाने पर वह अपने आप आ जाती है। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों का त्याग करना ही मन को शुद्ध करने का सुगम उपाय है। ज्यों-ज्यों मन शुद्ध होता जाता है, निःसंकल्पता आती है। निःसंकल्पता दृढ़ होने पर विवेक उत्पन्न होता है, विवेक होते ही निर्मोहता प्राप्त होती है। निर्मोहता आ जाने पर निर्वासना स्वतः आ जाती है। निर्वासना आ जाने पर अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव होता है जो वास्तव में मानव की माँग है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

428

सरदारगढ़
24-5-1950

मेरे निज स्वरूप,

न्याय पूर्वक उपार्जित धन को रोगी, बालक, सेवक और विरक्त की सेवा में लगाना चाहिये। सच्चाई तो यह है कि उन लोगों का बचा हुआ अपने काम में लाना चाहिये।

पश्चिमी सभ्यता ने व्यक्ति की अपेक्षा सामान का महत्त्व अधिक बढ़ाया है जो वास्तव में प्रमाद है, बेसमझी है, धर्म विरुद्ध है। अच्छाई का अभिमान बुराई

का मूल हो जाता है। इस कारण निरभिमानता पूर्वक मिले हुए काम को भगवत् नाते करते रहना चाहिये।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप
.....

429

राँची
20-7-1950

मेरे निज स्वरूप,

व्यथित हृदय से व्याकुलता पूर्वक की हुई प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रार्थना करने के पश्चात् विकल्प रहित होकर निश्चिन्त हो जाओ अर्थात् किसी प्रकार का सन्देह तथा चिन्ता मत करो। देखो भाई, किसान बोये हुए बीज पर न तो सन्देह करता है और न बार-बार खोल कर देखता है। कालान्तर में बीज स्वयं उपजता है। उसी प्रकार सच्चा आस्तिक अपनी सभी इच्छाओं को अपने इष्ट के समर्पण कर अचिन्त हो जाता है।

ईमानदारी अर्थ से अधिक महत्त्व की वस्तु है। उसको सुरक्षित रखने के लिए बड़ी से बड़ी कठिनाई सहन कर लो। गयी हुई वस्तुएँ पुनः मिल सकती हैं, पर गयी हुई ईमानदारी फिर कहाँ?

रोग का वास्तविक हेतु केवल राग है क्योंकि राग से व्यर्थ चिन्तन तथा असंयम होना स्वाभाविक है और व्यर्थ चिन्तन तथा असंयम से प्राण-शक्ति का क्षीण होना अनिवार्य है। प्राण-शक्ति के दुर्बल होने पर अनेकों रोग स्वतः आ जाते हैं।

कुछ रोग अदृश्य की मलिनता अर्थात् पूर्व कर्म के फल स्वरूप होते हैं। उनकी निवृत्ति तप, त्याग तथा पुण्य कर्म से व भोगने से, ही होती है। असंयम द्वारा उत्पन्न रोग यथेष्ठ पथ्य अर्थात् आहार-विहार के ठीक होने से मिट जाते हैं। और वीतराग होने पर राग से उत्पन्न होने वाले रोग भी मिट जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

430

राँची
16-9-1950

मेरे निज स्वरूप,

आस्तिक व्यक्ति धीरज पूर्वक वर्तमान का आदर करते हैं, आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन नहीं करते। ईमानदारी पूर्वक परिश्रम करते हुए जीवन यात्रा व्यतीत करो-ब्रह्मचर्य पालने के लिए अस्वाद व्रत परम अनिवार्य है। रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने से वीर्य रक्षा में सुविधा होती है, वास्तव में सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मचर्य है। अनावश्यक

चेष्टाओं का निरोध करने से ब्रह्मचर्य-व्रत स्वाभाविक हो जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

431

1950

मेरे निज स्वरूप,

किसी का निरादर न करने वाले को तथा त्याग करने वाले को आदर, तथा आनन्द अवश्य मिलता है। त्याग और प्रेम बीज वृक्ष के समान हैं जो विचार रूपी भूमि में अपने आप उत्पन्न होते हैं। विचाररूपी भूमि आवश्यकता होने पर स्वयं तैयार हो जाती है। प्रेम रूप सुन्दर मनोहर वृक्ष को सत्संग रूपी जल से सींचते रहना चाहिये। वृक्ष के हरे-भरे होने पर ज्ञान रूप फल अपने आप आ जायगा जिसको पाकर जीवन की पूर्णता सिद्ध होगी अर्थात् किसी प्रकार की कमी न रहेगी। प्रेम रूप धन अधिक से अधिक छिपा कर रखना चाहिये। यहाँ तक कि मन, इन्द्रियों आदि को भी पता न चले। नहीं तो ये निर्मल प्रेम को गंदा कर देंगे। सच्चे प्रेमी की आवाज प्रेमपात्र के सिवा और कोई नहीं सुन पाता। प्रेमी प्रियतम को अपने में और अपने को प्रियतम में विलीन कर देता है अर्थात् किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। प्रेमी को किसी की सहायता की आवश्यकता मालूम होती हो तो समझ लेना चाहिये कि हृदय में अभी प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है। सच्चाई सब में और सबसे परे है क्योंकि असीम है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

432

हरिद्वार, गंगातट

भक्तवर,

सर्वदा अभय रहो,

निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाले साधकों को शुद्ध अर्थात् पवित्र संकल्पों की भी पूर्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि संकल्पों की पूर्ति के लिए किसी न किसी प्रकार के संग्रह की आवश्यकता होती है, जो वास्तव में अनर्थ का मूल है। इतना ही नहीं कि संकल्प-पूर्ति का रस साधक को साध्य से अभिन्न नहीं होने देता, प्रत्युत ज्यों-ज्यों संकल्पों की पूर्ति होती जाती है, त्यों-त्यों नवीन संकल्पों की उत्पत्ति भी होती जाती है। यह नियम है कि संकल्प उत्पन्न होते ही सीमित अहंभाव दृढ़ होता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प-पूर्ति का रस देहाभिमान गलने नहीं देता, उसके बिना काम-क्रोध आदि विकारों का अन्त नहीं हो पाता। उन विकारों के रहते हुए

सर्वसमर्थ आनन्दघन राम से अभिन्न नहीं हो सकता। इस दृष्टि से निवृत्ति-मार्ग के साधक को संकल्पों का त्याग ही परम अनिवार्य है।

संकल्पों का त्याग करते ही सब प्रकार का संग्रह स्वतः मिटने लगता है। ज्यों-ज्यों संग्रह मिटता जाता है, त्यों-त्यों वस्तुओं की दासता, उनकी सत्यता तथा प्रियता भी मिटती जाती है, जिससे देहाभिमान अपने आप गलने लगता है। देहाभिमान गलते ही सभी दोष मिट जाते हैं और निर्दोषता से अभिन्नता प्राप्त होती है। इसी कारण किसी संत ने कहा है कि (नारायण तो मिले उसी को जो देह का अभिमान तजे)।

इस अभागे देहाभिमान ने हमको हमारे परमप्रिय प्रेमास्पद से विमुख कर हमारी जो दुर्दशा की है, वह किसी कथन द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। केवल संकेतमात्र में यह कह सकते हैं कि हम अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाते, परन्तु फिर भी दूसरों की दृष्टि में आदर के योग्य बने रहने की प्रबल इच्छा करते हैं। हमारी इस बेईमानी को धिक्कार है।

हे पतित-पावन सर्व-समर्थ भगवान्, आप अपनी ओर देख अपने इस पतित प्राणी को अपनाइये, जिससे इसका उद्धार तथा आपका नाम सार्थक हो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका
अभेदस्वरूप

433

सूरत
11-1-1951

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप से भेंट हुई। जब प्राणी अपने पर अपनी समझ का प्रयोग नहीं कर पाता, अर्थात् जानी हुई दुर्बलताओं को प्रमादवश नहीं मिटाता तब पराये दोष देखने में अपने को लगाता है। ऐसा क्यों करता है? इसलिए कि मेरे जैसे संसार में बहुत से हैं। ऐसा करने से मिथ्या सन्तोष हो जाता है और कमजोरियाँ दीर्घ काल तक के लिए सुरक्षित बनी रहती हैं और परस्पर में यह सिद्धान्त प्रचलित हो जाता है कि ' तू न कहे मेरी और मैं न कहूँ तेरी', जिससे दुर्बलताओं को रखते हुए हम लोग संगठित बने रहते हैं। अपनी दृष्टि में आदर के योग्य न होते हुए भी अपने को आदर के योग्य मान लेते हैं। इस भूल से सच्ची वेदना विकसित नहीं होती। वेदना के बिना आसक्ति नहीं मिटती, जो पतन का मूल है। अब आप समझ गये होंगे कि प्राणी पराये दोष क्यों देखता है। यदि हम यह चाहते हैं कि हम किसी के दोष न देखें तो हमें यह व्रत लेना होगा कि हम अपनी समझ अर्थात् विवेक का प्रयोग केवल अपने पर ही करेंगे, किसी और पर

नहीं। सर्व-समर्थ प्रभु ने दूसरों पर प्रयोग करने के लिए हमें हृदयशीलता अर्थात् क्षमा दी है, जिसका मोहवश हम प्रयोग अपने पर करते हैं। किसने अपने दूषित मन को क्षमा नहीं किया? यदि नहीं किया तो मन दूषित कैसे रहा?

देखो भैया! कमजोरी को कमजोरी जान लेने पर मन में एक अजीब पीड़ा उत्पन्न होती है, जो कमजोरी को मिटाकर अन्त में स्वयं मिट जाती है। आजकल तो सभ्यता के नाते अपने को कमजोर मान लेते हैं, सच्चाईपूर्वक नहीं मानते। जितनी हानि पराये दोष देखने से होती है उतनी स्वयं दोष करने से नहीं होती, अर्थात् दोष देखने वाला दोषी से भी अधिक दोषी है। धर्मानुसार हित-बुद्धि से दोष का परिचय कराने के लिये गुरुजन शिष्यों के, माता-पिता सन्तान के, सद्मित्र मित्र के, परस्पर में दुःखी हृदय से दोष का वर्णन कर सकते हैं अभिमान का रस लेने के लिए नहीं, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से, वह भी तब, जब वह दोष अपने में न रहा हो और अपने समान ही उन लोगों से प्रियता हो उनके दोषों का वर्णन करना है। अपने अभिमान को सुरक्षित रखने के लिए और कमजोरों का एक दल बनाने के लिए दोष-दर्शन नहीं करना चाहिए।

मानव को कितने धन की आवश्यकता है, यदि इस पर विचार किया जाय कि यही समझ में आता है कि जितने से बालक-बालिकाओं का शिक्षण और पोषण हो जाय। धन की लालसा मिटाने के लिए काम पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। काम के रहते हुए अर्थ-लोलुपता कदापि नहीं मिट सकती। अर्थ से वही मुक्त हो सकता है जो काम से मुक्त हो जाये। दर्जनों बच्चे पैदा करते रहना और धन के ऊपर उठने की बात सोचना अपने को धोखा देने के सिवाय और कुछ नहीं है। जितेन्द्रियता, सेवा तथा सत्य की खोज अर्थात् ईश्वर-चिन्तन ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों धन की लालसा स्वयं मिटती जाती है। ऐसा मेरा मत है। सर्व-समर्थ प्रभु आप लोगों को कर्त्तव्यनिष्ठ बनायें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द, आनन्द, आनन्द

आपका

.....

434

अहमदाबाद

12-2-1951

स्नेहमयी लाडली बिटिया,

बहुत-बहुत प्यार।

मन को स्थिर तथा शान्त रखने से ही प्रतिकूलता अनुकूलता में बदलेगी। देखो बेटी! सच तो यह है कि निर्मोहता के बिना प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। इसी कारण मानसिक अशान्ति बढ़ जाती है। अतः मोह-रहित होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। भगवत् नाते सेवा करना अपना

कर्त्तव्य है, किन्तु जो नहीं कर सकते उसके लिए चिन्तित रहना और किसी को अपना मान लेना मोह तथा अकर्त्तव्य है। मन के अस्वस्थ होने पर शरीर स्वस्थ नहीं रह पाता। शरीर के स्वस्थ न रहने से आवश्यक कार्य पूरा नहीं हो पाता। इस दृष्टि से मन का स्वस्थ रखना परम अनिवार्य है। बुरे संकल्पों को त्याग, शुद्ध संकल्प को पूरा कर, निस्संकल्प हो जाने से मन स्वस्थ हो जाता है। अपनी सारी इच्छाएँ सर्व-समर्थ श्रीहरि के पतितपावन श्रीचरणों पर चढ़ा देना चाहिए। ऐसा करने पर निर्बलता मिट जाएगी और प्रभु की निर्भरता प्राप्त होगी। जो प्राणी उनके निर्भर हैं, वे ही मानसिक रोग से मुक्त हैं। अतः सच्चाईपूर्वक उनपर निर्भर होने के लिए प्रयत्न करती रहो। जो बल किसी वस्तु तथा व्यक्ति एवं किसी परिस्थिति पर निर्भर है वही निर्बलता है। कर्त्तव्यनिष्ठ तथा आस्तिक भाव से इस निर्बलता का नितान्त अन्त कर दो। बस, सभी उलझनें सुलझ जायेंगी।

मेरा यह विचार है कि आलसी 'राम राम' नहीं कह सकता, 'दैव दैव' कह सकता है, क्योंकि 'राम राम' कहने के लिए तो सरल विश्वापूर्वक आस्तिक बुद्धि होनी चाहिए, जिसकी उपलब्धि भौतिकवाद का अन्त होने पर होती है। दैव का अर्थ है होनहार। होनहार का सच्चा अर्थ है विनाश, क्योंकि वास्तव में होना क्या है? उत्पत्ति का विनाश। होनहार के आधार पर प्रयत्न छोड़ना एक विजय-कामनायुक्त प्राणी को अभीष्ट नहीं होता। तो फिर श्रीलक्ष्मणजी का कहना तो उचित ही है कि 'दैव दैव आलसी पुकारा'। इसका वास्तविक अर्थ क्या हुआ कि प्राप्त शक्ति का सदुपयोग न करते हुए विजय-कामना होने पर भी 'दैव दैव' कहना आलसी का काम है, वीर का नहीं। सर्व कामनाओं का अन्त होने पर दैव के आश्रय शरीर छोड़ देना सन्यासी का धर्म है, क्षत्रिय का नहीं। उस समय राघवेन्द्र सरकार तथा लक्ष्मणजी विजय पाने का पार्ट कर रहे थे। इस अवसर पर श्रीलक्ष्मणजी ने ठीक ही कहा है। दूसरी बात यह है कि हमारे राघवेन्द्र बड़े ही नीतिज्ञ हैं। श्रीलक्ष्मणजी द्वारा वीरत्व का प्रादुर्भाव कराना ही वास्तविक राजनीति थी, क्योंकि संगठन सुरक्षित रखने के लिए साथियों पर उत्तरदायित्व डाल देना अनिवार्य होता है.....।

तुम्हारा पिता

.....

435

बलरामपुर

22-5-1951

स्नेहमयी विवेकमती प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत स्नेहाशीष।

.....प्राणी में काम स्वाभाविक विद्यमान है। इसे मनोविज्ञानी आदि रस बताते हैं, पर वह अनित्य है। प्राणी की

माँग नित्य रस की है, जिसकी उपलब्धि काम का अन्त होने पर ही सम्भव है। काम का वास्तविक रूप सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य है। यदि काम न रहे तो शरीर की उत्पत्ति ही न हो, क्योंकि शरीर की उत्पत्ति में मूल काम है, पर विवेकी जन उस काम को राम की अभिलाषा से भस्मीभूत कर देते हैं। देहाभिमान से काम की उत्पत्ति होती है और देहाभिमान गल जाने पर काम का अन्त होता है। देहाभिमान गलाने के लिए शरीर को संयम का मन्दिर बना लेना अनिवार्य है। संयम का जन्म भीतर के मन से होता है। ऊपर के मन से जो दिखाई देता है भीतर के मन में उससे कुछ भिन्न ही निकलता है।

जिन महानुभावों के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास है उनकी धर्मानुकूल आज्ञा का पालन करना ही उनकी सच्ची सेवा तथा आदर का प्रदर्शन है। उपर्युक्त वाक्यों से तुम मानव की वस्तु-स्थिति का परिचय प्राप्त कर सकोगी। देखो बेटी, जब यह निश्चित है कि शरीर काम से बना है तो उसमें काम का होना स्वाभाविक है, पर उस काम के अनेक रूप हैं। छोटे-छोटे बालकों के प्रति जो स्नेह प्रदर्शित होता है वह भी काम का ही एक शुद्ध रूप है, पर उसका प्रभाव एक पक्ष में ही अधिक होता है। बालक के मन में उसकी प्रतिक्रिया केवल हृदय तक रहती है, इन्द्रिय तक नहीं। पिता-भ्राता के मन में भी हृदय की प्रबलता होती है, पर शरीर का पूर्ण विकास होने पर उन चेष्टाओं का प्रभाव इन्द्रियों तक न पहुँचे इसके लिए कोई स्थायी रुकावट नहीं हो सकती। जब तक भाव का आदर है तक तक हृदय में स्नेह का संचार होगा और इन्द्रियों में शुद्धता रहेगी, पर बेटी, देहाभिमान-युक्त स्नेह मोह में परिणत होकर कामाग्नि को प्रज्जवलित कर सकता है। हाँ, पर कब और कितना, यह नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार नदी का शुद्ध जल किसी गड्ढे में आबद्ध होकर अनेक विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार स्नेह किसी शरीर तथा वस्तु, अवस्था आदि में आबद्ध हो मोहयुक्त अनेक विकार उत्पन्न करता है। स्नेह प्राणी की परम आवश्यकता है, पर उसे किसी में आबद्ध नहीं करना चाहिए। हृदय में स्नेह की गंगा लहराती रहे, पर उसके सामने कोई दीवार नहीं होनी चाहिए, जिससे वह टकरा जाय। साधक का आधार उसकी साधना और लक्ष्य है। प्राणी का लक्ष्य काम का अन्त कर राम से अभिन्न होना है। उसकी साधना भोग-इच्छाओं को राम की अभिलाषा में, स्वार्थ को सेवा में एवं असंयम को संयम में परिवर्तित कर देना है।

तुम्हें अपने हरएक कार्य में जाग्रत तथा सावधान रहना है। प्रीति का उपयोग सर्व-समर्थ प्रभु के प्रति ही सम्भव है और शरीर का उपयोग दीन-दुखियों की सेवा में। देखो बेटी, जबतक मन अमन न हो जाए और इन्द्रियाँ स्वाभाविक सहज स्नेह में न डूब जाये तब तक भीतर-बाहर दोनों प्रकार के

संयम की आवश्यकता है। ॐआनन्द!
ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हार हितैषी
.....

436

नैनीताल
31-5-1951

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

मधुर स्नेह तथा सरल ईमानदारी से हरा-भरा पत्र मिला। मेरे और तुम्हारे बीच में कृतज्ञता के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि हम सब एक खिलाड़ी के खिलौने हैं। अतः हमें और तुम्हें उन्हीं का होकर रहना है और उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। विवेकी जन आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन नहीं करते।

मेरे अपने विश्वासानुसार तो जबतक तुम मेरे साथ रहे मुझे बड़ा ही आराम मिला। मैं तो समझता हूँ कि तुम्हारा हृदय काफी शुद्ध है। तुम अपने मन में किसी प्रकार की इन्फीरियर्टी (हीनभाव) मत उत्पन्न होने दो। सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु का हो जाने पर देश-काल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती। सभी आस्तिक ऊपर से भिन्न-भिन्न होने पर भी भीतर से अभिन्न हैं। हमें और तुम्हें यही सीखना है और सिखाना है कि प्रत्येक कार्य के अन्त में जिसे कि उसी के नाते किया है उनकी अहैतुकी कृपा की बाट देखते रहें। यद्यपि उनकी गुणमयी माया प्राणियों को मोहित करती है, पर उनकी कृपा उन्हीं को मोहित करती है। अतः जिन प्राणियों ने उनकी कृपा का सहारा लिया वे सभी पार हो गये।

मनरूपी क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के संकल्प उठते रहते हैं। उनमें से जो संकल्प दृढ़ तथा स्थिर रहते हैं वे अवश्य पूरे हो जाते हैं। जिस प्रकार किसान अपने बोये हुए खेत में से घास निकाल देता है उसी प्रकार विचारशील साधक मन में से बुरे संकल्पों को निकाल देता है। ऐसा करते ही भले संकल्प स्वतः सबल तथा स्थायी हो जाते हैं, जिनका पूरा होना स्वाभाविक है। पर सच्चा आस्तिक संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं होता, प्रत्युत निःसंकल्प होकर व्याकुलतापूर्वक हृदय से प्रभु को पुकारता है। व्याकुलता की अग्नि से सभी दोष एवं निर्बलताएँ भस्मीभूत हो जाती हैं, यह परम सत्य है।

तुम्हारा
.....

437

नैनीताल
31-5-1951

चिरंजीव लाड़ली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

तुम अनेक बार सुन चुकी हो कि विवेकी जन प्रत्येक घटना के अर्थ को

अपनाते हैं और अपने कर्त्तव्य को भलीभाँति जान लेते हैं। कुटुम्बी जनों की व्यस्तता तथा परेशानी को देखकर तुम्हारा जी घबराता है। तुम्हारे मन में खीज होती है। इस घटना से तुमने क्या सीखा? यदि तुम्हारा जन्म न होता तो यह कुछ न होता और यदि मानव के मन में काम न होता तो किसी का जन्म न होता। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि कोई दुःखी होता है, उसका मूल काम है। उस बैरी काम का अन्त करने के लिए ही धर्म ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकार के प्रधान मार्ग बताये हैं। अब तुम्हें भी प्रवृत्ति-मार्ग का अनुसरण कर काम का अन्त करना है। तुम स्वयं ऐसा व्रत ले लो कि यह मेरा अन्तिम जन्म होगा। इतना ही नहीं, यदि मेरे सन्तान होगी तो वह भी किसी अन्य की सन्तान न बनेगी, जैसा कि मदालसा ने किया था।

तुम्हारी खीज सजीव होनी चाहिए-निर्जीव नहीं। जो प्राणी अनुकूलता में हर्षित और प्रतिकूलता में खिन्न हो जाते हैं उनकी खीज निर्जीव होती है। तुम्हें अपने कुटुम्बी जनों से यही सीखना है कि वे कितना वात्सल्य प्रेम करते हैं, जो यथासमय तुम्हें भी करना है, पर मोह-रहित होकर। प्राणी तभी खीजता है जब उनकी इच्छाएँ, शक्ति से अधिक हो जाती हैं। तुम सदैव इस बात का ध्यान रखना कि इच्छाएँ शक्ति से अधिक न हों, तब तुम्हें कभी खीज न होगी। वास्तव में तो शक्ति के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना है। शान्त चित्त से विवेकपूर्वक मोह तथा काम की महिमा देखती रहो, खीजो नहीं।

विवेकी जन अपने को शरीर नहीं मानते और न शरीर को अपना मानते हैं। ऐसा करते ही अहंता और ममता मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्वासना आ जाती है। वासना-रहित होते ही अपने में ही अपने का अनुभव होता है और फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। पर ऐसा वे ही प्राणी कर पाते हैं जो अपने कर्त्तव्य से दूसरों के अधिकारों को सुरक्षित रखते हैं और अपने अधिकारों को भूल जाते हैं। अतः प्रत्येक मानव को अधिकार-शून्य कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाना है। वह तभी सम्भव है जब हम वर्तमान का आदर करते हुए प्रत्येक कार्य भगवान् के नाते पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर सके और कार्य के अन्त में व्याकुलतापूर्वक पतितपावन समर्थ श्रीहरि को पुकारें, अर्थात् तन से सेवा और मन से चिन्तन करते रहें।

तुम्हार पिता

.....

438

रानीखेत
7-6-1951

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

माने हुए सम्बन्ध तोड़ दो। भूतकाल भूल जाओ। अपने ही में अपने प्रीतम का अनुभव करो। आगे-पीछे के चिन्तन को त्याग कर नित-नव जीवन का अनुभव करो। अपने को शरीर कभी मत समझो। वासना-रहित, राग-द्वेष-रहित हृदय को बना दो, तभी प्रीति की गंगा लहरायेगी।

प्रेमास्पद से देश-काल की दूरी नहीं है। अतः उसके लिए भविष्य की आश न करके वर्तमान में ही अपना लो। अपना सब कुछ देते ही वे मिल जाते हैं। किसी और को अपना मत मानो। संसार से न्याय तथा प्रेम की आशा मत करो। सच्चाई से निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि उससे तुम्हारी जातीय एकता है और संसार से आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे मानी हुई एकता और जातीय भिन्नता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

439

रानीखेत
8-6-1951

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

.....तुम्हारी हार्दिक लालसा सर्वत्र अपने प्रेमास्पद के दर्शन करने की है। पर भैया, ऐसा तब हो सकता है जब अपने को स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों से असंग करलो। देहाभिमान होते हुए किसी को भी अपने प्रीतम का अनुभव नहीं हुआ। अतः विवेकपूर्वक अपने को शरीर से अलग करलो। शरीर द्वारा होने वाले प्रत्येक कर्म को अपना कर्म मत समझो। शरीर को तो संयम-मन्दिर बना लो तथा उसे समाज की सेवा में लगा दो। ऐसा करने से निर्वासना आ जायगी।

शरीर से असंग होने के लिए या तो विचाररूपी सूर्य का उदय हो अथवा हृदय में व्याकुलता की अग्नि प्रज्जवलित हो जावे। वे लोग बड़े भाग्यशील हैं जिनका मन व्याकुल है। हृदय में उत्पन्न हुई व्याकुलता इन्द्रियों द्वारा छलकने न पाये। व्याकुलता वही सार्थक सिद्ध होती है जो उत्तरोत्तर बढ़ती रहे.....।

तुम्हार हितैषी
.....

440

रानीखेत
8-6-1951

स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

सादर सप्रेम यथोचित।

सरल विश्वास तथा ईमानदारी से हरा-भरा पत्र मिला। यथेष्ठ विश्राम तथा एकान्त वास की भावना से यहाँ आ गया

हूँ, क्योंकि शारीरिक अस्वस्थता और कार्यक्रमों की व्यस्तता काफी दिनों से चल रही थी। यहाँ एक उदार सभ्य सज्जन के साथ ठहरा हूँ। यदि कोई विशेष घटना नहीं हुई तो कुछ दिन यहीं रहूँगा।

मोह-रहित स्नेह की एकता हो जाने पर देश-काल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रहती, क्योंकि शरीर-भाव गल जाता है, तभी निर्मोहता प्राप्त होती है। उससे पूर्व सच्चा स्नेह नहीं समझना चाहिए।

विवेक का उदय और देहाभिमान की निवृत्ति युगपद् है, अर्थात् विचाररूपी सूर्य उदय होते ही अनन्त काल का देहाभिमानरूपी अंधकार वर्तमान में ही मिट जाता है। उसके लिए शनैः-शनैः अभ्यास नहीं करना पड़ता। यह भलीभाँति समझलो कि प्रत्येक अभ्यास का जन्म शरीर-भाव से ही होता है और विचार से शरीर-भाव गल जाता है। शरीर-भाव गलते ही निर्वासना आ जाती है और फिर अपने ही में अपने प्रेमास्पद का अनुभव होता है, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। तुम्हारे पीछे भले ही संगठन चले, पर तुम संगठन के पीछे न चलो। अपने विवेक-बल तथा चरित्र-बल से समाज की सेवा करते हुए उत्तरोत्तर आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रयत्नशील बनी रहो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा हितैषी

.....

441

रानीखेत
13-6-1951

सौभाग्वती कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार।

संयोग-वियोग अदृश्य के अधीन हैं, प्राणी केवल भावना करने मात्र में ही स्वाधीन हैं। यदि तुम स्वधर्मनिष्ठ होकर जीवन व्यतीत करती हो तो मुझसे दूर रहकर भी सदैव मेरे साथ हो, क्योंकि धर्म ही प्राणी का नित्य साथी है। तुम अपने कर्त्तव्य से अपने प्रियजनों के अधिकारों को सुरक्षित रखती हुई प्रत्येक कार्य के अन्त में सहज भाव से सर्व-समर्थ प्रभु का चिन्तन करने का स्वभाव बनालो। ऐसा करने से तन, सेवा में और मन, प्रभु में लग जाएगा।

संसार चिन्तन-योग्य नहीं है, क्योंकि चिन्तन उसका करना चाहिए जो उत्पत्ति-विनाश-रहित हो, जिसमें जड़ता का दोष न हो, जिससे देश-काल की दूरी न हो, उसकी उपलब्धि चिन्तन मात्र से होती है। संसार तो उसके विपरीत विनाश-युक्त, जड़ता आदि दोषों से भरा है। उसकी सेवा करना आवश्यक है, चिन्तन नहीं। संसार का चिन्तन घोर आसक्ति उत्पन्न करता है, जो दुःख का मूल है। आशा है कि अब तुम भलीभाँति समझ गई होंगी कि चिन्तन करने योग्य केवल श्रीहरि हैं संसार नहीं।

तुम्हारा पिता | .....

442

15-6-1951

.....

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

.....वासनाओं का अन्त होते ही जीवन और मृत्यु में भेद नहीं रहता, क्योंकि अपना शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और प्रेमी अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव कर अमर हो जाता है- यह निर्विवाद सिद्ध है। अतः विवेकपूर्वक शरीर से अलग होकर सहज भाव से ही अपने प्रेमास्पद को पाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसके लिए किसी प्रकार की गति तथा कर्म की आवश्यकता नहीं है, बल्कि सब प्रकार की चेष्टाओं का अन्त कर अचिन्त होना अनिवार्य है। जिसने चिन्तन का अन्त किया उसकी सहजावस्था स्वतः हो जाती है। अपने प्रीतम से भिन्न का विश्वास तथा सम्बन्ध मिट जाने पर चिन्तन मिट जाता है। शरीर आदि कोई भी वस्तु विश्वास करने योग्य नहीं है और न कोई अपनी मानने योग्य है। अतएव प्रभु से भिन्न नहीं है कोई जिसका, वही सच्चा आस्तिक तथा भक्त है। इतना ही नहीं, विचारशील की दृष्टि में तो प्रभु अपने से अभिन्न हैं, तो फिर किसी प्रकार के चिन्तन के लिए स्थान ही कहाँ रहा!

महान पुरुषों की सेवा से चित्त बड़ी सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है, क्योंकि अपने भक्त, प्रभु को अत्यन्त प्रिय हैं। अतः जो साधक विवेकपूर्वक उनके भक्तों की सेवा करते हैं उन्हें वे स्वयं प्रेम करने लगते हैं। अब तुम यह भलीभाँति समझ गई होंगी कि भक्त तथा सन्तों की सेवा का कितना महत्त्व है!

.....कल्पना करो कि शरीर न रहे तो क्या किया जाय। इस बात के पूछने में संकोच न करना, क्योंकि वीतराग पुरुष तो जीवित ही मृतवत् होते हैं। यह भी पूछ लेना कि उनके सामान का क्या किया जाय। उनके मन में कोई भी बात जमा नहीं रहनी चाहिए। रोगावस्था में उसी प्रकार निश्चिन्त रहना चाहिए जिस प्रकार सब काम समाप्त करके चिन्तन के लिए बैठते हैं और मृत्यु की उसी प्रकार प्रतीक्षा करना चाहिए जिस प्रकार सिगनल होने पर गाड़ी पर बैठने वाले मुसाफिर प्रतीक्षा करते हैं। मृत्यु के समान और कोई हितकर वस्तु नहीं है। उसके आने पर ही आस्तिक प्राणी अपने इष्टलोक अथवा विदेहमुक्ति हो पाता है, जो मानव का परम लक्ष्य है।

तुम्हारा हितैषी

.....

443

रानीखेत | 17-6-1951

स्नेहमयी.....

सादर सप्रेम यथोचित।

तारीख 12 जून का पत्र मिला। तुम यह जानना चाहती हो कि किस उपाय से चिन्ता दूर हो जाए। उसका सबसे सुगम उपाय यही है कि सच्चाईपूर्वक ईमानदारी से अपने सभी संकल्प सर्व-समर्थ श्रीहरि के चरणों में चढ़ा दो और मोह तथा ममता को विचारपूर्वक मिटा दो। यह भलीभाँति समझ लो कि जब तक प्राणी कामना पूरी करना चाहता है तब तक चिन्ता दूर नहीं होती। चिन्ता-रहित वही प्राणी होते हैं जो कामनाओं का अंत कर देते हैं। सभी कार्य यथासमय अपने आप होते हैं। प्राणी मोहवश चिन्ता करता है। नीचे लिखी चैपाई का सम्पुट लगाकर श्रीरामायण का पाठ किया करो-

दीनदयाल विरद संभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥

दो सम्पुट की चैपाई के बीच में एक रामायण की चैपाई होनी चाहिए।

सभी कुटुम्बी जनो को सप्रेम यथोचित निवेदन करना। पुनः तुमको बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

444

रानीखेत
23-6-1951

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

सादर सप्रेम यथोचित।

तारीख 15 जून का लिखा पत्र यथासमय मिला। निःसन्देह मेरा हृदय आप लोगों के मधुर स्नेह का ऋणी है। किसी ने ठीक ही कहा है कि आस्तिक भक्त तथा प्रभु की कृपा दोनों ही अकारण स्नेह रखते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं अपनी करुणा से अनधिकारियों को भी अधिकारी बनाकर अपना लेते हैं। पर क्या किया जाय, संयोग-वियोग अदृश्य के अधीन हैं। हम आस्तिकों को यही सीखना और सीखाना है कि जो कुछ हो रहा है उसी में प्रसन्न रहना चाहिए। वास्तव में तो शरीर विश्वास की वस्तु ही नहीं है। इससे असंग होकर अपने प्रेमास्पद का अनुभव करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है। क्षणभंगुर शरीर में चिपक जाना और इसके सुख-दुःख में आबद्ध होना प्राणी की परम भूल है। इस भूल का विवेकपूर्वक अंत करना अनिवार्य है। विवेक-रूपी सूर्य के उदय होते ही मोह-रूपी अन्धकार सदा के लिए मिट जाता है और हृदय में स्नेह की गंगा स्वतः लहराने लगती है। इसी कारण प्राणी विवेक का आदर करते हैं। निज ज्ञान के अनुरूप जीवन होने पर विवेक अपने आप उदय होता है। आपकी स्नेहमयी गोद तथा आपके पतितपावन श्रीचरणों में निवास उन्हीं प्राणियों को सम्भव है जिन

पर आपकी महती कृपा हो। आपकी कृपा के बिना कोई आपको पा ही नहीं सकता, तो फिर मुझ जैसे साधारण प्राणियों की तो बात ही क्या है। जब आपकी कृपा होगी तभी मिलन होगा।

वास्तव में तो जिन पर आपकी कृपा हो जाती है उनसे और आपसे देश-काल की दूरी शेष नहीं रहती। वे अपने में आपको और आपमें अपने को नित्य अनुभव करते हैं।

तुम्हारा

445

रानीखेत
26-6-1951

चिरंजीव लाड़ली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

.....ईमानदारी को सुरक्षित रखने के लिए सतत प्रयत्नशील बनी रहना। निज दोषों का ज्ञान जागृति उत्पन्न करता है, पर कभी-कभी निज गुणों का अभिमान प्रमाद भी उत्पन्न कर देता है। इसी कारण विवेकीजन निज दोषों को देखते हैं और उनके त्याग का दृढ़ संकल्प करते हैं। दोषों को देखकर केवल उनका चिन्तन नहीं करते, प्रत्युत व्याकुलतापूर्वक दृढ़ता के साथ उनका त्याग करते हैं और प्रार्थना तथा प्रायश्चित द्वारा निर्दोषता की स्थापना कर लेते हैं। भूतकाल भूल जाते हैं और वर्तमान का सदुपयोग करते हुए भविष्य को आशाजनक बना लेते हैं।

सुख-दुःख दिन-रात के समान आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं। विवेकीजन उन दोनों को साक्षी भाव से देखते हुए सदैव प्रसन्न रहते हैं। हमें भी यही सीखना और सिखाना है.....।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा पिता

446

रानीखेत
30-6-1951

परम आस्तिक चिरंजीव लाड़ली बेटी,

बहुत- बहुत प्यार।

इतने दिन सत्संग तथा सम्पर्क में रहने के पश्चात् भी तुम क्षणभंगुर तथा अनेक विकारों से पूर्ण शरीर को स्थिर देखना चाहती हो, यह कहाँ तक विवेकयुक्त बात है? जो दशा लिखाते समय है वह पढ़ते समय तक रहेगी, इसका क्या विश्वास! प्यारी बेटी! शरीर के बनने तथा बिगड़ने अथवा रहने तथा न रहने में विवकीजन सम ही रहते हैं, क्योंकि वे भलीभाँति अनुभव कर लेते हैं कि शरीर से जातीय एकता नहीं है, केवल काल्पनिक सम्बन्ध मात्र है, जिसका विचार मात्र से ही अन्त हो जाता है। तो फिर शरीर के लिए चिन्ता करना तथा घबरा जाना कहाँ तक उचित है? स्वयं

विचार करो। शरीर से असंग होकर वासनाओं को त्याग कर्त्तव्यनिष्ठ बनी रहो। अविवेक तथा मोह का अन्त कर दो। तभी घबराहट का अन्त होगा। हृदय की कोमलता सेवा के लिए है, घबराने के लिए नहीं। वर्तमान का आदर करते हुए सदैव प्रसन्न रहो। धीरज, अलोभ, क्षमा और सत्य, इन चारों को जीवन बना लो। प्रत्येक कार्य में उत्साह तथा श्रम एवं कार्यकुशलता अवश्य आनी चाहिए, तभी वर्तमान सरस तथा भविष्य आशाजनक हो सकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा पिता

447

रानीखेत
8-7-1951

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

अब तुम एक नवीन जीवन में प्रवेश कर रही हो। जिस पवित्रता तथा शिक्षा-दीक्षायुक्त वीरतापूर्वक तुम ब्रह्मचर्य जीवन में सफल हुई हो उसी भाँति तुम्हें अब गृहस्थ जीवन सफल बनाना है।

प्यारी बेटी, उन्हीं के नाते जिनकी तुम सब प्रकार से हो चुकी हो, पूज्या सासु, ससुर तथा अन्य प्रियजनों की यथेष्ट धर्मपूर्वक सेवा करना है। यह भलीभाति समझ लो कि अधिकार-लालसा-रहित सेवा करने से मन में पवित्रता तथा चित्त में प्रसन्नता एवं हृदय में निर्भयता स्वतः आ जाती है, यह निर्विवाद सिद्ध है। तुम्हें अपने प्राणेश की दासी, मित्र, मंत्री तथा प्रियजन बनकर रहना है। प्रत्येक प्रवृत्ति में कर्म-भेद होने पर भी प्रीति-भेद नहीं करना है। स्नेह तथा कर्त्तव्य सुरक्षित रखने के लिए बड़ी-से बड़ी पतिकूलताओं को सहर्ष सहन करना है। स्नेह तथा कर्त्तव्य के बदले में सब कुछ दिया जा सकता है, किन्तु ये दोनों किसी के बदले में नहीं दिये जा सकते। यह सदैव ध्यान रखना है कि हृदय राग-द्वेष-रहित पवित्र प्रीति से भरा रहे और शरीर कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहे। तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित तथा प्रसन्नतार्थ मोह-रहित धर्मपूर्वक होनी चाहिए। सुख की अपेक्षा हित को अधिक महत्त्व देना चाहिए और व्यक्ति की अपेक्षा विवेक को अधिक आदर देना चाहिये। तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश में प्रीतिपूर्वक होनी चाहिए। विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। विवेक के बिना न किसी को शान्ति मिली, न सिद्धि-ऐसा महान् पुरुषों का मत है।

देखो रानी, जन्म देने वाले माता-पिता से अधिक सासु-ससुर की सेवा स्नेहपूर्वक करनी चाहिये और बहिन-भाई से अधिक ननँद तथा देवर-जेठ आदि प्रियजनों को सम्मान तथा स्नेह देना

चाहिए, क्योंकि जन्म की अपेक्षा भाव का सम्बन्ध उत्कृष्ट होता है-

होएहु संतत पियहि पियारी।
चिरु अहिबात असीम हमारी॥
सासु ससुर गुरु सेवा करेहु।
पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥

परस्पर में स्नेह सुरक्षित रखने के लिए एक दूसरों की निर्बलताओं को सहर्ष सहन कर लेना चाहिये। विश्वास करने योग्य केवल दो ही वस्तुएँ हैं-अपना कर्त्तव्य और प्रभु की कृपा। सर्व-समर्थ भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से तुम दोनों को कर्त्तव्यनिष्ठ बनावे, यही मेरी सद्भावना है।

योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से कर्त्ता में शुद्धता आ जाती है और फिर विचार तथा सरल विश्वास स्वतः उत्पन्न होता है। कामना-युक्त प्राणी सच्चाईपूर्वक प्रभु का हो नहीं पाता। अतः प्रभु की अहैतुकी कृपा की आवश्यकता प्रभु-विश्वास के लिए परम अनिवार्य है। उनका विश्वास प्रयत्न-साध्य नहीं है, केवल कृपा-साध्य है। सरल विश्वास के बिना कभी भक्ति-रस की उपलब्धि नहीं हो सकती। विचारपूर्वक प्रयत्न द्वारा प्राणी मुक्ति प्राप्त कर सकता है और पुण्य कर्म तथा तप द्वारा ऊँचे-ऊँचे भोग प्राप्त कर सकता है, किन्तु अहैतुकी कृपा के बिना भक्ति रस की प्राप्ति नहीं होती। ऐसी अनुपम कृपा तथा विश्वास को साधारण वस्तुओं के लिए उपयोग करना कृपा का अनादर है। शरीर के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनके लिए श्रमी जीवन होना चाहिये और अपने निज के लिए जिसकी आवश्यकता है उसके लिए उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय होना चाहिये। शरीर के लिए भोग की और अपने लिए प्रेम की परम आवश्यकता है। प्रेम प्रभु की कृपा तथा प्रेमियों के शुभ आशीर्वाद से और भोग पुण्य कर्म से प्राप्त करना चाहिए।

हाँ, यह अवश्य है कि प्रभु की कृपा अनन्त है, अभिमान रहित भक्तों के लिए कल्पवृक्ष है, किन्तु अभिमानयुक्त प्राणी कृपा का आश्रय नहीं पाते। इस कारण जितने अंश में प्राणी अभिमान रखता है तो उतने अंश में उसे कर्म करना पड़ता है। अभिमान गल जाने पर उनकी कृपा सब कुछ करती है, ऐसा मेरा मत है। हम आस्तिकों को यही सीखना है कि दुःख अपनी भूल से और आनन्द प्रभु-कृपा से तथा सुख पुण्य कर्म एवं तप से मिलता है। अतएव सुख-भोग के लिए कर्मवीर तथा तपस्वी होना चाहिए एवं दुःख का अन्त करने के लिए प्रमाद का अन्त कर देना चाहिए।

प्रत्येक कर्म फल देता है, यह प्राकृतिक नियम है, किन्तु प्रभु कृपा प्रसाद देती है, यह आस्तिकों का अनुभव है। प्रसाद से सभी दुःख मिट जाते हैं। सही कार्य करने से कर्त्ता ठीक रहता है। प्रत्येक कर्म का जन्म कर्त्ता द्वारा होता है। कर्त्ता में शुद्धता विवेक से आता है और विवेक की उपलब्धि विवेकी जनों के संग

से होती है। विवेकीजनों का संग स्वधर्मनिष्ठा तथा प्रभु-कृपा से प्राप्त होता है। अतः शरीर से स्वधर्मनिष्ठ बनी रहो और हृदय से प्रभु की कृपा की बाट देखती रहो। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा पिता

.....

448

आनन्द कुटीर
पुष्कर (अजमेर)
22-7-1951

सौभाग्यवती लाड़ली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

यह जानकर कि तुमको सभी लोग आदर तथा प्यार की दृष्टि से देखते हैं, हर्ष हुआ। पर बेटी, इस बात का सदैव ध्यान रखो कि किसी की उदारता तथा कर्त्तव्य एवं दुर्बलताओं को अपनी महत्ता नहीं समझना चाहिये। जो कुछ मिले उसे प्रभु की कृपा समझो। यदि न मिले तो अपनी भूल मानो अथवा अदृश्य समझो। सच तो यह है कि विवेकी जन प्यार तथा आदर पाने की अपेक्षा देने में अधिक महत्त्व मानते हैं। पाने में तो प्राणी ऋणी बनता है और देने में उदार तथा दाता बनता है। इस दृष्टि से पाने की अपेक्षा देना अधिक महत्त्व की वस्तु है। आशा है कि तुम सदैव पाने की अपेक्षा देने का अधिक ध्यान रखोगी। वास्तव में देना ही मानवता और लेना पशुता है। दी हुई वस्तु बढ़ जाया करती है, इसे सभी विचारशील जानते हैं। अतः लेने के लिए भी देना अनिवार्य है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि देना ही सच्ची साधना है। पर यह भलीभाँति समझ लो कि प्रत्येक प्रवृत्ति सुख-बुद्धि को त्याग हित-बुद्धि से, मोह को त्याग धर्म-बुद्धि से करनी चाहिये। हृदय दीनता तथा अभिमान से मुक्त रहे। प्रत्येक कार्य सहज स्नेह तथा स्वाभाविकतापूर्वक होना चाहिये। छल, कपट तथा बनावट नहीं होनी चाहिए। हाँ, कभी-कभी आमोद-प्रमोद की भावना से मनोरंजन भी अनिवार्य है, किन्तु दूसरों के सम्मान तथा प्यार का पूरा-पूरा ध्यान रहे। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा पिता

.....

449

आनन्द कुटीर
11-8-1951

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

देखो बेटी, जो वृक्ष सदैव किसी अन्य वृक्ष की छाया में रहता है, वह अधिक फलता-फूलता नहीं है। अतः तुम जैसी आस्तिक बालिका को प्रत्येक परिस्थिति में स्वतः कर्त्तव्य-निर्णय कर लेना चाहिए। प्रियजनों के दुःख से दुःखी होना, उनके प्रति हितकामना रखना और शरीर द्वारा सेवा करना तथा सर्व-समर्थ श्रीहरि के समर्पण करना, जिससे उनका हित हो। जिन वस्तुओं को सुरक्षित रखना हो तथा जिनके प्रति हित-कामना हो उनको सद्‌भावपूर्वक सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण करना परम अनिवार्य है, क्योंकि आस्तिक का यही अंतिम कर्त्तव्य है।

रानी बेटी, आस्तिक प्राणी के जीवन में लोभ, मोह आदि विकारों के लिए कोई स्थान नहीं है। ऊपर से सब कुछ करते हुए भीतर से निष्काम बनी रहो, यही मेरा आदेश है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा पिता

.....

450

पुष्कर
21-8-1951

सौभाग्वती कर्त्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी,

सर्वदा प्रसन्न रहो।

तुमने ठीक ही लिखा है कि धार्मिक मामले में अपनी ओर से किसी से कुछ नहीं करना चाहिए। पर बेटा, अपने धर्म पर सदैव दृढ़ रहना चाहिए। धर्म के दो भाग हैं-एक बाह्य और एक अन्तरंग। बाह्य में भेद हो सकता है। तुम्हारा अपना धर्म पूज्य महानुभावों की आज्ञा-पालन करना है। अतः वे लोग जिन बातों को आज्ञा-पालन के रूप में कहें उसे मान लो, पर अपने सिद्धान्त पर दूसरे मतों का प्रभाव मत होने दो। अवसर मिलने पर सविनय प्रिय शब्दों द्वारा पूछने पर अपना मत प्रकट कर दो। पर बेटी, इस बात का सदैव ध्यान रखो कि मत-भेद होने पर भी प्रीति-भेद न हो। प्राकृतिक नियमानुसार जब दो व्यक्ति भी समान योग्यता के नहीं होते तो फिर साधन-भेद अनिवार्य है। अपने धर्म का पालन करते हुए दूसरों के धर्म का आदर करो। प्रिय वत्स गुरु प्रसाद तथा तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा पिता

.....

451

पुष्कर
31-8-1951

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा पत्र मिला। यह जानकर कि तुम धर्मनिष्ठ हो, हर्ष हुआ। तुम जैसी बालिकाओं से ही भारतमाता गौरवान्वित होगी। प्रतिकूलताओं में भी अनुकूलताओं का अनुभव करना विवेकी जनों का जीवन है, कारण कि विवेकी जन सदैव अपने परिवर्तन से अपना सुधार करते हैं। उनकी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहती। वे सदैव अपने पर अपना ही शासन रखते हैं। उन्होंने अपने को सभी परिस्थितियों से असंग बना लिया है। उनका पवित्र हृदय राग-द्वेष-शून्य हो जाता है। उनके हृदय में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं रहता, कारण कि वे भलीभाँति जानते हैं कि सब कुछ करने से जो कुछ मिलता है वही कुछ न करने पर भी प्राप्त होता है। कुछ न करने का अर्थ आलस्य तथा व्यर्थ चिन्तन नहीं समझना चाहिए। कुछ न करने का वास्तविक अर्थ है काम-रहित होना। पुनः बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा पिता

.....

452

पुष्कर
2-9-1951

सौभाग्वती लाड़ली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

जिसमें अपना कुछ बस नहीं है उसके लिए चिन्ता व्यर्थ है। मानव-समाज की चरित्रहीनता इतनी बढ़ गई हे कि प्रकृति को क्रोध आने लगा है, ऐसा मेरा विश्वास है। बल का दुरुपयोग करने से यही दशा हो जाती है। इसी कारण विवेकीजन सदैव बल का सदुपयोग करते हैं, जिसे आज का मानव भूल गया है। जब तक वस्तुएँ बाँट कर खाई जाती थीं, तब तक प्रकृति को प्राणियों के लिये प्रकृति सदैव रत्नों से स्वागत करती रही है। आज हम उसे माता मानना भूल गये हैं और लगे उसका उपयोग करने, बस उसे क्रोध आने लगा।

जीवन की प्रत्येक परिस्थिति वास्तव में साधनरूप है, किन्तु प्राणी मोहवश बँध जाता है। पुनः बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा पिता

.....

453

बम्बई
2-11-1951

मेरे निज-स्वरूप,

तुम्हारा लिखा पत्र मिला। देखो भाई, विश्वास करने योग्य केवल सर्व-समर्थ प्रभु की कृपा है और सेवा करने योग्य संसार। अतः तन से सेवा और मन

से भगवत्-चिन्तन निरन्तर करते रहो। हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जो विश्वास तथा चिन्तन करने योग्य है उसका विश्वास तथा चिन्तन न करना और जो विश्वास करने योग्य नहीं है उसपर विश्वास करना। इस प्रमाद के मिटते ही प्राणी सच्चाई का आदर करने लगता है। ज्यों-ज्यों सच्चाई का आदर सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों अविवेक विवेक में अपने आप बदलता जाता है। विवेकरूपी सूर्य उदित होते ही मोहरूपी अन्धकार मिट जाता है। मोह मिटते ही अनुराग उत्पन्न होता है, जो वास्तव में आस्तिक का जीवन है। अनुराग-रहित प्राणी, न तो आस्तिक है, न मानव। ऐसा मेरा मत है। अनुराग के लिए सब कुछ दिया जा सकता है, पर अनुराग किसी के लिए नहीं दिया जा सकता है। ऐसा जानकर हमें मोह से अनुराग की ओर जाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। अनुराग प्राणियों को किसी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में आबद्ध नहीं करता। इतना ही नहीं, सभी से असंग कर सर्व से अतीत अनन्त नित्य सौन्दर्य से अभिन्न करता है, जो वास्तव में मानव की माँग है। वर्तमान का आदर करते हुए प्रत्येक कार्य सरसतापूर्वक उस प्रभु के नाते करते रहो। पर कार्य के अन्त में सरल विश्वासपूर्वक सहज भाव से प्रभु को पुकारो। यही सच्चा भजन है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

454

पुष्कर
18-11-1951

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

.....सच्चरित्रता की कसौटी तो केवल अपने पास है और किसी के पास नहीं है। तुम्हारे हृदय में सेवा की भावनाउत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। जब जगत् की दृष्टि में तुम्हारी भावनाएँ सही सिद्ध होंगी तब सेवा करने का अवसर भी मिलजावेगा। यह भलीभाँति समझ लो कि प्राकृतिक विधान में योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रम का आदर अवश्य है। इन्हीं केसम्पादन में अथक प्रयत्नशील बने रहो, यही अपना कर्त्तव्य समझो। यह नियम है कि कर्त्तव्यनिष्ठ सफलता की कुंजी है।पूज्या दादी को मेरी ओर से निवेदन कर दें कि उन जैसे आस्तिक प्राणी के जीवन में मोह तथा चिन्ता के लिए कोई स्थाननहीं है, उन्हें अपनी सारी इच्छाएँ सर्व-समर्थ श्रीहरि को समर्पण कर चिन्ता-रहित हो जाना चाहिए। यही उनका वास्तविक धर्म है। संसार को अपना मानना नास्तिकता है, जो उन्हें कभी भी प्रिय नहीं है। सर्व-समर्थ श्रीहरि उन्हीं प्राणियों को अपनाते हैं जो सब प्रकार से उनके ही होकर रहते

हैं, अर्थात् उनसे भिन्न किसी और को अपना नहीं मानते। मोह-जाल में फँसा हुआप्राणी वास्तव में आस्तिक नहीं है।

अतः हमें यही सीखना और सिखाना है कि प्रत्येक कार्य मोह को त्याग धर्मपूर्वक भगवत् नाते करते हुए निरंतर श्रीहरि का चिन्तन करते रहें।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

455

छपरा
19-2-1952

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

.....जिन संकल्पों को विचार से नहीं मिटा पाते उन संकल्पों के लिए कर्म करना अनिवार्य हो जाता है। उसका परिणाम सुख हो अथवा दुःख, किन्तु विचारशील न तो संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध होते हैं और न दुःख से भयभीत। अतः तुमने जो कुछ किया, ठीक किया, और परिणाम भी जो कुछ हुआ, ठीक हुआ। तप के बिना कोई भी राजा नहीं बन सकता, चाहे उनका जन्म रानी के पेट से हो अथवा जनता के पेट से। जो लोग आपसे पूर्व तप कर चुके हैं वे फल भोग रहे हैं और जिन्होंने अब आरम्भ किया है आगे भोगेंगे.....। जब सेवक उपभोग में लग जाता है तब उसका विकास रुक जाता है-यह प्राकृतिक नियम है.....।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

456

25-2-1952

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल प्रदान करने की परम प्रेमास्पद से प्रार्थना की गई है। इस सम्बन्ध में सन्देह यह हुआ कि दुःखी किसका त्याग करे, उसके पास है ही क्या? प्रत्येक दुःख का जन्म किसी-न-किसी प्रकार के अभाव तथा प्रमाद से ही होता है। जिसका अभाव है उसकी वासना का त्याग ही वास्तव में त्याग है। यदि निर्धन धन की वासना से और कामी कामिनी की वासना से अपने को मुक्त करले, तो निर्धनता भी मिट जाती है और दुःख भी। प्रमाद का वास्तविक अर्थ है निज ज्ञान का अनादर, अर्थात् जानते हैं पर नहीं मानते, कर सकते हैं पर नहीं करते। जब साधक ज्ञान के अनादर का त्याग कर देता है और उसका आदर करने लगता है तब प्रमाद से उत्पन्न होने वाले सभी दुःख मिट जाते हैं।

एक बार यह हृदय अत्यन्त दुःखी था। पतितपावनी भागीरथी के तट पर बैठकर सोचने लगा-' दुःख क्यों हो

रहा है?' ज्ञात हुआ कि संसार में मेरा कोई यथेष्ट स्थान नहीं है, वह मुझे क्यों नहीं चाहता है। उत्तर मिला कि मैं उसके काम न आ सका। तत्पश्चात् प्रेरणा हुई कि जो मुझे नहीं चाहते उनका कोई दोष नहीं। यह भाव आते ही प्रकाश मिला कि जिसे मैं चाहता हूँ वह भी तो मेरे काम नहीं आ सका। मेरे जिस अपराध तथा दुर्बलता के कारण उसने मेरा त्याग किया, वह दुर्बलता उसमें भी तो है। बस, प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा से बल मिला कि मेरे बिना रह सकते हैं, मुझे भी उनके बिना हर्षपूर्वक रहना चाहिए। बस, दुःखहारी आगये और दुःख मिट गया। अतएव प्रेमपात्र से प्रार्थना की गई कि दुःखी प्राणियों को त्याग का बल प्रदान करें, क्योंकि त्याग ही दुःख का सदुपयोग है। दुःख से भयभीत होना, उसका यथेष्ट आदर न करना, दुःख आने पर त्याग को न अपनाना परम भूल है।

सुखी प्राणी त्याग नहीं कर सकता, कारण कि सुख से स्वाभाविक प्रियता होती है। सुखी सुख का वितरण कर सकता है, पर उससे दुखियों का दुःख मिट जावेगा, ऐसा सम्भव नहीं है। सुख का वितरण करने-मात्र से सुखी प्राणी सुख के बन्धन से मुक्त होकर दुःखी हो जाएगा। पर सुख-वितरण के पश्चात् जो दुःख आता है, उससे दुःखी भयभीत नहीं होता, प्रत्युत् स्वाभाविक त्याग की ओर अग्रसर होने लगता है, जो प्राणी का अन्तिम प्रयत्न है। मोह के त्याग से वियोग का भय और लोभ के त्याग से हानि का भय एवं अभिमान के त्याग से अपमान का भय तथा शरीर-भाव के त्याग से सब प्रकार के अभाव का भय मिट जाता है। अब आप भली प्रकार समझ गये होंगे कि दुःख के मिटाने के लिए त्याग ही महामंत्र है। अतः दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग के बल की प्रार्थना की गई है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

.....

457

8-3-1952

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

परम प्रेमास्पद तो न चाहने वाले को भी चाहते हैं। उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि मेरे बिना रह सकता है हम भी उसके बिना सहर्ष रह सकें। यह बात तो एकमात्र संसार के सम्बन्ध में है, कारण कि संसार उसी को चाहता है जो उसके काम आता है, क्योंकि अनेक दुर्बलताओं का समूह ही संसार है।

सुख के उपभोग में चार दोष कथन किये गये थे। उनमें से तीन तो आप जानते हैं, चौथा है 'प्रमाद'। क्योंकि सुख-भोग-काल में परिवर्तन में अपरिवर्तन-बुद्धि हो जाती है और उससे उत्कृष्ट सुख की ओर दृष्टि नहीं रहती, तभी मानव प्राप्त सुख में आबद्ध हो जाता है। भोग से

भोक्ता का मूल्य घट जाता है और फिर पराधीनता और हृदयहीनता आदि दोष आ जाते हैं।

सुख से जड़ता और दुःख से जागृति स्वतः आ जाती है। सजीव दुःख विकास का मूल और निर्जीव दुःख भय-जनक होकर व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध करता है। निर्जीव दुःख वास्तव में सुख की दासता है, दुःख नहीं। अपनी अपूर्णता की अनुभूति ही वास्तव में दुःख है, जो पूर्णता-प्राप्ति का साधन है, कारण कि वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है।

तुम्हारा

.....

458

हरिद्वार
15-6-1952

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

तारीख 9 का लिखा हुआ पत्र मिला। देखो भाई! भगवत् नाते कर्त्तव्य-बुद्धि से योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमपूर्वक वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर भविष्य अपने आप उज्ज्वल तथा आशाजनक हो जाता है। ऐसा मेरा मत है। विवेकपूर्वक अपने से अहम् और मम हटा देना चाहिए, अर्थात् प्राणों के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना अनिवार्य है। हृदय प्रेमास्पद की प्रीति और मन पवित्र सर्वहितकारी संकल्पों से भरा रहे और शरीर श्रमी तथा मन संयमी बना रहे, तभी मानव-जीवन की सार्थकता सिद्ध होगी। ऐसा मेरा अनुभव है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐ आनन्द,आनन्द,आनन्द।

तुम्हारा

.....

459

पुष्कर
9-8-1952

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

ता॰ 27 का लिखा हुआ पत्र मिला। आस्तिक जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। प्रतिकूलताओं का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए अभय तथा निश्चिन्त बने रहो। अपने दुःख का कारण किसी और को मत समझो। मन में किसी के प्रति भी राग-द्वेष मत रखो। प्रत्येक घटना में अपने प्रभु की कृपा का अनुभव करो। जो कुछ हो रहा है उसे उन्हीं की लीला समझो। जीवन स्वयं रक्षा करता है, इसके लिए चिन्ता करना भूल है। प्रत्येक बालक अपना भाग्य लेकर आया है। अपना कर्त्तव्य तो केवल प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है, और कुछ नहीं। कर्त्तव्यपरायण प्राणी के जीवन में दीनता अर्थात् (Inferiority) और अभिमान

अर्थात् (Superiority) की गुत्थियाँ (Complex) नहीं रहनी चाहिए। जो सेवा मिले उसे मोह-रहित धर्मानुसार करते रहो। यदि कोई काम न मिले तो हार्दिक धन्यवाद दो। परिवर्तन विकास के लिए आता है, ह्रास के लिए नहीं। प्रतिकूल परिस्थितियों में प्राणी जितना सहनशील रहता है उतना ही सफल होता है। विवकीजन प्राप्त बल का दुरुपयोग नहीं करते और न विवेक का अनादर ही करते हैं। अपनी सारी इच्छाएँ सर्व-समर्थ प्रभु के अर्पण कर दो और अपना स्वभाव ईमानदार तथा श्रमी बना लो। किसी का बुरा मत सोचो, अप्राप्त की इच्छा मत करो। सभी परिस्थितियों को परिवर्तनशील समझो। मन को शुद्ध बनाने के लिए बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करलो। तभी चिर-शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता मिलेगी। प्रत्येक कार्य साधन-बुद्धि से करना है उसे साध्य अर्थात् जीवन मत समझो। जीवन तो पर से स्व की ओर गतिशील होने में है। प्राणी अपने से विमुख होकर दीनता तथा अभिमान में फँस गया है। इस प्रमाद का अन्त कर दो, तो फिर अपने में ही अनन्त नित्य जीवन का अनुभव होगा। तुम्हारी सत्ता के बिना तुम पर कोई शासन नहीं कर सकता। प्राणी अपनी सत्ता देकर ही अपने को दीन बनाता है। सभी में अपने को और अपने में सभी को अनुभव कर अभय हो जाओ। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें विवेक प्रदान करें, जिससे तुम प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में समर्थ हो परिस्थितियों से अतीत के जीवन का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाओ, यही मेरी सद्भावना है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द,आनन्द,आनन्द।

तुम्हारा

.....

460

31-12-1952

परम प्रिय स्नेहमयी बाई जी,

तुम अभागिन नहीं हो, बड़ी ही भाग्यशाली हो, कारण कि अभागी तो वे होते हैं जिनका मन प्रभु से विमुख होकर विषयों के पास जाता है। तुम तो संसार से विमुख होकर प्रभु की शरणागत हो गई हो। अतः तुम तो बड़भागी हो। सत्संग तथा स्वाध्याय एवं अनुभव के द्वारा जो कुछ समझ में आ गया है उसी के अनुसार मन बनालो। ज्यों-ज्यों समर्पण भाव दृढ़ होता जायेगा, त्यों-त्यों चिन्तन स्वतः मिटता जावेगा। सब प्रकार के चिन्तन का मिट जाना ही अचिन्त होना है, अर्थात् हृदय प्रभु-प्रेम से भर जावे और मन निर्विकल्प हो जावे तथा बुद्धि विवेकवित् होकर सम हो जावे यही सच्चा भजन है।

जिस ज्ञान से हम दूसरों के दोष देखते हैं उसी ज्ञान से हम अपने दोष देखें और उसका त्याग कर दें, बस यही ज्ञान का मतलब है। निज ज्ञान से अपने दोषों

को देखना और उनको मिटा देना ही सच्चा सत्संग है। संसार से निराश होकर जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कर लेना सच्चा वैराग्य है। सब ओर से अपने को हटा कर अपने में ही अपने प्रभु को पा लेना सच्चा अभ्यास है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। तन सेवा में और मन प्रभु-चिन्तन में लगा रहे-यही सच्चा पुरुषार्थ है।

तुम्हारा हितैषी

461

ऋषिकेश
4-5-1953

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय.... तथा स्नेहमयी.....

तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। आस्तिक प्राणियों के जीवन में निराशा तथा असफलता के लिए कोई स्थान नहीं है, कारण कि आस्तिक का जीवन सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत है। भगवत् नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग विकास का मूल है। श्रद्धेय पिताजी की यथेष्ट सेवा करना परम साधना है, क्योंकि प्रियजनों की सेवा करने से प्राणी मोह-रहित तथा वीतराग हो जाता है। जिनसे सुख लिया है उनकी सेवा करने से ही राग निवृत्त होगा। राग-रहित होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त के शुद्ध होते ही हृदय पवित्र प्रीति से भर जाता है और मन व्यर्थ संकल्पों से रहित हो जाता है। किसी वस्तु तथा व्यक्ति से अलग होने मात्र से त्याग नहीं हो जाता, अपना न मानने से त्याग होता है, अथवा यों कहो कि सेवा करने के लिए सभी अपने हैं और अपने लिए केवल प्रभु ही अपने हैं। यही महामन्त्र है त्याग तथा प्रेम को स्थायी बनाने के लिए। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द,आनन्द,आनन्द।

तुम्हारा

462

ऋषिकेश
19-5-1953

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

पत्र से स्वरूप में भेंट हुई। जो प्राणी भगवत् नाते निर्मोहतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते हैं वे ही मेरे सच्चे सेवक हैं। अतः तुम यह बात अपने मन से सदा के लिए निकाल दो कि मेरे समीप आने पर ही मेरी सेवा होगी। तुम जितना अपने को सुन्दर बना लोगे उतनी ही मुझे प्रसन्नता होगी, और वही मेरी सच्ची सेवा होगी।

निर्मोहता के बिना प्राणी सच्चाईपूर्वक सेवा कर नहीं पाता। अपनी सारी इच्छाएँ सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण कर दो और योग्यता, ईमानदारी

तथा परिश्रम-पूर्वक प्राप्त कार्य करते रहो। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

463

ऋषिकेश
23-5-1953

मेरे निज-स्वरूप प्रिय वत्स तथा स्नेहमयी.....

तु
म दोनों को
बहुत-बहुत
प्यार।

सरल तथा मधुर स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। निस्संदेह चित्त की एकाग्रता के लिए किसी रुचिकर चित्र की आवश्यकता हो सकती है, पर उस प्रेमास्पद का अखिल विश्व ही एक सुन्दर चित्र है। जो साधक उन्हें अखिल विश्व में नहीं देख सकता, उसे राम, कृष्ण, शिव आदि का, जिसमें अपनी प्रियता हो, चित्र रखना चाहिए। यद्यपि उनको अपना मान लेना और अपने को उनके समर्पण कर देना ही वास्तविक प्रीति है। प्रीति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों चित्त स्वभाव से ही शुद्ध तथा एकाग्र होता जाता है। अनावश्यक संकल्पों को जमा रखने से, आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन करने से, वर्तमान का आदरपूर्वक सदुपयोग न करने से चित्त चंचल होता है। जिन प्रेमियों ने अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति को अपने प्रियतम की पूजा बना लिया है, उनका चित्त बिना ही प्रयत्न के शान्त हो जाता है। चित्त बड़ा ही रसिया है, उसे रस चाहिए। रस एकमात्र प्रीति से ही उदित होता है। जब प्रीति जाग्रत होती है तब चित्त अपने आप एकाग्र हो जाता है। अखिल विश्व में अपने प्रेमास्पद को देखे, उन्हीं के नाते प्रत्येक कार्य करो। स्वकर्म द्वारा जो पूजा की जाती वही सर्वोत्कृष्ट है। सब कुछ उन्हीं का समझो। संसार की ममता से रहित होते ही प्रभु की प्रियता स्वतः उत्पन्न होगी। जो प्राणी सब प्रकार से प्रभु के होकर रहते हैं, वे मेरे और मैं उनके सर्वदा संग हूँ, कारण कि लक्ष्य की एकता ही सच्ची एकता है। शरीर की एकता तो अत्यन्त निकट रहने पर भी भिन्नता ही रखती है। प्रीति की एकता ही वास्तविक एकता है। गुरुजनों को आदेश-पालन ही वास्तविक गुरुभक्ति है। जिन्हें गुरु-भक्ति प्राप्त हुई वे स्वयं गुरु हो गये, ऐसा मेरा अनुभव है। सभी प्रियजनों को प्यार निवेदन करना। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

464

पुष्कर
15-8-1953

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। मानव सेवा संघ का सबसे बड़ा काम यही है कि प्रत्येक सदस्य अपना निर्माण करे। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प खिलने पर सुगन्ध स्वतः फैलती है, उसी प्रकार अपना निर्माण करने पर सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होने लगता है, यही मानव सेवा संघ का मुख्य उद्देश्य है। जिसने इस उद्देश्य की चरितार्थ किया उसी ने मानव सेवा संघ का कार्य किया।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

465

.....
22-2-1953

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

उन्हें जो कार्य कराना है करायेंगे। अपना लक्ष्य तो प्रत्येक अवस्था में प्रेमास्पद की रजा में राजी रहना है, उनके मंगलमय विधान का ही आदर करना है, क्योंकि सभी प्रकार से उनका होकर रहने में जो रस है वह वर्णन से अतीत है.....।

जिस प्रकार गन्दी नाली साफ करते समय दुर्गन्ध अधिक बढ़ जाती है, उसी प्रकार बैठकर प्रिय-चिन्तन करते समय मन में भरी हुई विचारधारा स्पष्ट रूप से निकलने लगती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मन व्यर्थ चिन्तन में लगा है। इसका तो वास्तविक अर्थ यह है कि मन में जो व्यर्थ चिन्तन भरा था, वह अब निकल रहा है। ऐसा करते-करते मन एक दिन साफ हो जायेगा.....।

चलते-फिरते जप करते में सुविधा इस कारण प्रतीत होती है कि क्रिया-शक्ति का व्यय चलने में और भाव-शक्ति जप में लग जाती है। बैठकर जप करने में ऐसा इस कारण नहीं होता कि क्रिया-शक्ति भी जप में लगाती हो। जिस कार्य में रस आने लगता है, उस कार्य में मन लग जाता है। मानसिक जप बिना स्नान किये प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है। वाणी से जप उसी अवस्था में करना अधिक हितकर होता है, जब बाह्य पवित्रता हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम बिना स्नान किये जप नहीं कर सकतीं। जिस प्रकार भोजन की रुचि बढ़ाने के लिए चैके को साफ-सुथरा करते हैं तथा मेज को सजाते हैं उसी प्रकार मन के रजोगुण तथा तमोगुण को दूर करने के लिए तथा मन की रुचि बढ़ाने के लिए बाह्य स्नान की तैयारी की जाती है। जिनमें भाव-शक्ति तथा सरल विश्वास जाग्रत हो जाता है वे प्रत्येक मंत्र का जप किया जा सकता है जिससे बाहरी और कोई आवाज मन में न आये। उच्चारण करना और श्रवण करना दोनों

वृत्तियाँ जप में लग जायँ। उसी प्रकार मन से बोलो, मन के कानों से सुनो तथा मन के नेत्रों से देखो कि जप यथावत् चल रहा है। ये सारी बातें तभी तक आवश्यक है, जब तक मन-पक्षी प्रेम-जाल में नहीं फँसता। बुद्धि हमें अपने को निर्दोष बनाने के लिए तथा हृदय प्रेमास्पद के सरल विश्वास से भरने के लिए मिला है। बुद्धि का उपयोग अपने मन को निर्दोष बनाने में और हृदय का उपयोग प्रिय के विश्वास में करना चाहिए। ज्यों-ज्यों मन में निर्दोषता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों हृदय प्रिय-विश्वास तथा प्रिय-प्रेम से स्वतः भरता जाता है।

तुम्हारा

.....

466

बीकानेर
1-4-1954

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। सत् चित्त आनन्द एक ही तत्त्व की विभूतियाँ हैं। इन तीनों में विभाजन नहीं है, अर्थात् जो सत् है वही चित्त है और आनन्द है। चित्त ही ज्ञान, प्रकाश और ज्योति है। इन्द्रिय-दृष्टि की भाँति कोई अलौकिक उजाला नहीं है। ज्योति का अर्थ स्वयंप्रकाश है। जो अपने को अपने आप प्रकाशित करे और जिससे समस्त विश्व प्रकाशित हो वही ब्रह्म-ज्योति है। ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्म से अभिन्न होने में ही है। ब्रह्म किसी कारण का विषय नहीं है। ब्रह्म और जगत् का भेद करने पर तो ब्रह्म जगत् का प्रकाशक है और जगत् का अभाव स्वीकार करने पर केवल ब्रह्म से भिन्न है ही नहीं। सभी पर-प्रकाश्य का प्रकाशक जो है, वही ज्योति है जिस प्रकार ज्ञान और बोध पर्यायवाची हैं, उसी प्रकार ज्योति और ज्ञान भी पर्यायवाची है। अहं और मम के नाश होने पर इन्द्रिय और बुद्धि-दृष्टि अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाती हैं, तो फिर ब्रह्म-ज्योति बुद्धि का विषय कैसे हो सकती है! ब्रह्म-तत्त्व अपनी महिमा में आप स्थित है और अपना प्रकाशक आप ही है, इसलिए उसे ज्योति कहकर भी सम्बोधित किया है। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

467

बीकानेर
4-10-1954

मेरे निज-स्वरूप

यह तुम जानते हो कि किसी भी बात का अनुवाद ठीक नहीं हो पाता, फिर भी तुम्हारी भावनाओं का चित्र तो मन पर प्रभाव डालता ही है। तुम जितना जानते

हो उतना नहीं कर पाते अथवा जितना करना चाहते हो उतना नहीं कर पाते, यह दशा मानसिक रोग की है। जब प्राणी के हृदय और मस्तिष्क में सन्तुलन नहीं रहता तब यही दशा हो जाती है। हृदय को ऊँचा उठाने के लिए गहरी व्याकुलता ही महामन्त्र है, कारण कि मन पर अंकित राग व्याकुलता की अग्नि से ही भस्म हो सकता है।

अब रही मानव सेवा संघ के प्रचार तथा प्रसार की बात। इस संबंध में मेरा निश्चित मत है कि जो बात हमारे जीवन में आ जायगी उसका प्रचार तथा प्रसार स्वतः होगा। इस दृष्टि से प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग में ही संघ का प्रचार निहित है। मानव सेवा संघ किसी व्यक्ति-विशेष का तथा किसी देश-विदेश का तथा किसी दल तथा वर्ग-विशेष का संघ नहीं है। मानव सेवा संघ मानव मात्र का है। अतः उसकी आवश्यकता मानव मात्र की आवश्यकता है। तो फिर इसका प्रचार क्यों न होगा? इस समय आवश्यकता ऐसे कार्यकर्ताओं की है जो अपने जीवन से संघ की विचारधारा का परिचय दे सकें। मानव सेवा संघ का कार्यक्रम प्रैक्टिकल है, केवल थ्योरिटिकल नहीं, क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा संघ की विचारधारा का प्रचार करना है। सत्संग के द्वारा अपने को निर्दोष बनाना है औरव वर्तमान कार्य के द्वारा दूसरों के अधिकारों की रक्षा करके सुन्दर समाज का निर्माण करना है और स्नेह की एकता के आधार पर राग-द्वेष रहित होकर शान्ति की स्थापना करना है। प्रत्येक कार्य में संघ की विचारधारा का प्रभाव प्रदर्शित होने लग जाय, तब समझना चाहिए कि हम मानव सेवा संघ के सदस्य हैं। अपने प्रति न्याय, दूसरों के प्रति प्रेम सदैव सुरक्षित बना रहे, तभी हम अपने में विद्यमान मानवता को विकसित कर सकेंगे। अनेक भेद होने पर भी सभी में मानवता एक है, वर्ग-भेद होने पर भी मानवता एक है, तो फिर मानवता आ जाने पर सच्ची एकता, निर्वैरता, निर्दोषता क्यों न आ जायगी, अर्थात् अवश्य आ जायेगी। धीरज तथा शान्ति एवं क्षमता दृढ़ रहने पर आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होगा। प्राप्त शक्ति के सदुपयोग से मानवता स्वतः आ जायेगी, जिसके आ जाने पर जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगेगा और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही न होगी। जो होना चाहिए उसके होने से जो मिलना चाहिए वह स्वतः मिल जायगा। यह निर्विवाद सत्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

468

वृन्दावन | 1-11-1954

मेरे निज-स्वरूप,

सुख-दुःख साधन-सामग्री है और कुछ नहीं। उसका सदुपयोग करो और अपने को सुख-दुःख से अतीत अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर दो, जिससे तुम्हारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। वर्तमान की वेदना भविष्य की सत्ता स्वतः बन जाती है, अर्थात् प्राणी जिस दुःख से दुःखी होता है कालान्तर में उसी के अनुरूप उसका जीवन हो जाता है। इस दृष्टि से ज्यों-ज्यों अपने को निर्दोष बनाने का दुःख बढ़ता जाएगा, त्यों-त्यों निर्दोषता स्वतः आती जायेगी। सभी दोष मिट सकते हैं। उनसे कभी भी हार स्वीकार नहीं करनी चाहिये। परन्तु प्रत्येक दोष मिटाने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह भलीभाँति समझ लो कि जो हार स्वीकार नहीं करता वह कभी-न-कभी विजयी अवश्य होता है। मानव-जीवन दुःख-सुख भोगने के लिए नहीं मिला है, अपितु सुख-दुःख के सदुपयोग द्वारा चिन्मय दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिए मिला है। मन में उत्पन्न हुई निर्बलताओं को सर्व-समर्थ पतितपावनी माँ के सामने प्रकट कर दो और फिर निश्चित हो जाओ, माँ की कृपाशक्ति स्वतः निर्मल बना देगी।

मानव सेवा संघ का कार्य साधना है। अतः उसमें यथाशक्ति लगे रहो। साधन की आवश्यकता किसी-न-किसी निर्बलता -काल में ही होती है। जिस प्रकार औषधि का सेवन रोगावस्था में होता है उसी प्रकार साधन करने की आवश्यकता दोषयुक्त जीवन में ही होती है। सभी दोष अपने बनाये हुए खिलौने हैं। जब चाहो तब उन्हें तोड़ सकते हो। प्राणी अपने को देह मान कर अनेक निर्बलताओं में आबद्ध हो जाता है। जिस काल में साधक विवेकपूर्वक अपने को देह से अलग अनुभव कर लेता है उसी काल में उसकी सभी निर्बनलताएँ निर्जीव हो जाती है। निर्बलताओं के मिटते ही सभी दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

469

22-8-1955

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

आलस्य तथा श्रम एवं चाह तथा चिन्तन से रहित होने पर मूक सत्संग स्वतः हो जाता है, और फिर साधक योग, ज्ञान तथा प्रेम का अधिकारी हो जाता है।

अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर अपने आपको समर्पण करना ही मूक सत्संग का आरम्भ है, और आपे का गल जाना ही अन्त है। मूक सत्संग स्वतः अपने को समझने में समर्थ है। यदि निश्चित समय पर किया जाय तो हम सब अलग रहने पर भी मिल जाते हैं। इस दृष्टि से मूक सत्संग निश्चित समय पर करने में विशेष सफलता मिलती है, परन्तु

यदि किसी कारण समय न मिले, तो जब समय मिले तभी करना चाहिये।

जाग्रत का स्वप्न तो आपको स्वीकृत ही है। अब रही जाग्रत की सुषुप्ति की बात। उसमें जो शब्दों की दृष्टि से मतभेद प्रतीत होता है, उसपर विचार करने से स्पष्ट हो जायेगा कि जाग्रत की सुषुप्ति का अर्थ है कि स्वभाव से होने वाली सुषुप्ति में जो जड़ता का दोष है वह इसमें नहीं होना चाहिए। उसको सुषुप्ति क्यों कहा? उसका तात्पर्य है कि सषुप्ति की भाँति उसमें भी भेद और दुःख का अन्त है परन्तु है तो अवस्था ही न? जाग्रत में जो जाग्रति है उसे तो मैंने कहीं नित्य जागृति के नाम से संबोधित किया है, क्योंकि नित्य जागृति अवस्थाओं से अतीत है। जागृत की सुषुप्ति अवस्थाओं से अतीत नहीं है और आंशिक रूप में सुषुप्ति के सदृश है। इस कारण जाग्रत की सुषुप्ति संबोधित करना उपयुक्त प्रतीत होता है। नित्य जागृति आ जाने पर अवस्थान्तर नहीं होता। जितेन्द्रियता स्वतः सिद्ध हो जाने पर मन में निर्विकल्पता और बुद्धि में समता आ जाती है। उस बुद्धि की समता से असंग होने पर नित्य जागृति आती है, जो अमरत्व से अभिन्न करने में समर्थ है।

तुम्हारा

.....

470

10-10-1955

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

जाग्रत में स्वप्न उसी समय तक रहता है तब तक तत्त्व-जिज्ञासा अथवा प्रिय-लालसा भोगे हुए सुख की स्मृति को और अभुक्त इच्छाओं को खा नहीं लेती। ज्यों-ज्यों प्रिय-लालसा तथा तत्त्व-जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों जाग्रत का स्वप्न जाग्रत की सुषुप्ति में विलीन होता जाता है। जाग्रत की सुषुप्ति दृढ़ होते ही स्वतः जाग्रत में नित्य जागृति चिन्मय दिव्य नित्य अनन्त जीवन से अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है। जिस प्रकार साधारण सुषुप्ति जाग्रत और स्वप्न के श्रम का विनाश कर शक्ति प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि पुनः जाग्रत और स्वप्न में होने वाले सुख-दुःख को भोगने की शक्ति देती है, उसी प्रकार जाग्रत की सुषुप्ति शांति से असंग कर आवश्यक सामर्थ्य द्वारा अनन्त नित्य दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है। समस्त प्रयत्न जाग्रत की सुषुप्ति में विलीन हो जाते हैं, और फिर अप्रयत्न ही साधक को साध्य से अभिन्न कर देता है।

तुम्हारा

....

471

वृन्दावन
1-11-1955

आदणीया कर्त्तव्यनिष्ठ स्नेहमयी,

बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

मूक सत्संग अन्तिम साधना है। जहाँ तक हो सके प्रतिदिन निश्चित समय पर प्रातः 3-30 से 4 तक और सायंकाल 7-30 से 8 तक मूक सत्संग करना चाहिए। मन में दबे हुए संकल्पों के निकालने के लिए मूक सत्संग बड़ी ही सुन्दर साधना है। भय और लालच के पत्थरों से मन में बहुत से संकल्प दबा दिये गये हैं। वे मूक सत्संग से ही निकल सकते हैं। कर्त्तव्य के अभिमान से तथा श्रम एवं आलस्य से रहित होने पर मूक सत्संग स्वतः हो जाता है। मन स्वयं ही एक चित्र है। उसमें ही अनेक चित्र प्रतीत होते हैं, पर अपने को उन चित्रों से न तो सुख लेना है और न भयभीत होना है, अपितु जो हो रहा है उसे साक्षी भाव से देखते हुए अपने को उससे विमुख कर लेना है। चाह रहित होने पर सब कुछ स्वतः हो जाता है। परन्तु जब तक देहाभिमान गल नहीं जाता तब तक किसी-न-किसी प्रकार की चाह बनी रहती है, कारण कि 'यह' को अर्थात् दृश्य को 'मैं' मान लेने पर देह-अभिमान पुष्ट होता है, जो अविवेक सिद्ध है। अविवेक निज विवेक के आदर से ही मिट सकता है, किसी अन्य अभ्यास से नहीं। जिसे 'यह' कहते हैं उसे 'मैं' कहना प्रमाद है, और कुछ नहीं। जब 'यह' में अहम्-बुद्धि नहीं रहती तब निर्वासना स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है और सार्थक चिन्तन, योग, विचार तथा प्रेम स्वतः उत्पन्न होता है। व्यर्थ चिन्तन के त्याग से बोध तथा समर्पण से प्रेम स्वतः जाग्रत होता है। इन तीनों में से कोई भी एक हो जाने पर सभी स्वतः होने लग जाते हैं। वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन ही व्यर्थ चिन्तन है, जो निर्लोभता तथा निर्मोहता आ जाने पर स्वतः मिट जाता है। वस्तुओं तथा व्यक्तियों एवं समस्त परिस्थितियों से अतीत जीवन है, इस पर विश्वास करने से तथा इसकी अनुभूति होने से निर्लोभता तथा निर्मोहता स्वतः आ जाती है। यही महामंत्र है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

आपका

.....

472

गोंडा

15-12-1955

मेरे निज-स्वरूप,

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही प्राणी का हित है। अपने सभी संकल्पों को सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण करके निर्विकल्प हो जाओ, यही सफलता की कुंजी है। उनकी अहैतुकी कृपा आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही दे देती है और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं देती। इस दृष्टि से कुछ भी माँगना अपनी बेसमझी का परिचय देना है और उनके मंगलमय विधान का अनादर करना है। कुछ न माँगने से सब

कुछ हो जाता है। प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो। जो कुछ हो रहा है उसी में अपने प्यारे की कृपा का अनुभव करो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
आपका अभेदस्वरूप

.....

473

फैजाबाद
18-12-1955

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

प्राणी को प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहना चाहिए। जिस प्रकार मछलियों के उछलने से समुद्र को खेद नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के बनने-बिगड़ने से विचारशील को क्षोभ नहीं होता। विश्राम बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, पर उसकी प्राप्ति उन्हीं साधकों को होती है जो आावश्यक कार्य को निर्मोहतापूर्वक प्रभु के नाते फल की आशा से रहित होकर कर डालते हैं और अनावश्यक कार्य की कामना का त्याग कर देते हैं। यही मानव का परम पुरुषार्थ है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
तुम्हारा

.....

474

गीता भवन ऋषिकेश
21-4-1956

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

सरलता तथा स्नेह से भरा हुआ पत्र मिला। बड़े हर्ष की बात है कि अन्य भाई-बहिन मानव सेवा संघ की साप्ताहिक बैठक में सक्रिय भाग ले रहे हैं। सर्व-समर्थ प्रभु उन्हें आवश्यक बल तथा विवेक प्रदान करें, जिससे वे अपने कल्याण तथा मानव-समाज के उत्थान में समर्थ हों। मानव सेवा संघ की विचारधारा मानव मात्र की माँग है। उस विचारधारा का प्रचार सनातन सत्य का प्रचार है। संघ की साधन-प्रणाली आधुनिक है, पर उद्देश्य सनातन है। सत्य किसी व्यक्ति की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज उसी की होती है जो सदैव विद्यमान है। उस विद्यमान तत्त्व से अभिन्न होना ही मानव का परम लक्ष्य है। उस लक्ष्य से अभिन्न करने में स्नेह की एकता, दूसरों के अधिकार की रक्षा, अपने अधिकार का त्याग एवम् जाने हुए दोषों को त्याग निर्दोष होना ही समर्थ है, कारण कि साधक दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग से राग-रहित होता है और अनेक बाह्य भेद होने पर भी स्नेह की एकता से अभेद होता है और निर्दोष होने में ही समस्त विकारों का अन्त है। राग-रहित होना, निर्विकार होना

और अभेद होना ही वास्तविक मानवता है। राग-रहित होने से नित्ययोग, निर्विकार होने से समस्त दिव्यता और अभेद होने से सब प्रकार के भय का अन्त स्वतः हो जाता है। योग से चिर-शान्ति और निर्भयता से तत्त्व-साक्षात्कार तथा अमरत्व और दिव्यता से परम प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। शान्ति समस्त सामर्थ्य की प्रतीक है और प्रेम अगाध अनन्त रस की उपलब्धि में हेतु है और तत्त्व-साक्षात्कार अमरत्व प्रदान करनेमें समर्थ है। इन तीनों में स्वरूप की एकता है। इन तीनों से ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है। पुनः बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

475

गीता भवन, ऋषिकेश
22-4-1956

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति प्राकृतिक विधान के अनुसार यथासमय अपने-आप हो जाती है। परन्तु साधक अपने को संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध न होने दे और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील बना रहे। ऐसा होने पर जिज्ञासु के जीवन में स्वतः विचार का उदय और भक्त के जीवन में प्रेम का उदय स्वतः होता है। विचार का उदय होते ही अविचार सदा के लिए विदा हो जाता है और स्वतः तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है। प्रेम का उदय राग-द्वेष को खाकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। दो साधकों की निष्ठा में भले ही भेद हो, पर स्वरूप की एकता ही रहती है, क्योंकि योग अनन्त की शक्ति है और ज्ञान स्वरूप है और प्रेम स्वभाव है।

संकल्प-पूर्ति के सुख ने ही संकल्प-अपूर्ति के दुःख में आबद्ध किया है, जिससे संकल्प-निवृत्ति का बोध कराने के लिए आती है, पर साधारण प्राणी उसे अपना जीवन तथा महत्त्व मान कर उसकी दासता में आबद्ध हो जाते हैं और फिर संकल्प-उत्पत्ति के जाल से बच नहीं पाते। सरल विश्वासी संकल्प-पूर्ति में भी प्यारे प्रभु की दया का ही अनुभव करते हैं और उनकी महिमा का गुणगान करते हुए अपने को संकल्प-पूर्ति की दासता से मुक्त कर उनकी अहैतुकी कृपा के अधिकारी हो जाते हैं। विश्वासी के लिए जो भावना तथा परिस्थिति प्रेम-उत्पादन का हेतु है, विचारशील के लिए वही परिस्थिति राग-निवृत्ति का हेतु है। संकल्प-पूर्ति के सुख से नवीन राग को उत्पन्न कर लेना न तो भक्त का स्वभाव है और न जिज्ञासु का संकल्प-पूर्ति से वस्तु, व्यक्ति आदि का

महत्त्व बढ़ता है, यही घोर नास्तिकता है। इससे अपने को बचा लेना ही परम आस्तिकता है। वस्तुओं के उत्पादन तथा सदुपयोग एवं व्यक्तियों की सेवा में प्रभु के नाते लगे रहने में कोई क्षति नहीं है। परन्तु उसमें ही सन्तुष्ट हो जाना और उसी को जीवन मान लेना प्रमाद अवश्य है। उस प्रमाद से बचाने के लिए ही प्यारे प्रभु मानव-मात्र में निज-विवेक के स्वरूप में अवतरित हुए हैं।

अतः प्रत्येक साधक को इन्द्रिय, मन आदि सभी को निज विवेक के प्रकाश में ही रखना चाहिए, जिससे जितेन्द्रियता एवं निर्विकल्पता स्वतः आ जाय, जिनके आने पर अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्त्तव्य के अभिमान से रहित कर्त्तव्य-पालन स्वतः हो जाता है, क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह समष्टि शक्ति के द्वारा ही हो रहा है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समष्टि शक्तियाँ है। उनमें ममता कर लेना ही उन्हें दूषित करना है, और उनकी ममता से रहित हो जाना ही उनको शुद्ध करने का सुगम, सहज तथा अन्तिम उपाय है। सब कुछ अपने प्यारे का ही है। सभी उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित हैं। सभी में सत्ता भी अपने प्यारे ही की है। ऐसा मानने तथा जान लेने पर स्वतः होने वाली प्रवृत्तियाँ और अपने आप आने वाली निवृत्ति साधन बन जाती हैं। प्रवृत्तियाँ के द्वारा सभी के अधिकारों की रक्षा और निवृत्ति के द्वारा अपने अधिकार का त्याग स्वतः हो जाता है। सभी के अधिकारों की रक्षा में विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग उत्पन्न नहीं होता। यह नियम है कि राग-रहित होते ही योग, ज्ञान, प्रेम स्वतः हो जाता है, जो वास्तविक आस्तिक जीवन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

476

इन्दौर
24-8-1956

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

ता॰ 15 का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। यह नियम है कि जिसकी प्राप्ति प्राणी वर्तमान जीवन की वस्तु मान लेता है उसकी प्राप्ति के लिए परम व्याकुलता स्वतः जाग्रत होती है। अतः जो साधक अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता है और उसे वर्तमान में ही प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए भविष्य की आशा नहीं करता, वह किसी भी मार्ग से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। तुमने अपनी रुचि, विचार और विश्वास दोनों पर ही बतायी है। अतः तुम्हें दोनों मार्गों में श्रद्धा है। पर तुम यह निर्णय नहीं कर पाते हो कि इनमें से किस एक का

अनुसरण किया जाय। इस सम्बन्ध में मेराअपना यह विचार है कि तुम्हारे लिए विश्वास-मार्ग ही अधिक अनुकूल होगा, क्योंकि दोनों मार्गों के प्रति श्रद्धा यह सिद्ध करती है कि विश्वास-मार्ग के संस्कार अधिक हैं। विचार-मार्ग के साधक के जीवन में विश्वास की गंध भी नहीं होती। हाँ, यह बात अवश्य है कि विचार के अन्त में स्वतः विश्वास की अभिव्यक्ति होती है।

विश्वास-मार्ग का साधक प्राप्त विवेक का उपयोग अपने दोषों के जानने में कर सकता है। परन्तु उस विवेक को अपने प्रेमास्पद की देन ही मानता है और प्रेमास्पद की महिमा पर अविचल श्रद्धा करते हुए अपने को समर्पित कर देता है, अर्थात् निज दोषों को जानकर और उनकी महिमा को मानकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने साधन का निर्माण कर लेता है। विश्वास-मार्ग में अनधिकारी ही अधिकारी हैं, कारण कि विश्वासमार्गी अपनी निर्बलताओं से दुःखी होता है, पर उन्हें मिटा नहीं पाता। ऐसी दशा में उसकी दृष्टि स्वतः अपने प्यारे की अहैतुकी कृपा पर चली जाती है और उसे अपनाकर निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाता है, जिसके होते ही अहैतुकी कृपा का अनुभव स्वतः हो जाता है।

विश्वासमार्गी साधक अपने दोषों का सुख नहीं भोगता, अपितु दोष-जनित प्रवृत्ति से दुःखी ही रहता है। यह नियम है कि जब दोष-जनित प्रवृत्ति सुखद नहीं रहती तब दोष स्वतः निर्जीव हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि उनकी अहैतुकी कृपा-शक्ति सभी दोषों को खा लेती है, और फिर निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। किसी-न-किसी गुण के अभिमान से ही दोषों की उत्पत्ति होती है, कारण कि गुण-रहित दोष कभी जीवित नहीं रह सकता । अतः विश्वास-मार्ग के साधक को अपने दोष को जानना और उनकी महिमा को मानना अनिवार्य है। उनकी महिमा का विश्वास दोषी होने पर भी निर्दोषता से निराश नहीं होने देता। यह नियम है कि जिससे प्राणी निराश नहीं होता उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। अतः उनकी कृपा की ओर देख निर्दोषता के लिए नित-नव उत्साह तथा उत्कंठा बढ़ती रहनी चाहिए। यही महामंत्र है समस्त दोषों का अन्त करने के लिए.....। ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

477

मुजफ्फरपुर
5-11-1956

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

मानव सेवा संघ को कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। जब तक कुछ लोग अपना समय देकर कार्य न करेंगे तब तक मानव सेवा संघ की

विचारधारा का प्रचार न हो सकेगा। प्रथा के रूप में तो सभी जगह सत्संग होता ही है, पर मानव सेवा संघ जिस सत्संग का समर्थक है वह तभी संभव होगा जब कुछ लोग मेरे साथ रहकर विचार-विनिमय करें। मानव-समाज को व्यक्ति-निर्माण की विशेष आवश्यकता है। उसके लिए ज्ञान और जीवन में, विश्वास और जीवन में एवं मान्यता और जीवन में एकता होनी चाहिए। यह रहस्य कोई विरले ही जानते हैं। मेरा हृदय तुम्हारे स्नेह का ऋणी है।

जाने हुए असत् के त्याग में ही सत् का संग निहित है। केवल सत् की चर्चा करने मात्र को ही सत्संग नहीं समझना चाहिए। हाँ, यह अवश्य है कि पारस्परिक विचार-विनिमय करने से साधक में जाने हुए असत् के त्याग की सामर्थ्य आ जाती है। परन्तु वह तब, जब साधक पर-चर्चा न करके अपनी निर्बलताओं के आधार पर ही चर्चा करें। इस दृष्टि से सत्संग करने पर जीवन की सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती है। पर ऐसा सत्संग वे ही साधक कर सकते हैं जो निज विवेक का आदर करते हैं, अर्थात् विवेक-विरोधी कोई भी कार्य नहीं करते। विवेक उस अनन्त का अनुपम विधान है। उसके अनुरूप जीवन हो जाने पर सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। जिनके मिटते ही अनन्त दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

478

पोरबन्दर
20-2-1957

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा में ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है, जो मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग ही आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की प्राप्ति का साधन है-यह महामन्त्र अपना लेने पर सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं। यदि आवश्यक वस्तु का अभाव प्रतीत होता है तो समझना चाहिए कि हमने प्राप्त वस्तु का सदुपयोग नहीं किया। प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग की सामर्थ्य उसी साधक में आती है जो वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा रखता है। वस्तुओं से अतीत के जीवन में श्रद्धा तभी जाग्रत होती है जब साधक विवेकपूर्वक अपने में से वस्तुओं का त्याग कर देता है, अथात् अपने को किसी भी वस्तु से तद्रूप नहीं करता, अपितु सभी वस्तुओं से असंग हो जाता है। उसी को वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा होती है, जो

विकास की मूल है-विवेक से ही वस्तुओं के सदुपयोग का ज्ञान होता है और विवेक से ही वस्तुओं की ममता का त्याग होता है और विवेक में ही वस्तुओं के स्वरूप का बोध निहित है। अतः विवेक के आदर से समस्त विकास स्वतः होने लगते हैं, तो अनन्त की अहैतुकी कृपा से मनुष्य मात्र को स्वाभाविक प्राप्त है। अवनति का मूल एकमात्र प्राप्त विवेक का अनादर है, और कुछ नहीं, जो मानव का अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाये हुए दोष का त्याग ही निर्दोषिता की भूमि है। पुनः बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

.....

479

नई दिल्ली
29-3-1957

मेरे निज-स्वरूप प्रिय वत्स,

.....हम लोगों के मन में तो मिलने की बात थी, पर फिर भी मिलन न हो सका। यदि इसी सम्बन्ध में और गम्भीरता से विचार किया जाये तो ऐसा ज्ञात होता है कि शरीर से मिलन वास्तविक मिलन नहीं है। वास्तविक मिलन तो नित्य सम्बन्ध तथा प्रीति की एकता में ही है। उसके लिए देशकाल की दूरी कुछ अर्थ नहीं रखती, कारण कि प्रीति स्वरूप से दिव्य, चिन्मय तथा अनन्त है। यह नियम है कि जो चिन्मय है वह विभु है। जो विभु है उससे देश-काल की दूरी तथा भेद रह नहीं सकता। हाँ, एक बात अवश्य है कि प्रीति ऐसा अलौकिक तत्त्व है जो वियोग में मिलन और मिलन में वियोग का भास कराता है, पर इस रहस्य को वे ही प्रेमी जानते हैं तो भुक्ति और मुक्ति की दासता से मुक्त हैं, अर्थात् जिन्होंने भोग और मोक्ष को ठुकारा दिया है और प्रेम ही को अपना सर्वस्व स्वीकार किया है। जब तुम अपने को मेरा मानते हो तब तुम्हारी भूल मेरी भूल है, तुम्हारी नहीं। यदि तुम वह नहीं कर सके जो करना चाहिए तो इससे यह स्पष्ट होता है कि मैं तुम्हारे साथ वह नहीं कर सका जो करना चाहिए। कुछ न करने से भी सब कुछ हो सकता है, परन्तु कुछ करने से कुछ नहीं होता। प्राकृतिक नियमानुसार कुछ न करने में सब कुछ करने की सामर्थ्य निहित है और सब कुछ करने पर भी अन्त में कुछ न करना ही सिद्ध होता है। इस दृष्टि से जो सचमुच अकर्ता है वही सचमुच कर्ता है और जो सचमुच कर्ता है वही अकर्ता है। ज्ञान-दृष्टि से जो निष्क्रिय है वही समस्त क्रियाओं का आधार है और प्रेम के साम्राज्य में जो सब कुछ करता है वही निष्क्रिय है। यह रहस्य जान लेने पर ज्ञान और प्रेम में एकता हो जाती है।

तुम्हारा

.....

480

स्वार्गाश्रम, ऋषिकेश
1-4-1957

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

आपका भेजा हुआ संदेश संघ की सभा में सुना दिया गया था। कार्यकर्ताओं के अभाव में ही संघ का कार्य शिथिल है। सही कार्यकर्ताओं का निर्माण होने पर संघ की विचारधारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यापक हो सकती है, क्योंकि मानव मात्र को उसकी माँग है। इतना ही नहीं, यदि यह कह दिया जाय कि मानव सेवा संघ सफलता की कुंजी है, तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि असफलता का कारण केवल एकमात्र अमानवता अर्थात् विवेक-विरोधी कार्य है, और कुछ नहीं। सच्चे साधक की क्रियाएँ भले ही सीमित हों, पर उसकी भावना तो असीम ही है। यह नियम है कि असीम भावनाओं से सीमित क्रिया शुद्ध होती है और सीमित क्रिया से असीम भावना सजीव हो जाती है। अतः शुद्ध भावनो से की हुई सीमित क्रिया भी बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। आप जैसे सच्चे सेवक यदि अल्प संख्या में भी हो जायँ तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। जब तक हमें अपने जीवन में गुणों का अभिमान तथा दोषों की उत्पत्ति प्रतीत होती है, तब तक हमें बड़ी ही सावधानीपूर्वक अपनी विवेक-दृष्टि से अपने को सजग रूप से देखना है।

निर्बलताओं का दर्शन ही उनके मिटाने का अचूक उपाय है। निर्बलताओं के दर्शन में एक गहरी वेदना जाग्रत होती है, जो निर्बलता-जनित राग को खाकर निर्मल बना देती है। निर्बलताएँ चाहे कितनी क्यों न हो, मिट सकती हैं, क्योंकि उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे सीमित गुणों के आधार पर ही जीवित रहती है। गुणों का अभिमान गलते ही समस्त दोष अपने आप मिट जाते हैं-यह निर्विवाद सिद्ध है। जिस प्रकार बिना भूमि के कोई भी पौधा उगता नहीं, उसी प्रकार गुणों के अभिमान के बिना कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होता।

व्यथित हृदय से उदित प्रार्थना समस्त दोषों का अन्त करने में समर्थ है। निर्दोषिता की उत्कट लालसा में ही समस्त विकास निहित है। मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। किन्तु हमें जो असफलता दिखाई देती है उसका एकमात्र कारण हार स्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अनेक बार असफल होने पर भी हमें निराश नहीं होना है, अपितु असफलता की वेदना से नित-नव आशा का संचार करना है। जब हमें उसी को प्राप्त करना है जो सर्वत्र सर्वदा है तब हार स्वीकार करने की बात ही क्या है। प्राप्त में अविचल अनुराग और अप्राप्त की चाह से रहित होने में ही सब कुछ मौजूद है, पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं

जिन्होंने प्राप्त परिस्थिति का ईमानदारी से सदुपयोग किया है। अतः प्रत्येक दशा में अपनी ओर देखते हुए जो कर सकते हो कर डालो। बस, बेड़ा पार है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

481

गीताभवन
6-6-1957

स्नेहमयी दुलारी बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

निःसन्देह तुम बड़ी अच्छी लड़की हो। तुमने बड़ी ही ईमानदारी से अपनी भूल स्वीकार की है। अब तुम उसे न दोहराने का संकल्प कर लो। ऐसा करते ही समस्त दोष अपने आप मिट जायेंगे, जिनके मिटते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जायगी।

बड़े हर्ष की बात है कि तुम गीता तथा रामायण का पाठ करती हो, और अब तुमने उनको समझने का अभ्यास आरम्भ कर दिया है। एक बात भलीभाँति समझ लो कि श्री गीताजी प्यारे प्रभु की वाणी है। प्यारे प्रभु अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र मौजूद है। अतः तुम उनकी वाणी को स्वयं अपने में श्रवण करो। वह भी होगा जब तुम जैसा जानती हो तथा मानती हो, वैसा ही अपना जीवन बना लो.....। बड़ों को आदर और छोटों को प्यार सदैव देती रहो। माता-पिता आदि की आज्ञा का पालन करो। यही सफलता की कुंजी है। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

.....

482

गीता भवन
6-6-1957

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

.....बालक के मन में अविश्वास हम लोग उससे झूठ बात कह कर उत्पन्न कर देते हैं। चंचलता क्या बाल-स्वभाव नहीं है? आप लोगों ने उसे प्रलोभन तथा भय देकर उससे सुधार की बात सोची है। ऐसा सुधार स्थायी नहीं होता। बालक को कभी भय तथा प्रलोभन नहीं देना चाहिए। उससे सदैव सच्ची बात कहनी चाहिए। उसकी जो बात मान्य न हो, उसे स्पष्ट कह देना चाहिए कि ऐसा नहीं कर सकते और जो बात मान्य हो उसे बड़ी ही उदारतापूर्वक कर देना चाहिए। ऐसा व्यवहार करने से ही बालकों का सुधार हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। भय तथा प्रलोभन समस्त दोषों का मूल है।

बुराई को बुराई जानकर नहीं करना है। किसी भय से बुराई को न करना और किसी प्रलोभन से भलाई करना वास्तव में न तो बुराई का त्याग है

और न भलाई का करना है। बुराई को जानकर बुराई का त्याग करना है, और भलाई को भलाई जानकर भलाई करना है। भय और प्रलोभन का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

विवेकपूर्वक वस्तु, व्यक्ति आदि से असंग होने पर ही दीनता का अन्त होता है। दीनता का अन्त होते ही अभिमान अपने आप मिट जाता है। इन दोनों में से किसी एक का नाश होने से दोनों की नाश हो जाते हैं। वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग करना और उन्हें अपना न मानना ही निरभिमानता का साधन है। इससे वस्तुओं से अतीत जो जीवन है, उस जीवन में अविचल श्रद्धा होती है, उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता अपने आप हो जाती है। जिससे आत्मीयता हो जाती है उसमें अगाध अनन्त नित-नव प्रियता स्वतः होती है, जो वास्तव में रसरूप है। वर्तमान को सरस बनाओ। आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन मत करो। वर्तमान की सरसता ही समस्त विकारों का अन्त करने में समर्थ है, क्योंकि नीरसता ही काम आदि विकारों को जन्म देती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

483

खुरई
13-12-1957

मेरे निज-स्वरूप

बहुत-बहुत प्यार।

अपने प्यारे प्रभु से नित्य संबंध स्वीकार कर लेने पर सभी देश, सभी काल समान हो जाते हैं, कारण कि उनके अतिरिक्त किसी और की नित्य स्वतंत्र सत्ता का मन से सम्बन्ध ही शेष नहीं रहता, अर्थात् अपने प्यारे से भिन्न कहीं कुछ है ही नहीं, यह अनुभव हो जाता है। फिर प्रत्येक परिस्थिति तथा अवस्था में समता आ जाती है, कारण कि सभी में अपने प्यारे प्रभु की लीला का ही तो दर्शन है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो। वर्तमान कार्य निर्मोहतापूर्वक, प्यारे प्रभु के नाते करते रहो। अपने आप को पकड़े मत रहो। उनके सर्व-समर्थ श्रीचरणों में अपने को पुष्प बनाकर चढ़ा दो। भीतर से चिरशान्त तथा ऊपर से क्रियाशील बने रहो। सभी प्रियजनों को यथोचित। तुमको पुनः बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

484

निर्माण निकेतन, रांची

24-12-1957

मेरे निज-स्वरूप प्रिय वत्स,

बहुत-बहुत प्यार।

तारीख 18-12-57 का लिखा हुआ सरलता, ईमानदारी एवं श्रद्धा से हरा-भरा पत्र मिला। प्यारे, यह तो बताओ, जिसे अपनी निर्बलताओं का बोध हो जाता है क्या उसमें निर्बलताएँ रह सकती हैं? कदापि नहीं। निज दोष के ज्ञान में ही दोषी होने की वेदना और दोषी होने की वेदना में ही दोश मिटाने की सामर्थ्य निहित है, कारण कि दोष-जनित सुख-लोलुपता को दोषी होने की वेदना खा लेती है। सुख-लोलुपता के अन्त में ही समस्त दोषों का अन्त है, क्योंकि ऐसा कोई दोष है ही नहीं जिसका जन्म सुख-भोग की रुचि से न हो, अर्थात् समस्त दोष सुख-भोग की रुचि में निवास करते हैं। सुख-भोग की रुचि उसी समय तक जीवित रहती है जब तक दोष-जनित व्यथा जाग्रत नहीं होती। प्यारे प्रभु की अहैतुकी कृपा ने मानव-मात्र को विवेक प्रदान किया है। विवेक के प्रकाश में भूतकाल के सभी दोष स्पष्ट दिखाई देते हैं। विचारशील साधक भूतकाल के आधार पर अपने को वर्तमान में दोषी नहीं मानते, अपितु निर्दोषता की स्थापना कर की हुई भूल न दोहराने का दृढ़ संकल्प कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से निश्चिन्तता आवश्यक सामर्थ्य की जननी है और निर्भयता प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग कराने में हेतु है। अतः ज्यों-ज्यों निश्चिन्तता तथा निर्भयता सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों सभी निर्बलताएँ सदा के लिए स्वतः मिटती जाती हैं। प्यारे प्रभु के मंगलमय विधान में वर्तमान मानव-मात्र का निर्दोष है। उस निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए केवल की हुई भूल न दोहराना ही परम साधन है, जिसे प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक कर सकता है। उस पर भी यदि कोई कठिनाई प्रतीत हो तो अपने को सर्व-समर्थ प्रभु के शरणागत कर निश्चिन्त हो जाओ। यही सफलता की कुंजी है। शरणागति में सभी साधनों का समावेश है, अर्थात् फिर किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। पर यह रहस्य वे ही जान पाते है जिन्हें अनन्त की अहैतुकी कृपा की महिमा में अविचल श्रद्धा है और जो अपने सद्भाव में विकल्प नहीं करते। सभी प्रियजनों को सप्रेम यथोचित तथा दुलारी बेटी को बहुत-बहुत प्यार निवेदन करना। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

.....

485

छपरा

27-1-1958

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

मानव सेवा संघ की विचारधारा का मूल स्त्रोत मानव का प्राप्त विवेक है। निज विवेक के आदर की भावना को पुष्ट

करना ही मानव सेवा संघ की विचारधारा के प्रचार का सहज सरल एवं सुगम उपाय है। प्रत्येक मानव विवेक-विरोधी कर्म, विश्वास तथा सम्बन्ध का त्याग करने के लिए सर्वदा तत्पर बना रहे, यही मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार मानव का परम पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ को सजीव बनाने के लिए आस्तिक दर्शन की दृष्टि से शरणागति, अध्यात्म दर्शन की दृष्टि से असंगता और भौतिक दर्शन की दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करना अनिवार्य है।

मानव सेवा संघ का प्रचार मानव का व्यक्तिगत जीवन है। जो मानव जिस अंश में अपने को सुन्दर बनाता है उसी अंश में वह संघ का प्रचार कर सकता है। अपने को सुन्दर बनाने में अपनी निर्बलताओं का परिचय मुख्य साधन है। हाँ, एक बात अवश्य है कि अपनी निर्बलता को जानना है, पर उसकी अपने में स्थापना नहीं करनी है, अर्थात् निर्बलताओं की उपासना नहीं करनी है, अपितु उनका त्याग करना है। निर्बलताओं के त्याग का मुख्य साधन है पराए दोषों को न देखना।

करने को बोझा प्राणी के ऊपर उसी समय तक रहता है जिस समय तक वह कामना-पूर्ति के सुख का भोगी है। सुख का प्रलोभन मिटते ही करने की रुचि स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही होने के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है और फिर करने और होने का द्वन्द्व शेष नहीं रहता। द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश ही चिर-शान्ति है। चिर-शान्ति में ही आवश्यक सामर्थ्य का विकास निहित है। यह नियम है कि सामर्थ्य स्वाधीनता से और स्वाधीनता दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब प्राप्त बल का सदुपयोग किया जाय और कामना-पूर्ति को जीवन का लक्ष्य न बनाया जाय। यह नियम है कि बल के सदुपयोग से विद्यमान राग की निवृत्ति स्वतः हो जाती है और कामना-पूर्ति को जीवन का उद्देश्य न मानने से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। राग-रहित भूमि में ही करना होने में और होना 'है' में विलीन हो जाता है। अतः करने का दायित्व मिले हुए के सदुपयोग में है। 'बल का सदुपयोग', 'विवेक का आदर' यही एक ऐसा सूत्र है जो मानव मात्र को मानव सेवा संघ की विचारधारा से अभिन्न करने में समर्थ है।

मानव मात्र में सभी दर्शनों का समावेश है। अतः जिसमें जिस दर्शन के प्रति अभिरुचि हो उसकी उसी दर्शन की बात बताई जाय। अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण मानव मात्र को अभीष्ट है। उसके लिए मिले हुए का सदुपयोग और जाने हुए का प्रभाव मुख्य साधन है। सर्व-साधारण मानव अनुकूल परिस्थिति एवं चिर-शान्ति चाहते हैं अनुकूलता प्राप्त के सदुपयोग में, चिर-शान्ति विवेकपूर्वक बल के सदुपयोग में है। इस दृष्टि से सर्व-साधारण जन-समाज के समक्ष यही रखना है कि जो प्राप्त है

उसका दुरुपयोग और जो जानते हो उसका अनादर मत करो। इस बात का ध्यान रहे कि जिस भाई-बहिन से जो कुछ कहा जाय उसे उसकी अपनी ही बात मालूम पड़े, क्योंकि अपनी बात में अपने को निस्संदेहता रहती है। यह नियम है कि निस्संदेहता के बिना कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती। कर्त्तव्यनिष्ठ हुए बिना किसी का भी विकास नहीं होता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

486

नई दिल्ली
3-4-1958

सत्य की जिज्ञासु स्नेहमयी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुम्हारा 25-3-58 का लिखा हुआ, सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। तुम्हें चम्बल तट पर, व्यक्तिगत रूप से सत्संग करने का अवकाश न मिल सका, यह जानकर मुझे खेद हुआ। पर क्या किया जाय, प्राणी परिस्थिति के अनुरूप ही कार्य कर सकता है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में मानव-मात्र सर्वदा स्वाधीन है। परिस्थितियों के परिवर्तन में सभी पराधीन हैं। इस पराधीनता में भी प्राणी का विकास ही निहित है, क्योंकि यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान के आदर में ही प्राणी का विकास है। इस दृष्टि से जो कुछ स्वतः हो रहा है उसमें प्रसन्न रहना ही हितकर है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने मानव-जीवन के महत्त्व को भली-भाँति जान लिया है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग से सफलता अवश्य होती है। जब मानव अपनी माँग को अपने ज्ञान से जान लेता है, तब परिस्थिति के अनुसार जो उस पर दायित्व है उसको अवश्य पूरा कर डालता है। दायित्व को पूरा करते ही माँग अपने आप पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से अपनी माँग का ज्ञान और दायित्व को पूरा करना ही सफलता की कुँजी है।

अपने जाने हुए असत् का त्याग ही वास्तव में सत् का संग है। सत् का संग होते ही असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है और फिर साधक, साधन और साध्य में दूरी तथा भेद नहीं रहता, यह निर्विवाद सत्य है। विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और शरणागति निहित है। कर्त्तव्यपरायणता से जीवन प्रभु के लिए असंगता से जीवन अपने लिए और शरणागति से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, यह मानव-जीवन की महिमा है। साधन-निर्माण के लिए कुछ

काल उत्तर-प्रत्युत्तर, अर्थात् व्यक्तिगत प्रश्नों को सामने रखकर परस्पर विचार-विनिमय करना अनिवार्य होता है। इस कारण तुम अवकाश मिलते ही उचित व्यवस्था द्वारा कुछ दिन के लिए मेरे समीप आ जाओ। तुम लोगों के ठहरने आदि की व्यवस्था हो जायगी, ऐसा मेरा विश्वास है। जब तक साधन-निर्माण नहीं होता, तभी तक परस्पर विचार-विनिमय की अपेक्षा है। रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधन-निर्माण होते ही बाह्य सत्संग की आवश्यकता नहीं रहती। साधक जो कुछ कर सकता है उसी से उसे सिद्धि मिल सकती है। इस मंगलमय विधान पर आस्था होने पर प्रत्येक साधक निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है। सभी प्रियजनों को बहुत-बहुत मधुर स्नेह निवेदन करना।

तुम्हारा

487

गीता भवन,ऋषिकेश
5-5-1958

परम आस्तिक स्नेहमयी,

सर्वदा विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति बनकर रहो।

विवेक-विरोधी कर्म का त्याग हो जाने पर कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है और फिर जो करना चाहिए, वह होने लगता है, जिसके होने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। यदि किये हुए के फल में आसक्ति न हो तो वही कर्त्तव्य-कर्म अपने प्रेमास्पद की पूजा हो जाती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता सफलता की कुंजी है। किन्तु जब तक साधक विवेकविरोधी कर्म का त्याग नहीं करता, तब तक स्वाभाविक रूप से कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती। ऊपर से भरी हुई भलाई अभिमान को जन्म देती है। अभिमान की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। जानी हुई बुराई के त्याग से भलाई स्वतः प्रकट होती है और फिर सभी दोष सदा के लिए मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, भूतकाल में की हुई बुराईयों की स्मृति भी नाश हो जाती है, क्योंकि सर्वांश में दोषों का अन्त होने पर निरभिमानता अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही भूतकाल की घटनाओं का प्रभाव मिट जाता है। वर्तमान तो सभी का निर्दोष है। इस निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए की हुई भूल को न दुहराना ही परम साधन है। किसी भी साधक को न तो विवेक-विरोधी कर्म ही करना है और न वह करना है जिसके करने का सामर्थ्य नहीं है पर आदर तथा प्यार सभी को देना है। आदर और प्यार की भूख सभी में रहती है। वस्तु तो व्यक्ति के भाग्य से मिलती है। अतः आदर तथा प्यार देना ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। यह सेवा वे ही साधक कर पाते हैं जो अनेक वेशों में उस एक का ही दर्शन करते हैं। कर्म की विधि

तो भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी, किन्तु कर्म-भेद होने पर भी प्रीति की एकता ही रहेगी। यही सेवा की सफलता है।

किसी में भी समता न हो, अपने प्रेमास्पद में आत्मीयता हो। आत्मीयता प्रियता की और प्रियता अनन्त रस की प्रतीक है। अनन्त रस की भूख ही अपनी भूख है। अतः प्रियता में ही पूर्णता है। कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, उन्हीं की है जिनकी यह सारी सृष्टि है। उन्हीं के नाते प्राप्त वस्तु का सदुपयोग करना है। प्राप्त वस्तु के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तु की प्राप्ति निहित है। अप्राप्त वस्तु की कामना ने ही प्राणी को वस्तुओं की दासता में आबद्ध कर दिया है। वस्तुओं की दासता रहते हुए न तो वस्तुओं का सदुपयोग ही हो पाता है और न दरिद्रता ही नाश हो पाती है। इस रहस्य को जान लेने पर सच्चा साधक प्राप्त वस्तु का सदुपयोग करते हुए अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित हो जाता है। कामना का नाश हो जाने पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप चिरशान्ति का सम्पादन होने लगता है। शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है। स्वाधीनता में ही दिव्य चिन्मय जीवन निहित है।

जब प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म अपने प्यारे की पूजा है, तब यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता कि जो कार्य सामने है, नहीं होगा। अवश्य होगा, क्योंकि जिसकी पूजा करनी है, वह समर्थ है, अपना है, तो फिर भय तथा चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है? असावधानी साधन में बाधक है। अतः विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो। बस, बेड़ा पार है।

सर्व-समर्थ अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें विश्व की सेवा तथा अपनी प्रीति प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

488

इन्दौर
2-6-1958

सत्य पथ की अनुगामिनी, स्नेहमयी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

यह तो सभी को मान्य होगा कि साधनयुक्त जीवन मानव जीवन है। इस कारण अपनी अपनी रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक मानव को साधन निर्माण करना अनिवार्य है। निज विवेक के प्रकाश में जाने हुए असाधन का त्याग करते ही साधन का निर्माण स्वतः हो जाता है क्योंकि असाधन-जनित सुख-लोलुपता साधक द्वारा असाधन का त्याग होने में बाधक होती है। इस दृष्टि से सर्व प्रथम अकर्त्तव्य से उत्पन्न हुई सूख-लोलुपता नष्ट करना अनिवार्य है। यद्यपि आया हुआ सुख अपने आप चला जाता है किन्तु उसका प्रलोभन साधक को सुख की दासता में आबद्ध कर देता है। सुख

की दासता ही दुःख के भय को जन्म देती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार दुःख न चाहने पर भी आजाता है और सुख न चाहने पर भी चलाजाता है। विचारशील साधक आये हुए सुख-दुःख का भोग नहीं करते, अपितु सदुपयोग करते हैं। सुख-दुःख का भोग असाधन है और सदुपयोग साधन है। सुख-दुःख परिवर्तनशील जीवन की दो अवस्थाएँ हैं। साधक को उन दोनों से अतीत के जीवन में प्रवेश पाना है।

सुख-दुःख में जीवन बुद्धि न रहने से सुख-दुःख के सदुपयोग की सामर्थ्य अपने आप आजाती है। सुख-दुःख का सदुपयोग वे ही प्राणी नहीं कर पाते जो सुख-दुःख को ही जीवन मान लेते हैं, उन्हें साधन सामग्री नहीं जानते। सुख उदारता का और दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। उदारता करुणा तथा प्रसन्नता द्वारा भोग की रुचि का नाश कर काम रहित करने में समर्थ है और त्याग भी अहं और मम का नाश कर निर्वासना प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सुख तथा दुःख दोनों ही के सदुपयोग का समान फल है। यह भलीभाँति जान लेने पर न तो साधक सुख की दासता में ही आबद्ध होता है और न दुःख से ही भयभीत होता है। उसके लिए सुख-दुःख दाँयें बाँयें पैर के समान अर्थ रखते हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति में साधक साधननिष्ठ हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

तुम्हारा

.....

489

खुदागंज

10-7-1958

देहातीत प्रीति-स्वरूपा दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, अपितु दिव्य चिन्मय प्रीति हो। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है, और कुछ नहीं। इस दृष्टि से तुम अनन्त की ही विभूति हो। अपने द्वारा अपनी विस्मृति से ही तुम अपने को ऐसा मानने लगी हो जो कभी भी नहीं हो। मानव-जीवन अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित है। जब मानव अपने महत्त्व को भूल जाता है तब बेचारा वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों का दास बन जाता है और फिर अपने में अनेक प्रकार के अभावों का आरोप कर पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध हो जाता है। यह अपना ही बनाया हुआ दोष है। निज विवेक के आदर में ही अविवेक का नाश है। अविवेक के अन्त में ही असाधन का अभाव है। असाधन के अभाव में ही साधन की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही अपने साध्य में अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता जाग्रत होती है, जो प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ है। अतः विवेकीवती होकर जीवन की पूर्णता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाओ, यही मेरी

सद्भावना है। सभी प्रियजनों को बहुत-बहुत मधुर स्नेह निवेदन करना।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही प्राणी का विकास निहित है, कारण कि प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। नीरसता का अन्त होने पर ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान की सरसता ही नीरसता का अन्त करने में समर्थ है। वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल आस्था ही वर्तमान को सरस बनाने में हेतु है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करो और सर्वथा उन्हीं की प्रीति होकर रहो, यही सफलता की कुंजी है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

.....

490

वृन्दावन
29-10-1958

मेरे निज-स्वरूप परम आदरणीय,

सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार।

आशा तो यह थी कि साक्षात् दर्शन होगापर विधि के विधान में जो था वही मिला। कोई बात नहीं। जो कुछ होता है उसमें मंगल ही मंगल है। स्नेह तथा विश्वास की एकता होने पर देश की दूरी बाधक नहीं होती। मेरी सद्भावना और आपका स्नेह सदैव दूरी में भी समीपता के समान ही प्रभाव रखता है, क्योंकि विश्वास तथा स्नेह की जो एकता है वह अभेद बना देती है। समीप रहने पर भी यदि स्नेह की एकता नहीं है तो भेद को ही पुष्ट करती है। अतः विधान के अनुसार समीपता हो या दूरी, उसमें वास्तविकता में असर नहीं पड़ता। इस दृष्टि से स्नेह की एकता ही वास्तविक एकता है। आपने आज्ञा दी है कि मैं परामर्श न देकर आज्ञा दिया करूँ। बात ठीक है-श्रद्धावान परामर्श के स्थान पर आज्ञा ही पसंद करते हैं, परन्तु सार्वजनिक कार्य में विधान की प्रधानता होती है। वैधानिक दृष्टि से संघ में मेरा कोई स्थान नहीं है। ऐसा होना मेरी ही अपनी माँग है, क्योंकि मेरी यह भावना है कि मेरे पश्चात् भी मानव सेवा संघ का पौध फलता-फूलता रहे। इसी कारण अपना वैधानिक अधिकार नहीं रखा है।

मैं परामर्श क्यों देता हूँ-आज्ञा क्यों नहीं देता, इसमें भी एक रहस्य है। परामर्श देने पर साथी अपनी रुचि के अनुसार विचार करता है और आज्ञा देने पर वह अपनी रुचि को दबाकर बलपूर्वक कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। रुचि के अनुसार कार्य करने में स्वाभाविकता अधिक रहती है और बलपूर्वक कार्य करने से धीर-धीरे अस्वाभाविकता का जन्म होता है, जो साधक के जीवन में और साधन में वास्तविक एकता नहीं होने देती। इसी कारण मैंजे आज्ञा न देकर परामर्श देने की नीति को अपनाया है।

उस पर भी जिन मित्रों को परामर्श रुचिकर नहीं है-आज्ञा ही रुचिकर है, उन्हें उनकी आज्ञा मानकर आज्ञा देने का प्रयास करूँगा। अब तक मुझसे जो आज्ञा न देने की भूल हुई उसके लिए आप मुझे अपना जानकर क्षमा कीजिये। प्रेमास्पद के नाते आप सदैव मेरे और मैं आपका हूँ। पुनः बहुत-बहुत मधुर प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

491

20-11-1958

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रिय को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाएँ और अपना प्रेम प्रदान करें, जिससे उसका जीवन उसके लिए, जगत् के लिए एवं प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध हो। निरंतर आयु घट रही है, किन्तु कुछ लोग प्रमादवश यही सोचते हैं कि हम बड़े हो रहे है। यही वास्तविक माया है। इस माया को माया जान लेने पर मायापति की शरणागति प्राप्त होती है, जिसके प्राप्त होते ही प्राणी सर्व प्रकार से निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाता है। इस दृष्टि से शरण सफलता की कुँजी है।

बालिकाओं के रंग-रूप के सम्बन्ध में जो सामाजिक भावना बन रही है वह बड़ी शोचनीय है। जब बालिकाएँ रोटी के लिए विवाह नहीं करेगी, तभी यह भावना नष्ट होगी। वास्तव में विवाह एक निश्चित कार्यक्रम है, जो होना होगा, होगा ही। उसके लिए चिन्ता करना भूल है। दिल की सफाई व चरित्र का सौन्दर्य तथा योग्यता का आभूषण बालिकाओं की रक्षा करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मूक सत्संग समस्त साधनों की भूमि तथा फल है, क्योंकि विश्राम से ही श्रम की उत्पत्ति होती है एवं विश्राम में ही श्रम विलीन होता है। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता तथा शरणागति अपना लेने पर मूक सत्संग हो जाता है, किया नहीं जाता।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

492

वृन्दावन
29-11-1958

मेरे निज-स्वरूप परम उदार,
सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

मानव सेवा संघ की नीति तथा विचारधारा मानव मात्र के लिए हितकर है। जिस प्रकार भूमि प्रत्येक पौधे को विकसित करने के लिए उपयोगी होती है उसी प्रकार मानव सेवा संघ की विचारधारा मानव मात्र के लिए उपयोगी तथा हितकर है। मानव में जो बीज रूप से मानवता विद्यमान है उसी को विकसित करना है। मानवता में पूर्णता निहित है, यह निर्विवाद सत्य है। मानव-

जीवन की यह महिमा है कि मानव अपने लिए, जगत् के लिए एवं प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस पवित्रतम उद्देश्य के लिए मानव सेवा संघ ऐसे साधकों की आवश्यकता अनुभव करता है, जो आजीवन कार्यकर्त्ता हो। पुनः आपको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

493

25-12-1958

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

संयोग-वियोग विधान के अधीन है। संयोग में सेवा व वियोग में प्रीति साधन-रूप है। सेवा स्वार्थ को खाकर सेव्य की प्रीति प्रदान करती है और प्रीति अहं को खाकर प्रीतम को रस देकर कृतकृत्य होती है, अथवा यों कहो कि प्रीति का क्रियात्मक रूप ही सेवा है और प्रीति का विवेकात्मक रूप ही बोध है और प्रीति का भावात्मक रूप ही प्रीतम को रस देना है। 'यह' प्रीतम की सेवा-क्षेत्र है, और 'वह' प्रीतम का निज स्वरूप है, और 'मैं' प्रीतम की प्रीति है। 'यह', 'वह', 'मैं' तीनों ही स्वरूप से एक हैं। 'यह' की सेवा 'वह' का प्रेम 'मैं' का स्वभाव है। सेवा व प्रेम ही जीवन है। शरीर में अहं-बुद्धि अकर्त्तव्य की जननी है। अकर्त्तव्य देहाभिमान को और कर्त्तव्य, जिज्ञासा को जन्म देता है। जिज्ञासा की जागृति देहाभिमान को खाकर तत्त्व-ज्ञान से अभिन्न कर देती है।

विश्राम की भूमि में जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है। सेवा अन्त स्वतः विश्राम में होता है। विश्राम कल्पतरु के समान है, जो सभी समस्याओं को हल करने में समर्थ है।

जो कर रहे हैं वही पूजा और जो हो रहा है वही लीला है। करना होने में विलीन होने पर बस लीला ही लीला है, और कुछ नहीं। जिसकी लीला है वही अपने हैं, यही भजन है। आत्मीयता में ही प्रियता है एवं प्रियता में ही प्रीतम की प्रसन्नता है। प्रीतम की प्रसन्नता में ही जीवन की पूर्णता है।

तुम्हारा

494

होशंगाबाद
7-1-1959

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

निज विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए दोषों का त्याग और की हुई भूल को न दोहराना ही साधन-निर्माण में हेतु है। असाधन-रहित होने पर अल्प से अल्प साधन से भी सिद्धि होती है और असाधन के साथ-साथ किया हुआ साधन वर्तमान में सिद्धि नहीं देता है, कालान्तर में भले ही उसका फल हो। जाने हुए असत्य के

संग से ही समस्त असाधनों की उत्पत्ति होती ह। जब साध निज ज्ञान के प्रकाश में विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग कर देता है तब अनन्त काल के उत्पन्न हुए समस्त असाधन वर्तमान में ही नष्ट हो जाते हैं, किये हुए असाधन की स्मृति-मात्र रह जाती है, जिसका नाश स्मृति से असहयोग करने पर अपने आप हो जाता है। जो कुछ हो रहा है उससे असंग हो जाओ। जाने हुए के प्रभाव के किए हुए का प्रभाव नष्ट कर दो और सुने हुए प्रभु में अविचल श्रद्धा कर सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो।

प्यारी बेटी, तुम्हारा निज-स्वरूप अनन्त की अनुपम प्रीति है। तुम देहाभिमान को त्याग प्रीति से अभिन्न हो अपने ही में अपने प्रीतम को नित-नव रस प्रदान कर सकती हो। प्रीति प्रीतम का स्वभाव और तुम्हारा जीवन है।

प्यारी बेटी, जब साधक वर्तमान कर्त्तव्य कर्म द्वारा अपने प्यारे की पूजा करता है तब प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः प्रेमास्पद की मधुर स्मृति जाग्रत होती है, जो प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ है। मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की ममता का त्याग कर दो। यह भलीभाँति जान लो कि जिस किसी को जो कुछ मिला है वह न तो उसका है और न उसके लिए है। मिले हुए के द्वारा विश्व-भगवान की सेवा की जा सकती है। सेवा करने की सामर्थ्य उन्हीं साधकों को प्राप्त होती है जो दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होते हैं। सेवा मानव-जीवन को जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। विवेकपूर्वक असंग होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। जिसके होते ही जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। प्यारे प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करते ही प्रियता जाग्रत होती है, जिसके होते ही जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है।....मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

तुम्हारा

.....

495

वृन्दावन
1-2-1959

मेरे निज-स्वरूप

मानव सेवा संघ का उद्देश्य अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण करना है। अपने अधिकारों के त्याग में ही अपना कल्याण तथा दूसरे के अधिकार की रक्षा में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है, जिसकी आवश्यकता मानव मात्र को है। मानव सेवा संघ कोई मत, दल तथा संस्था नहीं है। वह तो मानव-मात्र की माँग है। उसकी आवश्यकता तो सभी देशों को, सभी जातियों को तथा सदस्यों को है, क्योंकि

मानव मानव होकर ही जो कुछ होना चाहे हो सकेगा। जिस प्रकार सभी पौधे भूमि पर ही उपजते हैं उसी प्रकार सभी विकास मानवता आने पर होता है। विवेकपूर्वक अपने को निर्दोष बनाना परस्पर में एकता को बढ़ाता है तथा अपने कर्त्तव्य से दूसरों के अधिकारों की रक्षा मानव सेवा संघ का दैनिक कार्यक्रम है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका अभेदस्वरूप

.....

496

वृन्दावन
21-3-1959

मैरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूल जाते हैं और साधारण प्राणी अर्थ पर निष्ठा न रखकर घटनाओं का चिन्तन करते हैं जो वास्तव में अविवेक-सिद्ध है।

अकाल मृत्यु क्या है, इसपर विचार करने से ऐसा ज्ञान होता है कि प्राणों के रहते हुए कामनाओं का अन्त हो जाने पर जब मृत्यु होती है तब उसे काल मृत्यु समझना चाहिये-कामनाओं के रहते हुए प्राणों का अन्त होना अकाल मृत्यु है। वह चाहे जिस प्रकार से हो, चाहे जितनी आयु में हो। साधारण प्राणी घटना विशेष से होने वाली मृत्यु का अकाल मृत्यु कहते हैं। पर वास्तव में यह बात युक्तियुक्त नहीं है। गंभीरता से विचार कीजिये, जन्म से ही मृत्यु का प्रवाह आरम्भ हो जाता है-संयोग काल से ही वियोग का, पर हम अविवेक के कारण इस विधान पर दृष्टि नहीं रखते यह हमारा प्रमाद है।

मुझे जीवन की घटनाओं ने यह पाठ पढ़ाया है कि माता-पिता के लिए पुत्र का और पत्नी के लिए पति का वियोग बड़ा ही दुःखमय है। मैंने वह दृश्य देखा है कि मेरे जन्म होने से जन्म देने वाले माँ-बाप को घोर दुःख सहना पड़ा। मरणासन्न दशा में पिताजी का यह वाक्य कि मुझे इस लड़के का ख्याल है, भूलता नहीं। भला, सन्तान पिता को चैन से मरने भी नहीं देती, इस दुःख से दुखी होकर सोचने लगा कि कोई ऐसा उपाय हो कि मेरे द्वारा अब किसी माँ-बाप को दुःख न हो, भाई के रूप में बहिन को दुःख न हो और पति के रूप में पत्नी को दुःख न हो,। अनन्त की अहैतुकी कृपा से उसका उपाय मिला। संयोग में ही वियोग का, जीवन में ही मृत्यु का दर्शन करने से उस दिव्य जीवन से अभिन्नता होती है जो जीवन किसी के लिए भी दुःख-कर नहीं होता, अपितु सभी के लिए हितकर ही होता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

497

ऋषिकेश
16-5-1959

मेरे निज-स्वरूप प्रिय वत्स,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप से भेंट हुई। निस्सन्देह प्रत्येक परिस्थिति प्रभु के मंगलमय विधान से निर्मित है, परन्तु उसके सदुपयोग में साधक सर्वदा स्वाधीन है। जब किसी साथी के प्रति विश्वास नहीं रहता तब उसके साथ व्यवहार करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।....मन में किसी को बुरा मत समझो। बेईमान से बेईमान भी किसी के लिए बहुत बड़ा ईमानदार होता है। इस विधान में आस्था करो। उसके दुःख से दुःखी होना आवश्यक है। पर जो नहीं कर सकते उसका करना उचित नहीं है।

आस्तिक वर्तमान कर्त्तव्य कर्म द्वारा प्रभु की पूजा करता है और कर्म के अन्त में उन्हीं की मधुर स्मृति होकर रहता है, यही महामंत्र है जीवन की सफलता का। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है। प्रत्येक दशा में शान्ति सुरक्षित रखो। शान्ति भंग होने पर कर्त्तव्य की विस्मृति होती है। अतः शान्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

498

ऋषिकेश
19-5-1959

साधननिष्ठ स्नेहमयी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। निज विवेक के प्रकाश में शरीर इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करना परम आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना किये निर्वासना नहीं आती, जिसके बिना दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती। इस दृष्टि से संयोग में वियोग का दर्शन अनिवार्य है। यह सभी साधकों को विदित है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं से नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है कारण कि उनसे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है। जिन वस्तुओं से नित्य सम्बन्ध नहीं है उनकी ममता का त्याग आवश्यक है और जिस प्रभु से जातीय तथा स्वरूप की एकता है उस प्यारे प्रभु से जो साधक सरल विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर लेता है और विवेकपूर्वक शरीर आदि वस्तुओं की ममता से रहित हो जाता है वह बड़ी ही सुगमतापर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है। और परम प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। आत्मीयता में प्रेम और असंगता में स्वाधीनता निहित है। इन दोनों की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। परिस्थिति के अनुसार जो कर्त्तव्य कर्म उपस्थित है उसे पूजा-भाव से पूरा करो। किसी से सुख की

आश न करो। अपने दुःख का कारण किसी को मत मानो, तो फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-द्वेष का नाश हो जाएगा-जिसके होते ही जीवन में त्याग तथा प्रेम की गंगा लहरायेगी त्याग में चिरशान्ति तथा प्रेम में अगाध, अनन्त नित रस निहित है। इस दृष्टि से त्याग तथा प्रेम में ही जीवन की पूर्णता निहित है। विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त होने पर कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है, जो सफलता की कुँजी है। सब प्रकार से प्यारे प्रभु की होकर रहो। उनकी मधुर स्मृति को ही अपना जीवन मानो। उन्हीं के नाते सभी की सेवा करनी है। उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही आस्तिक का परम बल है।

तुम्हारा

.....

499

वृन्दावन
15-7-1959

स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी माँ,

सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

कल यहाँ आने पर पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला.....। देखो माँ! निज विवेक के प्रकाश में यह स्पष्ट विदित होता है कि उत्पन्न हुई किसी भी वस्तु से अपना नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है। ममता का अन्त होते ही निर्विकारता स्वतः आ जाती है। इतना ही नहीं जिस प्रभु से जातीय एकता है उनमें अविचल श्रद्धा, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता स्वतः जाग्रत होती है, जिसके होते ही अगाध प्रियता उदित होती है। प्रियता स्वरूप में दिव्य, चिन्मय तथा रसरूप है और प्रियता में ही जीवन की पूर्णता निहित है। नित-नव रस की माँग, साधक की अपनी माँग है जिसकी प्राप्ति प्रियता में और प्रियता आत्मीयता में निहित है।

आत्मीयता ही वास्तविक भजन है और ममता का अन्त ही वास्तविक साधन है। भजन-साधन के लिए ही मानव जीवन है। इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक सिद्धि पाता है। सिद्धि से निराश होना परम भूल है। साधक वही है जिसके जीवन में सिद्धि के लिए नित-नव आशा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यह तभी सम्भव होगा जब विवेकपूर्वक शरीरादि वस्तुओं का अन्त और अविचल श्रद्धापूर्वक प्रभु में आत्मीयता स्वीकार कर ली जाय। प्रत्येक साधक ममता के नाश तथा आत्मीयता की स्वीकृति में स्वाधीन तथा समर्थ है। अपने दायित्व को पूरा करने में साधक लेशमात्र भी असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं है। दायित्व की पूर्ति और सफलता युगपद् है। जिस प्रकार सूर्यका उदय, प्रकाश की

प्राप्ति एवं अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है उसी प्रकार ममता का नाश एवं आत्मीयता की स्वीकृति तथा प्रियता की अभिव्यक्ति युगपद् है। अतः प्रत्येक कार्य को प्यारे प्रभु के नाते करते हुए उन्हीं की मधुर स्मृति जागृत कर प्रीति से अभिन्न होना अनिवार्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

.....

500

वृन्दावन
15-8-1959

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

सर्वदा शांत तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। मूक सत्संग समस्त साधनों की भूमि है और समस्त साधन मूक सत्संग में ही विलीन होते हैं। इस दृष्टि से आदि और अन्त मूक-सत्संग में ही निहित है।

समस्त असाधनों की उत्पत्ति का मूल जाने हुए असत् का संग है। जब तक साधक सर्वांश में जाने हुए असत् का त्याग नहीं करता तब तक असाधन का सर्वांश में नाश नहीं होता। असाधन के साथ-साथ किया हुआ साधन कालान्तर में भले ही फलदायक हो, किन्तु वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है। इस कारण जाने हुए असत् के संग के त्याग का दायित्व प्रत्येक साधक पर है।

मूक सत्संग के बिना विद्यमान असाधन प्रकट नहीं होते। यह नियम है कि जब तक बनी हुई वस्तु प्रकट नहीं होती तब तक उसका नाश नहीं होता। असहयोग का अर्थ केवल इतना ही है कि उत्पन्न हुए विकारों से तादात्म्य स्वीकार न किया जाय। जिससे असहयोग कर लिया जाता है कि वह अपने आप नाश हो जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

501

कैंप लाडनूं
11-9-1959

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

.....मन की ममता का त्याग मन को श्रद्धा तथा शान्त करने का अचूक उपाया है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते है जिन्होंने अनुत्पन्न हुए अनन्त में अविचल आस्था की है और उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता का विवेकपूर्वक अन्त कर दिया है। बिना आधार के मन स्थिर नहीं रहता, यह देहाभिमान का परिचय है, और कुछ नहीं। यदि आधार से मन सदा के लिए स्थिर होता तो संकल्प के साथ-साथ विकल्प न होता। यह सभी साधकों का अनुभव है कि जिसमें बलपूर्वक मन

लगाते हैं उससे मन अपने आप हट जाता है और जिससे मन को बलपूर्वक हटाते हैं उसमें अपने आप लग जाता है। लगाने और हटाने के प्रयास ने मन का स्थिर नहीं होने दिया। क्रियाशीलता, चिन्तन तथा स्थिरता, ये सभी अवस्थाएँ हैं। अवस्थाओं में परिवर्तन स्वाभाविक है। अतः किसी अवस्था का आश्रय लेकर चिर-विश्राम सम्भव नहीं है। चिर-विश्राम राग-रहित होने पर ही सम्भव है। केवल अभ्यास के आश्रित शान्ति को सुरक्षित रखना भ्रम-मात्र ही है। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को पवित्र भाव से करना विद्यमान राग की निवृत्ति का अचूक उपाय है और सुख के प्रलोभन का अन्त कर देना ही, नवीन राग उत्पन्न न हो, इसका उपाय है। सुख के प्रलोभन में ही दुःख की उत्पत्ति निहित है। दुःख का वास्तविक प्रभाव सुख के प्रलोभन को खा लेता है, और फिर दुःख सदा के लिए विदा हो जाता है। अचाह होने पर अप्रयत्न स्वतः आ जाता है। निज विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव का अन्त कर दो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक कार्य के अन्त में स्थिरता सुरक्षित रहेगी। स्थिरता में ही सामर्थ्य तथा विचार एवं प्रेम की जागृति होती है। यह निर्विवाद सत्य है। मुझको कुछ नहीं चाहिए, इस निर्णय में विकल्प मत करो। चाह-रहित होने पर उत्पन्न हुए संकल्पों का न तो समर्थन ही करना है और न विरोध। इतना ही नहीं, निर्विकल्पता में भी रमण नहीं करना है। संकल्प तथा विकल्प एवं निर्विकारता, ये तीनों ही अवस्थाएँ हैं और उत्पत्ति-विनाशयुक्त हैं। इनसे विमुख हो जाओ। अपने ही में बिना किसी प्रयास के अपने प्रेमास्पद को पाकर सभी साधक कृतकृत्य हो जाते हैं.....।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

502

श्रीगंगानगर
24-9-1959

मेरे निज-स्वरूप प्रिय वत्स,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

.....दुखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होना साधक का सहज स्वभाव है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह किसी के दुःख को मिटा सकता है। दुःख का अन्त करने में तो सर्व-समर्थ दुःखहारी हरि ही समर्थ हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से दुःख का पूरा-पूरा प्रभाव हो जाने पर सुख का प्रलोभन शेष नहीं रहता और फिर दुःख अपने आप मिट जाता है। दुःख मंगलमय विधान से आता है। उससे भयभीत होना भूल है। दुःख के प्यारे प्रभु की अनुपम कृपा का दर्शन करना आस्तिक का स्वभाव है। किसी को बुरा मत समझो और किसी का बुरा मत करना। बस, अपने आप बुराई

नाश हो जायगी.....। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

503

22-4-1960

साधननिष्ठ स्नेहमयी माँ,

बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

मानव जीवन का महत्त्व साधननिष्ठ होने में ही है। वह तभी सम्भव होगा जब साधक अपने बनाये हुए प्रमाद का अन्त कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाये। निज विवेक के आदर में ही प्रमाद का नाश निहित है। मिली हुई किसी भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति में ममता करना, उसका दुरुपयोग करना एवं अप्राप्त वस्तु आदि की कामना रखना प्रमाद का ही कार्य है। जब साधक विवेकपूर्वक यह अविचल निर्णय कर लेता है कि मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, उसका दुरुपयोग नहीं करना है और न अप्राप्त वस्तु की कामना, तब अपने आप निर्विकारता, कर्त्तव्यपरायता और निर्विकारता अर्थात् स्थिरता स्वतः आ जाती है। निर्विकारता अपने लिए और कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए हितकर सिद्ध होती है। कर्त्तव्य पालन आस्तिक की पूजा है, अध्यात्मवादी का साधन है। पूजा का अन्त प्रेमास्पद की प्रियता में स्वतः बदल जाता है, अर्थात् जिसकी हम पूजा करते हैं, अन्त में उसी की प्रीति से अभिन्न हो जाते हैं। प्रीति से अभिन्न होते ही मानव-जीवन की पूर्णता स्वतः प्राप्त होती है। कारण कि प्रीति ही वह अलौकिक तत्त्व है जिसमें प्रेमास्पद को रस मिलता है। निर्विकारता अपने लिए, कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए तथा प्रीति प्रभु के लिए उपयोगी है। ये सभी बातें मानव-जीवन में प्राप्त हो सकती हैं। इस पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही मानव-जीवन मिला है। प्रमाद का नाश एकमात्र जाने हुए असत्य के त्याग में ही निहित है। अपने जाने हुए असत्य का त्याग प्रत्येक साधक स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। असत्य के संग से ही अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति उत्पन्न होती है। असत्य का त्याग करते ही अकर्त्तव्यकर्त्तव्यपरायणता में, असाधन साधन में और आसक्ति प्रीति में परिवर्तित हो जाती है।

इस दृष्टि से जाने हुए असत्य के त्याग में ही पुरुषार्थ की परावधि है और यही वास्तविक सत्संग है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

.....

504

रांची

31-10-1960

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

सरलता, ईमानदारी तथा स्नेह से भरा पत्र मिला। सुन्दर कार्य करने के लिए ईमानदारी, परिश्रम और हृदय में उत्कट लालसा तथा व्याकुलता की अत्यंत आवश्यकता है। अतः तुम्हारे हृदय में सर्वहितकारी सद्भावनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। दुःखियों को देखकर करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने का स्वभाव बनाओ, जो वास्तविक सेवा है। सद्भावनाएँ स्वतः भाषा का निर्माण कर लेतीं हैं। मन से भय निकाल दो। की हुई भलाई के बदले में किसी प्रकार की आशा मत करो। मिले हुए पद को देने वालों की उदारता मानो, अपनी महिमा मत समझो। ज्यों-ज्यों निरभिमानता तथा निष्कामता को अपनाते जाओगे और मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता का सदुपयोग करते जाओगे, त्यों-त्यों आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आती जायेगी, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। शारीरिक श्रम और हृदय की सद्भावना से बहुत बड़ा काम हो सकता है। संसार में निर्धनों के द्वारा जो सेवाएँ हुई हैं वे धनियों के द्वारा नहीं हो सकीं हैं। अतः धन की वासना का त्याग कर सद्भाव तथा शरीर के द्वारा सेवा करने का स्वभाव बनाओ।

वर्तमान की वेदना भविष्य की उपलब्धि होती है, इस महामंत्र पर आस्था करो। कुटुम्बी जनों का आदर तथा प्यार देते रहो। उनसे सुख की आशा मत करो। इस उपाय से पारिवारिक जीवन सुन्दर बन जायेगा। मानव सेवा संघ के मूल सिद्धान्तों का मनन करते रहो। सेवा, त्याग और प्रेम में ही जीवन की पूर्णता निहित है। पुनः आपको बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

.....

505

बलरामपुर

20-3-1961

स्नेहमयी साधनिष्ठ

सप्रेम हरिस्मरण।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही प्राणी का अधिकार है, परिस्थिति-परिवर्तन में नहीं। अतः प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य कर्म आस्तिक की पूजा और जिज्ञासु का साधन है। परन्तु जब तक साधक ममतारहित निष्कामतापूर्वक प्यारे प्रभु में आत्मीयता स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक कार्य में पूजा-भाव दृढ़ नहीं होता। पूजा-भाव दृढ़ होते स्वतः कार्य के अन्त में प्रीति की जागृति होती है। प्रीति प्रेमी को प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रीति की जागृति में ही जीवन की पूर्णता है। एकमात्र प्यारे प्रभु ही अपने हैं। शरीर आदि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। ममता-रहित होते ही

निर्लोभता निर्मोहता, निरभिमानता आदि सभी दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। परन्तु विचारशील साधक निर्विकारता में सन्तुष्ट नहीं होता। तब स्वतः निरभिमानतापूर्वक प्यारे प्रभु की आत्मीयता में ही अगाध प्रियता और प्रियता में ही अनन्त रस की अभिव्यक्ति निहित है, जो वास्तविक जीवन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हार

506

मुजफ्रनगर
4-7-1961

मेरे निज-स्वरूप प्रिय वत्स,

बहुत-बहुत प्यार।

.....यदि गम्भीरतापूर्वक विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से देखा जाय तो यह प्रत्यक्ष ही सिद्ध है कि समस्त दृश्य सतत परिवर्तित हो रहा है। इस कारण दृश्य की प्रतीति को अस्तित्व के रूप में स्वीकार भारी भूल है। दृश्य से विमुख हो, प्रकाशक के शरणागत हो, परम शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से अभिन्न होने में ही वास्तविक जीवन है। इसी जीवन के लिए मानव-जीवन साधन-रूप है। अतः शीघ्रातिशीघ्र प्रत्येक मानव को अनित्य जीवन का सदुपयोग करते हुए नित्य जीवन से अभिन्न होना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

प्रत्येक परिस्थिति तत्त्व-दृष्टि से एक अवस्था है और भौतिक दृष्टि से गतिशील प्रतीति है एवं आस्तिक दृष्टि से अनन्त की अनुपम लीला है। अतः प्रत्येक दशा में शान्ति का सम्पादन करना अत्यंत आवश्यक है। जो हो रहा है उससे असहयोग, जो कर रहे हो उसमें सावधान और जो 'है' उसमें अगाध प्रियता ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है.....। अल्पकाल का सत्संग भी महान अर्थ रखता है। पर यह रहस्य सत्संग-प्रेमी ही जानते हैं। निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करना।

तुम्हारा

507

चरथावल
31-7-1961

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

बहुत-बहुत प्यार।

.....ज्यों-ज्यों साधक अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित होता है त्यों-त्यों असत्य के त्याग की सामर्थ्य आती है। असत्य का त्याग और सत्य का संग युगपद् है। असत्य के संग से ही समस्त असाधनों की उत्पत्ति होती है। सत्य का संग और असाधनों का नाश एवं साधनों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने सर्वांश में अपने जाने हुए असत्य का त्याग किया है, अर्थात् जिनके जीवन में ममता,

कामना तथा तादात्म्य की गंध भी नहीं है उन्हीं का जीवन निर्विकारता, स्वाधीनता एवं अगाध प्रियता तथा अपरिछिन्नता से अभिन्न होता है, जो वास्तविक जीवन है।

मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली में मानव मात्र को स्वाधीनतापूर्वक साधननिष्ठ होने की प्रेरणा है। प्राकृतिक नियमानुसार स्वाधीनता-प्राप्ति का साधन भी स्वाधीन है। इसी दृष्टि से अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अनिवार्य है। जो साधक अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित नहीं होते वे सत् पुरुषों और सद्ग्रन्थों के आदेश का भी सर्वांश में पालन नहीं कर पाते। इस कारण प्रत्येक साधक पर यह दायित्व है कि वह शीघ्रातिशीघ्र, अर्थात् वर्तमान में ही अपने जाने हुए का आदर कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाए। ऐसा करते ही अनन्त की अहैतुकी कृपा स्वतः साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न कर देती है-यह निर्विवाद सिद्ध है। अपने जाने हुए का अनादर करते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न नहीं कर पाता। यद्यपि किया हुआ साधन कभी नाश नहीं होता, परन्तु सत्संग के बिना साधन और जीवन में अभिन्नता नहीं होती, जिसके बिना हुए सहज स्नेह तथा परम शान्ति एवं स्वाधीनता तथा सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से जाने हुए असत् के त्यागपूर्वक सत्संग में ही पुरुषार्थ की परावधि है, जो एकमात्र जाने हुए के आदर में ही निहित है। निकटवर्ती प्रियजनों तथा सत्संग-प्रेमियों को बहुत-बहुत प्यार निवेदन करना। पुनः सभी को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

508

बटाला
28-8-1961

साधननिष्ठ स्नेहमयी,

सादर यथोचित तथा हरिस्मरण।

मानव-जीवन अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित है। इस कारण मानव-जीवन की बड़ी महिमा है। मानव जाने हुए असत् का त्याग कर सत्संग द्वारा कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता प्राप्त कर सकता है। कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है और असंगता से अपने लिए, कारण कि असंग होते ही स्वतः वासनाओं का नाश हो जाता है। निर्वासना प्राप्त होते ही परम शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। शान्ति से सामर्थ्य और स्वाधीनता से अमर चिन्मय जीवन की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से असंगता अत्यंत आवश्यक है। आत्मीयता में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, कारण कि जो अपना है वह स्वभाव से ही अपने

को अत्यंत प्रिय है। प्रियता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। प्रेम प्रभु को प्रिय है, अर्थात् प्रेम से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से प्रेम की जागृति अत्यन्त आवश्यक है, जो एकमात्र प्रभु को अपना मानने से ही सम्भव है।

इस दृष्टि से निमर्मता, निष्कामता एवं आत्मीयता में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। जिसने आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रभु को अपना मान लिया और विचारपूर्वक ममता तथा कामना का त्याग कर दिया उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया। निमर्मता से निर्विकारता और निष्कामता से परमशान्ति तथा स्वाधीनता एवं आत्मीयता से अगाध प्रियता जाग्रत होती है, जो वास्तविक जीवन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

.....

509

आनन्द भवन
नासिक रोड
6-7-1962

स्नेहमयी साधननिष्ठ

बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

प्रत्येक कार्य के आदि और अंत में श्रम-रहित, अर्थात् मूक सत्संग अनिवार्य है, कारण कि उसके बिना देहाभिमान नाश नहीं होता। देहाभिमान-रहित हुए बिना किसी की भी निर्विकारता परम-शान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य जीवन से अभिन्नता नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है। श्रम-रहित होते ही देहातीत जीवन से स्वतः अभिन्नता हो जाती है। यद्यपि वह जीवन सभी को नित्य प्राप्त है, परन्तु देह के तादात्म्य होने से उस नित्य प्राप्त जीवन से दूरी, भेद तथा भिन्नता भासती है। अतः शीघ्रातिशीघ्र देहाभिमान-रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक सत्संग से ही साध्य है। जब तक साधक को अपने लिए कुछ करना है तब तक देहाभिमान नाश नहीं होता। जिसे अपने लिए कुछ भी नहीं करना है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक देहाभिमान-रहित हो जाता है। पर यह रहस्य मूक सत्संग के बिना स्पष्ट नहीं होता। मूक सत्संग ही वास्तविक सत्संग है। सत्-चर्चा तथा सत्-चिन्तन से सत्संग की उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जिसके होते ही बड़ी सुगमतापूर्वक साधक देहाभिमान-रहित हो सकता है, जो विकास का मूल है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है उसका आश्रय बनाये रखने से देहाभिमान पोषित होता है। उत्पन्न हुई सभी वस्तुओं से मानव की जातीय भिन्नता है और अनुत्पन्न हुए नित्य प्राप्त अविनाशी परम तत्त्व से ही जातीय एकता है। जिससे जातीय भिन्नता है उससे असंगता और जिससे जातीय एकता है उसमें आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है। निर्मम तथा

निष्काम होते ही असंग होने की सामर्थ्य स्वतः आती है और अविचल आस्था-श्रद्धा-विश्वास से आत्मीयता सजीव होती है। पुनः बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

510

वृन्दावन
20-12-1962

स्नेहमयी साधननिष्ठ,

प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहो।

यह मानव-मात्र का अनुभव है कि शरीर आदि किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति से मानव का नित्य सम्बन्ध नहीं है, अपितु केवल मानी हुई एकता है। जिससे मानी हुई एकता है उनकी यथाशक्ति सेवा अर्थात् प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है। पर विचारपूर्वक सभी परिस्थितियों से असंग होना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता से ही संभव है। निर्मम तथा निष्काम होने में प्रत्येक मानव सदैव स्वाधीन है, कारण कि ममता और कामना का त्याग करने को स्वाधीनता मानव मात्र को जन्मजात प्राप्त है। यह अनुभव कि मिली हुई वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, मानव को निर्मम बनाती है। निज अनुभव के अनादर से ही ममता उत्पन्न होती है और ममता के कारण ही तादात्म्य हो जाने पर कामनाओं को जन्म होता है। कामना-पूर्ति-अपूर्ति ही मानव को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करती है। दासता तथा भय किसी को भी अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रमादवश मानव अपने को भय, चिन्ता तथा नीरसता में आबद्ध कर लेता है, यही व्यक्तिगत जीवन की असफलता है। इस असफलता का अन्त हो सकता है। इसलिए प्रत्येक मानव को मिले हुए की ममता का तथा देखे हुए की कामना का त्याग करना अनिवार्य है। मिले हुए का दुरुपयोग न करने से कर्त्तव्यपरायणता और मिले हुए की ममता के त्याग से असंगता स्वतः अभिव्यक्त होती है। कर्त्तव्यपरायणता से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और असंगता से सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता स्वतः होती है, जिसके होते ही अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है, जो वास्तविक जीवन है। अतः निज अनुभव का आदर करते हुए प्रत्येक मानव को निर्ममता, निष्कामता तथा असंगता को अपनाकर वास्तविक जीवन से अभिन्न होना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। अहंकृति-रहित होने से असत्य का त्याग तथा सत्य का संग स्वतः हो जाता है। अहंकृति-रहित होने के लिए फलासक्ति-रहित लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए वर्तमान कार्य को पूरा करना है और अनावश्यक कार्य का त्याग करना है,

फिर अपने आप मानव अहंकृति-रहित हो जाता है। अहंकृति का नाश और चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति युगपद् है। विश्राम में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है। अतः आलस्य, अकर्मण्यता-रहित चिर-विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है। बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

.....

511

जसीडीह
8-1-1963

स्नेहमयी साधननिष्ठ,

सादर सप्रेम अभिवादन।

विचारशील मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करते हैं, कारण कि प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु स्वभाव से ही विनाशोन्मुख रहती है। उसके लिए चिन्ता करना भूल है। जीवन के सदुपयोग का महत्त्व है, जीवन का नहीं। अल्प से अल्प काल के जीवन में भी वास्तविक जीवन की उपलब्धि हो सकती है। अतएव जीवन की अपेक्षा जीवन के सदुपयोग का ही अधिक महत्त्व है। इतना ही नहीं, अनन्त के मंगलमय विधान से साधक को साधननिष्ठ होने के लिए आवश्यक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि स्वतः प्राप्त होती है। अतएव बड़ी ही सजगतापूर्वक प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना अनिवार्य है। योग, बोध और प्रेम मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। पर जाने हुए असत्य का त्याग न करने पर बेचारा प्राणी भोग, मोह, आसक्ति में आबद्ध हो जाता है। जाने हुए असत्य का त्याग करते ही स्वतः योग, बोध, प्रेम की अभिव्यक्ति होती है और भोग, मोह, आसक्ति स्वतः नाश हो जाती है। भोग-वासनाओं का मूल एकमात्र असत्य का संग ही है, और कुछ नहीं। जब साधक निज ज्ञान के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को देखता है तब स्वतः अपनी भूल का बोध हो जाता है। भूल के ज्ञान में ही भूल का नाश निहित है। भूल-रहित होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है, यह मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से भूल-रहित होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। जाने हुए का अनादर ही भूल को जन्म देता है। इस कारण निज ज्ञान का आदर करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

512

गीता भवन
2-5-1963

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

बहुत-बहुत प्यार।

.....सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। सत्संग का अर्थ है-अविनाशी का संग, अर्थात् जो सर्वत्र सर्वदा मौजूद है। इतना ही नहीं, जो सभी का अपना है उसी का संग सत् का संग है। सत्संग करते ही अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है, जिससे नीरसता का नाश हो जाता है और फिर स्वतः निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। स्वाधीनता और शान्ति में ही परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसकी माँग सदैव सभी को है। अतः आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक जो सदैव सभी के हैं उन्हीं में आत्मीयता स्वीकार करना है। बस, फिर कुछ करना शेष नहीं रहता। सभी प्रियजनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

513

वृन्दावन
4-10-1963

स्नेहमयी साधननिष्ठ,

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। समस्त असाधनों का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग मानव-मात्र का स्वधर्म है। उसके करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। यह स्वाधीनता मानव को मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रदान की है। सत्संग के द्वारा प्रत्येक मानव साधन-निष्ठ हो सकता है। सत्संग का वास्तविक स्वरूप विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होने में निहित है, अथवा आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक समर्पण में। सत्संग के लिए अपनी ओर देखना, अपने सम्बन्ध में विचार करना अनिवार्य है। निज विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से वर्तमान वस्तु-स्थिति का अध्ययन करो और जो प्रकाश मिले उसे अपनाकर कृतकृत्य हो जाओ। यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

514

6-2-1964

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

राग-रहित होने के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक निज विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखता है। अपनी ओर देखने का अर्थ अपने संबंध में विचार करना है। शांत रहने से ही अपने संबंध में विचार करने की सामर्थ्य आती है। अतः अहंकृति-रहित होकर शान्त रहना अनिवार्य है। आवश्यक कार्य पवित्र भाव से, विधिवत्,

लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए करने पर साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक अहंकृति-रहित हो सकता है। सामर्थ्य तथा विवेक-विरोधी कर्म के त्याग से आवश्यक कार्य स्वतः होने लगता है। सही काम करने से करने का राग मिटता है और विश्राम मिलता है, पर कर्ता को निष्काम होना अनिवार्य है, तभी वह सही काम कर सकता है। कर्म का सम्बन्ध शरीर, परिवार तथा संसार से ही है। अपने लिए किसी भी साधक को कुछ भी नहीं करना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

515

गीताभवन
4-5-1964

स्नेहमयी साधननिष्ठ

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

सत्संग मानव-मात्र का स्वधर्म है। निज विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखने से अपनी भूल का स्वतः ज्ञान हो जाता है और फिर मानव भूल-रहित होकर साधन-निष्ठ हो जाता है। भूल कोई प्राकृतिक दोष नहीं है और न कोई उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। निज ज्ञान के अनादर से ही भूल उत्पन्न होती है और आदर करते ही नाश हो जाती है। भूल के नाश में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है। भूल-रहित होते ही उदारता, असंगता और आत्मीयता उदित होती है। उदारता से जीवन जगत् के लिए एवं आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से जीवन जगत्पति के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सत्य है। पर यह रहस्य सभी स्पष्ट होता है जब मानव शान्त होकर अपनी ओर देखने का स्वभाव बनाये और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का दुरुपयोग न करे, उसे अपना न माने, देहातीत जीवन में अविचल विश्वास करे एवं सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु का ही होकर रहे, बस यही मानव-पुरुषार्थ की परावधि है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

516

राँची
30-6-1964

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम उदार,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

अपनी निर्बलता का अपनी दृष्टि से परिचय हो जाने पर तथा लक्ष्य से निराशा न होने पर साधक में एक गहरी वेदना स्वतः जाग्रत होती है, जो सभी निर्बलताओं को खाकर साधक को साधन-निष्ठ कर देती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है। सुख का प्रलोभन

तथा दुःख का भय देहातीत से ही जीवि रहता है। देहातीत दिव्य चिन्मय जीवन में अविचल आस्था हो जाने पर और वर्तमान में उसकी आवश्यकता अनुभव करने पर देहाभिमान गलाने की तीव्र लालसा जाग्रत होती है, जिसके होते ही आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त हो जाती है। किसी भी परिस्थिति में क्यों न हों, वास्तविक जीवन से लेशमात्र भी निराश नहीं होना चाहिए। अपनी निर्बलता का ज्ञान और सर्व-समर्थ प्रभु की महिमा में अविचल आस्था साधक को शरणागति प्रदान करती है, जो सफलता की कुँजी है। प्रभु की महिमा का कोई पारावार नहीं है। उनके सिखाने के अनेक ढंग है। जिसने किसी भी प्रकार एक बार भी उन्हें स्वीकार किया, उसका बेड़ा पार हुआ, ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है।

सुख की दासता तथा दुःख का भय अवश्य मिट जायेगा, कारण कि मानव स्वभाव से ही स्वाधीनता का पुजारी है। सुख की दासता ही साधक को पराधीनता में आबद्ध करती है और दुःख को जन्म देती है। सुख की दासता ही मूल भूल है, जो एकमात्र सत्संग से ही नाश होती है। शान्ति का मूल्य ही है सुख के प्रलोभन का त्याग। सुख का भोगी चिरशान्ति नहीं पाता, अपितु दुःख का ही भोगी रहता है। सुख का भास पराधीनता से ही होता है और चिरशान्ति स्वाधीनता से ही प्राप्त होती है। स्वाधीनता साधक को प्राप्त ज्ञान के प्रभाव से ही प्राप्त होती है। परिस्थितियों से अतीत के जीवन की माँग साधक को स्वाधीनता से अभिन्न करती है। इस कारण अपनी माँग से कभी भी निराश नहीं होना चाहिए। माँग की जागृति से ही काम की निवृत्ति और काम की निवृत्ति से ही चिरशान्ति की अभिव्यक्ति होती है, यह मंगलमय विधान है। सर्व-समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा से आश्रय में ही साधक का सर्वतोमुखी विकास निहित है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

517

दिल्ली
25-10-1964

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

आस्तिक साधक के जीवन में भय चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि उसने सरल विश्वास पूर्वक सर्व-समर्थ प्रभु की महिमा को स्वीकार कर अपने को समर्पण कर दिया है। अपनी निर्बलता का परिचय भलीभाँति होते ही सहज भाव से साधक परम कृपालु के निर्भर हो जाता है और फिर साधक को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता-सब कुछ प्रभु की अहैतुकी कृपा से स्वतः हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही

साधक जान पाते हैं जिन्होंने प्रत्येक परिस्थिति में प्यारे प्रभु की महिमा को अपनाया है और जो लक्ष्य से निराश नहीं है, अपितु अनेक निर्बलताओं के होते हुए भी जो एकमात्र प्यारे प्रभु के होकर ही रहते हैं, अर्थात् जिनके जीवन में से अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध का नाश हो गया है-केवल प्रभु विश्वास तथा प्रभु-सम्बन्ध ही शेष है। विश्वास से भिन्न विश्वासी का और कोई अस्तित्व नहीं है। विश्वास-पात्र स्वयं अपने विश्वासी को अपनाकर अपने से अभिन्न कर लेते हैं, यह प्रभु का सहज स्वभाव है। अतः शीघ्रातिशीघ्र आस्तिक साधक को अपने में से अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध का त्याग कर देना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

518

बाराबंकी
27-11-1964

परम आस्तिक साधननिष्ठ परम उदार प्रियवर,

सादर प्रेम हरिस्मरण।

परिस्थिति-परिवर्तन में मानव स्वाधीन नहीं है, उसके सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है। सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन की उपलब्धि में मानव का जन्मजात अधिकार है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। संकल्पपूर्ति और अपूर्ति विधान के अधीन हैं। विचारपूर्वक उनके सुख-दुःख से असंग होना है, परन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है तब मानव संकल्प-पूर्ति में अपने को असमर्थ पाता है। इसी कारण साधननिष्ठ साधक अपना कोई संकल्प नहीं रखते। परिस्थिति के अनुसार जो सम्भव होता है उसे पवित्र भाव से लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करते रहते हैं। अपना संकल्प न रखने पर कर्त्तव्य-पालन में कोई बाधा नहीं होती, अपितु नि-संकल्प होने पर कर्त्तव्य-पालन सुलभ हो जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

519

वृन्दावन
16-3-1965

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

बहुत-बहुत प्यार।

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।.....रोगावस्था में शरीर की वास्तविक अवस्था का अनुभव सुगमतापूर्वक हो जाता है। पर तुम किसी भी काल में देह नहीं हो, अर्थात् देहातीत दिव्य चिन्मय जीवन के अधिकारी हो।

तुम्हारी जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु से ही है। तुम सदैव उनके और वे तुम्हारे हैं। अन्तर केवल इतना है कि वे जानते हैं और तुम मानते हो। वे निरन्तर तुम्हें देख रहे हैं। तुम सदैव उनकी गोद में हो। अतः उन्हें लाड़ लड़ाते हुए उन्हीं की लीला देखते रहो। यही सफलता की कुंजी है। शरीर आदि सभी वस्तुएँ उन्हीं से प्रकाशित हैं और उन्हीं की सत्ता से सत्ता पाती हैं। तुम्हारी दृष्टि उन्हीं पर रहे, वस्तुओं पर नहीं। जो जल देखता है उसे लहर और समुद्र नहीं दिखते। इसी प्रकार जिसकी दृष्टि अपने प्यारे पर लगी रहती है उसे फिर सृष्टि नहीं दीखती है, अथवा यों कहो कि सृष्टि में भी उन्हीं की लीला दिखाई देती है। अनेक रूपों में अनेक प्रकार से अपने प्यारे को दुलार करते रहो। उनका प्यार ही तुम्हारा जीवन है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

520

वृन्दावन
5-4-1965

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। विद्यालय की पत्रिका समिति का मैं आभार मानता हूँ कि जिसने इस साधारण मानव का स्मरण किया। यदि समिति अपने प्रश्न भेजती तो मुझे उत्तर लिखवाना बहुत ही सहज था। लेख लिखाने की आदत भी नहीं है और कोई लेख नाम से छपता भी नहीं है। अब आप ही बताइये, क्या लिखा जाय। मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रत्येकविद्यालय भावी समाज के निर्माण का मन्दिर है। इस कारण अध्यापन कार्य के समान और कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है और विद्यार्थी जीवन ही मानव के विकास की भूमि है। इसी दृष्टिकोण को लेकर दो शब्द लिखवा रहा हूँ।

अध्यापन का कार्य निर्वाह मात्र के लिए नौकरी नहीं है। जिनके हृदय में सुन्दर समाज के निर्माण की पीड़ा है, जिनका मस्तिष्क स्वस्थ है और जो अपने-अपने विषय में प्रवीण हैं वे ही महानुभाव अध्यापन-कार्य के अधिकारी हैं। प्रत्येक विद्यार्थी के जीवन में सच्चरित्रता तथा लोकहित की भावनाओं को जगाना और शिक्षा के द्वारा उनके व्यक्तित्व को सुन्दर बनाना अत्यन्त आवश्यक है। पर यह तभी संभव होगा जब इसका चित्र विद्यार्थी को अध्यापक के जीवन में दिखाई दे। इतना ही नहीं, प्रत्येक अध्यापक को अपना विद्यार्थी अपनी संतान से कम प्रिय न हो और प्रत्येक विद्यार्थी के जीवन में जन्म देने वाले माता-पिता से कहीं अधिक

अध्यापक के प्रति श्रद्धा हो। इसके लिए विद्यार्थी और अध्यापक परस्पर बैठकर कुछ समय विचार-विनिमय किया करें, जिससे एक दूसरे की कठिनाइयों का भलीभाँति अनुभव हो सके।

प्रत्येक विद्यार्थी अपने आचार्य में योग्यता के साथ-साथ सहयोग तथा सद्भावना देखना चाहता है और प्रत्येक अध्यापक स्वभाव से अपने विद्यार्थीयों से श्रद्धा, विश्वास तथा सम्मान की आशा रखता है, कारण कि किसी का कर्त्तव्य ही किसी का अधिकार होता है। जब मानव-समाज में कर्त्तव्यपरायणता नहीं रहती तब अधिकार-लोलुपता बढ़ जाती है, जो विनाश का मूल है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अधिकार कर्त्तव्य का दास है। कर्त्तव्यनिष्ठ मानव के पीछे-पीछे अधिकार दौड़ता है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्यनिष्ठ में अधिकार-लोलुपता की गंध भी नहीं रहती। अधिकार की पूर्ति और अपूर्ति से ही मानव राग और क्रोध में आबद्ध होता है, जो विनाश का मूल है। सजग मानव सदैव अपनी ओर देखता है, अपनी दशा पर विचार करता है और अपनी आवश्यकता से परिचित होकर कर्त्तव्यनिष्ठ हो सफलता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है। जो नहीं करना चाहिए उसके न करने पर कर्त्तव्य-पालन सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। अकर्त्तव्य का जन्म अपनी ही भूल से होता है यह प्राकृतिक दोष नहीं है, पर यह वे ही जान पाते हैं जिन्होंने असफलता की वेदना से कर्त्तव्यनिष्ठ होकर सफलता प्राप्त की है। प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्य-पालन सहज तथा स्वाभाविक है, कारण कि वही करना है जो प्राप्त परिस्थिति में संभव हो।

कर्त्तव्य-विज्ञान को भलीभाँति जान लेने पर कर्त्तव्य-पालन में स्वाभाविकता आ जाती है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्य-विज्ञान योग-विज्ञान का पूर्व पक्ष है। अतएव प्रत्येक कर्त्तव्यनिष्ठ मानव योगवित् होकर समस्त निर्बलताओं का अन्त करने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है। यह मैं भलीभाँति जानता हूँ कि अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को बड़ी ही असुविधाएँ हैं, किन्तु प्रतिकूलताओं से भयभीत होकर कर्त्तव्यच्युत होना भी भारी भूल है। प्रतिकूलता हमें तपस्वी देखना चाहती है। तप का अर्थ आई हुई कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करना है। अतः मैं अपने प्यारे विद्यार्थियों तथा माननीय अध्यापकों से सविनय निवदेन करता हूँ कि वे अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहते हुए और बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहन करते हुए अपने कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में अथक प्रयत्नशील रहेंगे।

सद्भावना सहित

521

वृन्दावन | 6-4-1965

परम आस्तिक साधननिष्ठ प्रियवर,

.....मानसिक अशान्ति से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, कोई लाभ नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है। इस कारण विचारशील प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य मंगलमय विधान से मिल जाती है। सामर्थ्य और विवेक-विरोधी कार्य के लिए तो क्षमा ही माँगना है और रुचि-विरुद्ध कार्य को यद्यपि कोई पूरी शक्ति लगाकर नहीं कर पाता, फिर भी अपने लक्ष्य को सामने रखकर अपनी रुचि पर अपने को विजयी करना अनिवार्य हो जाता है। रुचि की दासता ने ही मानव को लक्ष्य से विमुख किया है। जब रुचि आवश्यकता में विलीन हो जाती है और उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता, तब चिरशान्ति, स्वाधीनता तथा प्रियता मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है। रुचि पर विजयी होना ही विश्वविजयी होना है, पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने मानव-जीवन के महत्त्व को अपनाकर लक्ष्य की प्राप्ति को वर्तमान जीवन की आवश्यकता स्वीकार किया है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है,.....।

मानव का मूल्य परिस्थितियों से अधिक होना चाहिए, तभी वह परिस्थिति का सदुपयोग कर सकता है। भूल ही एकमात्र अशान्ति का कारण है। शान्ति सुरक्षित रखने पर ही अपनी भूल का अपने को स्पष्ट दर्शन होता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपने अहैतुकी कृपा से उन्हीं की लीला को देखना है, सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना है। उनकी मधुर स्मृति ही अपना जीवन है.....।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

522

स्वर्गाश्रम
13-4-1965

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु का होकर रहना है। बस यही साधक का परम पुरुषार्थ है। अपनी वास्तविक आवश्यकता को अनुभव करना ही सच्चा भजन है। आवश्यकता की जागृति होने पर निर्ममता, निष्कामता, असंगता आदि दिव्य गुण स्वतः आ जाते हैं, और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। आवश्यकता अपने में जाग्रत होती है। उसका प्रभाव तन,मन आदि पर होता है। अपनी भूल से ही अपने में काम की उत्पत्ति होती है। आवश्यकता जाग्रत होने पर काम का नाश होता है और माँग की पूर्ति हो जाती है। यह मंगलमय विधान है। अपने द्वारा अपनी कमी का ज्ञान होने पर ही परम व्याकुलता जाग्रत होती है और

प्यारे प्रभु की महिमा स्वीकार करने पर ही व्याकुलता, निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता में विलीन हो जाती है और फिर स्वतः सब कुछ हो जाता है। अपनी दीनता का अनुभव और प्रभु की महिमा की अविचल आस्था स्वीकार करना ही विकास का मूल है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

सद्भावना सहित

523

गीता भवन
ऋषिकेश
9-6-1965

मेरे निज-स्वरूप परम आस्तिक प्रियवर,

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

आपने ठीक ही लिखा है कि आस्तिक साधक का, प्रार्थना ही अंतिम पुरुषार्थ है, कारण कि प्रार्थना के अनुरूप ही भावी जीवन का निर्माण होता है। यह सभी विचारशीलों को मत है कि वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है, अर्थात् आज जो आवश्यकता है वही भविष्य का जीवन है। प्रलोभन और भय शान्ति को सुरक्षित नहीं रहने देते। यद्यपि प्रलोभन से कोई लाभ नहीं होता, अपितु प्रमाद ही पोषित होता है, परन्तु हृदय की सत्यता और सुन्दरता को स्वीकार करने से और पराधीनता को जीवन मानने से मानव अपने को प्रलोभन में आबद्ध कर लेता है। प्रलोभन में आबद्ध होते ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं। भयभीत होते ही मानव प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाता। अतः प्रलोभन तथा भय से रहित होने पर ही कर्त्तव्यपरायणता आती है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर साधक स्वतः योग का अधिकारी हो जाता है, अर्थात् चित्त शुद्ध तथा शान्त हो जाता है, जिसके होते ही साधक बड़ी सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है।

प्रार्थना ही अंतिम और आरम्भिक अचूक उपाय है। पर प्रार्थना और प्रार्थी में भेद न रहे अर्थात् प्रार्थना प्रार्थी का स्वरूप हो जाय। पर यह तभी संभव होगा जब साधक अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव करे। आवश्यकता की पूर्ति होती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है।

पुनः आपको बहुत-बहुत प्यार।

सद्भावना सहित

524

बेलगांव
17-6-1965

मेरे निज-स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....श्रीहरि ही एकमात्र भयहारी हैं। उनकी अहैतुकी कृपा का

आश्रय ही शरणागतों का एकमात्र सम्बल है। अपनी निर्बलताओं का परिचय और उनके मिटाने की वेदना ही मानव का पुरुषार्थ है। उनकी महिमा को स्वीकार करना और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहना ही निर्भयता का मूल मंत्र है। हम सब उनके हैं और वे इन सबके पर सुहृदय हैं, इसे वे जानते हैं और हमें मानना है। विकल्प-रहित मान्यता स्वतः सजीव हो जाती है। जिसके होते ही साधक की श्रद्धा और साध्य के ज्ञान में एकता हो जाती है, बस यही सफलता की कुँजी है। यह सब कुछ उन्हीं का है। वे स्वयं भी उसमें मौजूद हैं। फिर भी हम उन्हें भूल जाते हैं। यही साधक की सबसे बड़ी असावधानी है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से हम साधकों को अपनी स्मृति प्रदान करें। हमारी यह माँग एक हो जाय, माँग से भिन्न अपना अस्तित्व न रह जाय, माँग की पूर्ति वर्तमान की समस्या हो जाय। बस, फिर कुछ भी प्रयास शेष नहीं रहता। माँग के जगाने में ही अपना सहज स्वभाव है। वे चाहे जैसे राखें, पर प्रत्येक दशा में वे प्यारे लगते हैं। बस, यही अपनी अन्तिम माँग है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी शरणागतों को अपनायें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!ब्

सद्भावना सहित

525

कलकता
18-7-1965

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय,

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

.....साधक के जीवन में लक्ष्य से निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। देह की आवश्यकता अनुभव करने पर देहाभिमान नाश नहीं होता। देह की आवश्यकता वही अनुभव करता है जिसे कामना-पूर्ति का सुख चाहिए। जो शान्ति तथा स्वाधीनता का पुजारी है उसे अपने लिए देह नहीं चाहिए। शान्ति और स्वाधीनता एकमात्र निर्ममता, असंगता से ही प्राप्त होती है। ये सभी बातें निज ज्ञान से साध्य है, अभ्यास से नहीं। वह ज्ञान मानव मात्र में मौजूद हैं। अतः उसका आदर करो और देहाभिमान-रहित हो जाओ।

सद्भावना सहित

526

कलकता
18-7-1965

मेरे निज-स्वरूप परम भागवत साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

जिओ, जागो, सदा सानन्द रहो।

.....प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग में ही मानव का हित है। प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सदुपयोग रहनी चाहिए। यह तभी संभव होगा जब मानव

विचारपूर्वक असंग हो जाय, अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक सर्व-समर्थ प्रभु की शरणागति स्वीकार करे। मानव को बल जगत् की सेवा के लिए और ज्ञान अपने लिए तथा श्रद्धा सर्व-समर्थ प्रभु के लिए मिली है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उदारता, असंगता एवं आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है, जिसके होते ही जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाता है...।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

527

वृन्दावन
2-8-1965

स्नेहमयी साधननिष्ठ,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

प्रत्येक परिस्थिति प्रभु के मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग मात्र में ही मानव का अधिकार है। वास्तविक जीवन सभी परिस्थितियों से अतीत है। उसकी माँग सबल तथा स्थायी हो जाने से परिस्थिति में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। सभी परिस्थितियाँ साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस कारण सभी परिस्थितियों में वास्तविक जीवन की उपलब्धि हो सकती है। पर यह रहस्य सत्संग से ही स्पष्ट होता है। सत्संग में ही मानव का परम पुरुषार्थ निहित है। इस कारण सत्संग-योजना के प्रचार तथा प्रसार के लिए विचारशील तथा हृदयशील मानव को अथक प्रयत्नशील रहना चाहिये। सफलता अवश्यम्भावी है। पुनः आपको सप्रेम अभिवादन।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

528

वृन्दावन
5-8-1965

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम उदार प्रिय,

बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

सेवा का अवसर प्रभु-कृपा से ही मिलता है। उसे कभी नहीं खोना चाहिये। सर्व-समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा का आश्रय ही शरणागत का सर्वस्व है। शरणागत के लिए जीवन में निराशा, भय, चिन्ता आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म के द्वारा उनकी पूजा करना है और प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला का दर्शन करना है और सब प्रकार से उन्हीं का होकर उनकी मधुर स्मृति को ही अपना जीवन बनाना है। प्रभु की स्मृति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। स्मृति बोध, प्रेम और प्राप्ति में समर्थ है। विस्मृति से ही मानव प्रभु से विमुख हुआ है। यह सभी को मान्य है कि प्रभु से देश-काल आदि की दूरी नहीं है। वे सदैव सर्वत्र अपने साथ है। इतना ही नहीं, हम भले ही उनकी ओर न देखें, पर वे सतत् हमें देख रहे हैं। उनकी

कृपा-दृष्टि सदैव निरन्तर रहती ही है और वही शरणागत का आश्रय है। वे अपना प्रेम प्रदान करें, यह उत्कट लालसा सदैव रहनी चाहिये।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
सद्भावना सहित

.....

529

.....

14-9-1965

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

आयी हुई कठिनाइयों को तुम तप समझ सहर्ष सहन करते रहो। भीतर से निरभिमानता और ऊपर से कार्यकुशलता बनी रहे। आस्तिक प्राणी के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। आयी हुई प्रतिकूलताओं का आदर करो, डरो मत। प्रभु के सिखाने के अनेक ढंग है। वे कभी-कभी अपने निज जनों के प्रति बड़ी ही निठुरता की लीला करते हैं, पर जो उनके सच्चे भक्त हैं वे कभी घबराते नहीं। ऊपर से और भीतर से निरन्तर उनको ही पुकारते है। भक्त के जीवन में आलस्य प्रमाद तथा व्यर्थ चिन्तन शेष नहीं रहता। उसका तन सेवा में मन प्रीति-रूपी गंगा में डूबा रहता है। उसे प्रत्येक कार्य में अपने प्रभु का ही हाथ दिखाई देता है। प्रेमास्पद की तलवार से किसी भी प्रेमी को भय नहीं होता, तो फिर उनकी दी हुई कठिनाई से घबराने की क्या बात है।

सच्चाई होने पर भी सच्चाई का अभिमान न हो। प्रेमी होने पर भी प्रीति का अभिमान न हो। सदैव यही समझना चाहिये कि प्रीति तो प्रभु करते हैं। ज्यों-ज्यों प्रेमी के सभी अभिमान गलते जाते हैं त्यों-त्यों प्रेमास्पद स्वयं प्रेमी बनते जाते हैं। हमारे और उनके बीच में केवल अभिमान का ही पर्दा है। उसे व्याकुलता की अग्नि में जला दो, बस बेड़ा पार है।

सभी प्रेमीजनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करना। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
सद्भावना सहित

530

.....

23-9-1965

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

सत्संग ही साधक का परम पुरुषार्थ है। असाधन का नाश, साधन की अभिव्यक्ति तथा साधन और जीवन की एकता एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग की स्वाधीनता मानव को जन्मजात है। मानव अपनी ही भूल से अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियों में आबद्ध हो जाता है। पर-चर्चा और पर-चिन्तन से विमुख होने पर मानव अपनी ओर देखने में समर्थ होता है। अपनी ओर देखने से अपनी भूल का बोध होता है। जब साधक

अपनी भूल से पीड़ित होने लगता है, तब सर्व-समर्थ की अहैतुकी कृपा स्वतः भूल-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करती है और फिर साधक सत्संगी होकर साधन-निष्ठ बन कृतकृत्य हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान में अविचल आस्था रखनी ही वास्तविक आस्तिकता है। विधान के अधीन रहने में ही सफलता निहित है। विधान में विश्वास न करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। सफलता से निराश होना विधान का अनादर है। सफलता साधक का जन्मजात अधिकार है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

आप सभी महानुभाव सत्संगी होकर साधन-निष्ठ हो जायँ, यही मेरी सद्भावना है।

सद्भावना सहित

531

कानपुर
3-10-1965

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम उदार प्रियवर,

बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

विधि का विधान अमिट है। इसमें किसी का वश नहीं है। यद्यपि प्रत्येक घटना प्राकृतिक न्याय है, परन्तु सज्जनों का वियोग दुःखद ही होता है। दुःख का प्रभाव मानव के विकास की भूमि है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सजग होकर अपनी ओर देखे।

बड़ों के प्रति श्रद्धा करने से आयु, तेज बढ़ता है। कर्त्तव्य-पालन करने से अपना विशेष हित होता है। इसी कारण मानव का अधिकार केवल कर्त्तव्य-पालन में है, अधिकार में नहीं। इस धर्म-विज्ञान के अनुरूप जीवन हो जाने पर मानव बड़ी सुगमतापूर्वक राग-रहित होकर योगवित् हो जाता है। कर्त्तव्य-पालन का उत्तर पक्ष योग है, भोग नहीं। इसी कारण कर्त्तव्यनिष्ठ मानव अपने अधिकार का त्याग करते हैं। इतना ही नहीं, अधिकार कर्त्तव्य का दास है। अधिकार-लालसा को रखकर किया हुआ कर्त्तव्य मानव को राग तथा क्रोध में आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

532

हरदोई
9-10-1965

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम उदार.....

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

यह आपको विदित ही है कि मुझे कार्यक्रम बनाने की स्वाधीनता नहीं है। यहाँ तक कि कभी-कभी पत्र लिखने

में भी उतनी स्वाधीनता नहीं रहती, जितनी पसंद करता हूँ। वैसे तो प्रवृत्ति में कोई भी स्वाधीन नहीं है। स्वाधीनता एकमात्र सहज निवृत्ति तथा शरणागति में ही है। प्रवृत्ति मात्र पराधीनता का प्रतीक है। अन्तर केवल इतना है कि जो प्रवृत्ति परिस्थिति के अनुसार दूसरों के संकल्प की पूर्ति में होती है उसमें सुविधा रहती है। प्रमादवश मानव सुविधा को स्वाधीनता मान लेता है। वास्तव में तो प्रवृत्ति में प्राणी पराधीन ही है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने संकल्प-पूर्ति-काल में भी पराधीनता का स्पष्ट दर्शन किया है। सामर्थ्य और विवेक के अनुसार ही हुई प्रवृत्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। कर्त्तव्यपरायणता जीवन का एक भाग है, अर्थात् योग-प्राप्ति का पूर्व पक्ष है। वह भी तब, जब कर्त्तव्य-पालन में ही अपना अधिकार स्वीकार करे, उसके बदले में किसी प्रकार की आशा न करे, यहाँ तक कि यह सुनने की भी रुचि न रखे कि आपने ठीक कर्त्तव्यपालन किया। तब तो कर्त्तव्यनिष्ठ होकर मानव संसार के ऋण से मुक्त हो देहातीत जीवन का अधिकारी होकर समता में वास करता है और फिर प्रभु-प्रेम को सुगमतापूर्वक प्राप्त कर लेता है, जो मेरे जानते मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

प्रभु-प्रेम की प्राप्ति किसी श्रम-साध्य उपाय से सम्भव नहीं है। सब ओर से विमुख होकर एकमात्र शरणागति में ही प्रभु-प्रेम की प्राप्ति निहित है। प्रेम किसी अभ्यास का फल नहीं है, अपितु आत्मीयता से ही जाग्रत होता है। आत्मीयता स्वीकार करने के लिए अन्य सभी ममताओं, कामनाओं, विश्वासों तथा सम्बन्धों को सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है। एकमात्र सभी के परम सुहृद प्यारे प्रभु में ही आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना अनिवार्य होता है। अन्य विश्वास, अन्य संबंध के त्याग से ही प्रभु विश्वास सजीव होता है, जो अखण्ड स्मृति में हेतु है। यह मानव मात्र को विदित है कि जो कुछ प्रतीत होता है, अथवा जिसे हम अपना कहकर मानते रहे हैं, वह वास्तव में अपना नहीं है। अपना वही है जो अपने में सदैव मौजूद है। बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जो अपना है, अपने में है उसमें आस्था-विश्वास नहीं करते और जिस पर अपना अधिकार ही नहीं है उसी का आश्रय लेकर दुःख-निवृत्ति, चिर-शान्ति, स्वाधीनता आदि जो वास्तविक माँग है उसे पूरा करना चाहते हैं। इस भूल ने हमें अपने में अपने को पाने नहीं दिया। मानव प्रीति और वे प्रियतम हैं। प्रीति का प्रियतम से और प्रियतम का प्रीति से अविभाज्य सम्बन्ध है। इस नित्य सम्बन्ध की विस्मृति ने ही हमें पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि में आबद्ध किया है, जिसकी निवृत्ति एकमात्र सत्संग से ही संभव है। सत्संग मानव का स्वधर्म है। स्वधर्म-पालन की स्वाधीनता मानव को अपने रचियता से जन्मजात प्राप्त है। जो अपना नहीं है उससे सम्बन्ध तोड़ना और जो अपना है उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार

करना ही वास्तव में सत्संग है, ऐसा मेरा अनुभव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

533

.....

9-10-1965

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम आस्तिक प्रियवर,

सादर प्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

जब साधक अपने साध्य को अपने से भिन्न में खोजता है, तब उसे प्रेमास्पद के पाने में देर होती है, किन्तु जब अपने में ही अपने प्रियतम को स्वीकार करता है, तब उसे वर्तमान में ही अपने प्रेमास्पद का साक्षात्कार होता है और वह सदा के लिए उनकी प्रीति होकर उनको रस प्रदान करता है। जिससे देश-काल की दूरी है ही नहीं वह अपने ही में है। जो अपने ही में है उसे पाने के लिए अपने को समर्पित करना होगा, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा और विश्वास से ही सम्भव है। श्रद्धा-पथ के साधक में किसी अन्य की आस्था की गंध ही नहीं रहती। अन्य विश्वास तथा सम्बन्ध ने ही प्रेमियों को प्रेमास्पद से विमुख किया है। प्रेमास्पद की विस्मृति हुई है, उनसे दूरी नहीं हुई। इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते तथा मानते हैं। उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लेते ही यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है। हम किसी और के नहीं हैं, कोई और हमारा नहीं है, यह अनुभव हमें आस्था-श्रद्धा-विश्वास प्रदान करता है। यदि कोई और हमारा होता, तो हमारे बिना किसी प्रकार भी नहीं रहता। पर क्या बतायें, जिस शरीर को हम अनेक जन्मों तक अपना कहते रहे वह भी अपना न हो सका, तो फिर जो सदैव हैं वे ही अपने हैं। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है-यही सच्चा भजन है। उनके नाते सभी को आदर देना है, सभी की यथाशक्ति सेवा करनी है-यही शरणागत की पूजा है। उनकी महिमा ही अपना बल है, उनका आश्रय ही अपना जीवन है। वे सभी साधकों को अपनायें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

532

पटना
6-1-1966

मेरे निज-स्वरूप परम उदार,
साधननिष्ठ,

मैं भलीभाँति जानता हूँ कि आपके सामने प्रतिकूल परिस्थिति का पहाड़ है। फिर भी आप धीर हैं, गम्भीर हैं, विचारशील तथा श्रद्धावान साधक हैं। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए सदैव सजग रहेंगे और आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सर्व-समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से अभय तथा निश्चिन्त रहेंगे। इतना ही नहीं, आत्मीयता से जागृत मधुर स्मृति को ही अपना सर्वस्व स्वीकार करेंगे, कारण कि प्रेमास्पद की मधुर स्मृति में ही रसरूप जीवन है। नीरसता, भय तथा चिन्ता का अत्यन्त अभाव तभी तक हो सकता है, जब हृदय में आत्मीयता से उदित नित-नव प्रियता का प्रवाह उत्तरोत्तर बढ़ता रहे। यह सर्वमान्य सत्य है कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन सामग्री से भिन्न कुछ नहीं है। परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य मानव को अपने रचयिता से स्वतः प्राप्त है। किन्तु जब प्रमादवश मानव परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है तब परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होकर भयभीत तथा चिन्तित हो जाता है। इस कारण विचारशील तथा श्रद्धावान साधक परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करते और अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन को पाकर कृतकृत्य हो जाते है। पुनः बहुत-बहुत प्यार।

सदभावना सहित

.....

533

रांची

14-2-1966

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत स्नेह।

जो होना है वही होता है। सामर्थ्य से अधिक कार्य करने पर विस्मृति होने लगती है। यदि कार्य के आरम्भ से पूर्व और अन्त में शान्त रहने का स्वभाव बना लो, अर्थात् शान्ति में ही कार्य का आरम्भ हो और शान्ति में ही अन्त हो तो आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। ऐसा प्राकृतिक विधान है।

रुचि और माँग दोंनो अपने में हैं। रुचि के सबल होने पर माँग शिथिल हो जाती है और माँग के सबल होने पर रुचि का नाश हो जाता है। फिर अपने आप कर्त्तव्यपरायणता, उदारता, समता, प्रियता से माँग की जाग्रति में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। रुचि-पूर्ति की पराधीनता को स्वीकार करने से ही माँग की विस्मृति होती है, जो अवनति का मूल है। कर्त्तव्यपरायणता माँग की जागृति और पूर्ति में सहायक हैं, बाधक नहीं।

कर्त्तव्य की फलासक्ति साधक को व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध करती है। इस कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए निष्काम होना अनिवार्य है। निर्मम होने पर ही निष्काम होने की सामर्थ्य आती है। जिसे किसी प्रकार की पराधीनता सहन नहीं होती वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निष्काम हो जाता है। निष्काम होते ही जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार का उदय, कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक सामर्थ्य और प्रेम प्राप्ति के लिए भगवत्-स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। अतः निष्कामता में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

सभी सत्संग-प्रेमियों को सप्रेम हरिस्मरण एवं बहुत-बहुत मधुर स्नेह निवेदन करें। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

सद्भावना सहित

534

राँची

23-2-1966

स्नेहमयी साधननिष्ठ,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार। दूसरों से कुछ भी आशा करने पर जो निराशा मिलती है, उसी के फलस्वरूप रोना आता है। कभी भी किसी से न्याय तथा प्रेम की आशा नहीं करनी चाहिये, अपितु स्वयं अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति उदारता तथा प्रियता का व्यवहार करना चाहिये। अपना सम्मान तथा शान्ति सुरक्षित रखने में दूसरों से आशा करना प्रमाद ही है। शान्ति निष्कामता में और सम्मान असंगता में है। ये दोनों ही बातें निज ज्ञान के प्रभाव से सिद्ध होती हैं, अर्थात् जब साधक स्वयं अनुभव करता है कि मुझे स्वाधीन होकर सभी के लिए उपयोगी होना है तभी क्षोभरहित होकर शान्ति पाता है। अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव करो। यह तभी सम्भव होगा जब विश्राम में अविचल आस्था हो जाय। किसी भी श्रम-साध्य उपाय से कोई भी साधक कभी भी अपने में सन्तुष्ट नहीं हो सकता और उसके बिना हुए नित्य प्राप्त प्रेमास्पद का बोध नहीं होता। अबोध-काल में ही शरीर से तादात्म्य उत्पन्न होता है और फिर प्राणी मान-अपमान की दासता में आबद्ध हो जाता है। आप किसी भी काल में देह नहीं है और न किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार है।

मिली हुई वस्तु कर्म-सामग्री है, और कुछ नहीं। उसके द्वारा यथाशक्ति दूसरों के अधिकारों की रक्षा हो सकती है, किन्तु मिले हुए शरीर, वस्तु आदि से अपने को कुछ नहीं मिलता। अपनी माँग की पूर्ति तो एकमात्र चिर-विश्राम में ही है। श्रम के द्वारा सम्मानित होने की पराधीनता हमें स्वाधीन नहीं रहने देती। श्रम एकमात्र संग्रह का प्रायश्चित है। जो कुछ मिला हुआ सा प्रतीत होता है वह अपने लिए नहीं है। उसके द्वारा परिवार, समाज, संसार की सेवा करना है। पर जो मौजूद है, नित्य प्राप्त है उसमें प्रियता का

उदय होना ही स्वाधीन होना है। प्रियता से प्राप्त को और उदारता से संसार को रस मिलता है। मानव को एकमात्र सभी को रस देना है। अतः प्रियता तथा उदारता को जगाना है, जो एकमात्र विश्राम-पूर्वक अपने में सन्तुष्ट होने से ही संभव है। रोना जिसमें दिखाई देता है वह तुम नहीं हो। जब दृश्य से तादात्मय नहीं रहता तब अपने आप अपने में प्रियता उदय होती है। अतः दृश्य से विमुख होकर नित्य प्राप्त में सन्तुष्ट हो जाने से ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जायेंगी। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

535

.....

20-3-1966

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करती हुई उन्हीं की प्रीति होकर रहो, यही मेरी सद्भावना है। तुम सहज भाव से सखियों के साथ प्रिय-चर्चा तथा उनका गुणगान किया करो, जिससे तुम्हारी सभी सखियाँ प्रेमास्पद की महिमा को अपनाकर उनकी प्रीति की अधिकारिणी हो जायँ। तुम्हारे गुरु ने तुम्हें निर्मल प्यार दिया है। तुम अपने गुरु की सेवा समझकर निज सखियों को प्यारे की महिमा श्रवण कराती रहो। ऐसा करने से तुमपर सतत गुरु-कृपा बरसती रहेगी। गुरु की कृपापात्र से लक्ष्य की प्राप्ति होती है, ऐसा मेरा अनुभव तथा विश्वास है। जो सेवा तुम्हें मिली है, उसे प्रीति जगाने के भाव से करती रहो। सेवा का अन्त प्रीति में ही होता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

इतना ही नहीं, प्रीति का क्रियात्मक रूप सेवा ओर सेवा का अन्त प्रीति ही है। प्रीति ने प्रियतम से भिन्न को देखा ही नहीं। प्रीति और प्रियतम के नित्य विहार में ही रसरूप जीवन है। प्रीति का दान वे ही साधक दे पाते हैं जिन्हें कभी भी कुछ नहीं चाहिये, जिनके पास अपना करके कुछ है ही नहीं। और प्रीति का पान एकमात्र सर्व-समर्थ ही कर पाते हैं। तुम प्रीति होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करो और गुरुदेव की आज्ञानुसार सब प्रकार से अपने प्रेमास्पद की होकर ही रहो। तन, मन, प्राण आदि सभी पर प्यारे की मोहर लग जाय। तुम्हें सब कुछ उन्हीं का दिखाई दे। इतना ही नहीं। यही तुम्हारे गुरुदेव का महावाक्य है। अपने गुरुदेव के इस महावाक्य में अविचल आस्था करो। सफलता अवश्यम्भावी है। प्रत्येक दशा में शान्त तथा प्रसन्न रहकर गुरु-आज्ञा का पालन करती हुई सेवा तथा प्रियता में रत रहो। सहजोबाई ने कितनी सुन्दर बात कही है-

मत मन हरि सौं प्रीति कर,
हरिजन सौं कर हेत।

माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरि ही देत॥

हरि की प्रीति के लिए गुरु-भक्ति के सिवाय और कोई अचूक उपाय नहीं है। तत्त्व-दृष्टि से तो सर्वदा श्री हरि ही हैं। उनसे दूरी, भेद, भिन्नता की गन्ध भी नहीं है। परन्तु गुरुवाक्य को अपनाकर ही साधक विद्यमान हरि की प्रीति होकर उन्हें रस प्रदान करता है, जो मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

536

25-3-1966

मेरे निज-स्वरूप परम आस्तिक भगवत्परायण प्रियवर,

मानव सेवा संघ साधकों का संघ है। यह मान्यता प्रत्येक आश्रमवासी के जीवन में अविचल भाव से रहनी चाहिए। साधक वही है जो सदैव सजगतापूर्वक अपनी ओर देखता है और आत्मनिरीक्षण द्वारा भूल-रहित होने का अथक् प्रयास करता है, जो अपना समय सार्थक चिन्तन तथा सेवा में ही व्यतीत करता है, जो साध्य की उपलब्धि के लिए सतत आकुल तथा व्याकुल रहता है और जो प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्त होकर प्रिय की स्मृति को जगाता है, अर्थात् स्मृति ही जिसका जीवन हो जाती है। कार्य तो वह केवल मिले हुए बल के सदुपयोग के लिए करता है अथवा समाज के ऋण से मुक्त होने के लिए करता है। साध्य की अखण्ड स्मृति में ही जीवन है। स्मृति जगाने के लिए, साधक को सब ओर से विमुख होकर जीवन ही में मृत्यु का अनुभव करना है, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रखना है, तभी नित्य सम्बन्ध की स्मृति उदित होती है। साधक महानुभाव विचार करें कि उनके जीवन में सजगता का कितना स्थान है। सजग होने में ही जीवन है।

मानव-दर्शन पर आधारित मानव सेवा संघ ने साधक-समाज को यह परामर्श दिया है कि जिससे जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है उसकी अखण्ड स्मृति और जिससे माना हुआ सम्बन्ध है उसकी सेवा अनिवार्य है। प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा है और प्रवृत्ति के अन्त में अखण्ड स्मृति स्वाभाविक होनी चाहिये। व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि सेवा कार्य नहीं हैं तो दीवार को मत ताकते रहो। सेवा के अन्त में इन्द्रियों का दरवाजा स्वतः बन्द हो जाना चाहिये। तभी मन निर्विकल्प तथा बुद्धि सम होगी, जिसके होते ही आवश्यक सामर्थ्य, विचार का उदय तथा प्रीति की जागृति होती है। अब साधक महानुभाव विचार

करें कि अनावश्यक तथा व्यर्थ चेष्टाओं का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। व्यर्थ चेष्टाओं का नाश होते ही आवश्यक कर्त्तव्य कर्म स्वतः होने लगता है और फिर कार्य के अन्त में नित्ययोग की उपलब्धि हो जाती है। कर्त्तव्य का अन्त योग में और योग, बोध तथा प्रेम में परिणत हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता योग की भूमि है, जो एकमात्र, जो नहीं करना चाहिए उसके न करने से ही साध्य है ।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

537

बेलगांव
26-3-1966

मेरे निज-स्वरूप परम उदार साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

शरणागत की दृष्टि में किसी और का अस्तित्व ही नहीं रहता। वह अनेक रूपों में अपने शरण्य को ही पाता है और प्रत्येक घटना में उन्हीं का दर्शन करता है। शरणागत अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता और निरन्तर उनकी महिमा का ही गुणगान करता है। उनकी महिमा को अपनाकर सदा के लिए अभय हो जाता है। शरीर, परिवार, समाज, संसार में स्वरूप से एकता है। इस कारण सभी के प्रति सद्भावना अनिवार्य है। प्रभु के नाते सभी की सेवा करनी है। पर अपना सम्बन्ध एकमात्र शरणागतवत्सल भयहारी प्रभु से ही है, अर्थात् वे ही अपने हैं और यह सब कुछ उन्हीं का है। उनकी दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से प्राप्त परिस्थिति का निष्काम भाव सदुपयोग करना है। यह तभी सम्भव होगा जब आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर जी जाय। जब वे ही अपने हैं और सब कुछ उनका है, तो फिर भय तथा चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है? इतना ही नहीं, उनकी आत्मीयता स्वीकार करते ही निर्ममता, निष्कामता, असंगता अपने आप सिद्ध हो जाती है। समस्त विकारों का स्वतः नाश हो जाता है। उनकी मधुर स्मृति अपने आप होने लगती है। उनकी पूजा से भिन्न और कुछ रह नहीं जाता, अर्थात् पूजा करते है और स्मृति रहती है। यही शरणागत का जीवन है। शरणागत सब प्रकार से उन्हीं का हो जाता है। उसका कोई और नहीं रहता और न वह किसी और का रहता है। उनकी महिमा को अपनाकर उनका होकर रहना है। यही महामंत्र है सोई हुई स्मृति को जगाने का।

स्मृति में ही जीवन है। स्मृति ही प्रीति और प्राप्ति में परिणत होती है। स्मृति शरीर-धर्म नहीं है। अपने में अपने की स्मृति उदय होती है। उसका प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि पर स्वतः

होता है। इतना ही नहीं, जब अपने में स्मृति जाग्रत होती है तब इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सब ओर से विमुख होकर स्मृति में विलीन हो जाते हैं और फिर सर्वत्र सर्वदा सभी में उन्हीं का दर्शन होने लगता है। किन्तु स्मृति जब तक प्रियता में परिणत न हो जाय तब तक सन्तोष नहीं होता। प्रियता शरणागत का जीवन है, कारण कि प्रियता से ही दूरी, भेद, भिन्नता का नाश होता है और फिर वास्तव में माँग की पूर्ति हो जाती है।

सर्व-समर्थ प्रभु से ही शरणागत की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है और प्यारे प्रभु ही उसके अपने हैं। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है और अपने में अपनी स्मृति स्वतः होती है। अपनत्व का उपयोग एकमात्र प्रेम की जागृति में ही है। अपनत्व में विकल्प न हो, यही शरणागत का प्रयास है। जो कुछ मिला हुआ-सा प्रतीत होता है वह किसी भी काल में अपना नहीं है कारण कि प्रवृत्ति के अन्त में किसी ने कुछ पाया नहीं। सहज निवृत्ति में जो प्रगति है वही साधक को साध्य से अभिन्न करती है। जो करना चाहिए तथा जो कर सकते हैं वही पूजा है। पूजा पूज्य की स्मृति जगाने में समर्थ है, अथवा प्रभु के नाते जो किया जाता है वही पूजा है। आत्मीयता से पूजा और पूजा से प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहो और उन्हीं के नाते प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का सदुपयोग करो। उनकी मधुर स्मृति में ही जीवन है। उसी की माँग निरन्तर बढ़ती रहे, यही मेरी सद्भावना है। माँग की पूर्ति अवश्य होती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

538

बेलगांव
27-3-1966

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

.....मानव जन्मजात साधक है। साधननिष्ठ होने की स्वाधीनता उसे उसके रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रदान की है, मानव अपनी लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। लक्ष्य में निराशा होना भारी भूल है। उसका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है। सत्संग मानव का स्वधर्म है, कारण कि सत्संग का सम्पादन अपने द्वारा संभव है। उसके लिए किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा नहीं है। विचारशील साधक निज विवेक के प्रकाश में निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर सत्संगी हो जाता है और हृदयशील साधक आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक शरणागत होकर सत्संगी हो जाता है।

भक्तों की वाणी में अविचल आस्था करने पर प्रभु-विश्वास की उपलब्धि होती है। सभी भक्तों ने प्रभु की महिमा को स्वीकार किया है। अतः भक्तों की वाणी में आस्था करने प्रभु-विश्वास का मानव अधिकारी हो जाता है। प्रभु-विश्वास का उपयोग प्रभु-प्रेम की प्राप्ति में ही होना चाहिए, कारण कि प्रेम की प्राप्ति किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। विश्वास के द्वारा विश्वासी प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करता है और आत्मीयता से अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। सर्व-समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा ने ही मानव का निर्माण किया है। इस कारण मानव प्रभु को अत्यन्त प्रिय है। यदि मानव प्रभु की इस महिमा को अपना ले तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक शरणागति सजीव हो जाती है। साधक मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करते, अपितु सर्व-समर्थ प्रभु से भिन्न किसी अन्य में श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता नहीं करते, केवल प्रभु को ही अपना मानते हैं और सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहते हैं और उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भावना रखते हैं। इतना ही नहीं, किसी अन्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न और कोई है ही नहीं। शरणागत ने सभी में अपने प्रभु को ही देखा है। इस कारण शरणागत प्रभु को अत्यन्त प्रिय है। अपने सभी संकल्प सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

539

गीता भवन
6-4-1966

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

कर्त्तव्य-विज्ञान सर्वतोमुखी विकास का मूल है। पर यह वास्तविकता वे ही मानव अनुभव करते हैं जिन्होंने कर्त्तव्यनिष्ठ होकर दूसरों के अधिकारों की रक्षा की है। कर्त्तव्यपरायणता एकता तथा विश्वशान्ति का अचूक उपाय हैं। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग ही एकमात्र कर्त्तव्य का स्वरूप है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, कारण कि जो कर सकते हैं, वही करना है। जो नहीं करना चाहिये उसके न करने पर जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। कर्त्तव्यपालन में अस्वाभाविकता की गन्ध भी नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब अकर्त्तव्य का सर्वांश में अन्त कर दिया जाय। अकर्त्तव्य के साथ साथ किया हुआ कर्त्तव्य कर्ता में द्वन्द्व उत्पन्न करता

है। प्रत्येक कर्ता में कर्त्तव्य का ज्ञान और उसकी सामर्थ्य विद्यमान है, कारण कि कर्त्तव्य कर्ता का ही चित्र है। प्राकृतिक नियमानुसार अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान मानव मात्र में स्वभाव से मौजूद है। समस्त बुराइयों का मूल अपनी ही भूल है। अपनी भूल का अनुभव अपने को बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। परन्तु अपनी भूल जानने के लिए कार्य के आरम्भ से पूर्व शान्त होना अनिवार्य है।

शान्ति सामर्थ्य की जननी है, अर्थात् शान्ति के सम्पादन से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। इस विधान में अविचल आस्था रखना मानवमात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शान्ति का सम्पादन करने के लिए सामर्थ्य तथा विवेकविरोधी कार्यों का त्याग परम आवश्यक है। जब मानव उन सभी कार्यों का त्याग कर देता है जो नहीं करना चाहिए तब अपने आप अपने कर्त्तव्य का यथेष्ट बोध हो जाता है। अधिकार स्वतः प्राप्त होता है। किन्तु सजग मानव प्राप्त अधिकार कर्त्तव्य का ही दास है अर्थात् कर्त्तव्य-पालन करने पर अधिकार का भोग नहीं करते, अपितु कर्त्तव्य-पालन में ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

जब मानव किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मान लेता है तब अपने कर्त्तव्य की भावना स्वतः जाग्रत होती है। यह सभी को विदित है कि शरीर और विश्व का अविभाज्य सम्बन्ध है। यदि शरीर को अपना मानते हो तो सभी को अपना मानना अनिवार्य है। अपना मानने का अर्थ है कि अपने द्वारा किसी की क्षति न हो। सेवा चाहे जिसकी करें किन्तु हानि किसी की भी न करें। तभी मानव विश्वशान्ति में सहयोग दे सकता है। किसी को क्षति पहुँचाकर किसी की सेवा करना भारी भूल है। इतना ही नहीं, जो विकास किसी के विनाश से होता है वह परिणाम में अहितकर ही सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, दूसरों के साथ जो कुछ किया जाता है वह कालान्तर में कई गुना अधिक अपने प्रति होने लगता है, यह प्राकृतिक विधान है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। सर्वांश में अकर्त्तव्य का अन्त किये बिना जीवन कर्त्तव्यनिष्ठ हुए बिना जीवन उपयोगी नहीं होता। इस कारण कर्त्तव्य-पालन के लिए सर्वदा अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। परस्पर संघर्ष का अन्त करने के लिए दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना और अपने को अधिकार--लोलुपता से मुक्त रखना अत्यन्त आवश्यक है। इस महामंत्र को अपनाकर मानव राग और क्रोध से रहित हो जाता है। राग मानव को पराधीनता में आबद्ध करता है। पराधीन प्राणी में उदारता, समता और प्रियता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। उदारता के बिना विश्वशान्ति और समता के बिना सर्व दुःखों की निवृति और प्रियता के बिना रस की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। शान्ति, दुख-निवृति तथा रस-रूप जीवन की माँग मानव-मात्र की

अपनी माँग है इस दृष्टि से राग-रहित होना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। विद्यमान राग की निवृति एकमात्र कर्त्तव्यपालन से ही होती है। इस कारण निकटवर्ती प्रियजनों तथा समाज, देश, विश्व आदि के अधिकारों की रक्षा करना परम अनिवार्य है। मानव एकमात्र दूसरों के अधिकारों का पुंज है, और कुछ नहीं। इस कारण उसे सभी के अधिकारों की रक्षा करनी है। अपने अधिकार के त्याग से क्रोध का नाश हो जाता है। जिसके होते ही अपने कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की, जगत् के प्रकाशक की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। कर्त्तव्य की स्मृति में समता और सभी के प्रकाशक तथा आश्रय की स्मृति में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। उदारता, समता और प्रियता की अभिव्यक्ति में ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। इस कारण सभी के अधिकारों की रक्षा करते अपने अधिकार का त्याग करना अनिवार्य है। सर्वसमर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव जाति को कर्त्तव्यनिष्ठ बनायें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

540

स्वर्गाश्रम
16-4-1966

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत स्नेह।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। यह जानकर कि तुम्हारा सर्वहितकारी पावन शरीर लो ब्लड प्रेशर और डाइबिटीज से पीड़ित है, हृदय करुणित हो उठा। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें प्रतिकूलताओं के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे तुम साधननिष्ठ होकर मानव-जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाओ, यही मेरी सद्भावना है।.....आँख के आपरेशन के बाद धूप, धुँआ, धूल और अधिक बोलने से अपने को बचाएँ। ऐसा करने से आँख को बहुत लाभ होगा। लो ब्लड प्रेशर में खुराक ठीक खानी चाहिए। किन्तु डाइबिटीज होने से तुम खा नहीं पाते। मेरे जानते कुछ दिन जामुन की गुठली और गुड़मार बूटी, इन दोनों का सम भाग लेकर दूध के साथ खा लिया करो। मात्रा के सम्बन्ध में किसी वैद्य से परामर्श ले लेना। छैना, छाछ आदि का आवश्यकतानुसार सेवन करना चाहिए। वेजीटेबिल भी प्रतिदिन खुराक में खूब होनी चाहिए। भोजन सुपच हो। पाचन-क्रिया ठीक होने से डाइबिटीज और लो ब्लड प्रेशर दोनों को लाभ होगा। ऐसा मेरा विश्वास है। मस्तिष्क में शान्ति रहने से भी अधिक लाभ होगा। शारीरिक

श्रम सामर्थ्य के अनुरूप ही होना चाहिए।
ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

541

20-4-1966

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाकर सत्संगी होकर जीवन को सार्थक कर लेते हैं। इस कारण सर्व-प्रथम मानव-मात्र को सत् का संग करना अनिवार्य है। सत्संग से ही अविनाशी, स्वाधीन, रसमय, चिन्मय जीवन की उपलब्धि होती है। इसी वास्तविक माँग की पूर्ति के लिए सर्व-समर्थ प्रभु ने अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन प्रदान किया है। यह सुनहरा अवसर व्यर्थ न जाने पावे, इसके लिए सतत् प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है। सफलता अवश्य होगी, कारण कि इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वाधार परम सुहृद प्यारे प्रभु ने मानव-जीवन दिया है। प्रभु के इस संकल्प में हमें अपने सभी संकल्प विलीन कर देना है। वे ही एकमात्र अपने हैं, अपने में हैं, सदैव हैं। सब प्रकार से उन्हीं का हो जाना है और प्रत्येक कर्म के द्वारा उन्हीं की पूजा करनी है। उन्हीं की मधुर स्मृति अपना जीवन है। स्मृति ही एकमात्र योग, बोध और प्रेम की जननी है। अपने को अपने में स्मृति स्वयं जाग्रत होती है। इस वास्तविकता को अपनाना अत्यंत आवश्यक है। जिसका सम्पादन 'स्व' के द्वारा होता है, वही सत्संग है। उसकी स्वाधीनता परम प्रेमास्पद ने मानवमात्र को दी है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। अतः सत्संगी होकर सभी को सफलता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाना चाहिए। यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा

542

8-5-1966

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय.....

साधक का आत्मीय सम्बन्ध सर्वाधार सर्वान्तर्यामी सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु से ही है और माना हुआ सम्बन्ध जगत् से। जिनसे आत्मीय सम्बन्ध है उनमें प्रियता और जिससे माना हुआ सम्बन्ध है उसकी सेवा साधक का सहज स्वभाव है। जब साधक ने शरीर से ही सम्बन्ध तोड़ दिया तो फिर व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखने की तो बात ही नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। अनुकूलता तथा प्रतिकूलता एवं भले और बुरे का भास केवल शरीर में अहं-बुद्धि स्वीकार करने पर ही होता है। वास्तव में सत्ता-रूप से तो एकमात्र सर्व-समर्थ हरि ही हैं और प्रतीति-मात्र जगत् है। जगत् से मिली वस्तु के द्वारा जगत् की

सेवा सहज भाव से करना है और अपने में अपने प्रेमास्पद की अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता स्वतः होनी चाहिये, क्योंकि आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करते ही अपने आप मधुर स्मृति जाग्रत होती है।

साधक को केवल सत्संग करना है, साधन स्वतः होता है। तभी साधन और जीवन में भेद नहीं रहता, अर्थात् जीवन साधन हो जाता है। मानव का अविभाज्य सम्बन्ध जगत्पति तथा जगत् से है। इस कारण जगत्पति में प्रियता और जगत् के प्रति उदारता स्वाभाविक रहनी चाहिये, जो एकमात्र समता से ही साध्य है। समता की उपलब्धि निज ज्ञान के प्रभाव से निर्मम, निष्काम तथा असंग होने पर ही होती है, जो वास्तव में सत्संग है। आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भक्तों की वाणी के आधार पर सर्व-समर्थ प्रभु से आत्मीयता स्वीकार करना भी सत्संग है। प्यारे प्रभु से भिन्न कोई और अपना नहीं है। उन्हीं से जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध एवं आत्मयीता है। उन्हीं के नाते मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा उदारतापूर्वक प्रियजनों की क्रियात्मक और समस्त जगत् की भावात्मक सेवा करनी है। अपने को जगत् से कुछ नहीं चाहिये। जगत्पति का प्रेम तथा जगत् की सेवा साधक का सहज स्वभाव है। इस वास्तविकता में अविचल श्रद्धा-विश्वास करो और सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो। शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि पर उन्हीं की मोहर लगा दो। उत्तरोत्तर-प्रियता बढ़ती रहे। प्रियता वास्तव में क्षति, पूर्ति, निवृत्ति से रहित नित-नव है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब अपने में अपना करके कुछ न रह जाय। जगदाधार तथा उनकी लीला का ही दर्शन होता रहे, अर्थात् लीला और लीलामय से भिन्न कुछ है ही नहीं। लीला देखती रहो,प्रियता बढ़ती रहे। बस, यही जीवन की सार्थकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

543

20-5-1966

मेरे निज-स्वरूप परम भागवत प्रियवर,

सप्रेम सादर हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

पत्र द्वारा समाचार मिला। यदि कोई साधक सेवा करना चाहता है तो उससे दो मत नहीं हैं। सेवा कहीं की जाय, किसी भी प्रकार की जाय, किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि क्रियात्मक सेवा उसी अंश में की जा सकती है जिस अंश में साधक सुखी हो। जब आप स्वयं अपनी परिस्थिति के अनुसार विचार कीजिये कि किस अंश में क्या सेवा कर सकते हैं। दुष्काल की विपत्ति प्रकृति के क्षोभ से आती है। उसका निवारण बाह्य उपचार से सर्वांश से सिद्ध नहीं होता। इतना ही नहीं, कुछ लोग तो आत्मख्याति तथा

लोकरंजन से प्रेरित होकर सेवा की धूम मचाते तथा गीत गाते हैं। कुछ लोग सही अर्थ में परपीड़ा से पीड़ित होकर सेवा करते हैं। इतना ही नहीं, साधक को देख-देखी नहीं करनी चाहिये। जिससे अपना हृदय व्यथित हो उस सेवा को अवश्य करना चाहिये। वास्तव में तो सेवा समर्थ का स्वागत तथा सेवक का जीवन है। अकाल-पीड़ित भाई-बहिनों की व्यथा से व्यथित होकर प्रत्येक मानव को सप्ताह में कम से कम एक दिन का उपवास अवश्य करना चाहिये और जो अर्थ से सम्पन्न हैं उन्हें अर्थ द्वारा सेवा करनी चाहिये। जनता-जनार्दन से मिले हुए अर्थ के उपयोग के लिए स्वयं जाकर तन-मन से सेवा करनी चाहिये।

यदि मानव-समाज व्यथित हृदय से करुणासागर को पुकारे तो प्रकृति का क्षोभ मिट सकता है और दुष्काल सुकाल में बदल सकता है। पर इस ओर तो आज दृष्टि ही नहीं जाती। जग की सहायता से जग की समस्याओं का सर्वांश में समाधान नहीं होता। करुणासागर जगदाधार को पुकारो और उनके द्वारा दिये हुए बल का क्रियात्मक सेवा करो। इस सम्बन्ध में मेरा निश्चित मत है।

अब विचार यह करना है कि प्रकृति क्षोभित क्यों होती है। इस सम्बन्ध में मेरा विचार है कि जब जन-समाज न करने वाली बातें करता रहता है, तब दैवी आपत्तियाँ आती हैं। उसकी शान्ति के लिए प्रार्थना और प्रायश्चित्त दोनों ही होने चाहिए। तभी व्यापक संकट की समस्या हल हो सकती है। प्रायश्चित हो यह है कि संग्रहीत वस्तु दुखियों के काम आ जाय और व्यथित हृदय से परम कृपालु को पुकारा जाय।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से दुःखी प्राणियों को त्याग का बल और सुखियों में उदारता प्रदान करे, यही मेरी सद्भावना है।

तुम्हारा

544

बरेली
2-6-1966

मेरे निज-स्वरूप परम भागवत साधननिष्ठ प्रियवर,

.....शरणागत साधक अपने में अपना करके कुछ भी नहीं पाता, अपितु सदैव सर्वत्र अपने शरण्य को ही पाता है, उन्हीं की प्रियता होकर उन्हें रस प्रदान करता है। वे अपने हैं, अपने हैं और अपने होने से स्वभाव से ही अत्यन्त प्यारे हैं। जिसे कुछ नहीं चाहिए, जिसका कुछ नहीं है वही उन्हें प्रेम देता है। जो सब प्रकार से पूर्ण हैं वे ही इस प्रेम का पान कर सकते हैं। जो कुछ भी चाहता है वह प्रेम नहीं पाता। जो अपूर्ण है वह प्रेम का पान नहीं कर सकता। शरणागत को कुछ नहीं चाहिए। अतः वही प्रेम का दान दे सकता है। शरण्य सब प्रकार से पूर्ण हैं, इस

कारण वही प्रेम का पान कर सकते हैं। शरणागत और शरण्य में जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध हैं। शरण्य की श्रद्धा ही शरणागत को सब ओर से विमुख कर शरण्य के प्रेम का पात्र बनाती हैं। शरण्य की महिमा से रोम-रोम छक जाय, यही मेरी सद्भावना है। शरण्य सदैव शरणागत को देख रहे हैं, वे कभी उसे अपनी आँख से ओझल नहीं करते। इतना ही नहीं, शरणागत में शरण्य की ही सत्ता है। शरण्य और शरणागत की सदा ही जय हो, जय हो, जय हो। ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

545

बरेली
3-6-1966

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम आस्तिक प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। यह मैं भलीभाँति जानता हूँ कि तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। इस वास्तविकता का तुम्हें भी बोध है। अतः शरीर के अस्वस्थ रहने से तुम्हारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। परन्तु तुमने मानव-समाज की सेवार्थ मेरी व्यथा में हाथ बँटाया है, इस कारण यदि तुम्हारा शरीर स्वस्थ रहता है तो प्रसन्नता होती है। जब अस्वस्थता सुनाई देती है तब हृदय करुणित होना स्वाभाविक ही है। मोह-रहित करुणा साधक का सहज स्वभाव है। करुणा से हृदय द्रवीभूत होता है और जिसके प्रति करुणा उदित होती है उसे सान्त्वना मिलती है। ऐसा मेरा अनुभव तथा विश्वास है। हृदय में करुणा तथा प्रसन्नता उदित होने से चित्त अपने आप शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जो विकास का मूल है।

.....सम्मान की वासना रखते हुए क्या साधक का विकास हो सकता है? सुविधा और सम्मानपूर्वक की हुई सेवा के रूप में भोग हो जाता है, ऐसा मेरा अनुभव है।.....जिस साधक के मन में सम्मान की रुचि नहीं होती उसे सम्मान न मिलने पर क्षोभ नहीं होता। जब तक क्षोभ नहीं होता तब तक क्रोध नहीं आता और क्रोध के बिना विस्मृति नहीं होती, छिपाव नहीं होता।..... निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण निवेदन करना।

सद्भावना सहित।

तुम्हारा

546

लखनऊ
18-6-1966

मेरे निज-स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

.....आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत होने पर अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। परन्तु विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग हुए बिना शरणागति सजीव नहीं होती। जो अपने में अपना कुछ भी पाता है वह साधक सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु का हो नहीं पाता और उनका हुए बिना चिन्ता, भय, शोक आदि का अभाव नहीं होता। इतना ही नहीं, प्यारे प्रभु की मधुर स्मृति भी जाग्रत नहीं होती, जिसके बिना हुए हृदय प्रेम से नहीं भरता। प्रेम-शून्य जीवन कभी किसी के लिए उपयोगी नहीं होता। इस दृष्टि से हमें सब प्रकार से प्यारे प्रभु का होकर रहना है और अपने में अपना कुछ नहीं रखना है। ऐसा करने से सफलता अवश्यम्भावी है। जो सदैव है, सर्वत्र हैं, समर्थ हैं, सभी के हैं वे ही अपने हैं और अपने होने से अपने को स्वभाव से प्रिय हैं और अपने में होने से अपने से दूर नहीं हैं। जिनसे दूरी नहीं हैं, भेद और भिन्नता भी उनसे नहीं हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग हो जाय और आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत हो जाय.....।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

547

मुजफ्फरनगर
20-6-1966

मेरे निज-स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

.....मेरे जानते प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा अनन्त के मंगलमय विधान से निर्मित है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि भूल है। प्राप्त परिस्थितियों के सदुपयोग में ही साधक का अधिकार है। सर्व-समर्थ प्रभु शरणागत साधक को प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य बिना ही माँगे देते रहते हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करता। निर्मम, निष्काम होकर प्रभु के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने पर मानसिक शान्ति सुरक्षित रहती है। जो सर्व-समर्थ हैं, सभी के अपने हैं, जिनसे देश-काल आदि की दूरी नहीं है, उन्हीं में आत्मीयता स्वीकार करना है। अपने में अपने की स्मृति तथा प्रियता स्वतः अभिव्यक्त होती है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। विस्मृति ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है। स्मृति से ही विस्मृति नाश होती है। अपनत्व से ही स्मृति जाग्रत होती है। सर्व-समर्थ प्रभु से भिन्न और कोई अपना है ही नहीं। इस वास्तविकता को अपनाना

अनिवार्य है।.....सब प्रकार से प्रभु के होकर रहे, इसी सद्भावना के साथ।

तुम्हारा

.....

548

धनबाद

23-12-1966

मेरे निज-स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

.....प्रभु विश्वास साधन और प्रभु-प्राप्ति साध्य है। प्रभु विश्वास से भिन्न और कोई उपाय प्रभु-प्राप्ति का नहीं है, कारण कि विश्वास से ही सम्बन्ध सुदृढ़ होता है और नित्य सम्बन्ध से ही स्मृति जाग्रत होती है, जो विस्मृति को खाकर साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है। अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग अनिवार्य है, जो एकमात्र विचार से ही साध्य है। आत्मीयता श्रद्धा-विश्वास से सजीव होती है और असंगता विचार से सिद्ध होती है। असंगता से जीवन-मुक्ति, आत्मीयता से अनन्य भक्ति की उपलब्धि होती है। मुक्ति में भक्ति और भक्ति में मुक्ति ओत-प्रोत है, कारण कि ज्ञान और प्रेम में विभाजन नहीं होता। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक साधन और साध्य की वास्तविकता का भलीभाँति अनुभव कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय। साधक के जीवन में असफलता और निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि प्रत्येक साधक के प्रति सर्व-समर्थ प्रभु की कृपालुता, सत्पुरुषों की सद्भावना एवं जगत् की उदारता सदैव रहती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

549

माघ मेला कैम्प

3-2-1967

स्नेहमयी साधननिष्ठ माँ,

सप्रेम हरिस्मरण।

.....विधि का विधान अमिट है। इसमें किसी का वश नहीं चलतता। यद्यपि जन्म से ही मृत्यु आरम्भ हो जाती है, पर उस पर सर्व-साधारण की दृष्टि नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि अकस्मात् वियोग हो जाने पर हृदय पीड़ित हो जाता है। यदि मानव विचारपूर्वक संयोग-काल में वियोग का अनुभव कर अपने में ही सन्तुष्ट हो जाय, तो वह सदा के लिए मृत्यु के भय से रहित होकर अमरत्व से अभिन्न हो जाता है.....।

मृतक प्राणी की सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि उनसे विचारपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाय और जब-जब उनकी स्मृति आवे तब-तब प्रार्थना की जाय और उनके निमित्त यथा-शक्ति अपने विश्वास के अनुसार पुण्य कर्म आदि भी किया जा सकता है, किन्तु उनको

अपना मानना, उनका चिन्तन करना अपने आप उनके लिए अहितकर ही सिद्ध होता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने मानव-जीवन की वास्तविकता का अनुभव किया है। प्रत्येक संयोग वियोग की अग्नि में जल ही रहा है। अतः सजग मानव को अविनाशी जीवन से अविनाशी योग के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए, सफलता अवश्यम्भावी है, कारण कि इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

सद्भावना सहित

.....

550

.....

23-2-1967

मेरे निज-स्वरूप भगवत्परायण प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। जिन्होंने उसे अपनाया, वे सभी कृतकृत्य हो गये। प्रभु-विश्वास अपना लेने पर अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध सदा के लिए स्वतः नष्ट हो जाता है, फिर साधक जगत् के प्रभाव से रहित होकर सतत विश्वरूप में सहज भाव से उन्हीं की लीला का दर्शन करता है। हृदय में लीलामय के प्रेम की भूख स्वभाव से उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। इतना ही नहीं, प्रीति से भिन्न साधक का कुछ भी अस्तित्व शेष नहीं रहता। तभी तो गौरीशंकर, सीताराम, राधाकृष्ण का नित्य विहार सजीव होता है, जो मानव-मात्र की अपनी माँग है। दायित्व पूरा करने पर माँग पूरी होती है। यह मानव-दर्शन पर आधारित मानव सेवा संघ की अमर वाणी है।

मानव सेवा संघ का प्रादुर्भाव केवल इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ है कि मानव-मात्र उस जीवन को पा सकता है जो किसी भी महामानव को मिला है। इस वास्तविकता में आस्था हो जाने पर साधक के जीवन में नित-नव उत्साह, तत्परता, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परम व्याकुलता स्वतः जाग्रत होती है। वे धन्य हैं, जिनके जीवन में प्रभु-विश्वास प्रकट हुआ। उससे भी अधिक वे धन्य हैं, जिन्होंने प्रभु-विश्वास से अहम् को सदा के लिए गला दिया। सभी साधक स्वाधीनतापूर्वक अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जायँ, यही मेरी सद्भावना है।

सभी साधकों को साधन-तत्त्व से अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक केवल सत्संग को ही अपना परम पुरुषार्थ स्वीकार करें। साधन के ऊपर से न भरा जाय, साधक में ही उसकी अभिव्यक्ति हो। रुचि-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की साधनाओं का प्रादुर्भाव होगा, किन्तु साधक महानुभाव व्यक्तिगत साधना को सामूहिक साधना

बनाने का प्रयास न करें, न उसका प्रदर्शन करें, नहीं तो मानव सेवा संघ के उस मूल तथ्य की हत्या हो जायगी कि व्यक्तिगत साधनाओं के द्वारा सभी साधक सर्वांश में असाधनों से रहित होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न होते हैं, जो साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है। सद्भावना सहित,

तुम्हारा

.....

551

पटना

16-4-1967

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

आप चिन्ता न करें। मेरे विश्वास के अनुसार रोग राग का परिणाम है। राग का अन्त करने के लिए ही रोग उत्पन्न हुआ है। राग का अन्त कर रोग स्वतः नाश हो जायेगा, और फिर बुलाने पर भी न आयेगा। निस्संदेह इस समय तुम्हारे सामने बड़ी ही प्रतिकूल परिस्थिति है। उससे भयभीत नहीं होना है। अपितु उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हुए सदुपयोग करना है। आलस्य, अकर्मण्यता एवं सुख के प्रलोभन का अन्त करने के लिए प्रतिकूलता आती है। अतः यथाशक्ति प्रयत्नशील बने रहो। प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का दर्शन करो। उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही आस्तिक का परम पुरुषार्थ है। अपने दुःख का कारण किसी और को मत समझो। बुराई का उत्तर भलाई से देने का स्वभाव बना लो। यही उपाय है अपने मन को शुद्ध करने का। मन के शुद्ध होते ही परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। सभी को सप्रेम यथोचित।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

552

गीता आश्रम, स्वर्गाश्रम

देहरादून

27-4-1967

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

तुम्हारा पत्र मिला। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। आज भारतीय महिलाओं के प्रति यद्यपि बड़ा ही अन्याय होता है, परन्तु मानव होने के नाते अन्याय का उत्तर न्याय और प्रेम से देना है। न्याय अपने को निर्दोष बनाता है और प्रेम विश्व और विश्वनाथ से एकता प्रदान करता है, अर्थात् प्रेम से जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाता है और न्याय से अपने लिए।

न्याय का अर्थ है निर्दोषता को सुरक्षित रखना। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। मन प्रेमास्पद में, जो सदैव अपने में ही मौजूद है, लगा रहे और तन से निकटवर्ती प्रियजनों की सेवा करती रहो। जहाँ प्यारे प्रभु राखें वही रहो। प्रत्येक कर्म के द्वारा उनकी पूजा करो और जो कुछ हो रहा है उसमें उन्हीं की लीला देखो। प्रभु की मधुर स्मृति ही में जीवन है। अखण्ड स्मृति एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है, इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो, सफलता अवश्यम्भावी है। निकटवर्ती प्रियजनों को हरिस्मरण निवेदन करना। मेरी सद्भावना सदैव आप लोगों के साथ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

553

उल्हासनगर
3-6-1967

भगवत्परायण भक्तिमती स्नेहमयी प्रिय पुत्री,

सप्रेम हरिस्मरण।

शरीर प्राकृतिक विधानानुसार चाहे जहाँ रहे, चाहे जैसा रहे, इसके लिए अधिक सोचने-विचारने की बात नहीं है। देखना केवल यह है कि साधक की अपनी वास्तविक माँग क्या है। माँग की जागृति होने से ही काम की निवृत्ति होती है। काम का नाश होते ही देहाभिमान गल जाता है, अर्थात् शरीर में अहं-बुद्धि नहीं रहती और फिर अपने आप निर्विकारता, चिरशान्ति एवं स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। स्वाधीन होते ही अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति होती है, अर्थात् दूरी, भेद, भिन्नता शेष नहीं रहती। अथवा यों कहो कि योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है और फिर शान्ति, मुक्ति और भक्ति जीवन हो जाती है, साधक स्वयं अपने साध्य से अभिन्न हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीयता स्वीकार की है और निजज्ञान के प्रकाश में यह अनुभव किया है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। जो वास्तविकता ज्ञान से सिद्ध है उसे स्वीकार करना वास्तव में सत्संग है। इस दृष्टि से निर्मम तथा निष्काम होना सत्संग है। निर्ममता तथा निष्कामता से निर्विकारता और शान्ति स्वतः प्राप्त होती है, किन्तु प्रेमीजन निर्विकारता तथा शान्ति में रमण नहीं करते। उन्हें तो एकमात्र प्रेमी ही की भूख रहती है। प्रेम की भूख ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों स्वतः सभी दुर्बलताओं का नाश होता जाता है। इस कारण प्रत्येक दशा में उत्तरोत्तर प्रेमी की भूख बढ़ती रहनी चाहिए। प्रेम की माँग में ही प्रेम की प्राप्ति निहित है। उसके लिए और कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यद्यपि प्रेम सभी को स्वभाव से अच्छा

लगता है, परन्तु भोग और मोक्ष का प्रलोभन प्रेमी की भूख को सबल तथा स्थायी नहीं होने देता। इस कारण विचारशील ने भोग और मोक्ष की कामना को जीवन में से निकाल दिया है और केवल प्रेम ही को अपना लक्ष्य मान लिया है। और यह भलीभाँति जान लो कि माँग अपने में ही जाग्रत होती है। माँग की जागृति कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं का अन्त होती ही स्वतः माँग पूरी हो जाती है, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। साधक के जीवन में हार मानने के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम्हें अर्थ द्वारा सेवा करने की बात नहीं सोचनी चाहिए। तुम्हारा साधननिष्ठ जीवन ही जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। अर्थ द्वारा सेवा तो सर्व-साधारण कर सकते हैं। तुम जैसे वीर को तो साधनपरायणता से ही सेवा करना है। सर्व प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु की होकर रहो। उनकी मधुर स्मृति में ही जीवन है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

554

खार (बम्बई)
10-6-1967

मेरे निज-स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

वास्तव में तो संयोग-वियोग विधान के अधीन हैं। इसमें किसी का कुछ वश नहीं चलता। आवश्यक सामर्थ्य के सम्पादन के लिए प्राकृतिक विधान के अनुसार शान्त रहना अत्यन्त आवश्यक है, कारण कि शान्ति सामर्थ्य की जननी है। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म तो करना ही पड़ता है और विवेक तथा सामर्थ्यविरोधी कार्यों का भी त्याग करना होता है। कर्त्तव्य कर्म फलासक्ति तथा अभिमान-रहित होना चाहिए। तभी कार्य के अन्त में शान्ति सुरक्षित रह सकती है। अपने आप होने वाले व्यर्थ चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न किया जाय और न उसे बलपूर्वक किये हुए चिन्तन से दबाया जाय, अपितु अपनी वास्तविक आवश्यकता को सबल बनाया जाय। आवश्यकता की जागृति काम की निवृत्ति में हेतु है। काम का सर्वांश में नाश हो जाना ही राम की प्राप्ति का अचूक उपाय है। काम का नाश किसी बलपूर्वक प्रयोग से नहीं होता, केवल वास्तविक आवश्यकता की जागृति से ही होता है। काम का बीज और राम की माँग तत्त्व रूप से दोनों ही अपने में मौजूद हैं। माँग सबल होने से काम नाश होता है और काम नाश होने से माँग पूरी होती है। साध्य और साधक के बीच केवल काम का ही परदा है। काम के मिटते ही राम

से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है और भोग, मोह तथा आसक्ति की निवृत्ति हो जाती है। वास्तविक सर्वोत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, कारण कि आवश्यकता ही आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, किन्तु सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं हुई और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी होती है। कामना-पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व एकमात्र निर्मम, निष्काम तथा असंग होने से ही नाश होता है। शान्त तथा मौन होकर एकान्त में अपने ही द्वारा स्वयं निज ज्ञान के प्रकाश में अनुभव करो कि किसी भी काल में मेरा कुछ नहीं हैं। सर्वांश में ममता का नाश होते ही निष्काम तथा असंग होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, यह प्रभु का मंगलमय विधान है। थोड़ी-थोड़ी देर बार मूक भाषा में सर्व-समर्थ प्रभु की महिमा स्वीकार करते हुए प्रार्थना करते रहो कि मुझे अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी आत्मीयता प्रदान करें। आत्मीयता प्राप्त होते ही स्वतः अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता प्राप्त होगी। यह अनन्त का अनुपम विधान है। श्रद्धा-विश्वास के द्वारा ही सर्व-समर्थ प्रभु में आत्मीयता स्वीकार होती है, पर विश्वासी साधक को भी विचारपूर्वक निर्मम तथा निष्काम होना ही पड़ता है, कारण कि जिसका कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए वही प्यारे प्रभु को अपना मान सकता है और उसी को प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रार्थना ही निर्बल का बल है। प्रार्थी को अवश्य लक्ष्य की प्राप्ति होती है। महिमा स्वीकार करना और अपनी माँग को सबल बनाना ही सफलता का मूल मंत्र है। जहाँ रहें प्रसन्न रहें, जो करें ठीक करें। सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु के होकर रहें।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

555

मुजफ्फरनगर
27-6-1967

कर्त्तव्यनिष्ठ प्रभु-विश्वासी दुलारी बेटी,

तुम्हारे दोनों पत्र मुझे मिल गये। तुम सोचोगी कि प्रथम पत्र का उत्तर क्यों नहीं दिया। देखो बेटी, पत्र सुनने पर जो भाव उत्पन्न होता है वही उसका सच्चा उत्तर है। भाव शब्द की अपेक्षा व्यापक है। इतना ही नहीं, सद्भाव से हृदय बदलता है और सुन्दर-सुन्दर शब्दों का केवल मस्तिष्क पर ही प्रभाव होता है। प्यारी बेटी, पत्र न मिलने पर तुम यह मत समझो कि उत्तर नहीं दिया। तुमने अपने पिता को समर्थ लिखा है। भला बेटी, समर्थ पिता की पुत्री को क्या अधीर होना चाहिए? तुम्हारे अधीर होने में तुम्हारे पिता का अपमान है। प्यारी बेटी, विचारशील

मानव भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूल जाते हैं और व्यर्थ चिन्तन को त्याग वर्तमान को सरस तथा सुन्दर बनाकर भविष्य को उज्ज्वल बनाते हैं।

सभी प्रबन्धकों को आदर दो। यदि कोई बात प्रबन्धकों की तुम न समझ सको तो सत्संग में बैठकर विचार-विनिमय द्वारा निःसंकोच बातचीत करो अथवा प्रबन्धक से ही मिल कर बात करलो। यदि सभी माताओं तथा आश्रम के पूज्य सज्जनों के प्रति तुम्हारे मन में आदर का भाव रहेगा तो सभी के हृदय से तुम्हें सद्भाव तथा प्यार मिलेगा, जो विकास का मूल है। अपने से बड़ों को आदर देना, छोटों को प्यार देना और सरलता तथा सच्चाई का व्यवहार करना अत्यन्त आवश्यक है। पूरी शक्ति लगाकर अध्ययन करो और शान्त, निश्चिन्त तथा निर्भय रहने का स्वभाव बनाओ। मानव सेवा संघ की निर्मल नीति को जानने तथा मानने के लिए अथक प्रयत्नशील रहो। सफलता अवश्यम्भावी है। जो सत्य को अपनाता है वही सर्वोत्कृष्ट जीवन पाता है। तुम इस पत्र को बार-बार पढ़ना और समझने का प्रयास करना।....पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

556

.....

9-7-1967

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। स्वाधीनता तो आपका जन्मजात अधिकार है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए तो मानव-जीवन मिला है, पर स्वाधीनता बलपूर्वक प्राप्त नहीं की जा सकती, विचारपूर्वक निर्मम तथा निष्काम एवं असंग होने से ही साध्य है। जो वास्तव में किसी भी काल में अपना नहीं है, उसे अपना न मानना, उसका दुरुपयोग न करना, उसे विश्वरूपी बाटिका की खाद बना देना स्वाधीनता के पुजारी का सहज स्वभाव है। यदि साधक अपने में निर्मम होने की सामर्थ्य न पाता हो, तो उसे मूक होकर स्वाधीनता की आवश्यकता का अनुभव करना चाहिए। जिस भूल से मानव पराधीन हो जाता है वह भूल उसी में है। अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर स्वाधीनता की आवश्यकता अनुभव करने से ही साधक भूल-रहित हो जाता है। सर्व-समर्थ केवल आवश्यकता-भर देखना चाहते हैं, पूर्ति तो उनकी अहैतुकी कृपा से स्वतः होती है। आवश्यकता का अनुभव करने की स्वाधीनता मानव को जन्मजात है। आवश्यकता का अनुभव करने की स्वाधीनता मानव को जन्मजात है। आवश्यकता के साथ-साथ जो श्रम-

साध्य उपाय है, उसका रस ही उसे स्वाधीनता से विमुख करता रखता है। सेवा-भाव सबल हो जाने पर सेवा होने लगती है और फिर सेवा का अन्त अपने आप त्याग में तथा प्रेम में हो जाता है। इस दृष्टि से आवश्यकता की जागृति में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है।

स्वाधीनता की आवश्यकता शरीरादि वस्तुओं वस्तुओं से असंग कर देती है। पराधीनता को पसन्द करना ही शरीर को अपने से मिला देना है। वे बड़े ही भाग्यशाली हैं जिन्हें पराधीनता असह्य हो जाती है। स्वाधीनता के लिए परिस्थिति-परिवर्तन अपेक्षित नहीं है, कारण कि स्वाधीनता किसी परिस्थिति से प्राप्त नहीं होती। सभी परिस्थितियाँ साधन-सामग्री है। इस कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना और प्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है। आपका दुःख मेरा अपना दुःख है, कारण कि प्रभु के नाते आप मेरे अपने ही है। स्वाधीनता के लिए पराश्रय तथा परिश्रम की अपेक्षा नहीं हैं। पर-पीड़ा से पीड़ित होकर पर-सेवा के लिए ही पराश्रय तथा परिश्रम साधन-रूप है। अपने में अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं, इस वास्तविकता में अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है।

अपने में से शरीरादि वस्तुओं के सम्बन्ध का दृढ़तापूर्वक त्याग करना है, जो एकमात्र निज ज्ञान से ही साध्य है। साधक की शरीर से स्वरूप की एकता नहीं है, केवल मानी हुई एकता है। वह भी रुचि-पूर्ति के लिए अथवा सेवा-कार्य के लिए। स्वाधीनता-प्रिय साधक में रुचि-पूर्ति का प्रश्न नहीं रहता, कारण कि रुचि-पूर्ति ही पराधीनता है। अब रही सेवा की बात। वह प्राप्त परिस्थिति के अनुसार स्वतः होती है। पर यह रहस्य तब स्पष्ट होता है जब साधक के द्वारा सेवा स्वभाव से होने लगे, बलपूर्वक न की जाय। सेवा प्रेम का क्रियात्मक रूप है। सेवा का अन्त होते ही सेवक प्रेमी हो जाता है। जिस प्रकार सेवक की अहंता सेवारूप हो जाती है उसी प्रकार प्रेमी की अहंता प्रेम-रूप हो जाती है। प्रेम में प्रेमास्पद, प्रेमास्पद में प्रेम ओत-प्रोत है, बस यही श्रीराधाकृष्ण का नित्य विहार है। स्वाधीन हुए बिना साधक सेवा और प्रेम का अधिकारी नहीं होता। जिसका अपना कुछ नहीं है, जिसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए वही प्रभु को अपना स्वीकार करता है और उसी का जीवन उदारता, समता एवं प्रियता से परिपूर्ण हो जाता है। सर्व-समर्थ प्रभु आपको अपनी आत्मीयता प्रदान करें-यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

आपका

.....

557

..... 11-7-1967

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर अपने ही में से अपने लिए मानव का निर्माण किया है। इस दृष्टि से मानव की जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता केवल उसी प्रभु से है, जो अद्वितीय है, अर्थात् एक ही है, समर्थ है, सर्वत्र है और सभी का है। अतः तुम्हारा प्रेमास्पद सदैव होने से अभी है, सर्वत्र होने से तुम्हीं में है और सभी का होने से तुम्हारा भी है, अर्थात् तुम्हारे प्यारे सदैव तुम्हीं में हैं। तुम उन्हीं की प्रीति हो जाओ और कर्त्तव्य कर्म के रूप में प्रत्येक कार्य के द्वारा उन्हीं की पूजा करो और जो कुछ हो रहा है उसे उन्हीं की लीला जानो। उनकी प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, जो मानव की स्वाभाविक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। यह सद्गुरु-वाक्य है। गुरु-वाक्यमें विकल्प-रहित विश्वास करना ही गुरु-भक्ति है। गुरुभक्त साधक अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर सदा के लिए अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाता है। यह शरणागत साधक का अनुभव है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

558

वृन्दावन
10-8-1967

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

पत्र मिला, समाचार विदित हुआ। निकटवर्ती प्रियजनों के दोषों को देखकर जो घृणा तथा अरुचि होती है वह तो भूल है। हाँ, हृदय में करुणा होनी चाहिए, उनके हित के लिए प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए, और हृदय में पीड़ा होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उनके साथ स्नेह तथा सद्भावना से युक्त व्यवहार रखना चाहिये और यह विचार करना चाहिये कि यदि यह बुराई मुझमें होती तो क्या मैं यह आशा रखता कि दूसरे लोग मुझे घृणा करें। तब तो बराबर मन में यही आती है कि दूसरे लोग मुझे बुरा न समझें, मुझे क्षमा कर दें। जो हम दूसरों से आशा रखते हैं वही हमें दूसरों के साथ करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा भी अनुभव हुआ है कि बुराई करने वालों के प्रति भलाई करने से वे बुराई-रहित हो जाते हैं। किसी को बुरा समझना तो बुराई करने से भी अधिक बुरा है। साधक को अधिकार ही नहीं है किसी को बुरा समझने का, किसी को बुरा चाहने का और किसी के साथ बुराई करने का। अपने गुणों से और दूसरों के दोषों से असंग होना है, कारण कि दोष-रहित होने पर निजानन्द की उपलब्धि होती है। पर

यह तभी संभव होगा जब सत्संग के द्वारा दोष-रहित हो जायँ, और गुणों से तादात्म्य न रहे। समस्त विकारों का मूल अपनी भूल है और समस्त दिव्य गुणों की उपलब्धि भूल-रहित होने से ही होती है। शान्त रहने से अपने द्वारा अपनी भूल का अनुभव हो जाता है। भूल का ज्ञान ही भूल मिटाने का अचूक उपाय है।

साधक का हृदय साध्य के प्रेम से भरा रहना चाहिये। घृणा रखने से प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से साधक को कभी भी किसी के प्रति घृणा का भाव नहीं रखना चाहिये। प्रभु के नाते, आत्मा के नाते, जगत् के नाते सभी अपने हैं। अपना अपने को स्वभाव से प्यारा लगता है। जिसे सभी प्यारे लगते हैं वही प्रभु-प्रेम पाता है। प्रेम की प्राप्ति के बिना नित-नव रस की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। यदि तुम सभी को प्यार नहीं दे सकते तो किसी को बुरा समझने का अधिकार ही कहाँ है? हाँ, सभी से असंग होकर अपने में सन्तुष्ट हो सकते हो। दूसरे को बुरा समझना तो उससे द्वेष पूर्वक सम्बन्ध जोड़ना है। बिना बुराई करे यदि अपने को बुरा बनाना है तो भले किसी को बुरा समझो। इस कारण किसी को बुरा समझना अपने द्वारा अपना विनाश करना है। या तो सभी से असंग होकर अपने में सन्तुष्ट हो जाओ, अथवा सभी में अपने प्यारे प्रभु को देखो, अथवा अपने को देखो, अथवा विश्व-जीवन के साथ एकता स्वीकार करो। संयोग-वियोग विधान के अधीन हैं। इसमें किसी को कोई वश नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

559

वृन्दावन
21-8-1967

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। आत्मा स्वभाव से ही अकर्ता और शरीर पर-प्रकाश्य है। मूक-सत्संग मानव का स्वधर्म है, जिसमें भूल-जनित शरीर की ममता तथा स्वभाव-जनित आत्मा की जिज्ञासा है शरीर में शरीर की ममता नहीं हो सकती और न आत्मा में आत्मा की जिज्ञासा ही हो सकती है, और न आत्मा अनात्मा का मेल ही हो सकता है, क्योंकि दो विरोधी तत्त्व मिलते नहीं। इस दृष्टि से मानव न आत्मा है और अनात्मा, अपितु जिसने भूल से ममता, कामना, तादात्म्य अनात्मा में कर लिया और जिसमें स्वभाव से जिज्ञासा है वही तुम हो। अतः भूल-रहित होकर निर्मम निष्काम हो जाओ। जिसके होते ही स्वतः जिज्ञासा की पूर्ति होती है और फिर करना कुछ शेष नहीं रहता। यही मूक सत्संग है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

.....

560

सितम्बर, 1967

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

राम की माया अपार है, उसकी महिमा अनन्त है। रामदास माया से पार, प्रेम को पाकर मस्त हो जाता है और मायादास थपेड़े खाता है। राम मौजूद है, अपने में है, क्योंकि अपना है। उसका प्यार रामदास का जीवन है। रामदास राम को बहुत प्यारा है। उसका दिया हुआ प्यार ही उसको देना है और लेना कुछ नहीं है। उसके प्यार में जो मजा है, वह मजा कहीं नहीं है। अपने को राम को देकर राम को लेलो। बस, सब कुछ बिना ही माँगे मिल जायेगा। तुम उनकी शरणागति प्राप्त करो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा

.....

561

सरदारशहर
2-10-1067

मेरे निज-स्वरूप परम उदार साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

कृपा पत्र मिला। क्या कहा जाय, जो बात निज ज्ञान से सिद्ध है मानव उसे भी कर नहीं पाता, और जो आस्था-श्रद्धा-विश्वास से साध्य है उसे भी नहीं अपनाता। निज ज्ञान से निर्मम निष्काम तथा असंग होना अनिवार्य है। इसे प्रत्येक मानव को

जीवन में उतारना ही होगा। तभी देहाभिमान नाश होगा और फिर मान तथा भोग की रुचि सदा के लिए नाश हो जायेगी, तभी मान-अपमान, सुख-दुख आदि से मानव छुटकारा पाएगा। अब रही असमर्थ साधक की बात। उसे सर्व-समर्थ प्रभु की महिमा को स्वीकार कर शरणागत होना ही पड़ेगा। हृदय से मूक प्रार्थना करनी ही पड़ेगी। थोड़ी-थोड़ी देर बाद यह पुकार होती रहे कि हे समर्थ, मुझे अपनालो। अपने प्रेम के योग्य बनालो। आपकी अहैतुकी कृपा के अतिरिक्त मेरा और कोई आश्रय नहीं है। वैधानिक माँग पूरी होती है, ऐस शरणागत साधकों का अनुभव है। जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय-यह वैधानिक माँग है। इसकी पूर्ति होती है। अतः जब-जब अवसर मिले इस माँग को सबल बनाइये। माँ ज्यों-ज्यों सबल होती जायेगी त्यों-त्यों सभी कामनाओं का नाश स्वतः होता जायेगा। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान में अविचल आस्था करना अत्यंत आवश्यक है।,

अपनी दृष्टि में अपने को अपने जानते ठीक रखना है, अथवा अपनी माँग को जगाना है। सफलता अवश्यम्भावी है। दूसरों की दृष्टि में भले कहलाने का संकल्प सदा के लिए निकाल देना चाहिए और सभी को प्रभु के नाते आदर तथा प्रेम देना चाहिए। जातीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध तो एकमात्र प्यारे प्रभु से ही है। उन्हीं के नाते सभी को आदर तथा प्यार देना है। किसी से कुछ भी आशा नहीं रखनी है। यह आन्तरिक परिवर्तन हो जाने पर ही जीवन में निश्चिन्तता, निर्भयता आती है और फिर सहज भाव से अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है। प्रीति की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का अनुपम दर्शन करना है। अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानना है और सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु का ही होकर रहना है। जिन्होंने उन्हें अपना करके स्वीकार किया वे सदा के लिए चिरशान्ति, अविनाशी, रसरूप जीवन पा गए। सर्व-समर्थ प्रभु आपको अपनी आत्मीयता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

562

हैदराबाद
4-12-1967

मेरे निज-स्वरूप परम उदार प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

.....प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। सर्व-समर्थ प्रभु ने मानव को प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की ही सामर्थ्य दी है, परन्तु मानव असत् का संग कर लोभ, मोह आदि में आबद्ध हो जाता

है और फिर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना सम्भव नहीं होता, अनेक प्रतिकूलताएँ आ जाती हैं। ऐसी दशा में मानव अधीर होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है, किन्तु अनन्त की अहैतुकी कृपा सदैव मानव के साथ रहती है। भयंकर से भयंकर परिस्थिति आ जाने पर उसे राह दिखाई देती है, जिस पर चलकर वह सभी परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक शरणागति स्वीकार की है। शरणागत के जीवन में निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण् कि शरणागत अपने में अपना कुछ नहीं पाता। शरण्य की अपार करुणा ही उसका सम्बल है। अतः शरणागत शरण्य की अहैतुकी कृपा से सब कुछ पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

563

राँची

सौभाग्यवती कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

सप्रेम हरिस्मरण।

.....सर्व-समर्थ प्रभु के मंगलमय विधान से आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही मिलती है और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं मिलती। इस कारण जब तक आवश्यकता है शरीर रहेगा ही। वास्तव में तो विचारशील मानव को ज्ञानपूर्वक अपने को शरीर से असंग कर लेना चाहिए। ऐसा करने से सदा के लिए मानव मोह-रहित हो जाता है और अमरत्व से अभिन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, प्राणो के रहते हुए ही निर्मम तथा निष्काम हो जाने पर मानव को निर्विकारता, चिरशान्ति और जीवन मुक्ति प्राप्त होती है। उसके पश्चात् शरीर का रहना तथा न रहना समान हो जाता है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। शरीर द्वारा प्रियजनों की सेवा करते हुए अपने को शरीर से अलग अनुभव करो, जो एकमात्र शान्ति-सम्पादन से ही सम्भव है, जिसके लिए व्यक्तिगत अपना कुछ नहीं है, इस सत्य को अपनाना और निष्काम भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है। निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण निवेदन करना।

सद्भावना सहित

564

प्रयाग
23-1-1968

मेरे निज-स्वरूप परम भागवत प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....सच तो यह है कि सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आवश्यक वस्तु बिना ही माँगे देते हैं और अनावश्यक वस्तु माँगने से भी नहीं देते हैं। इस कारण शरणागत साधक को प्रत्येक दशा में निश्चिन्तता, निर्भय तथा शान्त रहना चाहिए और अपनी वास्तविक माँग को सबल तथा स्थायी करना चाहिए। माँग की जागृति काम का नाश कर स्वतः पूरी हो जाती है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। वास्तविक माँग बीजरूप से मानवमात्र में विद्यमान है। उसको सत्संग के द्वारा सबल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। सद्गुरु-वाक्य के आधार पर सर्व-समर्थ प्रभु की महिमा स्वीकार करो और सदा के लिए अभय हो जाओ। श्रद्धावान् साधक केवल प्यारे प्रभु से ही जातीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करता है। आत्मीय सम्बन्ध से ही अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है, कारण कि अपने को अपना स्वभाव से ही प्यारा लगता है। जो प्यारा होता है उसकी विस्मृति नहीं होती है। स्मृति स्वभाव से ही अपने को और प्रभु को नित-नव रस प्रदान करती है। प्यारे प्रभु सदैव होने से अभी है और सर्वत्र होने से अपने में भी है। सभी के होने से अपने हैं, समर्थ हैं, अद्वितीय हैं। यह सभी आस्तिकों को मत हैं। सभी प्रभु-विश्वासी उन्हीं के होकर रहते हैं। जिन्होंने उनकी महिमा को अपनाया है वे सभी पार हो गये। प्रभु-विश्वास ही प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने प्यारे प्रभु की शरणागति स्वीकार की है। शरणागत के जीवन में चिन्ता, भय तथा निराश के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। शरणागत की सभी समस्याएँ स्वतः ही हल हो जाती हैं, कारण कि शरणागत में शरण्य की मधुर स्मृति स्वतः होती रहती हैं। प्रिय की स्मृति में ही जीवन है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर रहो।

सद्भावना सहित

565

2-2-1668

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

शारीरिक अस्वस्थता मेरे विचार के अनुसार प्राकृतिक तप है। उससे देहाभिमान गलाने तथा राग-रहित होने की प्रेरणा मिलती है। उसे अपनाकर आत्मवित् तथा ब्रह्मवित् होने के लिए अथक् प्रयत्नशील रहना चाहिए। शरीर के रहते हुए ही शरीर से अपने को अलग अनुभव कर अमरत्व से अभिन्न होना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही मानव-जीवन मिला है। बेचारा देहाभिमानी प्राणी उदारता, समता और प्रियता से विमुख हो जाता है। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र

देहाभिमान-रहित होना आवश्यक है। देह को बनाये रखने का संकल्प मत रखो, अपितु उसकी यथाशक्ति सेवा करते रहो। शरीर विश्वरूपी वाटिका की खाद है। उसका उपयोग विश्व-सेवा में ही हो सकता है। शरीर के द्वारा सुख-भोग करना भारी भूल है। भोग की रुचि से ही मानव मोह और आसक्तियों में आबद्ध हो जाता है, जो विनाश का मूल है। सर्वांश में भोग की रुचि का नाश होने पर मानव योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। शरीर वासनाओं की क्रीडा-स्थली न रहकर संयम का मन्दिर हो जाय। इस माँग को सबल तथा स्थायी करना है। माँग काम को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। काम दृश्य से सम्बन्ध जोड़ता है और माँग, जो अपने में अपना प्रेमास्पद है उससे अभिन्न करती है। देहभाव से तद्रूप होने पर काम की उत्पत्ति होती है और देहाभिमान-रहित होने से काम की निवृत्ति तथा माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है। ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि मैं किसी भी काल में देह नहीं हूँ और न देह मेरा है। आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि अपने में अपने प्रेमास्पद सदैव मौजूद हैं। बस, यही सफलता की कुंजी है।

तुम्हारा

.....

566

वृन्दावन
18-2-1968

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

.....यह सर्वमान्य सत्य है कि उत्पत्ति-विनाश का क्रम निरन्तर चल रहा है। इस कारण जो दिखाई देता है उसकी स्थिति ही स्थिर नहीं है, तो उसके लिए चिन्तित होना निरर्थक ही है। किन्तु जिससे समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है, जो सर्व का आधार तथा साक्षी है वही अपना है, अपने में है और सदैव है। उसमें ही आत्मयीयता स्वीकार कर सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना है। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक होती ही है। उसके लिए कोई प्रयास अपेक्षित नहीं है-यह सभी साधकों का अनुभव है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जो वास्तव में अपने हैं, अविनाशी होने से सदैव हैं और सदैव होने से अभी हैं, उनमें आस्था न करना, अपने को समर्पित कर अभय न होना अपनी ही बनाई हुई भूल तो है। और जिसकी प्रतीति है, स्थिति नहीं है, प्राप्ति नहीं है, उसमें ममता रखना, उसकी कामना करना उसके बनाये रखने की सोचना प्रमाद ही तो है। सत्संग के द्वारा प्रमाद का अन्त करके अपने को अपने में पाकर सदा के लिए अभय हो जाना अनिवार्य है। जिसे प्राप्त करने को परिश्रम या पराश्रय की अपेक्षा

ही नहीं हैं उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता बनाये रखना अपनी ही असावधानी है। यदि साधक अपने को समझा-बुझा कर अपनी बनाई हुई भूल का अन्त कर डाले तो समस्त समस्याओं का हल स्वतः हो जाता है। जिसने सद्गुरु-वाक्य के आधार पर सर्व-समर्थ की शरणागति स्वीकार की, वह सदा के लिए अभय हो गया, अपने में अपने प्रेमास्पद को पा गया। ऐसा मेरा विश्वास है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। सहज भाव से प्रिय की मधुर स्मृति होती रहे। इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

567

ऋषिकेश
18-4-1968

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। यद्यपि शरीर अपने स्वभावानुसार ढीला-ढाला ही चल रहा है, किन्तु कोई चिन्ताजनक बात नहीं है, कारण कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय और अनन्त के मंगलमय विधान से निर्मित है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-मात्र को दी है, पर मानव अपनी ही भूल से परिस्थिति को ही जीवन मानकर अधीर तथा भयभीत हो जाता है। जीवन अपने में है, 'पर' में नहीं। जो साधक अपने में अपने जीवन को स्वीकार नहीं करता वही पराधीन होकर अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है। साधक विधान से आए हुए दुःख के प्रभाव को अपनाकर अपने को सुख के प्रलोभन से रहित हो जाता है और अपने में ही अपने जीवन-धन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक दुःखहारी हरि को स्वीकार किया है अर्थात् जो शरणागत हो गया है। शरणागत के जीवन में भय, चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान नहीं होता। शरणागत अपने शरण्य की महिमा को अपनाकर सदा-सदा के लिए अभय हो जाता है और अपने प्रेमास्पद के पावन प्रेम की सतत आवश्यकता अनुभव करता है और फिर प्रेमास्पद स्वतः प्रेम करते हैं, यह प्रेमास्पद का स्वभाव है।

प्रेम की माँग ही वास्तविक माँग है। जिसके पास अपना कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, अपितु प्रभु-विश्वास ही जिसका सब कुछ है वह विश्वासी साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस जीवन को पा जाता है जो कभी भी किसी भी महामानव को मिला हो। प्रभु-विश्वासी के जीवन में

प्रभु-विश्वास ही सब कुछ है। जिसने उसे अपना लिया उसने सब कुछ पा लिया। इतना ही नहीं, सर्व-समर्थ प्रभु अपने विश्वास के अधीन हो जाते हैं। प्रभु साध्य हैं और उनका विश्वास साधन है। साधक साधन से अभिन्न होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है, यही प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है। प्रभु के नाते जिसकी सेवा बन सके, कर दो। पर सबसे बड़ी सेवा तो यह है कि असमर्थ सर्व-समर्थ के विश्वास को पाकर अभय हो जाये।.....धन जीवन का आधार नहीं है, सर्वाधार ही आधार है, इस वास्तविकता को अपनाना अनिवार्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

अकिंचन
तुम्हारा पिता
.....

568

ऋषिकेश
8-5-1968

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुए। शरणागत साधक सदैव अपने परम उदार परम सुहृद् प्रेमास्पद की गोद में निश्चिन्त तथा निर्भय खेलता है। उसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता और न प्रेमास्पद प्रभु से भिन्न उसकी कोई माँग ही रहती है। प्रेम की माँग ही वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्तिप्रेमास्पद स्वयं की करते हैं। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखना और सब प्रकार से प्रेमास्पद का होकर रहना विश्वासी साधक के लिए अनिवार्य है। शरीर तो सदैव ही संसार के साथ है और साधक सदैव साध्य के साथ है, अर्थात् शरीर और संसार की एकता और प्रेमी और प्रेमास्पद की एकता है। संसार अपने प्यारे की ही एक अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं। इस कारण प्रेमीजन संसार के स्वरूप में अपने प्रेमास्पद की ही अनुपम लीला को देखते हैं और स्वयं प्रीति होकर अपने को निछावर करते रहते हैं। प्रीति प्रीतम का स्वभाव है और प्रेमी का जीवन है। अतः सहज भाव से प्रेम की भूख बढ़ती रहे।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित
.....

569

.....
29-5-1968

मेरे निज-स्वरूप प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

पराश्रय और परिश्रम से भासित होने वाले सुख का सर्वांश में सदा के लिए त्याग अनिवार्य है। पराश्रय और परिश्रम का सदुपयोग एकमात्र पर-सेवा में ही है। कभी भी किसी भी साधक को अपने लिए पराश्रय और परिश्रम अपेक्षित नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब विवेक के प्रकाश में 'पर' और 'स्व' का भेद स्पष्ट हो जाय। 'पर' और 'स्व' का भेद स्पष्ट होते ही साधक 'स्व' में नित्यजीवन तथा प्रेमी प्रेमास्पद को पाता है। अशान्त को शान्ति, पराधीन को स्वाधीनता और रस-विहीन जीवन में रस की अभिव्यक्ति सर्वांश में पराश्रय रहित होने से ही होती है। पराश्रय से रहित होने के लिए, मेरा कुछ नहीं है, यह अनुभव अनिवार्य है। 'मुझमें मेरे प्रियतम है' इसमें अविचल आस्था ही परम आवश्यक है। 'मेरा कुछ नहीं है' यह ज्ञान 'पर' और 'स्व' में विभाजन कर देता है, जिसके होते ही चिन्मय अविनाशी जीवन से स्वतः एकता होती है। 'स्व', 'स्व' के रूप में तभी तक भासित होता है जब तक किसी-न-किसी अंश में साधक पराश्रय और परिश्रम में अपना सुख मानता है। अपना रसरूप जीवन सर्वदा अपने में ही है। जब कभी जिस किसी साधक ने जीवन पाया है तो उसने अपने ही में, अपने को मिटाकर पाया है। बस, यही वास्तव में शरणागति है।

शरणागत अपने को खोता है और अनन्त को पाता है। आरम्भ में अनन्त का योग, बोध और प्रेम ही शरणागत की माँग रहती है। योग, बोध और प्रेम की माँग भोग, मोह और आसक्ति को मिटाकर स्वतः पूरी हो जाती है। माँग का अनुभव करना शरणागत का प्रयास है और उसको पूरा करना शरण्य का सहज स्वभाव है। माँग अनुभव करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। काम की निवृत्ति तथा माँग की पूर्ति होती है-इस महावाक्य में अविचल आस्था प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। काम के सबल होने से माँग में शिथिलता भले ही आ जाय, पर वह नष्ट नहीं होती, किन्तु माँग के सबल होने से काम का सर्वांश में नाश हो जाता है और माँग पूरी हो जाती है, जिसके पूरे होते ही साध्य, साधन और साधक में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती, कारण कि साधन-तत्त्व, जिसमें सभी साधन विलीन होते हैं, साध्य का ही स्वभाव है और उसी के साधक की एकता होती है। जिस प्रकार पराश्रय से स्वतः भोग, मोह और आसक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पराश्रय-रहित होते ही स्वतः योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। योग अनन्त की महिमा है और बोध अनन्त का रसरूप है एवं प्रेम अनन्त का सहज स्वभाव है। योग से असमर्थता का नाश होता है और बोध से अमरत्व से अभिन्नता होती है एवं प्रेम से अगाध अनन्त नित-नव रस की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही साधक की माँग सदा के लिए स्वतः पूरी हो जाती है। इस कारण अपनी माँग का अनुभव करना ही एकमात्र माँग की पूर्ति का अचूक उपाय है।

आपका

570

विदूर आश्रम
10-6-1968

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

अनन्त की अहैतुकी कृपा से अनेक अनुकूलताओं तथा प्रतिकूलताओं का दर्शन करता हुआ यहाँ पहुँच गया।...भगवत् कृपा का आश्रय ही वास्तव में अभय-पद है। भय-रहित हुए बिना कोई भी साधक वह जीवन नहीं पाता जिसको पाकर फिर कुछ पाना शेष नहीं रहता। अभय होने के लिए साधक को पराश्रय तथा परिश्रम से रहित होना अनिवार्य है, कारण कि इसके बिना देहातीत जीवन की ओर प्रगति ही नहीं होती। यद्यपि प्रेमियों का प्रेमास्पद, जिज्ञासुओं का तत्त्व-ज्ञान एवं भक्तों का भगवान् सदैव सर्वत्र अपने ही में है। जो अपने में है, उसकी माँग ही उसकी प्राप्ति का अचूक उपाय है। माँग की जागृति के बिना काम का नाश नहीं होता और उसके बिना हुए राम की प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् वास्तविक योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। योग, बोध, प्रेम में जीवन है। जीवन में ही अपार आनन्द है। जीवन-धन अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। अपने लक्ष्य से लेशमात्र भी निराश न हो। यह मेरा सुझाव है। अपने में से ममता की जंजीरों को सदा के लिए तोड़ देना है और सर्व-समर्थ की आत्मीयता को स्वीकार करना है।.....अपने में परिवर्तन हो जाने पर सभी परिस्थितियाँ समान हो जाती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

571

भागलपुर
23-9-1968

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

सप्रेम हरिस्मरण।

.....रोग प्राकृतिक तप है। उससे डरो मत। रोग, भोग की रुचि का नाश तथा देहाभिमान गलाने के लिए आता है। इस दृष्टि से रोग बड़ी आवश्यक वस्तु है। प्रत्येक घटना में अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करते हुए सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। प्रभु-विश्वास साधक सब कुछ प्रभु के समर्पित कर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है, और फिर उसे निरन्तर सर्व-समर्थ प्रभु की लीला का ही दर्शन होता है। उसे प्रत्येक घटना प्रभु की मधुर स्मृति प्रदान करती है। उनकी स्मृति में वास्तविक जीवन है। स्मृति ही योग, बोध, प्रेम के

रूप में परिणत हो जाती है। और फिर मानव चिर-शान्ति, मुक्ति तथा भक्ति से अभिन्न हो जाता हैं अतः प्रिय की मधुर स्मृति होती रहे, जो एक-मात्र शरणागत होने से ही साध्य है। सभी आवश्यक कार्य स्वतः हो जायेंगे।

सद्भावना सहित

.....

572

आगरा
13-10-1968

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

शरणागत साधक प्रत्येक घटना में अपने परम प्रेमास्पद, परम सुहृद की अनुपम लीला का दर्शन करते हैं। रोग के रूप में कोई और नहीं है, वे ही देहाभिमान गलाने के लिए आये हैं। तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो। सदैव सर्वत्र अपने शरणागतवत्सल प्यारे प्रभु को देखो। सब कुछ उन्हीं का है। उन्हीं के हाथों में उन सभी को सौंप दो जिन्हें कभी भूल से अपना मानते थे। उनके करकमल समर्थ हैं। अतः समर्थ के हाथों में देकर सब प्रकार निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। सहज भाव से प्रेमास्पद की मधुर स्मृति होती रहे। जिन्होंने उनकी महिमा को अपनाया, वे सभी कृतकृत्य हो गये। उनके हो जाने पर कुछ करना शेष नहीं रहता-यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। पुनः तुम दोनों को सद्भावना सहित बहुत-बहुत प्यार। अन्य सभी को सप्रेम हरिस्मरण।

तुम्हारा

.....

573

वृन्दावन
21-11-1968

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ परम प्रिय,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....जो साधक सब प्रकार से प्यारे प्रभु के ही होकर रहते हैं वे सदैव मेरे ही साथ रहते हैं, कारण प्रभु-विश्वास ही गुरु-तत्त्व है। इतना ही नहीं, प्रभु-विश्वासी का प्रभु-विश्वास से भिन्न कुछ भी अस्तित्व नहीं है, अर्थात् प्रभु-विश्वास ही गुरु का वास्तविक स्वरूप है। अतः प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। यह शरणागत साधक का अनुभव है। अतः प्रभु-विश्वास को अपनाकर सदा के लिए गुरु-तत्त्व से अभिन्न होकर आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से प्रियतम को सदा ही रस प्रदान करते रहो। प्रभु की अहैतुकी कृपा से निर्मित जीवन प्रभु के काम आ जाय-प्रभु के प्रेम से भर जाय-यह उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

574

बम्बई
9-1-1969

मेरे निज-स्वरूप प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....मानव-समाज की सर्वोकृष्ट सेवा क्या है, इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि आज मानव-समाज पराधीनताओं में इतना जकड़ गया है कि वह अपने द्वारा अपने को सही मानव प्रकाशित करने में, अर्थात् मानव का वास्तविक जीवन क्या है, इसका उसे स्पष्ट बोध नहीं है। जब तक मानव अपने को अपनी दृष्टि में सही मानव नहीं पायेगा जब तक वह सभी के लिए उपयोगी सिद्ध न होगा। इतना ही नहीं, यदि यह कहा जाय वह अपने लिए भी अनुपयोगी हो जायगा, तो ऐसा मानना यथेष्ट ही होगा। धन के द्वारा, जन के द्वारा, योग्यता के द्वारा जो सेवाएँ की जाती हैं वे वास्तविक सेवाएँ नहीं हैं, कारण कि इन सेवाओं से परिवर्तनशील वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का ही महत्व बढ़ता है, जिससे मानव वस्तु आदि की दासता में आबद्ध होकर अपने वास्तविक जीवन से विमुख हो जाता है और फिर वह अपने में अपने जीवन-धन को न पाकर अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है। सत्कार्य, सत्वर्चा एवं सत्चिन्तन आदि सत्संग नहीं हैं। सत्संग मानव का स्वधर्म है और चर्चा, चिन्तन आदि पराश्रय और परिश्रम से साध्य है। जो पराश्रय एवं परिश्रम से साध्य है उसका विनाश अनिवार्य साध्य है। मानव को स्वभाव से अविनाशी जीवन चाहिए। इस माँग की पूर्ति सत्संग से भिन्न और किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ की सर्वोत्कृष्ट सेवा सत्संग-योजना को सजीव तथा व्यापक बनाने में है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

575

इलाहाबाद
15-1-1969

मेरे निज-स्वरूप मानवता के पुजारी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....शरणागत की अपनी कोई बात नहीं होती। यह सभी विश्वासी मानव मानते हैं कि मानव-जीवन सर्व-समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा से निर्मित है। जिनकी महती कृपा से यह जीवन मिला है उन्हीं की प्रेरणा है कि मानव, मानव होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाये, जो

एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। सत्संग योजना ही मानव-हितकारी सर्वोत्कृष्ट योजना है।

यद्यपि मानव सेवा संघ का प्रकाश सनातन सत्य है, परन्तु उसमें प्रवृत्ति उन्हीं भाई-बहिनों की अधिक होती है जिनमें जीवन-सम्बन्धी जिज्ञासा अधिक है, जो विश्वास, विचार तथा कर्त्तव्य तीनों ही दृष्टियों से जीवन की समस्याओं को हल करना चाहते हैं।.....मानव सेवा संघ की सेवा प्रभु-विश्वासी साधकों की पूजा है और विचारशीलों की साधना है। भौतिकवादी दृष्टिकोण से मानव-सेवा-संघ, मानव-मात्र का अपना संघ है। निज ज्ञान का अनादर, बल का दुरुपयोग एवं श्रद्धा में विकल्प न करना ही मानव-सेवा-संघ का महामंत्र है, जिसको अपनाकर प्रत्येक मानव उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम से भरपूर होकर सभी के लिए उपयोगी हो सकता है, अर्थात् भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति प्रत्येक भाई-बहिन को हो सकती है। यही मानव सेवा संघ का लक्ष्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

576

वृन्दावन
25-1-1969

मेरे निज-स्वरूप मानवता के पुजारी साधननिष्ठ प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....जीवन उपयोगी हो जाय, इसी में जीवन की सार्थकता है। उसके लिए सत्संग ही एकमात्र अचूक उपाय है। इस वास्तविकता को अपनाने हुए सत्संग-योजना को सजीव बनाना अत्यंत आवश्यक है। मानव सेवा संघ का प्रकाश अपना लेने पर मानव सभी के लिए उपयोगी हो जाता है। अधिकार लोलुपता से रहित कर्त्तव्यपरायणता, की हुई भूल न दोहराकर वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना एवं परस्पर अनेक भेद होते हुए भी सच्चाई के साथ प्रीति की एकता स्वीकार करना आदि जीवन-तत्त्व हैं। इन्हें अपनाये बिना व्यक्तिगत जीवन में चिर-शान्ति, स्वाधीनता एवं परम प्रेम से भरपूर जीवन नहीं हो सकता। जिसके बिना हुए अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत सत्संग, पारिवारिक सत्संग एवं सामाजिक सत्संग को अपनाना अनिवार्य है। व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन में भेद मानना भारी भूल है। व्यक्ति समाज के अधिकारों का पुंज है, और समाज व्यक्ति का कर्त्तव्य-क्षेत्र है। जगत् और जगत्पति दोनों के अधिकारों को सुरक्षित रखना है। जगत् मानव को उदार और प्रभु, मानव को प्रेम से भरपूर पसन्द करते हैं, इतना

ही नहीं, जिसकी स्वाधीनता प्रभु ने मानव को अपनी अहैतुकी कृपा से प्रदान की है- ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। इस अविनाशी सत्य को अपनाने के लिए सजग मानव अथक प्रयत्नशील रहते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

577

वृदावन
26-1-1969

स्नेहमयी साधननिष्ठ माँ,

सप्रेम हरिस्मरण।

.....विचारपूर्वक यह अनुभव करना अनिवार्य है कि सृष्टि में मेरा करके कुछ नहीं है। इतना ही नहीं, मुझे जो कुछ चाहिए वह संसार नहीं दे सकता, तभी मानसिक शान्ति सुरक्षित होगी। जिसके होने से अपने में ही अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। अपने में अपना जीवन है। पराश्रय तथा परिश्रम से रहित होने पर इस वास्तविकता का बोध होता है। सच तो यह है कि जो अपने में नहीं है वह अपना नहीं है। अपना वही है जो अपने में है। उसी में अविचल आस्था रहनी चाहिए। अपने में जो जीवन है उसकी उपलब्धि के लिए समर्पण योग अचूक उपाय है। जो साधक लक्ष्य से निराश नहीं होता वह अवश्य सफलता पाता है। ऐसा मेरा अनुभव तथा विश्वास है। शान्ति के सम्पादन के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है। शरीर के द्वारा जो प्रयास किया जाता है उससे परमशान्ति नहीं मिलती। किन्तु जो अपने द्वारा किया जाता है उससे अवश्य शान्ति मिलती है। अब विचार करो, मानव अपने द्वारा क्या कर सकता है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, एकमात्र सर्व-समर्थ प्रभु की अपने हैं-यह वास्तविक मानव अपने द्वारा अपना सकता है। जिसका अपना कुछ नहीं है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकारता और जिसे कुछ नहीं चाहिए वह चिर-शान्ति प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से ज्ञान-पूर्वक अचाह होना और जगत् के प्रति उदार एवं प्रभु के लिए प्रेमी होने से ही मानव को लक्ष्य की प्राप्ति होती है। जीवन का जो सत्य है उसे अपनाये बिना कभी किसी का कल्याण नहीं हुआ। अतः जो सत्य है उसे स्वीकार करना ही होगा। इसकी स्वाधीनता मानव को प्राप्त है। प्राप्त के उपयोग में ही सफलता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन

578

10-3-1969

स्नेहमयी साधननिष्ठ मेरी माँ,

सर्वदा सजग तथा शान्त एवं प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। अपना सुख भोगते ही साधक आनन्द से विमुख हो जाता है। शान्ति से भी असंग होना चाहिए। वे छलिया अपने ही में हैं, खोज करने से दूर हो जाते हैं। उनसे भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है उससे विमुख हो जाओ, तो तुम उन्हें अपने ही में पाओगी। अपने, अपने ही में हैं। उन्हें ढूंढो मत, किसी और को पसन्द मत करो। उनसे भिन्न कुछ है नहीं। अतः अचाह, अप्रयत्न हो जाओ। जीवित शरीर भी मृतकवत् समझो। उसके रहने-न रहने से अपना कोई लाभ तथा क्षति नहीं है। शरीर चाहे जिस दशा में पड़ा रहे, अथवा चलता-फिरता रहे, उससे अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। अपने में अपने प्यारे जो प्रभु हैं उन्हीं को प्यार करो, और सब प्रकार से अभय हो जाओ। जो अच्छा लगता है सो रहता नहीं, कारण कि अच्छा लगना उसका भोग है। भोग योग से विमुख कर देता है। अपने को उन्हें दे दो। वे उसका जो चाहें उपयोग करें। अपने प्रति होने वाली भलाई तथा बुराई के आक्रमण से मुक्त रहो। भोग की रुचि नाश होने से योग की प्राप्ति होती है-और योग का भोग न करने से मोक्ष मिलता है। मोक्ष में सन्तुष्ट न रहने से अगाध अनन्त प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिससे प्रेमास्पद को रस मिलता है। प्रेमी, प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न होता है। प्रेम, प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। उसकी माँग प्रेमी का पुरुषार्थ है। अतः प्रेम की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। बस, यही सफलता की कुंजी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

579

नई दिल्ली
26-5-1969

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....तन, मन, धन आदि सभी वस्तुओं पर सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु की सील लगा दो। सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहो। अन्तर्यामी रूप से जो प्रेरणा मिले वही करते रहो। किसी के साथ वैरभाव मत रखो। प्यारे प्रभु के नाते किसी का बुरा मत चाहो। शान्त होकर प्यारे प्रभु को पुकारते रहो। प्रार्थना के समान और कोई व्रत नहीं है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो।

तुम्हारा

.....

580

नागौर

8-7-1969

मेरे निज-स्वरूप परम स्नेही प्रभु-विश्वासी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु के होकर उन्हीं के नाते पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने का स्वभाव बनाओ। तो फिर प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म भगवत्-पूजा हो जायगा और प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता उदय होगी, जो वास्तविक जीवन है। जीवन की उपलब्धि के लिए ही मानव-जीवन मिला है। भगवत्-सेवा तथा भगवत्-प्रियता से भिन्न प्रभु-विश्वासी का जीवन कुछ नहीं है,अर्थात् सेवा तथा प्रियता में ही जीवन है। प्रत्येक प्रवृत्ति में सेवा और सहज निवृत्ति में प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहेनी चाहिए, कारण कि प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र जातीय एकता, नित्य-सम्बन्ध एवं आत्मीयता से ही साध्य है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, यह ज्ञान से ही सिद्ध है। ज्ञान के आदर में ही असत्य की निवृत्ति एवं सत्य की प्राप्ति निहित है। भक्त-वाणी के द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वावपूर्वक स्वीकार करो कि एकमात्र श्रीहरि ही अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं, अर्थात् सब कुछ प्रभु का है और प्रभु अपने हैं। यह शरणागत साधक का जीवन है। बुराई-रहित होने पर कर्त्तव्यपरायणता और अचाह होने पर असंगता स्वतः प्राप्त होती है। कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए एवं असंगता अपने लिए और आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता से जीवन प्राण-प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी होता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी आत्मीयता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन तुम्हारा पिता

581

9-9-1969

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

3-9-69 का लिखा हुआ सरलता तथा सच्चाई से हरा-भरा पत्र मिला। समाचार विदित हुआ। तुमने ठीक ही लिखा है कि नैया मझधार में है। पर भैया, यह न भूलो कि खिवैया साथ है। प्रभु विश्वास साधक के जीवन में निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं हैं। तुम यह क्यों भूल जाते हो कि प्रत्येक परिस्थिति में, जो तुम्हारा अपना है, वह सदैव तुम्हारे साथ है। अपने में अपने प्रभु के विश्वास

को सदैव अनुभव करों जिसने प्रभु-विश्वास को अपनाया वह स्वयं सदा के लिए अभय हो गया। यह प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है। मेरे प्यारे, प्रभु-विश्वास से भिन्न विश्वास निर्जीव है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो, तब तुम अपने को अभय पाओगे। प्रभु-विश्वास से प्रभु-सम्बन्ध स्वतः दृढ़ हो जाता है और फिर सहज भाव से मधुर स्मृति उदय होती है। प्रभु की विस्मृति से ही मानव अभाव अनुभव करता है। जब स्मृति अभिव्यक्त होती है, तब अपने आप अभाव का अभाव हो जाता है और भयहारी प्रभु अभयदान देकर अपनी प्रियता प्रदान करते हैं। उनकी प्रियता से सभी ने रसरूप जीवन पाया है, जिसे पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। सुख-दुःख संसार के स्वरूप हैं और साधक के लिए वह साधन-सामग्री है। किन्तु मानव की वास्तविक माँग तो नित-नव अविनाशी अनन्त रस की है, जिसकी उपलब्धि एकमात्र प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध से साध्य है। जो सदैव सभी का अपना है, वह तुम्हारा भी है भाई। फिर क्यों अनाथपन अनुभव करते हो! सनाथ होकर मिले हुए बल का विधिवत् पूजाभाव से उपयोग करो। सृष्टि का प्रत्येक कार्य प्रभु का कार्य है। अतः प्रभु के कार्य को करते हुए प्रभु के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करो। यह माँग अवश्य पूरी होती है, कारण कि सेवा, त्याग, प्रेम के लिए ही मानव-जीवन मिला है। इस सत्य को कभी मत भूलो। मानव सेवा संघ मानव-मात्र का होने के कारण तुम्हारा भी अपना है। अतः मानव-दर्शन, जीवन-विज्ञान तथा आस्था के तत्त्व को अपनाकर सोई हुई मानवता को जगाओ और सभी के काम आओ। इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

582

जोधपुर
23-9-1969

मेरे निज-स्वरूप प्रभु-विश्वासी प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

.....विधि का विधान अमिट है। प्रभु जैसे राखें वैसे ही रहो। उसी में मंगल है। मानव कामना-पूर्ति में पराधीन और प्रभु-प्रेम की प्राप्ति में सर्वदा स्वाधीन हैं- इस विधान में अविचल आस्था करो। प्रभु-प्रेम की प्राप्ति के लिए एकमात्र आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना है, जिसे शरणागत साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर सकता है। प्यारे प्रभु से भिन्न कोई और अपना है ही नहीं, इस वास्तविकता को स्वीकार करो और सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहो, और उन्हीं के नाते पूजाभाव से पूरी शक्ति लगाकर प्रभु की प्रसन्नतार्थ वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को करते

रहो। कर्त्तव्य के अन्त में शान्त हो जाओ। ऐसा होने से स्वतः आवश्यक सामर्थ्य प्राप्त होगी और आत्मीय सम्बन्ध होने के कारण प्यारे प्रभु की मधुर स्मृति भी जाग्रत होगी। उनकी मधुर स्मृति में रसरूप जीवन है। यह प्रभु-प्रेमी साधकों का अनुभव है। जो सदैव है वही सर्वत्र है और वही समर्थ है। वही सभी का है। अतः वे आपके भी हैं, आपमें भी हैं। अपने में ही अपने प्यारे प्रभु को पाकर सदा के लिए आनन्द-विभोर हो जाओ। यही मेरी सद्भावना है।.....प्रभु-विश्वासी तथा विवेकीजन शरीर के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त हो जाते हैं, कारण कि उनका जीवन-ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित तथा प्रेम के रस से भरपूर हो जाता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

583

5-10-1969

.....

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

समस्त अध्यात्मवादियों का मत है कि देहाभिमान-रहित होने पर सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। इसी मूल सत्य के आधार पर विश्वास-पथ के साधकों की यह अविचल आस्था है कि प्रेम का पान करने के लिए निर्विशेष तत्त्व, अलौकिक दिव्य शक्तियों से प्रेरित होकर अनन्त परमात्मा अवतरित होता है। पर वह सदा ही देह-धर्म से मुक्त है, कारण कि भगवान चिन्मय तत्त्वों से अपनी लीला करते हैं। उनकी हर वस्तु चिन्मय होती है उनके अवतरण से पूर्व प्रेम-तत्त्व-रसरूपा श्रीराधारानी अवतरित हुई। अतः उनके प्रेम का पान करने के लिए श्रीकृष्ण का अवतार हुआ। हम भारतीय इसी परम्परा को मानते आ रहे हैं।

यह सर्वमान्य सत्य है कि कोई भी उत्पति बिना अनुत्पन्न तत्त्व के उत्पन्न नहीं हो सकती और स्वयंप्रकाश परम तत्त्व है उसी से दृश्य जगत् प्रतीत हो रहा है, सत्ता पा रहा है, गति पा रहा है। इतना ही नहीं, आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में भी दृश्य जगत् अव्यक्त ही है। अब पाठक महानुभाव स्वयं विचार करेंगे कि सत्तारूप से व्यक्त और अव्यक्त एक ही तत्त्व है, पर जो अनन्त परमात्मा व्यक्त-अव्यक्त का प्रकाशक है, हम प्रभु-विश्वासियों के लिए अलौकिक दिव्य, चिन्मय रूप से प्रकट होकर प्रेमियों के साथ क्रीड़ा करता है, यहाँ तक कि स्वयं प्रेमी हो जाता है। प्रेमी और प्रेमास्पद का दिव्य चिन्मय विहार ही श्रीकृष्ण का नित्य विहार है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने प्रेम-तत्त्व की प्राप्ति के लिए चिर-शान्ति में रमण नहीं किया और मुक्ति से सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु

मुक्ति से मुक्त होकर भक्ति-तत्त्व को स्वीकार किया।

भक्ति-रस एक ऐसा अनुपम अलौकिक तत्त्व है कि जिस रस के लिए भक्त और भगवान् दोनों ही लालयित रहते हैं। सर्व दुःखों की निवृति, चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति अपने लिए भले ही उपयोगी हो, परन्तु भक्ति-रस तो भगवान् के लिए उपयोगी है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् में किसी प्रकार का अभाव है। सब प्रकार से पूर्ण तथा आनन्दघन होते हुए भी भक्ति-रस से आनन्दघन को एक विशेष आनन्द मिलता है।

भगवान् का अवतार भक्तों के अवतरण के बिना नहीं होता। इससे यह स्पष्ट होता है कि भक्तों के लिए ही भगवान् का अवतार होता है, कारण कि भक्त लोग विदेह-मुक्ति को ठुकरा कर भक्ति-रस के लिए अनेक प्रतिकूलताओं को अपनाते हैं, किन्तु वास्तव में तो भक्त के लिए जीवन में प्रतिकूलता जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहती। वे तो मिलन में वियोग, वियोग में मिलन नित्य ही अनुभव करते हैं। यदि यह कहा जाय कि प्रेमसिन्धु के मिलन और वियोग के दो तट हैं और कुछ नहीं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। कारण कि प्रेम दोनों ही दशा में उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। प्रेम स्वरूप से क्षति, पूर्ति और निवृति से रहित है। निवृति काम की होती है, पूर्ति जिज्ञासा की एवं प्राप्ति प्रेम ही की होती है। प्रेम अनन्त का स्वभाव और प्रेमी का जीवन है। प्रेम ही घनीभूत होकर भगवान् को रस देने के लिए अनेक भावों के अनुसार अवतरित होता है-यही भगवान् के परिकर कहलाते हैं। मूल रूप से तो सभी में राधा और कृष्ण तत्त्व ही है। प्रेम-स्वरूपा श्रीराधारानी तथा उनके परिकर और आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण, भाव-भेद के कारण प्रेम-तत्त्व ही आनन्द-परिकरों के रूप में अवतरित होता है, परन्तु एक ही भगवान् सभी प्रेमियों की माँग को पूरी करता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम प्रेमीजन अजन्मा का जन्मोत्सव मनाते हैं। यदि विश्वास-पथ के साधक महानुभाव जन्मोत्सव के रहस्य को अपनाकर इस प्रेम-राज्य में प्रवेश पाना चाहते हैं, तो सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य व्रत लेकर विवेकपूर्वक देहाभिमान से रहित हो जायँ और भक्तवाणी के द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता को जगाएँ, तो उन्हें भगवान् के प्राकट्य का अनुभव हो सकता है, अर्थात् वे भगवान् की दिव्य चिन्मय लीला में प्रवेश पा सकते हैं। यह शरणागत साधकों की अविचल आस्था तथा अनुभव है।

तुम्हारा

.....

584

लखनऊ
14-11-1969

मेरे निज-स्वरूप प्रभु-विश्वासी प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

विधि का विधान अमिट है। प्रत्येक परिस्थिति में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखना अनिवार्य है, कारण कि उसके बिना यथेष्ट कर्त्तव्य को बोध नहीं होता। यद्यपि प्रभु के मंगलमय विधान से मानव कर्त्तव्य-पालन में स्वाधीन है, परन्तु लोभ, मोह आदि विकारों के कारण कर्त्तव्यपरायणता में अनेक बाधाएँ प्रतीत होती हैं। ऐसा मेरा अनुभव है। यदि मानव ज्ञानपूर्वक निर्मम, निष्काम एवं असंग हो जाय, अथवा आस्था-श्रद्धा-विश्वास पूर्वक शरणागत हो जाय तो फिर कर्त्तव्य-पालन में कोई कठिनाई नहीं रहती-ऐसा विचारशीलों का अनुभव है। सभी के प्रति सद्भावना रहनी चाहिए और किसी से कुछ भी आशा नहीं रखनी चाहिए। इतना ही नहीं जहाँ तक हो सके बुराई का उत्तर भलाई से, कटुता का उत्तर मधुरता से ही देना चाहिए। यह तभी सम्भव होता है, जब मानव सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु का होकर रहता है और उन्हीं के नाते पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करता है। सच तो यह है कि सर्व-समर्थ श्रीहरि ही अपने हैं। उन्हीं से जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध है। उनकी प्रियता में ही जीवन है। सब कुछ उनका है और वे अपने। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखनी चाहिए। उनके अस्तित्व में ही संसार का अस्तित्व विलीन हो जाय। उनकी महिमा को अपनाकर अभय हो जायँ, यही मेरी सद्भावना है। जहाँ रहें प्रसन्न रहें। प्यारे प्रभु की स्मृति होती रहे। प्रियता की भूख बढ़ती रहे। सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

585

.....
14-11-1969

मेरे निज-स्वरूप परम स्नेही प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

भूल-रहित होने से निर्विकारता, शान्ति और मुक्ति-स्वतः प्राप्त होती है-यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। पर विचार यह करना है कि भूल का ज्ञान क्या किसी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्राण आदि दृश्य पदार्थ से होता है। तो कहना होगा कि कदापि नहीं। कारण कि वे स्वयं अपने को आप प्रकाशित नहीं कर सकते। तो उनके द्वारा भूल का अनुभव कैसे होगा? जिस ज्ञान से साधक यह अनुभव करता है कि शरीर और संसार में अविभाज्य सम्बन्ध है, शरीर को संसार की सीमा से

बाहर नहीं ले जाया जा सकता, इतना ही नहीं, शरीर की सुरक्षा के लिए खुराक, औषधि आदि संसार के ही पदार्थ हैं, समष्टि शक्तियों के बिना क्या शरीर की सीमित शक्तियाँ काम कर सकती हैं? तो सभी वैज्ञानिक कहेंगे, नहीं। जिस ज्ञान से इस वास्तविकता का अनुभव हुआ, क्या वह ज्ञान किसी भौतिक तत्त्व से निर्मित है? यदि ऐसा होता तो वह ज्ञान हमें प्ररेणा न देता कि सृष्टि पर तुम्हारा स्वतंत्र अधिकार नहीं है। जिस पर स्वतंत्र अधिकार नहीं होता उसमें ममता करना, उसकी कामना करना, उससे अपने को मिलाकर रखना भारी भूल है। इस भूल का अनुभव कर, भूल-रहित होने पर, साधक को निर्विवाद सिद्ध हुआ कि ज्ञान से मानव निर्विकारता, शान्ति, मुक्ति पाता है और ज्ञान एक अविनाशी, अनुत्पन्न हुआ नित्य तत्त्व है। उसके आदर में ही मानव की स्वाधीनता है। अतः मानव ज्ञानपूर्वक निर्विकारता, शान्ति और मुक्ति का सम्पादन कर सकता है। उस ज्ञान के साथ-साथ मानव को बल, अर्थात् विज्ञान और आस्था का तत्त्व भी प्राप्त है।

बल से कर्त्तव्य की प्रेरणा मिलती है, और ज्ञान से निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त होती है तथा आस्था से उस अनन्त की स्वीकृति होती है विज्ञानरूपी बल, ज्ञानरूपी प्रकाश जिसकी महिमा है। ज्ञान-विज्ञान का सदुपयोग करने पर आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अनन्त में आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। विज्ञान का सदुपयोग जगत् के लिए और ज्ञान का सदुपयोग अपने लिए और आस्था का सदुपयोग प्रेम-तत्त्व से अभिन्न होकर परमात्मा के लिए उपयोगी होता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी हो सकता है। उसे केवल मिले हुए बल, ज्ञान एवं आस्था के तत्त्व का सदुपयोग करना है। मिले हुए का सदुपयोग सुगमतापूर्वक हो सकता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान नहीं है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

586

इलाहाबाद
14-1-1970

मेरे निज-स्वरूप परम भागवत प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....प्राणों के रहते हुए ही सजग साधक को विचारपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर निर्विकारता का सौन्दर्य तथा निष्कामता का ऐश्वर्य एवं आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीयता स्वीकार कर अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता से अभिन्न हो जाना

चाहिए। यही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्व-समर्थ श्रीहरि ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव का निर्माण किया है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो और सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर रहो, उन्हीं का कार्य करो, उन्हीं में वास रहेगा, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। सत्य को स्वीकार करना मानव का स्वधर्म है। सत्य को स्वीकार करने से असत्य का त्याग स्वतः हो जाता है। यह सभी साधकों का मत है। असत्य के त्याग से अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति का नाश होता है और सत्संग से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता प्राप्त होती है। कर्त्तव्यपरायणता अथवा उदारता से जीवन जगत् के लिए तथा असंगता से जीवन अपने लिए एवं आत्मीयता से उदित अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है, यही मानव-जीवन की पूर्णता है, जिसे प्रत्येक मानव सत्संग के द्वारा प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार मानव-जीवन के महत्त्व को अपनाकर मानव-मात्र को सत्संगी होना अनिवार्य है। प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर रहो, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन
तुम्हारा पिता

587

राँची
22-6-1970

मेरे निज-स्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। हर्ष की बात है कि तुम सन्तों के बीच एकान्त वास कर रहे हो। सन्त के संग के समान और कोई आनन्ददायक अचूक उपाय नहीं है। किसी सन्त की वाणी है कि-

"जो सुख साधु संग में, सो बैकुण्ठ न होय।"

सन्त जन स्वभाव से ही असत्य के त्यागी तथा सत् के संगी होते हैं। उनकी वाणी सदैव सत्संग की प्रेरणा देती है। विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग ही वास्तविक सत्संग है। सत्संग से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता तथा आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है। कर्त्तव्यपरायणता से चिर-शान्ति तथा असंगता से जीवन-मुक्ति एवं आत्मीयता से परम प्रिय की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। इसके होते ही मानव कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा मेरा अनुभव है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। सर्व-समर्थ प्रभु के होकर अभय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ,

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित .....

588

राँची
11-7-1970

भक्तिमती स्नेहमयी,

सप्रेम हरिस्मरण।

मेरे जानते अध्ययन-कार्य करने वालों को योग्यता-सम्पादन के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए, कारण कि शिक्षित होने पर ही शिक्षार्थियों की उचित सेवा हो सकती है। शारीरिक योग्यता आदि का बल समाज के काम आता है, पर यह रहस्य कोई बिरले ही जानते हैं। बल संसार के लिए, ज्ञान अपने लिए एवं आस्था का तत्त्व प्रभु के लिए मिला है। बल के सदुपयोग से जगत् की सेवा करो और ज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाओ एवं आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर भक्त हो जाओ। मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी है, यह इस जीवन की महिमा है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। जिन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरति होकर मानव का निर्माण किया है वे परम स्वतंत्र, परम उदार एवं परम प्रेम से भरपूर है। उन्होंने उन्हीं मूल तत्त्वों से मानव की रचना की है। अतः मानव भी उदार, स्वाधीन तथा प्रेम से भरपूर हो सकता है। पर यह तभी संभव होगा जब जीवन का सत्य वह स्वीकार करे।

अब तुम स्वयं विचार करो कि जीवन का मूल सत्य क्या है? क्या तुम निज ज्ञान के द्वारा यह अनुभव नहीं करती हो कि शरीर आदि किसी भी वस्तु के साथ तुम सदैव रह नहीं सकती हो और न कोई वस्तु ही तुम्हारे साथ सदैव रह सकती है। इस वास्तविकता से यह प्रकाश मिलता है कि प्रत्येक मानव को समस्त सृष्टि से निर्मम, निष्काम एवं असंग होना अनिवार्य है, जिसे मावन स्वयं कर सकता है, जिसके लिए किसी भी पराश्रय एवं परिश्रम की अपेक्षा नहीं है। जो तथ्य ज्ञान से सिद्ध है उसके अपनाने में मानव स्वाधीन है। इतना ही नहीं, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से निर्मम होने पर ही उनके द्वारा यथाशक्ति शरीर परिवार एवं समाज और संसार की सेवा हो सकती है। विधिवत्, पवित्र भाव से की हुई सेवा का अन्त त्याग में और त्याग की पूर्णता बोध में एवं बोध की पूर्णता स्वयं प्रेम में हो जाती है।

कर्त्तव्य-पालन का फल योग है। योग की पूर्णता होने पर स्वतः बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम निहित है। इस दृष्टि से वर्तमान कर्त्तव्य कर्म से मानव को योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। योग में चिर-शान्ति, बोध में मुक्ति एवं प्रेम में भक्ति निहित है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने बल का उपयोग जगत् के लिए, ज्ञान का अपने लिए और विश्वास का प्रभु के लिए किया है। कर्त्तव्यनिष्ठ, विवेकी और विश्वासी

होकर ही मानव सभी के लिए उपयोगी होता है। जीवन किसी के लिए अनुपयोगी न हो, अपितु सभी के लिए उपयोगी हो जाय, इसी में मानव-जीवन की सार्थकता तथा पूर्णता है। इस माँग को सबल बनाओ। माँग के सबल होने से काम का नाश और काम का नाश होने से माँग की पूर्ति स्वतः होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान में अविचल आस्था करना अनिवार्य है।

जब मानव यह स्वीकार सकता है कि मेरी वास्तविक माँग पूरी हो सकती है तब माँग स्वतः सबल होकर काम को खाकर अपने आप पूरी हो जाती है, अर्थात् काम की निवृत्ति, माँग की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति में मानव-मात्र का जन्मजात अधिकार है। इस सत्य में विकल्प-रहित आस्था करो। इसके अतिरिक्त यदि किसी को कुछ और चाहिए तो वह सदा के लिए सभी के लिए संभव नहीं है। जो संभव नहीं है उसके लिए आवश्यकता महसूस करते हैं जो सभी के लिए और सदा के लिए संभव है। भोग, मोह और आसक्तियों की निवृत्ति और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति मानव-मात्र के लिए संभव है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। पुनः सद्भावना-सहित बहुत-बहुत प्यार।

सद्भावना सहित

.....

589

राँची

11-7-1970

मेरे निज-स्वरूप परम भागवत प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....सच तो यह है कि शरीर के रहते हुए भी विचारपूर्वक शरीर से असंग होना अनिवार्य है और यही वास्तविक आरोग्य है। शरीर से किसी भी काल में जातीय सम्बन्ध नहीं है, केवल सेवा-कार्य के लिए काल्पनिक सम्बन्ध है। जिससे काल्पनिक सम्बन्ध है उसे कभी भी अपने लिए नहीं मानना चाहिए। शरीर न तो अपना है और न अपने लिए इस वास्तविकता का अनुभव करो और देहातीत जीवन से अभिन्न हो जाओ। यही मानव का पुरुषार्थ है। देहातीत जीवन में किसी प्रकार का अभाव, पराधीनता एवं नीरसता नहीं है। इतना ही नहीं, देहातीत होने पर ही योगी परम तत्त्व से, विवेकी निज-स्वरूप से और प्रेमी प्रेमास्पद से अभिन्न होते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को देहाभिमान से रहित होने के लिए ज्ञान-पूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होना अनिवार्य है।

ज्ञान का प्रकाश और आस्था-तत्त्व मानव को अपने रचयिता से स्वतः प्राप्त है। शरीर तो उसे केवल विश्व-रूपी बाटिका की सेवा करने के लिए मिला है, अपने लिए नहीं। अपने लिए तो निज ज्ञान है, जिससे मानव जब चाहे तब

निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है। स्वाधीन होने पर ही आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक सर्व-समर्थ प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध सजीवन होता है। आत्मीय सम्बन्ध से ही अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। अतः ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि विश्व में मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए एवं भक्तवाणी के आधार पर आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक स्वीकार करो कि प्यारे प्रभु मेरे अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं। अपने होने से अपने को अत्यन्त प्रिय हैं और अभी होने से वर्तमान में ही प्राप्त हो सकते हैं। अपने में होने से किसी प्रकार के श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है। जो विश्वासी साधक सब प्रकार से प्रभु के होकर रहते हैं और वर्तमान कर्त्तव्य कर्म के द्वारा उन्हीं की पूजा करते हैं, वे उन्हीं में वास पाते हैं, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

जिस जीवन की वर्तमान में उपलब्धि हो सकती है उसके लिए भविष्य की आशा करना भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन कोई स्थान नहीं है। प्रभु से भिन्न किसी और की सत्ता नहीं है। वर्तमान में उन्हीं की प्राप्ति होती है जो सदैव, सर्वत्र, सभी के हैं। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। प्रभु-विश्वास ही प्रभु-प्राप्ति का एकमात्र अचूक उपाय है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं, जिन्होंने विचारपूर्वक अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग कर आस्थापूर्वक प्रभु-विश्वास तथा प्रभु-संबंध को अपनाया है। आस्था आस्थावान से ही प्राप्त होती है, अर्थात् प्रभु-विश्वास प्रभु-विश्वासियों की ही देन है। एक-एक विश्वासी साधक से अनेकों व्यक्तियों को विश्वास प्राप्त होता है। पर सबसे पूर्व प्रभु-विश्वास प्रभु की अहैतुकी कृपा से ही प्राप्त हुआ होगा। जो साधक ज्ञानपूर्वक जगत् के विश्वास से मुक्त हो जाते हैं उनके जीवन में भी प्रभु-विश्वास की अभिव्यक्ति होती है। जगत् का विश्वास, जो विवेक-विरोधी है, प्रभु-विश्वास में बाधक है, जगत् नहीं। बेचारा जगत् तो सदैव प्रभु की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा देता रहता है।

जगत् जिनकी रचना है वे अपने हैं। जगत् अपना नहीं है। जो अपना नहीं है उसके प्रति उदार होना अनिवार्य है, पर जो अपने हैं उनका प्रेमी होना अनिवार्य है। जो प्रभु का प्रेमी है वह स्वभाव से ही जगत् के प्रति उदार हो जाता है और जो उदार है वह प्रेमी होने का अधिकारी हो जाता है। उदार तथा प्रेमी होने के लिए स्वाधीन होना अनिवार्य है। स्वाधीन होने के लिए मानव को ज्ञान का प्रकाश बिना माँगे ही मिला है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव के रचयिता का संकल्प है कि मानव उदार तथा प्रेमी हो जाय। अपने रचयिता के संकल्प में अपने सभी संकल्प विलीन करना वास्तविक शरणागति है। यह शरणागतों का अनुभव है। बिना जाने गुरु वाक्य के आधार पर प्रभु के अस्तित्व और महत्त्व एवं उनमें अपनत्व को स्वीकार करना विश्वासी साधक के लिए महामंत्र है।

जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। सब प्रकार से प्यारे प्रभु के होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए उनकी प्रियता की भूख बढ़ाते रहो। सफलता अवश्यम्भावी है। निकटवर्ती सत्संग-प्रेमी तथा प्रियजनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करना। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित,
अकिंचन तुम्हारा पिता

590

वृन्दावन
11-8-1970

मेरे निज-स्वरूप परम स्नेही प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण।

.....जो साधक सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु का होकर रहता है वह सदैव मेरे साथ है, कारण कि उसकी शरीर में अहम्-बुद्धि नहीं रहती। जिसकी शरीर में अहम्-बुद्धि नहीं रहती वह सदैव प्रभु में सभी को पाता है, और सभी में प्रभु को पाता है, यही वास्तविक मिलन है। जिस प्रकार शरीर की सृष्टि से एकता है, उसी प्रकार साधक की साध्य से एकता है। साध्य से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना विश्वास-पथ का मूल मन्त्र है। साधक के अस्तित्व में ही साध्य की मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधक साध्य की प्रियता होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है, यह शरणागत साधक का अनुभव है। ज्ञानपूर्वक तीनों शरीरों से असंग होकर विचारक अनन्त से अभेद होता है और आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक विश्वास-पथ का साधक साध्य की प्रीति होकर साध्य से अभिन्न होता है। ज्ञान का प्रकाश, प्रेम का रस, योग की चिरशान्ति साधक की अपनी माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। इस वास्तविकता में आस्था अनिवार्य है।

मानवमात्र में स्वभाव से बल, ज्ञान तथा आस्था का तत्त्व मौजूद है। बल का सदुपयोग विश्व की सेवा में होना चाहिए और ज्ञान-पूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर निर्विकारता, चिरशान्ति एवं जीवन-मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। इस दृष्टि से ज्ञान अपने लिए उपयोगी है। परन्तु ज्ञान का प्रकाश जिस अनन्त की देन है उसकी शरणागति स्वीकार कर प्रियता होकर जीवन उनके लिए उपयोगी होना चाहिए। निर्विकारता और चिरशान्ति में रमण न करने से स्वतः मुक्ति प्राप्त होती है। पर प्रेमीजन मुक्त होकर भक्ति प्राप्त करने के लिए मुक्ति से मुक्त होना पसन्द करते हैं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो योग, बोध, प्रेम को प्राप्त कर सदा के लिए निश्चिन्त, निर्भय तथा प्रियता से भरपूर हो गये हैं। कर्त्तव्यपरायणता का अन्त योग में, योग की पूर्णता बोध में होती है। बोध-

रूपी फल प्रेम-रस से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की पूर्णता शांति, मुक्ति एवं भक्ति में ही है। मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही जीवन का लक्ष्य है। सत्संग के द्वारा सभी साधकों को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, इसी सद्भावना के साथ सभी को सप्रेम यथोचित और तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

591

वृन्दावन
14-8-1970

मेरे निज-स्वरूप परम स्नेही प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

प्रत्येक परिस्थिति में शान्त रहने का स्वभाव बनाओ। अपने सभी संकल्प सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण कर सदा के लिए निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ। यही अचूक उपाय है जीवन की समस्याओं को हल करने का। आई हुई कठिनाईयों से डरो मत, अपितु उनको हर्षपूर्वक सहन करो। प्रभु-विश्वासी साधक प्रत्येक घटना में सर्व-समर्थ प्रभु की अनुपम लीला का दर्शन करता है और सब प्रकार से प्यारे प्रभु का होकर सदा के लिए अभय हो जाता है। श्रद्धास्पद तथा विश्वास-पात्र एकमात्र श्रीहरि ही है। उनसे भिन्न किसी से भी जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता नहीं हो सकती, अर्थात् एकमात्र प्यारे प्रभु ही अपने हैं। उन्हीं में अखण्ड प्रियता रहनी चाहिए। जिस शरणागत साधक ने सोई हुई स्मृति तथा प्रियता को जगाया उसने सब कुछ पाया। यह प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। वह जीवन नहीं है, अपितु साधन-सामग्री है, और कुछ नहीं। अतः जो परिस्थिति आती जाए उसी का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए सदुपयोग करते रहो। यही सफलता की कुंजी है। तुम अपनी ओर से किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान मत करो, शान्त रहो।

प्यारे प्रभु के अतिरिक्त तुम्हारा और कोई हित-चिन्तक नहीं है। उनके विधान का आदर करो और मस्त रहो। प्रत्येक साधक के प्रति प्यारे प्रभु की कृपालुता, जगत् की उदारता एवं सत्पुरुषों की सद्भावना सदैव रहती है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। तुम एक वीर साधक हो। तुम्हें किसी परिस्थिति में अधीर नहीं होना चाहिए। प्रभु के मंगलमय विधान में विश्वास करो। उसका आदर करो। सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

592

वृन्दावन
22-9-1970

मेरे निज-स्वरूप परम स्नेही प्रभु-विश्वासी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

.....जो प्रभु-विश्वासी सब प्रकार से प्यारे प्रभु का होकर रहता है और उन्हीं का काम करता है उसका सदैव उन्हीं में वास होता है, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। यह सब प्रभु-विश्वासियों का मत है कि प्रभु सदैव सर्वत्र होने से अभी अपने में है और सद्गुरु-वाक्य के द्वारा यह सुना है कि वे अपने हैं। अपना अपने को स्वभाव से प्रिय होता है। अतएव प्रभु अपने प्रिय हैं। जिसका कोई प्रिय है उसके जीवन में कभी नीरसता नहीं आती, अर्थात् उसका जीवन नीरसता से रहित हो जाता है। नीरसता का नाश होते ही निष्कामता स्वतः आ जाती है। निष्कामता में समता, स्वाधीनता स्वतः सिद्ध है, जो जीवन की माँग है। समता प्राप्त होने पर नित्य-योग और स्वाधीनता प्राप्त होने पर बोध अवश्यम्भावी है। विषमता रहते हुए बोध की प्राप्ति नहीं होती।

इस दृष्टि से समता और स्वाधीनता का सम्पादन अनिवार्य है, जो एकमात्र निष्कामता से ही सिद्ध है। अनन्त की यह कैसी अनुपम अद्वितीय महिमा है कि निष्काम होने में कोई पराधीन तथा असमर्थ नहीं है। जीवन का जो मूल्यवान तत्त्व है वह प्रत्येक मानव को अनन्त की अहैतुकी कृपा से नित्य प्राप्त है। इस कारण जीवन के मूल तत्वों की खोज करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग-योजना से ही सम्भव है। प्रभु की दी हुई विशेषता को कहीं व्यक्तिगत मत मान लेना, नहीं तो भारी भूल हो जाएगी, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार निवेदन करना। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

593

राँची
8-7-1971

मेरे निज-स्वरूप परम स्नेही प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

.....प्रभु-विश्वासी शरणागत साधक मुझसे कभी भी दूर नहीं है, कारण

कि प्रभु-विश्वास ही शरणागत का निज-स्वरूप है। जिसने उसे अपनाया उसने मुझे पाया। अब रही शरीर की बात। वह तो सदैव ही मुझसे भिन्न है। इतना ही नहीं, शरीर सदैव नहीं रह सकता। वह तो सदैव संसार में ही रहता है। इस दृष्टि से शरीर सदैव संसार में ही रहता है। इस दृष्टि से शरीर का कभी मुझसे मिलन ही नहीं हुआ। अपने में अपने प्रेमास्पद है। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि जिससे कभी मिलन नहीं हुआ वह मिला हुआ भासता है और जिनसे कभी दूरी, भेद,भिन्नता है ही नहीं, उन्हे साधक दूर मान बैठता है। सभी प्रभु-विश्वासियों ने यह स्वीकार किया है कि सर्व-समर्थ प्रभु सदैव होने से अभी और सर्वत्र होने से अपने में एवं सभी के होने से अपने हैं, अर्थात् अभी अपने में प्रेमास्पद हैं। जिसने इस वास्तविकता को अपनाया वह अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो गया। यह प्रभु-विश्वासी शरणागत साधकों का अनुभव है। अनुभव के आदर में ही जीवन का आदर है। शरीर, संसाररूपी सागर की एक लहर है। सागर की लहर, दोनों में सत्ता जल की ही है, अर्थात् जल से भिन्न लहर और सागर कुछ है ही नहीं। जलस्वरूप परम प्रेमास्पद ही अपनी महिमा में आप खेल रहे हैं। जिन्होंने उन्हें अपनाया, वे सभी अपने में उन्हें पाकर आनन्द-विभोर हो गये। जीवन का जो सत्य है उसे स्वीकार करो और अभय हो जाओ। यही मेरी सद्भावना है। निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम हरिस्मरण निवेदन करना। प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो। यही सफलता की कुँजी है। प्रेमीजन सदैव प्रेमास्पद में ही रहते हैं, कारण कि प्रियता से सदैव अभिन्न है। प्रियता ही प्रेमियों का जीवन तथा प्रेमास्पद का स्वभाव है, जो एकमात्र आत्मीयता से ही अभिव्यक्त होती है। सर्व-समर्थ प्रभु तुम्हें अपनी आत्मीयता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!

ॐआनन्द!!!

तुम्हारा अकिंचन

.....

594

नागौर

8-9-1971

मेरे निज-स्वरूप परम स्नेही प्रभु-विश्वासी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई समाचार विदित हुआ। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु के होकर उन्हीं के नाते पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का

सदुपयोग करने का स्वभाव बनाओ, तो फिर प्रत्येक कर्म भगवत्पूजा हो जायगी और प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता उदय होगी, जो वास्तविक जीवन है। जीवन की उपलब्धि के लिए ही मानव-जीवन मिला है। भगवत्-सेवा तथा भगवत्-प्रियता से भिन्न प्रभु-विश्वासी का जीवन कुछ नहीं है, अर्थात् सेवा तथा प्रियता में ही जीवन है। प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा और सहज निवृत्ति में प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए, कारण प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता से ही साध्य है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, यह ज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान के आदर में ही असत्य की निवृत्ति एवं सत्य की प्राप्ति निहित है। भक्तवाणी के द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि एकमात्र श्रीहरि ही अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं, अर्थात् सब कुछ प्रभु का है और प्रभु अपने हैं, यह शरणागत साधक का जीवन है। बुराई-रहित होने पर कर्त्तव्यपरायणता और अचाह होने पर असंगता स्वतः प्राप्त होती है। कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए, आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता से जीवन प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी होता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी आत्मीयता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!
अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

595

मुजफ्फरनगर
19-6-1973

स्नेहमयी दुलारी बिटिया,

सरलता तथा सच्चाई से लिखा हुआ पत्र मिला। तुम प्रभु-विश्वासी तो हो, पर हाड़-मांस के लोथड़े को सर्व-समर्थ लिखती हो! क्या वे अन्तर्यामी तुम्हारी इस करतूत को नहीं देख रहे हैं! आश्रम में रहने से, तुम ईमानदारी से कहो, क्या तुम्हें मोह-रहित प्यार तथा उदारता नहीं मिली? क्या तुम्हें सच्चाई देखने को नहीं मिली? क्या तुम्हारी स्नेहमयी.....ने तुम्हें प्यार से नहीं पाला? इस सत्य को तो तुम्हारा रोम-रोम जानता है। अब तक तुम संकल्प-पूर्ति में लगी रही हो। धीरज-पूर्वक एम° ए° फाइनल कर लो और फिर हरि-आश्रय को लेकर अपने पैरों पर खड़ी हो जाओ, अथवा सेवा-रत हो जाओ। निस्सन्देह अब तुम्हें शरीर-निर्वाह के लिए पराश्रय नहीं लेना चाहिए। अपितु समाज से पोषित शरीर द्वारा समाज की सेवा करनी चाहिए। क्या तुमने अनेक बार नहीं सुना कि स्वाधीन होकर संघ की सेवा करना? तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर तो मिलने पर ही होगा। पर बेटी, वर्तमान की वेदना भविष्य की उपलब्धि होती है,

यह जीवन का सत्य है। वर्तमान कार्य को पूरी शक्ति लगाकर करती हुई वास्तविक माँग को सबल होने दो। माँग ही माँग की पूर्ति में समर्थ है। प्रभु के इस मंगलमय विधान में अविचल आस्था करो, सफलता अवश्यम्भावी है। देखो मुन्नी! प्रभु से भिन्न और कोई न देखने वाला है और न सुनने वाला। वे ही सभी को देख रहे हैं और सभी की सुन रहे हैं। यह उनका सहज स्वभाव है।.....यदि कोई कहे कि प्रभु सभी के नहीं हैं, तो फिर कोई और तो है ही नहीं। प्यारी बेटी! सभी के अपने सदैव प्रभु ही हैं। उनसे भिन्न न कोई है, न हो सकता। आशा है तुम प्रभु-विश्वासी होकर सदैव के लिए अभय हो जाओगी। यही मेरी सद्भावना है।

अकिंचन तुम्हारा पिता

.....

596

वृन्दावन
17-12-73

मेरे निज-स्वरूप, प्रभु-विश्वासी, साधननिष्ठ, प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

असंगता निज ज्ञान से, उदारता विज्ञान से और आत्मीयता आस्था से प्राप्त होती है। असंगता निज-स्वरूप से, उदारता विश्व से और आत्मीयता परम प्रेमास्पद से अभिन्न करती है। अभिन्नता में ही रस-रूप जीवन है, जो एकमात्र दर्शन, विज्ञान एवं आस्था से साध्य है। जीवन-दर्शन का ठीक अध्ययन करने पर साधक अकिंचन तथा अचाह हो जाता है और फिर अपने में अपने परम प्रिय प्रेमास्पद को स्वीकार करने की सामर्थ्य आ जाती है। जो अनन्त सदैव होने से अभी और सभी का होने से अपना और सर्वत्र होने से अपने ही में है, गुरुवाणी तथा वेदवाणी के द्वारा उन्हीं को अपना मानना चाहिए। अपने को अपना मानने में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है और जो किसी भी काल में अपना नहीं है, न हो सकता है, न होगा उसमें अपनापन रखना अपनी ही भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। भूल-रहित होने से ही दूरी, भेद, भिन्नता का नाश होता है और स्वतः योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है। मानव-दर्शन के आधार पर हमें शीघ्रातिशीघ्र भूल-रहित हो जाना चाहिए, जिसकी स्वाधीनता मानव के रचयिता से उसे जन्मजात प्राप्त है। मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग से ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है। असंगता, उदारता और आत्मीयता मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग का ही परिणाम है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आप सभी को मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ-

अकिंचन

.....

597

वृन्दावन
25-1-1974

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला, समाचार मिला। प्रियजनों की विधिवत् पवित्र भाव से सेवा करने से ममता नाश होती है और वास्तविक माँग का अनुभव करने से कामनाएँ नाश होती हैं। इन दोनों के नाश होने से निर्विकारता और चिर-शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। उनमें रमण न करने से अपने ही में अपने प्रेमास्पद का बोध होता है। यह सद्गुरु-वाक्य है।

जहाँ रहो, प्रसन्न रहो जो करो ठीक करो। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें जाने हुए असत् के त्याग और जाने हुए सत्य को स्वीकार करने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

598

कुम्भ मेला, कैम्प, हरिद्वार
5-4-1974

प्रभु-विश्वासी कर्त्तव्यनिष्ठ प्रिय पुत्री,

सप्रेम हरिस्मरण।

प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो। हृदय में निर्भयता, चित्त में प्रसन्नता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यही सफलता की कुँजी है। तुम पवित्र भाव से भगवत्प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करो। उसके फल पर दृष्टि मत रखो। कर्त्तव्यनिष्ठ मानव केवल कर्त्तव्य में ही आस्था रखते हैं, फल में नहीं। कर्त्तव्यपरायणता का वास्तविक फल योग है, भोग नहीं। योग का पूर्व पक्ष कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य का उत्तर पक्ष योग है। फलासिक्त तुम्हें भयभीत करती है। अतः उसकी ओर मत देखो। सर्व-समर्थ प्रभु से प्रार्थना करो कि तुम्हारा जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, और तुम्हारे सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में विलीन हो जायँ, अर्थात् प्रभु की होकर प्रभु के नाते प्रत्येक कार्य को विधिवत् धीरजपूर्वक शान्त चित्त से करने का प्रयास करो। कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्यकर्त्तव्यनिष्ठ साधक को भगवत्-कृपा से स्वतः प्राप्त होती है, यह जीवन का सत्य है। इस सत्य में अविचल आस्था रखो। सत्य को स्वीकार करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है। सत्य को स्वीकार करने से ही साधक में साधना की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। इस दृष्टि से सत्य को स्वीकार करना ही साधक का स्वधर्म तथा परम पुरुषार्थ है.....।

मेरा जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, इस माँग के सबल होने

सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। यह जीवन का सत्य है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। आगे-पीछे के चिन्तन से रहित होकर वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म विधिवत् करती रहो, सफलता अवश्यम्भावी है। शारीरिक स्वास्थ्य सदैव की भाँति ढीला-ढीला ही चल रहा है। भगवत्-कृपा से सभी आवश्यक कार्य स्वतः हो रहे हैं। जब अपने में अपना कुछ नहीं रहता तभी अपने में परम प्रेमास्पद स्वतः प्रकट होकर अपना प्रेम प्रदान कर अपने से अभिन्न कर लेते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें कर्त्तव्यनिष्ठ बनायें-इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

599

वृन्दावन
29-9-1974

मेरे निज-स्वरूप परम स्नेही प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। हृदय रोग से पीड़ित शरीर के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती.....।

देखो भाई, परमात्मा में मन लगाया नहीं जाता, लग जाता है। जो साधक ज्ञान-पूर्वक यह स्वीकार कर लेता है कि सृष्टि में मेरा करके कुछ नहीं है वह बड़ी सुगमतापूर्वक निर्मम होने से निष्काम हो जाता है और फिर उसका चित्त शुद्ध तथा शान्त हो जाता है। शुद्ध तथा शान्त चित्त स्वतः भगवान् में लग जाता है। यह जीवन का सत्य है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है, और कुछ नहीं। जो प्रभु-विश्वासी साधक प्रभु के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करता है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, रस-रूप, चिन्मय जीवन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अतः सब प्रकार से सर्वदा सर्व-समर्थ प्रभु के होकर रहो, और उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव व सहयोग रखो। तो फिर निःसन्देह तुम्हारा प्रभु में वास रहेगा। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी आत्मीयता से जाग्रत प्रियता प्रदान करें-इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

.....

600

गीता भवन

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के रूप में दर्शन हुआ। अधिक व्यस्त रहने के कारण पत्रोत्तर में देरी हो गई। इसमें आपके आठ प्रश्नों में

से प्रथम प्रश्न पर विचार करने से जो भाव उत्पन्न हुए वे सेवा में प्रकट कर दिए। सारे प्रश्नों का उत्तर एक बार एक पत्र में लिखना मेरे जैसे बे-पढ़े-लिखे आदमी के लिए यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आशा है आप इसे पढ़कर लाभ उठायेंगे। आपके सन्देह की निवृत्ति तो कुछ दिन साथ रहकर परस्पर बातचीत करने पर ही हो सकती है।

सत्य की जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होने पर स्वतः पूर्ण हो जाती है, क्योंकि जिज्ञासा जिसके प्रकाश से प्रकाशित है एवं जिसकी सत्ता से सत्ता पाती है वह सब प्रकार से पूर्ण है। यही महामंत्र है सत्य का अन्वेषण करने के लिए। इसमें संदेह करना भूल है। यह भली प्रकार समझा लेना चाहिए कि वर्तमान की वेदना भविष्य की उपलब्धि होती है और उपलब्धि उसकी होती है जो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है।

प्रत्येक मान्यता के मूल में कोई अनुभूत प्रयोग का होना अनिवार्य है। पर आपने जिस मान्यता का वर्णन लिखा है उसका कोई अनुभूत प्रयोग नहीं लिखा। यद्यपि प्रत्येक प्राणी अपनी मान्यता के मानने में सर्वदा स्वाधीन है, पर अपनी मान्यता किसी अन्य से तभी मनवाई जा सकती है जब उसकी योग्यतानुसार मान्यता सिद्ध करने का अनुभूत प्रयोग हो, जिसे विज्ञान की भाँति करके दिखाया जा सके। जब आप अपने प्रश्नों पर विचार करें। आपने एक ही प्रश्न को आठ प्रकार से लिखा है।

प्रश्न-अचेतन एवं अजीव पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप से अस्तित्व में रहता है, किसी भी ज्ञाता की अनुभूति में न रहते हुए स्वतन्त्र।

उत्तर-जिसे आपने अचेतन एवं अजीव पदार्थ लिखा है, क्या उसमें सतत परिवर्तन नहीं है? यदि सतत परिवर्तन है तो उसकी स्थिरता एवं संज्ञा पदार्थ के रूप में स्वतन्त्र है, यह कैसे सिद्ध हुआ? गति में स्थिरता का देखना प्रमाद है, वास्तविकता नहीं। परिवर्तन का बोध स्वयं परिवर्तन को नहीं हो सकता। तो फिर ज्ञाता का अभाव कैसा? प्रत्येक उत्पत्ति स्थिति, लय का आधार क्या होगा? उत्पत्ति कहो अथवा विनाश, इन दोनों का अर्थ एक है, क्योंकि किसी की उत्पत्ति ही किसी का विनाश और किसी का विनाश ही किसी की उत्पत्ति होती है। जो पदार्थ उत्पत्ति-विनाश-युक्त है वह क्या अपने को अपने आप प्रकाशित कर सकता है? यदि अपने को आप प्रकाशित करता है तो उसका विनाश कैसा और उत्पत्ति कैसी? क्योंकि प्रकाशक अविनाशी होना चाहिए। विनाश बिना सिद्ध हुए उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं हो सकती। उत्पत्ति-विनाश की सिद्धि के बिनी स्थिति की चर्चा ही कैसे की जा सकती है? क्योंकि उत्पत्ति-विनाश के क्रम को ही स्थिति कहते हैं। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि उत्पत्ति, स्थिति, विनाश का क्रम जिससे प्रकाशित है वह स्वयंप्रकाश एवं उत्पत्ति-विनाश-रहित अविनाशी है।

अचेतन अजीव पदार्थों को स्वतन्त्र मान लेने पर उनके विकाश में किसी नियम का आरोप नहीं हो सकता, पर ऐसा कोई विकास नहीं है जो किसी-न-किसी नियम में आबद्ध न हो, अर्थात् प्रत्येक परिवर्तन विधान के अनुरूप हो रहा है। इसे यह सिद्ध हो जाता है कि विधान की सत्ता अचेतन अजीव पदार्थों के विकास से पूर्व है। तो फिर अचेतन से चेतन उत्पन्न हुआ, यह कैसे सिद्ध हो सकता है? अथवा अचेतन ही कालान्तर में चेतन हो गया, यह कैसे माना जा सकता हे? केवल क्रियाशीलता को चेतन मान लेना अचेतन को चेतन मानना है। चेतन तो उसी को माना जा सकता है जो अपने को और अपने से भिन्न अचेतन को प्रकाशित करे। हाँ, यह अवश्य है कि अचेतन में अनेक प्रकार और अनेक गुण हो सकते हैं। यहाँ तक कि अचेतन दूसरे अचेतन की अपेक्षा चेतन जैसा प्रतीत होने लगता है-यद्यपि अचेतन हो जाता है। उदाहरणार्थ लीजिए कि कर्मेन्द्रियों से ज्ञानेन्द्रियों में विशेष चेतना प्रतीत होती है और ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा मन में विशेष चेतना भासती है और मन की अपेक्षा बुद्धि में विशेष चेतना प्रतीत होती है। पर इनमें से कोई भी अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं कर पाते। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अचेतन में अनेक गुण, अनेक प्रकार होने पर भी स्वयंप्रकाशता नहीं आती, तो फिर अचेतन के परिणाम को चेतन कैसे स्वीकार किया जाय? शेष मिलने पर। पुनः आपको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

आपका

.....

601

इलाहाबाद

.....

अहैतुकी कृपा से पालित, परम भागवत प्रीति-स्वरूपा,

सर्वदा प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो। इसी सद्भावना के साथ सप्रेम हरिस्मरण।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। जब मानव सत्य की खोज में लग जाता है तब उसका मूल्य संसार से अधिक हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। अपने लिए अचाह तथा अप्रयत्न हुए बिना मानव को सत्य की प्राप्ति नहीं होती। उन्हीं का जीवन धन्य है जो अचाह होकर जगत् के लिए उदार और प्रभु के लिए प्रेमी हैं। जो साधक सभी अर्थों में अकिंचन हो जाता है, अर्थात् जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता है और सब प्रकार से अपने को सर्व-समर्थ प्रभु के समर्पण कर देता है, सर्व-समर्थ उसे अपना गोपनीय प्रेम-तत्त्व प्रदान करते हैं। यह प्रेमास्पद का सहज स्वभाव हैं जिन्होंने उनके अस्तित्व, महत्त्व को स्वीकार कर अपने को भोग और

मोक्ष से मुक्त कर लिया, वे सभी प्रेम-तत्त्व से अभिन्न हो गये।

जितनी ऊँची मानव की माँग होती है उतना ही ऊँचा उसका जीवन हो जाता है। मानव अपनी भूल से अपने को मल-मूत्र, हाड़-मांस तथा अनेक दुर्गन्धित पदार्थों से भरे शरीर में तथा इंट-पत्थरों में बाँधकर अपनी दुर्दशा कर लेता है। जो मानव चिरशान्ति, अमरत्व एवं परम प्रेम का अधिकारी है वही मानव अपनी ही भूल से भोग, मोह, आसक्ति में आबद्ध हो जाता है। अपने ही में अपने प्राणाधार, सर्वेश्वर, पर सुहृद् प्रेमास्पद है। उन्हें अपना मानना, पसंद करना सजग मानव का प्रयास है। जब मानव उन्हें अपना मान लेता है तब उन्हीं की अहैतुकी कृपा से अचाह होकर उनके परम प्रेम को पाता है, कारण कि जिसे कुछ नहीं चाहिए उसे परम कृपालु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर योग, बोध, प्रेम प्रदान करते हैं। जिन्होंने उनकी महिमा को स्वीकार किया और सर्वोत्कृष्ट माँग को अपनी वास्तविक माँग अनुभव किया, वे सभी कुछ पा गये। माँग का अनुभव करना, यद्यपि माँग की पूर्ति में हेतु है, किन्तु योग और बोध की माँग अपने लिए उपयोगी होती है और प्रेमी की माँग प्रभु को रस देती है। इतना ही नहीं, योग और बोध प्रेम-तत्त्व के अभिलाषियों को साधन-रूप से प्राप्त हो जाता है। वह उनका साध्य नहीं है। अशान्ति और बन्धन से पीड़ित मानव चिरशान्ति तथा मुक्ति को साध्य मानता है, परन्तु प्रभु-विश्वासी साधक तो एकमात्र प्रेम-तत्त्व की प्राप्ति को ही साध्य मानता है, कारण कि उसे प्रेमास्पद को रस देये बिना अन्य किसी प्रकार संतोष नहीं होता। अतः प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

सद्भावना सहित

.....

602

अहमदाबाद

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय,

.....श्रम, संयम, सदाचार तथा सेवापूर्वक जीवन व्यतीत करने से बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों पर सुगमतापूर्वक विजय प्राप्त हो सकती है। ऐसा मेरा अनुभव तथा विश्वास है। प्रत्येक कार्य मोह-रहित भगवत् नाते कर्त्तव्य-बुद्धि से करते रहो। उन सभी प्रवृत्तियों तथा भावनाओं का अन्त कर दो जिनमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित नहीं है। जिसका प्रत्येक कार्य सर्वहितकारी भावनाओं से होता है उसी का जीवन सार्थक है। मिले हुए बल का सदुपयोग नवीन बल सर्वोत्कृष्ट साधन है। जो प्राणी बल से निर्बलों की सेवा करता और निर्बल होने पर प्रभु के निर्भर हो जाता है उसका हित तथा विकास अवश्य होता है.....।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

603

मेरे निज-स्वरूप परम भागवत प्रियवर,

सप्रेम हरिस्मरण।

अनेक रूपों में प्यारे प्रभु विधिवत् सेवा कर रहे हैं। हर घटना में उनकी महानता, उदारता, प्रियता का दर्शन होता रहे, बस यही मेरी माँग है। वास्तव में तो उनसे भिन्न अपना कोई है ही नहीं। इतना ही नहीं, उनसे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। वे ही अपनी महिमा में आप स्थित हैं और अनेक रूपों में अनुपम लीला कर रहे हैं। प्रत्येक साधक उन्हीं का होकर रहे, उन्हीं को अपना माने। उनकी मधुर स्मृति में ही जीवन तथा रस है। स्मृति आत्मीयता से जाग्रत होती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। आत्मीयता को सजीव बनाने के लिए ज्ञानपूर्वक निर्मम तथा निष्काम होना अनिवार्य है। जिसका अपना कुछ भी है, वह उन्हें अपना नहीं मान सकता। जिसे कुछ भी चाहिए, वह प्रेमी नहीं हो सकता। प्रेमी वही हो सकता है जिसने अपने में अपना कुछ नहीं रखा और जिसे कभी भी कुछ नहीं चाहिए। इस दृष्टि से निज ज्ञान का आदर करना और आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भक्तों तथा सन्तों की वाणी के आधार पर एकमात्र प्यारे प्रभु को ही अपना मानना अनिवार्य है। शरीर-धर्म से प्रेम की उपलब्धि नहीं होती। स्वधर्म अर्थात् सत्संग से ही शान्ति, मुक्ति तथा भक्ति की प्राप्ति होती है। व्यक्तिगत कुछ नहीं है- यह सत्य है प्रभु अपने हैं, यह सत्य है। सत्य को स्वीकार करना ही सत्संग है, जो 'स्व' से ही साध्य है, किसी श्रम-साध्य उपाय से नहीं। सभी साधक महानुभावों को सादर सप्रेम अभिवादन तथा बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
.....

604

मानव सेवा संघ आश्रम
वृन्दावन
24-10-1952

स्नेहनिष्ठ कर्तव्यमयी प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार। पत्र के स्वरूप में भेंट हुई।

जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वयं मिट जाती है और फिर केवल आरोग्यता ही शेष रहती है, उसी प्रकार विचार अविचार को खाकर स्वयं मिट जाता है और फिर अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव होता है,

अर्थात् स्वरूप की एकता हो जाती है, जो वास्तव में सर्वदा ज्यों-का-त्यों है।

विचार किया नहीं जाता, हृदय होता है। जो कुछ किया जाता है, उनका जन्म तो देहाभिमान से होता है। अपने मन को समर्पण करने पर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी सम हो जाते हैं, अर्थात् स्वाभाविक निर्विकारता आ जाती है। उसके पश्चात् विचार का उदय होता है, जो सब प्रकार के अभिमानों का अन्त कर, परम तत्त्व से अभिन्न कर देता है। जो कुछ हो रहा है, उसे माया-मात्र समझो। सभी को अपने में और अपने को सभी में अनुभव करो। बस यही अनन्यता है। यह जो प्रतीत होता है, उसकी प्राप्ति कदापि नहीं होती। उससे विमुख होने पर ही अपने में अपने प्रियतम का अनुभव होता है। "यह" से विमुख होना अभ्यास साध्य नहीं है, अपितु विवेक से विमुखता प्राप्त होती है। बस, यही प्राणी का परम् पुरुषार्थ है।

मन, इन्द्रिय आदि में क्रियाशीलता है, चेतना नहीं है। चैतन्य तो तुम्हारा निज स्वरूप है। क्योंकि तुम स्वयं अपने को और अपने से भिन्न मन, बुद्धि आदि को जानती हो।

जो सबको जानता है, उसे और कोई नहीं जान पाता। सर्व के ज्ञाता को अपने में देखो। अर्थात् तुम स्वयं में सर्व की ज्ञाता हो, ऐसा अनुभव करो। मन को निर्विकल्प और बुद्धि को शान्त तथा हृदय को प्रीति से भर दो। ज्यों-ज्यों हृदय राग-द्वेष रहित होता जाएगा, त्यों-त्यों त्याग-प्रेम स्वतः बढ़ता जाएगा।

किसी से ममता न रहे, यही त्याग है। त्याग राग को खा लेता है। सभी में अपना दर्शन हो, यही प्रेम है। प्रेम, द्वेष को खा लेता है, त्याग से असंगता-निर्वासना स्वतः आ जाती है, यही वास्तव में मुक्ति है। प्रेम से अभिन्नता और अभिन्नता से एकता आ जाती है। यही वास्तव में भक्ति है। भक्ति और मुक्ति दोनों ही तुम्हारे निज स्वरूप की दिव्य घटा है। भोग-वासना ने तुम्हें इनसे विमुख किया है। अतः उनका विवेकपूर्वक अन्त कर दो। बस, बेड़ा पार है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

605

त्रिवेणी तट, प्रयाग

9.1.53

परमास्तिक आदरणीया स्नेहमयी,

सादर सप्रेम यथोचित स्नेह!

मानव सेवा संघ ने हमें यही सिखाया है कि हम अपने प्रत्येक कार्य में विवेक का पूरा-पूरा उपयोग करें और अपने को सुन्दर बनाकर समाज को सुन्दर बनायें। दूसरे के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकार को भूल

जाएँ और आध्यात्मिक जीवन द्वारा वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर, अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव कर, अचिन्त हो जाएँ।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!
तुम्हारा
शरणानन्द

606

काशी
27.2.53

परमास्तिक स्नेहमयी पुत्री।
सादर सप्रेम यथोचित स्नेह !

मानव सेवा संघ के नियमों पर विश्वास करना ही पालन करने की शक्ति प्रदान करेगा; कारण, कि जिस पर विश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है और जिससे सम्बन्ध हो जाता है, उसके प्रति प्रियता उत्पन्न होती है, और जिसके प्रति प्रियता उत्पन्न हो जाती है, उसके अनुरूप मानव का स्वभाव बनने लगता है। अतः वर्तमान का विश्वास भविष्य में जीवन बन सकता है।

संकल्पों का साक्षी सर्वदा संकल्पों से अतीत है। प्रत्येक संकल्प माया मात्र है। वह साक्षी की सत्ता से ही सत्ता पाता है। संकल्पों की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। विवेक की दृढ़ता होने पर सभी संकल्प भुने हुए बीज के समान केवल देखने मात्र के लिये रह जाते हैं। उनमें पुनः उपजने की शक्ति नहीं रहती। उसका उत्पन्न होना, न होना समान ही अर्थ रखता है। सब कुछ होने पर भी निर्विकारता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है; कारण, कि निर्विकल्पता से ही विवेक की दृढ़ता तथा वीतराग की उपलब्धि होती है। अतः जो कुछ हो रहा है, उसको साक्षी भाव से देखते हुये, उससे पूर्ण असंगता का अनुभव करो और असंगतापूर्वक अपने परम प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाओ। असंगता, मुक्ति और अभिन्नता भक्ति है। इन दोनों के साथ सदैव रमण करती रहो।

सभी प्रियजनों को सादर सप्रेम यथोचित निवेदन करना। पुनः तुमको बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!
तुम्हारा
शरणानन्द

607

जयपुर
21.8.53

सौभाग्यवती स्नेहमयी,
सादर सप्रेम यथोचित तथा
बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

बुद्धि रूपी काँच से जो कुछ दीख रहा है, उससे अपने को विमुख कर लो और अचिन्त्य हो जाओ। सब प्रकार के चिन्तन से रहित होते ही विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि, जो उसके परे हैं, उसमें विलीन हो

जायेगी। उसके विलीन होते ही, उस स्वयं प्रकाश निज स्वरूप का बोध स्वतः होगा, जिसके प्रकाश से सभी प्रकाशित हैं एवं जिसकी सत्ता से सभी सत्ता पाते हैं। अपने को सब ओर से हटा लेने पर, अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद प्रभु का अनुभव होता है, क्योंकि अपने से 'अपने' को कोई अलग नहीं कर सकता। अपने लिये अपने से भिन्न की आशा न करो। अपने में ही संतुष्ट होकर 'अपने' को पा जाओ। बस, बेड़ा पार है। जो कुछ हो रहा है अथवा जो कुछ दिखाई दे रहा है, उसे माया-मात्र समझो अथवा इसमें अपने ही प्रीतम का अनुभव करो, तभी चिर शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता मिलेगी।

तुम्हारे प्रेम से हरी-भरी हुई राखी प्राप्त हुई। सर्व समर्थ प्रभु तुम्हें विवेक प्रदान करें। जिससे तुम प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो जाओ। यही मेरी सद्भावना है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा पिता,
शरणानन्द

608

पुष्कर
28.8.53

सौ॰ स्नेहमयी,
सादर सप्रेम यथोचित तथा
बहुत-बहुत स्नेह!

मन के निर्विकल्प होने पर मन स्वयं बुद्धि में विलीन हो जाता है, और फिर सब प्रकार का चिंतन स्वतः मिट जाता है। चित्त की चिन्तन रहित दशा, जिसके प्रकाश से प्रकाशित है, उस स्वयं प्रकाश में अनन्य प्रेम होना चाहिए। वह प्रेम ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों सब प्रकार से अभिमान स्वतः गलते जाते हैं; देखने का भी अभिमान शेष नहीं रहता। परन्तु देखने वाला ज्यों-का-त्यों सदैव अपनी महिमा में आप रमण करता है, पर कर्ता-पन नहीं रहता। अर्थात् जो कुछ हो रहा है, उसे देख कर, उस दिखने वाली अवस्था से विमुख हो जाओ और अपने में ही प्रीतम को पाकर अपने को कृतकृत्य कर लो। अपने में अपने प्रेम का प्रवाह नित-नव बढ़ता रहे। जो सब ओर से विमुख हो कर, अपने में ही 'अपने' को पा लेता है, उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। प्रत्येक क्रिया तथा शून्य का साक्षी सभी क्रियाओं तथा शून्य से अतीत है। उस अतीत में ही जिसका अहंभाव विलीन हो गया है, वही अखण्ड आनन्द को पाकर कृतार्थ हुआ। हृदय प्रीति से भरा रहे। मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाए और इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाएँ, यही जीव का परम पुरुषार्थ है। भोग-वासनाओं का अन्त होने पर, इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो, मन में विलीन हो जाती हैं, और फिर मन सब

प्रकार के संकल्पों से रहित होकर विवेक में विलीन हो जाता है।

विवेक का सूर्य उदय होते ही यह जो कुछ दिखाई देता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और फिर भोग 'योग' में तथा अविवेक 'बोध' में परिवर्तित हो जाता है,। योग, अर्थात् सब प्रकार के चिन्तन से रहित होते ही, बोध स्वयं हो जाता है, और फिर केवल दिव्य चिन्मय परमतत्त्व से अनन्य प्रेम, बिना ही प्रयत्न के स्वतः हो जाता है, जिससे अखण्ड अनन्त रस की उपलब्धि होती है, जो वास्तव में तुम्हारा निज स्वरूप है।

प्रियजनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करें। पुनः आपको बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

आपका,

शरणानन्द

609

जयपुर

20.7.54

सौभाग्यवती स्नेहमयी प्रिय पुत्री,

सच तो यह है कि शरीर स्वभाव से ही अनेक व्याधियों का घर है। उससे विवेकपूर्वक असंग हो जाने पर चिरशान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता मिल सकती है; कारण, कि असंगता का अनुभव होते ही सर्व वासनाओं का अन्त हो जाता है और निर्वासना आ जाने पर माना हुआ सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। उसके न रहने पर, अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जो मानव का चरम लक्ष्य है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

610

जयपुर

16.8.54

सौभाग्यवती स्नेहमयी,

सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

तुम्हारा भेजा हुआ पत्र यथासमय मिल गया। कुछ दिन पूर्व यहाँ आने पर तुम्हारा एक पत्र और मिला था, उसका उत्तर भी दे दिया था, मिला होगा।

आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति हो जाने पर शरीर आदि किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। उसका रहना, न रहना समान ही हो जाता है। इसी कारण विचारशील प्राणों के रहते हुए ही इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति करके सब प्रकार से अचिन्त तथा अभय हो जाते हैं। इच्छाओं का अन्त करने के लिये विचारपूर्वक स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों शरीरों का असंग होना अनिवार्य है। शरीर से असंग होते ही इच्छाओं की निवृत्ति तथा आवश्यकता की पूर्ति स्वतः हो जाती है

और फिर कुछ करना तथा पाना शेष नहीं रहता।

सभी प्रेमीजनों को यथोचित निवेदन करें।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

611

जयपुर

25.8.54

स्नेहमयी परम आस्तिक सौ॰ प्रिय पुत्री,

सदा प्रसन्न रहो!

मधुर स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। शरीर अपने स्वभावानुसार चाहे जैसा रहे, उसके बनने-बिगड़ने से किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उसे जब तक रहना है, जैसा रहना है, रहेगा। उसके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। जहाँ तक हो सके, विवेकपूर्वक प्राणों के रहते हुए सर्व इच्छाओं का अन्त कर, अचिंत हो जाना चाहिए। अचिंतता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होता जाता है। जिस काल में देहाभिमान गल जाता है, उसी काल में प्राणी दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है, और फिर कुछ भी करना तथा पाना शेष नहीं रहता।

अपने को शरीर कभी मत मानो; कारण, कि तुम्हारा निज स्वरूप तीनों शरीरों से अतीत है। शरीर तो केवल विश्वरूप भगवान् की सेवा के लिए मिला है। प्रियजनों को यथोचित निवेदन करना।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

612

जयपुर

6.9.54

सौभाग्यवती, स्नेहमयी, परम आस्तिक,

सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। आपने ठीक ही लिखा है कि देखने वाले का प्रकाश दीखने वाली वस्तु में है, अर्थात् समस्त दृश्य से विमुख होने पर ही दृष्टा अपने आप में स्थित हो, अपनी महिमा को आप ही जानता है। दृष्टा सभी से अतीत होने पर भी सभी में विद्यमान है अर्थात् वही 'स्वरूप' है।

आपने लिखा है कि कल्पना स्थूल क्यों मालूम होती है? यह नियम है कि कल्पनाकर्ता अपनी कल्पना को ही अपने में अनुभव करता है। अतः कल्पना, उसकी अपेक्षा, जिसकी वह कल्पना है, स्थूल ही है। शब्द आकाश का ही गुण है, इस कारण शब्द और आकाश एक ही

हैं। आपकी भाषा अटपटी हो, पर जो कुछ आपने लिखा, ठीक ही है।

राग का अन्त होते ही इन्द्रियाँ मन में और मन बुद्धि में और बुद्धि, जो उससे परे है, उसमें विलीन हो जाती है, इसके पश्चात् दृष्टा, दर्शन, दृश्य की त्रिपुटी मिट जाती है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत स्नेह!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

613

कोटरी, कोटा

10.9.54

सौभाग्यवती स्नेहमयी,

सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

दृश्य की विमुखता का अर्थ है—विषयों से इन्द्रियों को विमुख करना। जब सर्व इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से विमुख हो जाती हैं, तब इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं, और फिर मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। मन के विलीन होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बस, यही दृश्य से विमुख होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब भोग-वासनाओं का अन्त हो जाये। भोग-वासनाओं का अन्त करने के लिये देह से अपने को अलग करना अनिवार्य है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ विषयों को देखतीं तथा उनमें प्रवृत्त होती हैं, उसी प्रकार मन इन्द्रियों को देखता है तथा उनमें तद्रूप होता है, और बुद्धि मन को देखती है। किन्तु जो बुद्धि को देखता है, वह समस्त दृश्य से अतीत है। वही तुम्हारा निज स्वरूप है। उसी में अपने को विलीन कर देना है। बस, बेड़ा पार है।

कल्पनाओं से अपने को अलग अनुभव करना, कल्पनाओं के नाश का सुगम उपाय है। जिस प्रकार भुना हुआ दाना उपजता नहीं है, किन्तु उससे भूख दूर होती है, उसी प्रकार अपने को सर्व कल्पनाओं से अलग अनुभव करते ही निर्वासना आ जाती है और फिर शरीर-यात्रा को चलाने वाले संकल्प भुने हुए दानों के समान उत्पन्न होते हैं और आवश्यक कार्य पूरा हो जाने पर, विलीन हो जाते हैं। उन संकल्पों से कर्म, संस्कार नहीं बनता; कारण, कि वे संकल्प राग-रहित होते हैं। अथवा यों कहिये कि राग का अन्त होते ही वासना मिट जाती है, और आवश्यक संकल्प पूरे हो जाते हैं। वासना-रहित संकल्प बंधन का हेतु नहीं होता, केवल स्फुरण मात्र होता है।

अपने को तीनों शरीरों से अलग अनुभव करने पर, सब प्रकार के राग का अन्त हो जाता है और फिर निर्वासना आ जाती है। वासनाओं का अभाव होते ही त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। विषयों की सत्यता व सुन्दरता का भान होना ही राग का स्वरूप है। विवेकरूपी सूर्य उदय होते ही रागरूपी अंधकार मिट जाता है

और फिर सभी दोष निवृत्त हो जाते हैं। सीमित अहंभाव सदा के लिये मिट जाता है और फिर अपने में ही अपने प्रेमास्पद का अनुभव होता है। बस, यही परम शान्ति है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

614

बरेली

15.9.56

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

"है" का वास्तविक अर्थ है, जो सदैव-सर्वत्र सभी को नित्य प्राप्त है। उसी को "है" करके सम्बोधन किया है। उसी "है" के प्रकाश में, जो सदैव नहीं रहता, उसी को 'नहीं' के नाम से सम्बोधन किया है। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

615

मानव सेवा संघ

वृन्दावन (मथुरा)

16.5.57

सौभाग्यवती स्नेहमयी,

सप्रेम यथोचित मधुर स्नेह!

ता॰ 14.5.57 का लिखा हुआ पत्र मिला। सर्वसमर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा से साधन मास का कार्यक्रम विधिवत चल रहा है। साधन समारोह की सफलता साधकों की उपस्थिति में निहित है। अतः इस अवसर पर आप लोगों को अवश्य आना चाहिए। सत्संग का अवसर प्रभु की विशेष कृपा से ही प्राप्त होता है। सत्संग के बिना मानव-जीवन की सार्थकता ही सिद्ध नहीं होती, क्योंकि एक मात्र सत्संग ही साधन-निर्माण का सर्वोत्कृष्ट सुगम उपाय है।

प्रियजनों से सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह निवेदन करना। तुमको बहुत-बहुत प्यार। प्रत्येक घटना में प्रभु की अनुपम लीला का अनुभव करो और सर्वदा निश्चिन्त तथा निर्भय रहने का स्वभाव बना लो।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

616

मानव सेवा संघ

श्री वृन्दावन

10.10.57

सौ॰ स्नेहमयी दुलारी,

प्रत्येक परिस्थिति प्रभु के मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग में ही प्राणी का विकास निहित है। अतः प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य-कर्म को पवित्र भाव से प्रभु के नाते, करती रहो

तथा कार्य के आदि और अन्त में शान्ति सुरक्षित रखो। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों शान्ति सबल तथा स्थायी होती जाएगी, त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती जाएगी। अतः स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति होगी। 'स्वाधीनता' दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में और 'प्रेम' अगाध-अनन्त रस प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सभी साधकों को वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा प्यारे प्रभु की पूजा करना अनिवार्य है।

शरीर से दूर रहने पर भी मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

617

वृन्दावन
2.11.57

सौभाग्यवती स्नेहमयी,

बहुत-बहुत प्यार!

ता॰ 28.10.57 का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। साधन मास के महोत्सव में सम्मिलित न हो सके, इसका दुःख मन से निकाल दो, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्रभु के मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग में ही प्राणी का हित निहित है। पर, इस रहस्य को कोई बिरले ही जान पाते हैं। परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति के सदुपयोग का कहीं अधिक महत्त्व है। इतना ही नहीं, प्राणी परिस्थिति-परिवर्तन में पराधीन और उसके सदुपयोग में सर्वदा स्वाधीन है। इस दृष्टि से सर्वदा प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही तत्पर रहना परम आवश्यक है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो।

प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा प्यारे प्रभु की पूजा करो और सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। उनकी दिव्य-चिन्मय प्रीति को ही अपना जीवन जानो। यही मानव-जीवन की सार्थकता है। अपने जाने हुये असत् के त्याग में ही सत् का संग है। सत् के संग में ही साधन का निर्माण है। साधन-निर्माण में ही साधन-परायणता और साधन-परायणता में ही साधन-तत्त्व से अभिन्नता अर्थात् अपने साध्य में अगाध-अनन्त नित नव प्रियता की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक प्रत्येक परिस्थिति में अपने जाने हुए असत् के त्याग द्वारा सत् का संग कर, साधन करने में सर्वदा स्वतन्त्र है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा पिता,
शरणानन्द

618

कोंच 24.2.58

सौभाग्यवती स्नेहमयी,

सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह!

जिस प्रकार प्रत्येक बीज अपने स्वभाव के अनुरूप ही सत्ता पाता है, उसी प्रकार अपनी विद्यमान रुचि के अनुरूप ही संग का प्रभाव पड़ता है। सर्वांश में निर्मल हो जाने पर, किसी भी परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता। जिस प्रकार भुना हुआ बीज किसी भी भूमि में नहीं उपजता, उसी प्रकार सीमित अहंभाव का नाश हो जाने पर, गुण-दोष का प्रभाव नहीं होता। अहंभाव के रहते हुए ही संग का प्रभाव होता है। इसी कारण विचारशील अहंभाव रूपी बीज को विचारपूर्वक नाश कर देते हैं और फिर सभी विकारों से रहित निर्विकार जीवन से अभिन्नता प्राप्त कर लेते हैं। विवेकपूर्वक असंग हो जाओ अथवा सरल विश्वासपूर्वक शरणागत—यही सफलता की कुंजी है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

619

मानव सेवा संघ आश्रम

वृन्दावन

22.11.58

सौभाग्यवती स्नेहमयी कर्तव्यनिष्ठ प्यारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

सत्संग में न आने का दुःख सत्संग की लालसा को सबल तथा स्थायी बनाता है। प्यारी बेटी, प्राकृतिक नियम के अनुसार न होने का दुःख 'होने' में स्वतः बदल जाता है। अतः सत्संग की तीव्र लालसा असत् की कामनाओं को खाकर सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से तो सत्संग में न आने की वेदना भी हितकर ही है। अपने दुःख का कारण दूसरों को मान लेने से द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस कारण क्रियाशील अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानते। अपने दुःख का कारण किसी और को न मानने से सजगता आती है, जिसके आते ही संसार के स्वरूप का यथेष्ट बोध होता है।

उसके होते ही असंगता प्राप्त होती है, जो वस्तु, अवस्था परिस्थिति के अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है। प्यारी बेटी, कर्म-चिन्तन-स्थिति से अतीत का जीवन ही वास्तविक जीवन है। वास्तविक जीवन में आस्था होते ही देहाभिमान स्वतः ही गल जाता है। जिसके गलते ही निर्वासना, निर्भयता, समता, मुदिता आदि गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। किन्तु विवेकीजन उन गुणों का भोग नहीं करते। तब उन्हें वास्तविक दिव्य-चिन्मय जीवन से एकता प्राप्त होती है। अतः उन्हें स्वाधीनता का साम्राज्य प्राप्त होता है। उस स्वाधीनता को समर्पित करने पर ही परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही जीवन प्रभु के लिये उपयोगी सिद्ध

होता है। प्रेमियों की दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न किसी की सत्ता ही नहीं है। वे प्रत्येक घटना में अपने प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा का दर्शन करते हुए सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहते हैं। जो कुछ हो रहा है,वह अपने ही प्यारे के मन से हो रहा है। अतः वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा 'उनकी' पूजा करते हुए, उन्हीं की प्रीति होकर, उन्हें रस प्रदान करते रहो-यही जीवन की सफलता है।

ॐआनन्द!

ॐआनन्द!ॐआनन्द!

तुम्हारा

शरणानन्द

620

मानव सेवा संघ

वृन्दावन

21.3.59

सौभाग्यवती स्नेहमयी दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

आज यहाँ अपने पर पत्र के स्वरूप भेंट हुई। शरीर अपने स्वभावनुसार अस्वस्थ चल रहा है, पर कोई चिंताजनक बात नहीं है। हाँ, उससे असंग होना ही परम आरोग्यता है, जो विवेक सिद्ध है। अनन्त की अहैतुकी कृपा से विवेक मानव मात्र को नित्य प्राप्त है। वर्तमान मानव जीवन के महत्त्व को जानो, उसका आदर करो। मानव-जीवन ही एक ऐसा अनुपम जीवन है, जो अपने लिये, जगत् के लिये, प्रभु के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। पर, उसके लिये प्रत्येक मानव को सत्संग करना है। समस्त असाधन असत् के संग से ही उत्पन्न होते हैं। अतः सत्संग द्वारा सभी साधकों को बड़ी सुगतापूर्वक साधनपरायणता प्राप्त होती है। यह निर्विवाद सत्य है।

ॐआनन्द!

ॐआनन्द!ॐआनन्द!

तुम्हारा

शरणानन्द

621

कैम्प जोधपुर

7.9.59

सौभाग्यवती स्नेहमयी, स्वधर्मनिष्ठ,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

उत्पत्ति तथा विनाश का क्रम निरन्तर चल रहा है। उसी में प्रतीति मात्र भासती है, पर है नहीं। जिसके प्रकाश में समस्त दृश्य प्रकाशित हो रहा है, वास्तव में उसी की स्वतन्त्र सत्ता है, वही तत्त्ववेत्ताआओं का निज स्वरूप है। विवेकीजन उसी से अभिन्न हो, कृतकृत्य होते हैं। पर दुःख से दुःखी होना हृदय की कोमलता तथा करुणा है। करुणा दुःखी के दुःख को अवश्य हर लेती है। भोग की रुचि का नाश होते ही 'सहज योग' स्वतः प्राप्त होता है। जिसके होते ही चिर विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। विश्राम

सामर्थ्य का प्रतीक है। सामर्थ्य स्वाधीनता की जननी है। स्वाधीनता साधक को दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है और फिर स्वतः प्रेम की जागृति होती है। प्रेम के प्रादुर्भाव में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

पुनः बहुत-बहुत प्यार। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

ॐआनन्द!

ॐआनन्द!ॐआनन्द!

तुम्हारा

शरणानन्द

622

भागलपुर

29.1.61

सौभाग्यवती स्नेहमयी साधननिष्ठ,

सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

शरीर का रहना अथवा न रहना मंगलमय विधान के अधीन है। विधान सभी के लिये हितकर है। उसके आदर में ही प्राणी का विकास निहित है। प्रत्येक घटना में अनन्त की अनुपम लीला का दर्शन करना है और सब प्रकार से प्यारे प्रभु का होकर रहना है। निष्कामता से उदित परम शान्ति तथा असंगता से प्राप्त स्वाधीनता एवं श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से जागृत अगाध प्रियता में ही जीवन की पूर्णता है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। सभी प्रियजनों को यथोचित निवेदन करना। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

623

सरदार शहर

6.5.61

सौभाग्यवती साधननिष्ठ स्नेहमयी पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

संयोग-वियोग विधान के अधीन है। अपना अधिकार, जो हो रहा है, उसी में प्रसन्न रहने का है और प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य द्वारा प्यारे प्रभु की पूजा करना है। प्रभु की मधुर स्मृति में ही जीवन की पूर्णता है। प्रत्येक दशा में मधुर स्मृति होती रहे। निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता में ही अखण्ड स्मृति निहित है। जिसका कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसी को प्यारे प्रभु की आत्मीयता प्राप्त होती है। आत्मीयता में ही अगाध प्रियता निहित है; कारण, कि जो अपने हैं, वे ही अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। उनकी प्रियता ही उन्हें रस देती है। जिसे भोग-मोक्ष कुछ नहीं चाहिए, उसे ही प्रभु-प्रेम की प्राप्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है।

मेरी सद्भावना सदैव तुम लोगों के साथ है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

624

बटाला
2.10.61

सौभाग्यवती साधननिष्ठ स्नेहमयी प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

संयोग-वियोग विधान के अधीन है। अपने सभी संकल्प सर्वसमर्थ प्रभु के समर्पण कर, सदा के लिये निर्भय तथा निश्चिंत हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ भी करना नहीं है। अर्थात् जिसका कोई संकल्प नहीं है, उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। प्रभु के संकल्प में सभी संकल्प विलीन करना ही वास्तविक भजन है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, जिसका अपना कुछ नहीं है, जिसने प्यारे प्रभु को अपना स्वीकार किया है, उसी को मुक्ति तथा भक्ति प्राप्त होती है।

मेरे विश्वास के अनुसार तुम मुक्त तथा भक्त हो; कारण, कि तुमने निर्ममता तथा निष्कामता एवं प्यारे प्रभु में आत्मीयता स्वीकार की है। प्रत्येक घटना में प्यारे प्रभु की अनुपम लीला का दर्शन करो। सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहो। उनकी मधुर स्मृति को ही अपना सर्वस्व जानो। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है। निकटवर्ती प्रियजनों को प्यार निवेंदन करना।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

625

पटना
7.12.61

सौभाग्यवती स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी बेटी तथा प्रिय वत्स,

तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

सत्संग द्वारा साधन की अभिव्यक्ति तथा असाधन का नाश स्वतः हो जाता है। इस कारण सत्संग का बड़ा ही महत्त्व है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने मानव जीवन के महत्त्व पर विचार किया है। जो बेचारे भूल कर वस्तु, अवस्था परिस्थितियों के महत्त्व में आबद्ध हो गये हैं, उन्हें सत्संग प्यारा नहीं लगता। सत्संग से जिस जीवन की उपलब्धि होती है, वह जीवन किसी भी अन्य प्रकार से नहीं मिलता। अपने-अपने जाने हुए असत् के त्याग से प्रत्येक मानव सत्संग प्राप्त कर सकता है। जाने हुए असत् का त्याग करते ही सभी उत्पन्न हुए दोष स्वतः ही नाश हो जाते हैं, और सत्संग होते ही निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः

होती है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार की निवृत्ति और प्रकाश की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, उसी प्रकार सत्संग होते ही काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

626

पटना
21.3.62

सौभाग्यवती स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार।

जो कुछ नहीं कर सकता, उसे कुछ भी नहीं करना है। जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने पर, जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। अर्थात् अकर्तव्य के त्याग में ही कर्तव्यपरायणता निहित है। जो कुछ मिला है, वह अपना नहीं है। यह अनुभव प्रत्येक मानव को करना अनिवार्य है। पर, जिससे मिला है, वह दाता सदैव अपना है। मानव प्रमादवश मिले हुए को अपना मान लेता है और दाता को भूल जाता है। यही मानव की भारी भूल है। जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा देखते हैं, वह अपना नहीं है।

जो सर्व का प्रकाशक तथा आश्रय है, वह अपना है। इस महामंत्र को अपनाते हुए ही जगत् की ममता और कामना मिट जाती है, और प्यारे प्रभु में आत्मीयता हो जाती है, जो विकास का मूल है। ममता का नाश होते ही निर्विकारता और निष्कामता से परम शान्ति तथा आत्मीयता से नित-नव प्रियता स्वतः जागृत होती है, अर्थात् आत्मीयता में ही अखंड स्मृति निहित है। बस, यही सच्चा भजन है।

अपने सभी संकल्प सर्वसमर्थ प्रभु के समर्पण कर, निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाएँ। यही सफलता की कुंजी है।

निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत प्यार। मेरी सद्भावना सदैव तुम लोगों के साथ है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

627

गीता भवन
19.4.62

सौ॰ स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री तथा परम प्रिय,

तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

तुम स्वयं अनुभव करो कि शरीर आदि जो कुछ मिला है, वह अपना नहीं है, अपितु किसी की देन है। जब यह अनुभव हो जायेगा, तब अपने आप निष्कामता प्राप्त होगी। कारण यह है कि

ममता का नाश होने परा ही कामनाओं का नाश होता है। मेरा कुछ नहीं है, ऐसा अनुभव करने से निर्विकारता अर्थात् लोभ-मोह आदि सभी विकार नाश हो जाते हैं। परन्तु 'मैं निर्विकार हूँ'—ऐसा अभिमान नहीं रहना चाहिए; कारण, कि निर्विकारता भी किसी की देन है, अपनी उपार्जित वस्तु नहीं है। कामनाओं का नाश होने पर परमशान्ति स्वतः प्राप्त होती है। शान्ति में रमण न करने से असंगता का बोध हो जाता है। जिसके होते ही सभी बन्धन नाश हो जाते हैं, अर्थात् स्वाधीनता प्राप्त होती है। परन्तु वह भी उसकी देन है, जिसने कि निर्विकारता तथा परम शान्ति प्रदान की थी। जो साधक निर्विकारता, शान्ति आदि दिव्य गुणों का भोग नहीं करता, वह अचाह होता है, और उसी के जीवन में परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। मेरा कुछ नहीं है, और उसी के जीवन में परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, केवल प्रभु ही मेरे हैं—ऐसा जानने तथा मानने से स्वतः निर्विकारता, परमशान्ति, स्वाधीनता एवं परम प्रेम की प्राप्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है। जिसे भोग तथा मोक्ष नहीं चाहिए, उसी को प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

628

वृन्दावन

31.5.62

सौभाग्यवती स्नेहमयी साधननिष्ठ,

सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

विवेकपूर्वक ममता-कामना का त्याग कर असंग होना है। असंगता में ही वास्तविक जीवन निहित है। इस कारण शीघ्र अति शीघ्र असंग होने के लिए अथक प्रयत्नशील रहो। अर्थात् आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत हो जाओ। यही सफलता की कुंजी है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

629

जयपुर

6.8.63

सौभाग्यवती स्नेहमयी साधननिष्ठ व प्रियवर,

तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

वास्तव में तो विचारपूर्वक असंग होने से ही मानव अनन्त से अभिन्न होकर, कृतकृत्य होता है, जो एक मात्र सत्संग से ही साध्य है।

प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाकर

अपने कर्त्तव्य को भलीभाँति जानते हैं। संयोग में वियोग और सुख में दुःख स्वभाव से ही निहित है। दुःख तथा वियोग का प्रभाव अपनाने पर नित्ययोग-नित्यानन्द स्वतः प्राप्त होता है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

सद्भावना सहित,
तुम्हारा पिता,
शरणानन्द

630

जबलपुर
22.12.63

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार संयोग काल से ही वियोग और जन्म से ही मृत्यु की घड़ियाँ आरम्भ हो जाती हैं, परन्तु इन्द्रिय दृष्टि से जीवन ही प्रतीत होता रहता है। सर्व समर्थ प्रभु अहैतुकी कृपा से मृतक प्राणी को आत्म-शान्ति तथा मोह-पीड़ित प्रियजनों को विवेक का बल प्रदान करें, जिससे वे आये हुए दुःख का सदुपयोग करने में समर्थ हो जाएँ। बड़े दुःख की बात तो यह है कि परम प्रिय..... जी का विचार शेष जीवन सत्संग तथा साधन में व्यतीत करने का था। पर, यह मनोरथ पूरा न हो सका। उनके इस आकस्मिक निधन से परिवार तथा समाज की बड़ी ही क्षति हुई। पर, क्या किया जाए? उसमें किसी का बस नहीं चलता। इस दुर्घटना से यह प्रेरणा मिलती है कि शीघ्रातिशीघ्र प्राणों के रहते हुए ही विचारपूर्वक निर्ममता तथा निष्कामता एवं असंगता को अपना कर देहातीत अमर जीवन से अभिन्न हो जाना चाहिए। प्यारी बेटी! अब तुम्हें अपने पति के कल्याणार्थ देहातीत जीवन में प्रवेश पाना है। तुम साधननिष्ठ होकर अपना और उनका कल्याण कर सकती हो; कारण, कि जो शरीर शेष है, वह उन्हीं का आधा शरीर है। अतः तुम्हारे साधननिष्ठ होने में ही सभी का हित निहित है। तुम विचारशील हो, तुम्हें सजगतापूर्वक आये हुए दुःख का सदुपयोग करना चाहिए।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

631

मानव सेवा संघ
वृन्दावन
25.1.64

स्नेहमयी साधननिष्ठ पुत्री,

सत्संग मानव का स्व-धर्म है, अर्थात् अपने द्वारा करने की बात है। तुम स्वयं जानती हो कि मिले हुए शरीर पर किसी की कोई अधिकार नहीं है। कब क्या हो जाए—इसका कोई पता नहीं। इस कारण प्राणों के रहते हुए ही शरीर में से अहं-बुद्धि अर्थात् यह अनुभव करो कि शरीर "मैं" नहीं हूँ और समस्त जगत् में से

मम-बुद्धि अर्थात् जो कुछ दिखलाई देता है, मेरा नहीं है। इस निजज्ञान का आदर करना ही सत्संग है। सत्संग से निर्विकारता, चिरशान्ति और स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है।

तुम देहातीत जीवन में वास करो, जो अचाह होकर अहंकृति रहित होने से अथवा शरणागत होने से सम्भव है। जो कुछ हो रहा है, उससे विमुख होकर, जो सदैव है, उससे अभिन्न हो जाओ। यही शरणागति है। तुम्हें अपने लिए कुछ भी नहीं करना है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। आए हुए सुख-दुःख तुम्हारे खेलने के मैदान हैं। तुम उनसे सर्वदा अतीत हो। सुख-दुःख तुम्हें बाँध नहीं सकते। सुख उदारता के लिए और दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। ममता और कामना को त्याग, आये हुए दुःख का सदुपयोग करो। यह बात करने की स्वाधीनता तुम्हें प्राप्त है। दुःख में अधीर होने की बात नहीं है, अपितु सजग होना है। राग रहित होने के लिए ही मानव-जीवन मिला है। अतः इस अनिवार्य कार्य को पूरा कर, योगवित् तथा तत्त्व वित् हो जाओ। निरंतर सत्य की खोज में लगी रहो। सुख-दुःख को फुटबाल बनाकर ठुकरा दो। जो तुम्हारा अपना है, वह सदैव तुम्हारे साथ है। तुम सब ओर से विमुख हो जाओ। अपने में ही 'उसे' पाओगी।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

632

इटावा

21.2.64

स्नेहमयी साधननिष्ठ पुत्री,

वियोग की वेदना किस में है? इस पर विचार करो। जब तक मानव अपने को देह नहीं मान लेता, तब तक न तो संयोग की दासता ही उत्पन्न होती है और न ही वियोग का भय।

अपने को देह मान लेना, निजज्ञान का अनादर है। तुम शान्त होकर देखो कि तुम्हें देह का ज्ञान है, अर्थात् देह अलग है तथा उस पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। जगत् के रचयिता ने देह संसार रूपी वाटिका की सेवा के लिए दी थी। पर, मानव भूल से उसे सुख की सामग्री मान लेता है। अपने को देह मानकर ही वस्तुओं और व्यक्तियों से ममता उत्पन्न होती है, जिसके होते ही अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। प्यारी बेटी! तुमने देह होकर जिस देह को अपनाया था, वह आज नहीं है। इसी का दुःख है। पर क्या, जो देह तुम्हारे पास है, वह क्या रहेगी? रहना होगा नहीं। पर, जो शरीर चला गया, उसके लिए इस शरीर के द्वारा-जो तुम्हारे पास मौजूद है-क्या करोगे? क्या रोने से उस प्राणी का हित होगा? कदापि नहीं। यह शरीर भी उसी का है, जिसका वह शरीर था। तुम इस

शरीर से सम्बन्ध तोड़ दो, अर्थात् निर्मम तथा निष्काम हो जाओ। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए।

शरीर के रहते हुए भी शरीर से असंग होना है, जो मूक सत्संग से ही सम्भव है। शान्त होकर उसी की खोज करो, जो सदैव है। अपने को उसी के समर्पण कर दो। इस शरीर के द्वारा किया हुआ साधन उस प्राणी के लिये भी मंगलमय होगा; कारण, कि इस हाथ को जिसके हाथ में दिया था, उसी का यह हाथ है, तुम्हारा नहीं। अतः शान्त होकर उसकी ओर देखो, जो तुम्हे देख रहा है। तुम्हारा दृष्टा ही तुम्हारा प्रीतम है। तुम अपने को इन्द्रिय दृष्टि तथा बुद्धि दृष्टि से अलग कर लो, और अपने प्रकाशक की प्रीति बन जाओ। बस, बेड़ा पार है।

सहज भाव से चलते-फिरते, सोते-जागते की हुई प्रार्थना ही वास्तविक प्रार्थना है। तुम्हारे प्रियतम तुम्हें देहातीत जीवन की ओर ले जाना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने उस देह का लोप कर लिया, जिसे तुम अपना मानती थी, जिस भेष में वे आये थे, वह भेष आज सामने नहीं है, पर, 'वे' तो हैं ही। उनसे तो तुम्हारा वियोग हो नहीं सकता, अपितु नित्य योग ही है। यह जीवित शरीर भी वास्तव में मृतक ही है। तुम अपने को कभी शरीर मत समझो। तुम अनन्त की प्रीति हो। शरीर को संयम का मन्दिर बना दो। जब तुम शरीर से विमुख होकर 'उनकी' ओर देखोगी, जो तुम्हारे हैं, तब अपने आप सब कुछ हो जायेगा, अर्थात् तुम योग-बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाओगी। यह निर्विवाद सत्य है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

633

गाजीपुर

22.3.64

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

सर्वदा शान्त रहने का स्वभाव बनाओ—यही मेरी सद्भावना है। कारण, कि शान्त रहना ही आवश्यक कार्य की जननी है। इतना ही नहीं, शान्त रहने पर अपनी भूल का ज्ञान होता है। भूल का ज्ञान होने पर ही मानव भूल-रहित होता है। भूल-रहित होने पर ही देह-गेह आदि की ममता तथा कामना नाश होती है और फिर तत्त्व की जिज्ञासा की जागृति मात्र से ही भूल से उत्पन्न हुए समस्त विकार नाश हो जाते हैं और फिर अपने आप निर्विकार जीवन से अभिन्नता होती है। अतः प्रत्येक मानव को भूलरहित होना चाहिए। जो एक मात्र अपनी जानकारी से ही सम्भव है। शान्त रहने से निज ज्ञान का प्रकाश स्वतः स्पष्ट होता है, जिसके होने पर ही मानव को अपने लक्ष्य एवं दायित्व का बोध हो जाता है। दायित्व पूरा करने पर ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

634

राँची
23.6.64

स्नेहमयी साधननिष्ठ पुत्री,

तुम्हारे सुनने से, ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारा मन संसार से हटकर सर्वेश्वर में लग गया है। यह तुम पर उनकी बड़ी की कृपा है। मानव-जीवन का यही परम फल है, जो तुम्हें प्राप्त है। सब ओर से विमुख होकर, प्रभु के प्रेम में अपने को गला देना ही वास्तव में जीवन है। तुम धन्य हो। तुम्हारी जननी धन्य है, जिसने तुम्हारी जैसी साधननिष्ठ बालिका को जन्म दिया। तन कहीं पर रहे, पर, तुम सर्वेश्वर की प्रीति में ही डूबी रहो। तुम्हारे साधननिष्ठ होने से स्वर्गीय आत्मा का भी कल्याण होगा—ऐसा मेरा विश्वास है; कारण, कि तुम्हारा शरीर तुम्हारा नहीं है, अपितु उन्हीं का है, जिनके समर्पण किया गया था। इससे तुम्हारा जीवन उपयोगी हो गया। सर्व समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें साधननिष्ठ बनाएँ।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

635

वृन्दावन
20.8.64

स्नेहमयी साधननिष्ठ पुत्री,

जिसके वियोग में दुःखी हो, वह नहीं मिलेगा। पर, जो सदैव है, सभी का है, सर्वत्र है, अद्वितीय है, उससे तुम्हारी अभिन्नता अवश्य हो जायेगी। तुम 'यह' हो जानती हो और 'वे' तुम्हें जानते हैं। जब तुम 'यह' से विमुख हो जाओगी, अर्थात् 'यह' की ममता व कामना छोड़ दोगी, तब 'वे' तुम्हारे अपने, अर्थात् सर्वेश्वर अपनी प्रीति प्रदान करेंगे, योग एवं बोध प्रदान करेंगे।

दुःख के प्रभाव का अर्थ है—सुख के प्रलोभन से रहित हो जाना। जब मानव सुख के प्रलोभन से रहित हो जाता है, तब बड़ी ही सुगमता पूर्वक ममता एवं कामना को त्याग, निर्विकारता तथा चिरशान्ति पाता है।

किन्तु, उसमें भी रमण नहीं करता, तब जीवन-मुक्ति का आनन्द पाता है, और जब मुक्ति से भी संतुष्ट नहीं होता, तब सर्वेश्वर की भक्ति पाता है। शान्ति-मुक्ति और भक्ति में ही जीवन है। शरीरादि वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ लेना भूल है। 'यह' करके जो कुछ दिखाई देता है, उससे तुम्हारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। अतः समस्त दृश्य से विमुख होकर, अपने में ही सर्वेश्वर को पाकर कृतकृत्य हो जाना है।

यह जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह सर्वेश्वर की लीला है। उनकी लीला को देख, उनका प्रेम जगना चाहिए। यही सफलता की कुंजी है। आश्रम परिवार की

ओर से सप्रेम यथोचित तथा बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

636

वृन्दावन
8.1.65

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखते हुए प्राण-प्यारे लालन 'सर्वेश्वर' को ही लाड़ लड़ाना है। उसी का होकर रहना है, उससे भिन्न और को नहीं मानना है। उसकी महिमा अपार है। वह सब कुछ कर सकता है। उसका प्यार तुम्हारा जीवन हो—यही मेरी सद्भावना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। प्रत्येक घटना में सर्वेश्वर की लीला का दर्शन करना है और उन्हीं की प्रीति होकर रहना है। बस, यही मानव-जीवन की सफलता है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

637

वृन्दावन
20.2.65

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

अपने सभी संकल्प सर्वेश्वर को समर्पित कर, निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाओ और निरन्तर उन्हीं को लाड़ लड़ाती रहो। उनका प्रेम ही तुम्हारा जीवन है। प्रत्येक कर्म उन्हीं की पूजा है। वे तुम्हारे हैं और तुम उनकी हो। तुम उनकी ही प्रीति हो और वे तुम्हारे सर्वस्व हैं।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

638

मानव सेवा संघ
वृन्दावन
10.11.66

स्नेहमयी परम भागवत साधननिष्ठ,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। इस समय पीर कामड़िया न आ सकूँगा, इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। सच तो यह है कि कब कहाँ रहना है, इसे तो 'वे' ही जानें, जो सभी के अपने हैं, जिन्हें तुमने पुत्र भाव से स्वीकार किया है। उनकी जैसी मौज होगी, वैसा ही होगा। अपने सभी संकल्प उन्हीं के

समर्पित करना है, और उन्हीं को लाड़ लड़ाना है, उन्हीं का होकर रहना है।

जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। अपने लाला को लाड़ लड़ाती रहो। उसकी प्रीति ही तुम्हारा जीवन हो जाए—यही मेरी सद्भावना है।

सभी आश्रमवासियों की ओर से सप्रेम हरिस्मरण।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

639

मानव सेवा संघ आश्रम
वृन्दावन
9.2.67

स्नेहमयी परम भागवत दुलारी बेटी,

प्रत्येक माँ अपने दुलारे बालक को लाड़ लड़ाना जानती है। माँ के हृदय में निरन्तर अपने लाड़ले लाल को रस देने की उत्कट लालसा रहती है। यह दिनचर्या है। शरीर के सहयोग के बिना अपने ही द्वारा अपने दुलारे को प्यार करती रहो। अब तुम सोचोगी कि अपने द्वारा प्यार करने का अर्थ क्या है? अपने को प्यारा लगे, यही अपने द्वारा प्यार देना है। प्यार देने वाले का अपना मन नहीं रहता, उसकी सभी कामनाएँ नाश हो जाती हैं।

यहाँ तक कि उसका अपना कोई अस्तित्व प्यार से भिन्न कुछ नहीं रहता। तुम्हारे लाला में अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य एवं अनन्त सौंदर्य है। पर, माँ के प्यार के लिये अपने और माँ के बीच अपने ऐश्वर्य का उपयोग नहीं करते। तभी तो सर्व समर्थ होते हुए भी माँ से दूध, दही माखन माँगते हैं, ढिठाई करते हैं। यह उनकी दिव्य लीला सदैव तुम्हारे सामने होती रहे—यही तुम्हारी उत्कृष्ट लालसा रहनी चाहिए। यही वास्तविक प्रार्थना है। जबसे सोकर जगो और सो न जाओ, तब तक अपने दुलारे लाला का काम करती हुई, उसको सुख देने की सोचती रहो। इससे बढ़कर और कोई पूजा नहीं है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

640

गीता भवन
ऋषिकेश
3.5.67

स्नेहमयी साधननिष्ठ भक्तिमति प्रिय पुत्री,

सर्वदा प्राण प्यारे प्रभु को लाड़ लड़ाती रहो।

शरीर और संसार से तुम्हारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। नित्य सम्बन्ध एकमात्र प्यारे सर्वू से ही है। अतः शरीर के प्रभाव से अपने को मुक्त करलो,

अर्थात् जब साधक में शरीर का प्रभाव नहीं रहता, तब वह अपने आप मोह रहित होता है। मोह रहित होते ही सब प्रकार से अभय हो जाता है। यही शरीर की महिमा से रहित होना है। सर्वू के नाते, शरीर द्वारा संसार रूपी वाटिका की सेवा करो। इससे अपने को सदैव असंग रखो।

संसार से तुम्हारा मूल्य अधिक है। तुम बिना संसार के सदैव रह सकती हो। अपने लिये संसार की आवश्यकता नहीं है—इस सत्य को स्वीकार करो। अपने से भी अधिक अपने दुलारे प्राण-प्यारे प्रभु को मानो। यह तब ही सिद्ध होगा, जब तुम निरन्तर सर्वू के प्यार में डूबी रहोगी।

सर्वू की महिमा का कोई वारापार नहीं है। वह छोटा सा बालक इतना महान है कि सम्पूर्ण सृष्टि उसके एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशमात्र में है। तुम्हारा प्यार पाने के लिये अनन्त प्रभु स्वयम् ही तुम्हारा बालक बना है। इस कारण उसका प्रेम ही तुम्हारा जीवन बन जाना चाहिए। प्रेम से प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है, कभी भी घटता नहीं है।

तुम्हारी दृष्टि में कोई और न रह जाय। सर्वू का प्रेम ही तुम्हारा जीवन है। प्रेमी को भोग और मोक्ष कुछ नहीं चाहिए। अपने प्रेमास्पद को रस देना ही प्रेमी का सहज स्वभाव है। प्रेम से ही प्रेमास्पद को रस मिलता है। अपनत्व से ही प्रेम की जागृति होती है। अपनत्व सजीव बनाने के लिये, सब कुछ प्रेमास्पद को समर्पण करना होता है। सब कुछ सर्व का है। सर्वू अपना है—इसमें अविचल आस्था करो। अपने प्यारे सर्व को बहुत-बहुत प्यार निवेदन करना। वहाँ रहो, यहाँ रहो और कहीं भी रहो, प्रसन्न रहो। जो करो ठीक करो।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा पिता,

शरणानन्द

641

राँची

15.3.67

स्नेहमयी भक्तिमति प्रिय पुत्री,

सर्वदा अपने लाला को लाड़ लड़ाती रहो।

तुम्हारा पत्र मुझे कुछ दिन पूर्व मिला था। पर, मेरी ही भूल से वह वाराणसी में रह गया। सम्भव है कि वृन्दावन जाने पर वह पत्र पुनः मुझे मिल जायेगा। तुम अपने पत्र में पता लिखती नहीं हो। मुझे पता याद रहता नहीं, अनुमान से लिखा रहा हूँ। तुम्हारा लाला चाहेगा, तो पत्र मिल जायेगा। तुम निरन्तर अपने लाला को रस देने के लिये प्यार करती रहो। तुम्हारे लिये सब कुछ वही है। यदि तुम्हारी नजर और किसी पर नहीं जाती है, तो यह अच्छी बात है। तुम्हारा प्यार पाने के लिये तुम्हारा लाला नन्हा सा है। पर, उसकी महिमा का कोई वारापार नहीं है। प्रभु अपने भक्त के लिये भक्त

की मर्जी के अनुसार सब कुछ करते हैं, परन्तु उन्हें तो निरन्तर प्यार चाहिए। तुम्हारी दृष्टि में और कोई न रह जाए।

तुम किसी और की नहीं हो और न कोई तुम्हारा है। तुम्हारा समस्त जीवन लाला का प्यार हो जाए—यही मेरी सद्भावना है। तुम्हारे सभी संकल्प लाला के प्रेम में विलीन हो जाएँ। तुम्हारा जीवन लाला के प्रेम से भिन्न कुछ न रह जाए। तुम्हारा लाला सदैव तुम्हारी गोद में खेलता रहे, तुम सदैव उसे लाड़ लड़ाती रहो। वह नन्हा सा है, पर सब कुछ कर सकता है। इस पर सब बातें मिलकर हो सकती हैं। तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा पिता,
शरणानन्द

642

भरतपुर
18.4.67

स्नेहमयी साधननिष्ठ,
सप्रेम हरिस्मरण।

तुम्हारा ता° 13.4.67 का लिखा हुआ पत्र मुझे यहाँ आने पर मिला। समाचार विदित हुआ। सर्वेश्वर की महिमा का वारापार नहीं है। पर, तुम्हारा तो वह अपना लाला है, और तुम्हें अत्यन्त प्रिय है। इतना ही नहीं, उसका प्यार ही तुम्हारा जीवन है। तुम स्वयं उसकी महिमा को स्वीकार करो। दूसरों के द्वारा अपने सर्वू की महिमा सुनना चाहती हो, उसकी पूर्ति तो सर्वू स्वयं कर सकता है। किसी और की महिमा जब नहीं रहती, तब अपने आप उस महा महिम की महिमा से जीवन भर जाता है। अपना चाहे जैसा हो, अपना होने से ही प्यारा लगता है। प्यार से ही सर्वू को रस मिलता है। उसने रस पाने के लिये ही तुम्हें अपनी माँ स्वीकार किया है।

अतः तुम्हारा हृदय सर्व के प्यार से भरा रहे, और सर्वू सदैव तुम्हारी गोद में खेलता रहे—यही मेरी सद्भावना है। सर्व जैसा राखे, वैसा रहो। वह सब कुछ जानता है, सब कुछ कर सकता है। तुम्हारे जीवन में सर्वू से भिन्न और कोई न रह जाए, रोम-रोम सर्वू के प्यार से भर जाए। वह तभी होगा, जब तुम कुछ भी नहीं चाहोगी और सर्व को प्यार देती रहोगी। प्यार देना तुम्हारा सहज स्वभाव है। प्यार देने से बढ़ता है, घटता नहीं। दिन-रात सर्व के प्यार में डूबी रहो। जो कुछ हो रहा है, उसमें अपने लाला की ही लीला का अनुभव करो। अनेक रूपों में तुम्हारा सर्व ही है, अतः प्यार सब को देना है। किसी को बुरा नहीं समझना है, अपितु सर्वू के नाते, सभी को आदर तथा प्यार देना है।

इसके अतिरिक्त, कुछ नहीं करना है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो; जो करो ठीक करो। नित-नव उत्साहपूर्वक सर्व को लाड़ लड़ाती रहो। यही इसी मानव-

जीवन का फल है। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार 20.4.67 को गीता भवन स्वर्गाश्रम जाने का विचार है। होगा क्या, प्रभु जाने। पुनः तुम्हें व तुम्हारे सर्व को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

643

नैनीलाल

6.9.48

मेरी निज स्वरूप विचारशीला प्रिय पुत्री,

सप्रेम यथोचित अभिवादन।

तुम्हारा पत्र यथा समय मिला गया। समाचार ज्ञात हुआ। प्रेमी हो जाने में ही प्राणी का अस्तित्व रह सकता है। क्योंकि उनके भक्त का नाश नहीं होता। परन्तु प्रेमी बनने के लिये विशेष ध्यान इस बात का रखना है कि प्राणी अपने को शरीर से विचारपूर्वक असंग कर ले, तभी अपने को प्रेमी बना सकेगा। शरीर के साथ घुल-मिल जाने पर अनेक प्रकार की वासनाओं का स्वतः जन्म हो जाता है, जो प्राणी को प्रेमी नहीं होने देतीं। निर्वासना के बिना, प्रेमी होना सर्वदा असम्भव है। वास्तविक प्रेमी वही हो सकता है, जो भोग-मोक्ष दोनों ही से मुक्त हो जावे। शरीर से असंग हो जाने पर, सभी बंधन टूट जाते हैं-यह सभी विचारशीलां का अनुभव है। अतः अपने को शरीर कभी मत समझो। शरीर तो केवल 'उनके' विश्व की सेवा का साधना है, अर्थात् इस परिवर्तनशील वाटिका का माली है। 'उनकी' आज्ञा तथा प्रसन्नर्थ शरीर द्वारा सेवा करते रहना ही शरीर का सदुपयोग है। शरीर के व्यापार में जीवन-बुद्धि रखना प्रमाद है। प्रत्येक कार्य के अन्त में शरीर को अपने से उसी प्रकार अलग कर लो, जिस प्रकार किसी यन्त्र से कार्य लेने पर, यन्त्र को अपने से अलग कर देते हैं। ज्यों-ज्यों असंगता की सद्भावना दृढ़ तथा स्थाई होती जायेगी, त्यों-त्यों निर्वासना अपने आप आती जायेगी। निर्वासना आने पर निर्मोहता और निर्मोहता प्राप्त होने पर प्रीति की गंगा स्वतः लहरायेगी। प्रीति वह अलौकिक प्रवाह है कि जिस का आरम्भ तो होता है, किन्तु अन्त नहीं है। प्यार बेटी! प्रेमी हो जाना ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है। हमें प्रेमी तो होना है, किन्तु 'उनका' जिन्हें हम नहीं जानते, परन्तु 'वे' हमें अवश्य जानते हैं। क्योंकि हम सीमित और 'वे' असीम हैं। सीमित असीम में विलीन हो सकता है। सीमित असीम को विषय नहीं कर सकता। परन्तु असीम सीमित को सब कुछ कर सकता है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!

ॐआनन्द!

तुम्हारा

शरणानन्द

644

वृन्दावन
26.07.63

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

करने में सावधान, होने में प्रसन्न रहने वाली नीति ही वास्तविक नीति है। अतः प्राप्त परिस्थितियों का पूजा भाव से सदुपयोग करते हुए मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो। शान्ति आवश्यक सामर्थ्य की जननी है। इस कारण कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहना अनिवार्य हे। तुम जिसकी हो, वह सब कुछ जानता है और समर्थ है, तुम्हारा अपना है। उसी के नाते, आवश्यक कार्य करते हुए, उन्हीं की प्रीति होकर रहो। निश्चिंतता, निर्भयता एवं प्रियता में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। निकटवर्ती प्रियजनों को सप्रेम यथोचित तथा बालक-बालिकाओं को बहुत-बहुत प्यार। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो, पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!
ॐआनन्द!

तुम्हारा
शरणानन्द

645

नैनीताल
27.02.68

मेरी निज स्वरूप चि. पुत्री,

सर्वदा प्रसन्न रहो।

देखो बेटी! रोग-पीड़ित प्राणियों की सेवा करने के लिये उदारता तथा धीरज एवं प्यार-तीनों ही की आवश्यकता है। परन्तु धीरज सबसे अधिक होना चाहिए। तुम्हारा कोमल हृदय दुःखियों को देख, घबरा जाता है। मोह को त्याग, उत्तरोत्तर धर्मप्रियता बढ़ती रहनी चाहिए। मानव-जीवन में चैन कहाँ? यह तो साधक-धर्म है, अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक कठिनाइयों को सहन करना है।

अपने कर्तव्य से दूसरों के अधिकार को सुरक्षित रखना धर्म है। अर्थात् सेवा के लिये सभी को अपना समझो, किन्तु अपनी प्रसन्नता के लिये केवल सर्व समर्थ भगवान् को ही अपना समझो। ऐसी भावना दृढ़ होने पर एक विचित्र अनुपम बल आ जाता है, जिस से प्राणी कर्तव्य परायण हो कर, अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद भगवान् का अनुभव कर लेता है। ऐसा मेरा विश्वास है।

मन के दूषित हो जाने पर ही प्राणी दुःखी होता है। पराये-दोष न देखने से, किसी का बुरा न चाहने से, संसार को असत्य समझने से, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से मन शुद्ध हो जाता है। मन शुद्ध होने पर व्यर्थ-चिन्तन-ध्यान स्वतः होने लगता है। अतः मन को शुद्ध करने के लिये प्राणी को सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस समस्या में हार स्वीकार करना भूल है; क्योंकि मन को

शुद्ध करने के लिये प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। परतंत्रता केवल उपभोग में है, उपार्जन में नहीं।

वर्तमान गतिशील क्षणभंगुर जीवन को सत्य समझना प्रमाद है, जिसे मिटाना चाहिये। प्रत्येक कार्य भगवत् नाते, योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमपूर्वक करते रहना चाहिये और कार्य के अंत में सहज भाव से चलते-फिरते, उठते-बैठते हृदय से प्रेमपात्र को पुकारना चाहिये। यही सच्चा भजन है। सभी गृहनिवासियों को सप्रेम यथायोग्य कह देना। मानव की माँग तथा आश्रम बनाने की सद्भावना शरीर को रखने की प्रेरणा करती है। 'उनके' सिखाने के बड़े विचित्र ढंग हैं। वे मुझे आजकल यही पढ़ा रहे हैं कि अन्याय तथा अपमान प्रसन्नतापूर्वक सहते रहो; किसी से भी न्याय तथा प्रेम की आशा न करो। तुम मेरे दुःख से दुःखी न होना, क्योंकि तुम्हारे दुःखी होने से मेरा दुःख बढ़ जायेगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!
ॐआनन्द!

तुम्हारा
शरणानन्द

646

नैनीताल
26.09.48

मेरी निज स्वरूप पुत्री,

प्राणी सुख आने पर प्रमादी और दुःख आने पर भयभीत हो जाता है। अतः जो प्राणी सुख आने पर विवेकी बना रहता है और दुःख आने पर अभय बना रहता है, वही सुख-दुःख का सदुपयोग कर सकता है।

मूल सिद्धांत समझ लेने पर कर्त्तव्य का ज्ञान स्वतः हो जाता है। भय तथा अभिमान समझ को ढक लेता है, अतएव मन से भय तथा अभिमान निकाल दो, तब समझ शुद्ध हो जायेगी और फिर तुम्हें स्वयं नित्य प्रकाश मिलेगा, जिससे अकर्त्तव्य और कर्त्तव्य का वास्तविक बोध हो जायेगा।

हमें वह नहीं करना है, जो नहीं कर सकते। तो फिर कर्तव्य पालन में परतन्त्रता और लक्ष्य की प्राप्ति में असफलता कैसी?

रोग तथा रोगियों की सेवा से शरीर के स्वरूप को समझ लो। इतना ही नहीं, यह भी भली-भाँति जान लो कि मुझे शरीर से असंग होना है। सच्चा सेवक वही हो सकता है, जो अपने को शरीर नहीं समझता। सेवक होने पर ऐश्वर्य तथा माधुर्य स्वतः प्राप्त होता है, जो वास्तव में भगवान् का स्वभाव है।

भगवत् स्वभाव का प्राकट्य होने पर, 'उनसे' अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से सेवक बड़ी सुगमता से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

निस्सन्देह इस वर्ष परम उदार तथा स्नेहमयी को बड़ी ही प्रतिकूलताओं

को सहन करना पड़ रहा है। सर्वसमर्थ भगवान् उनके मन में स्थिरता तथा बुद्धि में विवेक एवं हृदय में निर्भयता प्रदान करें, जिससे वे प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग कर, उससे असंग हो जाएँ और अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव कर, कृतार्थ हों।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!
ॐआनन्द!

तुम्हारा
शरणानन्द

647

नैनीताल
10.9.48

मेरी निज स्वरूप परम आस्तिक परम प्रिय पुत्री,

सर्वदा प्रसन्न रहो।

तुम्हारा ता. 3 का लिखा हुआ पत्र यथा समय मिल गया था। किन्तु उसी दिन एक पत्र लिख चुका था। इस कारण तुरन्त दूसरा पत्र लिखना उचित नहीं समझा।

आलस्य को त्याग, आवश्यक कार्य के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना तो उचित है; किन्तु किसी भी कार्य से भयभीत होना भूल है। प्राणी का कर्तव्य वही है, जिसे वह कर सकता है। जिसके करने में परतंत्र हो, उसका करना कभी आवश्यक नहीं है। परन्तु यह बात बड़ी सावधानी से देखना चाहिए कि कहीं आलस्य के कारण तो परतंत्रता का बहाना नहीं करते? अपने को पूरा लगा देने पर सफलता तथा निश्चिन्तता स्वयं आ जाती है। प्रयत्नशील जीवन के प्राणी में व्यर्थ चिन्तन तथा भय के लिये कोई स्थान नहीं है।

देखो बेटी! मानव की उत्कृष्टता यही है कि उसका जीवन विधान बन जावे, अर्थात् वह भविष्य के प्राणियों के लिये पथ प्रदर्शक हो जावे। वह तभी सम्भव है, जब प्राणी का मन सुख-दुःख से मुक्त हो। सुख-दुःख में आबद्ध मन विवेक अर्थात् समझ का आदर नहीं कर पाता; जानते हुए भी, न जानने के समान ही बेसमझी करता है। मेरी भोली बेटी! तुझे मानवता की परीक्षा में उत्तीर्ण होना हे। अतः आए हुए सुख-दुःख का सदुपयोग करते हुए, उससे असंग होकर, विवेकशील बनकर, मानव-जीवन की समस्याओं को हल कर लो। यही परम पुरुषार्थ है। प्राप्त परिस्थितियों का स्वागत करते हुए, अपने को सदैव उससे सबल बनाओ। अभी कुछ दिन यहीं रहने का विचार है। उतरने पर कहाँ जाना होगा, 'वही' जाने, जिनकी कृपा का भरोसा है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!
ॐआनन्द!

तुम्हारा
शरणानन्द

648

जयपुर
16.12.41

मेरी लाड़ली प्रिय पुत्री,

तुम्हारा पत्र मिला, समाचार ज्ञात हुआ। यह जानकर कि मेरे प्रिय का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, दुःख हुआ। इस समय रात्रि का 1 बज रहा है।

आज चिर-परिचित सिर की पीड़ा का दौरा हो गया। कांग्रेस अधिवेशन की Subject committee में गया था। इस कारण से शारीरिक श्रम कुछ अधिक हो गया। सच तो यह है कि अब यह शरीर किसी की सेवा के योग्य नहीं रहा।

तुमने लिखा है कि मैंने स्वास्थ्य के विषय में कुछ नहीं लिखा। क्या लिखूँ? शरीर अधिक विश्वास की वस्तु तो है नहीं। उस पर इस अभागे द्वारा किसी का हित नहीं हुआ। हाँ, प्रियजनों को इसके दुःख से दुःख अवश्य है। प्यारी बेटी! तुम इस संसार रूपी नाट्यशाला में Good Actor बन कर रहो। जो कार्य सामने उपस्थित हो, उसे भगवत् नाते, करते हुए निरन्तर भगवत्-चिन्तन करती रहो।

सभी गृहनिवासियों से सप्रेम यथोचित अभिवादन कहना।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!
ॐआनन्द!

तुम्हारा
शरणानन्द

649

गीता भवन
ऋषिकेश
18.5.62

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा 14.05.62 का लिखा हुआ पत्र मिला। समाचार विदित हुआ कि दोनों बालक परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये- यह जानकर हर्ष हुआ। तुम्हारे प्रश्न पत्र अधिक अच्छे नहीं हुए, इसकी तुम लेशमात्र चिन्ता न करो। विचारशील मानव कर्तव्य मात्र में ही अपना अधिकार मानते हैं, फल में नहीं। तुम्हारे सामने वृद्धों तथा बालकों की सेवा का प्रश्न है। उसी के लिये सामर्थ्य चाहिये। आवश्यक वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्य सेवक को बिना ही माँग, मिलती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। सच्चे सेवक के जीवन में पर-पीड़ा के अतिरिक्त उसकी कोई पीड़ा नहीं होती। अर्थात् उसका जीवन दुखियों को देख कर, करुणित होता है और सुखियों को देख, प्रसन्न रहता है। करुणा सुख-भोग की रुचि को खा लेती है और प्रसन्नता साधक को निष्कामता प्रदान करती है। भोग की रुचि के नाश में ही नित्य योग और निष्कामता में ही परम शान्ति निहित है, जो विकास का मूल है। इस दृष्टि से तुम्हें अपने लिए कुछ भी नहीं करना है। केवल प्रभु के नाते, प्रियजनों की सेवा करना है।

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि प्रियजनों का वियोग होने पर भी बेचारा मानव मोहजनित सम्बन्ध का त्याग नहीं करता। तुम्हें तथा बालकों को छोड़कर कलकत्ता जाना क्या अर्थ रखता है? पर, क्या किया जाए? मोह की महिमा बड़ी ही प्रबल है। तुम धीरज रखो। जब सभी दरवाजे बन्द होते हैं, तब कोई खुल भी जाता है। प्रतीक्षा करो 'उसकी' अहैतुकी कृपा की। बड़ी वीरतापूर्वक आई हुई परिस्थिति का सदुपयोग करना है, अधीर नहीं होना है, हार नहीं मानना है। तुम्हारा रक्षक सदैव तुम्हारे साथ है। तुम्हें सुख-दुःख के द्वन्द्व से ऊपर उठना है। प्यारी बेटी! वर्तमान कर्तव्य-कर्म को पूजा भाव से करती रहो, सफलता अनिवार्य है। निकटवर्ती प्रियजनों तथा बालकों को बहुत-बहुत प्यार निवेदन करना। मेरी सद्भावना तुम्हारे साथ है। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!
ॐआनन्द!

तुम्हारा
शरणानन्द

650

सरदारशहर
27.9.67

स्नेहमयी साधननिष्ठ लाडली बेटी,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारा पत्र मिला, समाचार विदित हुआ। लीलामय परीक्षा नहीं लेते हैं, वे तो सब कुछ जानते हैं। तुम्हारा कोमल हृदय प्रतिकूलता से भयभीत हो गया है। प्यारी बेटी, तुम्हारे जीवन में अधीर होने के लिए कोई स्थान नहीं है; कारण, कि तुम्हारा करके कुछ है नहीं और तुम्हें कुछ चाहिए भी नहीं। तुम्हारे तो केवल प्यारे प्रभु ही अपने हैं और उनकी प्रियता ही तुम्हारा जीवन है। प्राप्त परिस्थिति के रूप में प्यारे की पूजा करती रहो। आत्मीयता से जागृत अखण्ड स्मृति होती रहे। प्रीति की भूख बढ़ती रहे और अनेक घटनाओं के रूप में उनकी लीला देखती रहो। तुम्हारा यह अन्तिम जीवन है। तुम्हें अब जन्म नहीं लेना है। सुख का प्रलोभन मिटाने के लिए, दुःख पर दुःख आ रहा है। उससे डरो मत। अपितु दुःख के प्रभाव को अपनाकर अपने को सर्वांश में सुख के प्रलोभन से रहित कर लो। देखो मुन्नी! तुम्हारा नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता जिससे हैं, उसी की होकर रहो। यह सारा खेल जिस खिलाड़ी का है, वह तुम्हारा अपना प्यारा है। उसे मत भूलों। उससे उसका प्यार माँगों और कह दो, "हे निष्ठुर! तुम मुझे अपना प्यार दे दो और अपनी सृष्टि की सेवा करा लो।" तुम्हारा जीवन सुख-भोग के लिये नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। तुम अनन्त की प्रीति हो, सृष्टि की सेवाहो। यह तुम्हारा निज स्वरूप है। तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। तुम्हारा

कुछ नहीं हे। जिसका सब कुछ है, वह तुम्हारा अपना है। 'वह' तुम्हें निरन्तर देख रहा है और तुम्हारे ही द्वारा तुम्हारी ममता को मिटाने के लिए खेल रहा है। तुम सदैव सभी घटनाओं में अपने चित्तचोर को देखती रहो और कभी-कभी कह दिया करो, "मैं किसी और की नहीं हूँ और कोई मेरा नहीं है। तुम्हीं मेरे अपने हो। जो खेल करोगे, वही देखूँगी और तुम्हारी प्रीति बनकर रहूँगी। मेरी यह माँग तुम्हें पूरी करनी ही होगी, वास्तविक माँग की पूर्ति होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

651

गीता भवन
7.5.59

सौभाग्यवती, स्नेहमयी कर्तव्यनिष्ठ लाड़ली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। संयोग-वियोग विधान के अधीन है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही विकास का मूल है। वर्तमान कर्तव्य-कर्म ही वास्तविक पूजा है। प्रियजनों के संकल्प में अपने संकल्पों का विलय करना ही पारस्परिक स्नेह को सुरक्षित रखना है मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार प्रत्येक घर आश्रम है। सभी के अधिकारों की रक्षा करती रहो। ऐसा करने से जहाँ रहोगी, वहीं मानव सेवा संघ का आश्रम हो जाएगा। 'मानव सेवा संघ' मानव मात्र का अपना संघ हे। कोई मानव भले ही उसे अपना न माने, किन्तु संघ तो सभी को अपना मानता है। इसी नाते, 'मानव सेवा संघ' मानव मात्र का अपना संघ है। अब आवश्यकता इस बात की है कि संघ की नीति के अनुसार मानव-परिवार का निर्माण किया जाए। यदि प्रत्येक परिवार में एक-एक व्यक्ति भी संघ की नीति के अनुसार रहने लगे, तो निस्सन्देह वह परिवार मानव-परिवार हो जायेगा। आज हम मानव जीवन के महत्त्व को भूले हैं। उसकी स्मृति का प्रतीक 'मानव सेवा संघ' हैं। कर्तव्य परायणता द्वारा मानव जगत् के लिये और असंगता द्वारा मानव अपने लिये एवं आत्मीयतापूर्वक मानव प्रभु के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। वास्तविकता तो यह है कि मानव को जगत् और जगतपति से कुछ भी नहीं लेना है। जगत् को उदारता, अर्थात् करुणा और प्रसन्नता और जगत्पति को प्रियता प्रदान करना ही मानव का अपना जीवन है।

अतः जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। जो करो, ठीक करो। तुम्हारे द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित रहें और तुम्हारे मन में अपने अधिकार की गंध भी न रहे, तभी तुम सोई हुई मानवता को जगा सकती

हो। 'मानवता' सेवा, त्याग तथा प्रेम की प्रतीक है। जो किसी से सुख की आशा नहीं करता, वही सेवा कर सकता है। जिसने अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं माना, उसी के हृदय में प्रीति की गंगा लहराती है। यही संघ की निर्मल नीति है। अर्थात् किसी से सुख की आशा मत करो और अपने दुःख का कारण किसी और को मत मानो। जिसने इस नीति को अपनाया, उसका बेड़ा पार हुआ। सभी प्रियजनों को सप्रेम यथोचित।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

652

उदयपुर
22.5.45

मेरी निज स्वरूप प्रिय पुत्री तथा स्वधर्मनिष्ठ अन्य महानुभाव,

सप्रेम यथा-योग्य।

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। उत्तर में देर हुई, क्षमा कीजिए। स्वास्थ्य जितना बिगड़ गया था, उससे कुछ अच्छा है। किन्तु सन्तोषजनक नहीं है।

इस शरीर से भी कहीं अधिक दुःखी प्राणी उपस्थित हैं। उनकी अव्यवस्था देखकर, इस शरीर को व्यवस्थापूर्वक रखने की रुचि उत्पन्न नहीं होती। यद्यपि यह केवल भावावेश ही है। इस चेष्टा से किसी दुःखी का भला तो होता नहीं। परन्तु अभी इस हृदय में यह निर्बलता उपस्थित है।

देखिये, कब निकलती है। एक रोग-ग्रसित भक्त महिला की चिकित्सा के लिये उज्जैन से उदयपुर आया था। उन बिचारी को डाक्टरों ने टी.बी. घोषित कर ही दी है। उनके इलाज की व्यवस्था एक मित्र डाक्टर ने कर दी है। सफलता भगवान् की कृपा पर निर्भर है।

जितनी सुविधायें आवश्यकता की दृष्टि से होनी चाहिये, वहीं हैं। परन्तु उन महिला की अर्थहीन दशा के कारण जो कुछ हो रहा है, आशा से अधिक है। यहाँ से 24 तारीख को गंगोत्री यात्रा के लिये जाना होगा। अतः अब दो मास तक पत्र-व्यवहार नहीं करना चाहिये।

प्रत्येक प्राणी का जीवन अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य सम्पन्न भगवान् की साया में हैं। परन्तु फिर भी प्राणी दीन तथा दुःखी है। इस समस्या पर विचार करने से यही ज्ञात होता है कि प्राणी अपने को मिले हुये सीमित तथा परिवर्तनशील ऐश्वर्य तथा माधुर्य में आबद्ध कर, अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है एवं मिले हुये ऐश्वर्य तथा माधुर्य का दुरुपयोग करता है। इन्हीं दो कारणों से सर्वसमर्थ की साया में रहकर भी बेचारा प्राणी दीन तथा दुःखी है।

यदि प्राणी मिले हुये धन तथा बल एवं योग्यता आदि भिन्न भिन्न प्रकार

की शक्तियों का सदुपयोग करता रहे, अर्थात् उनको दुःखियों की सेवा में लगाता रहे, तो शक्तियाँ उत्तरोत्तर स्वयं बढ़ती रहती हैं। इतना ही नहीं, अन्त में प्राणी अनन्त शक्ति से अभिन्न हो जाता है।

परन्तु जब प्राणी मिले हुए धन एवं बल तथा योग्यता आदि शक्तियों को केवल अपने भोग में ही लगाता है एवं दूसरों को, जो उससे शक्तिहीन हैं, दुःखी करता है, तो मिली हुई शक्तियाँ छिन जाती हैं। अन्त में वह प्राणी जड़ता को प्राप्त होता है।

मानव-जीवन में भोग केवल भोग की असारता जानने के लिये है। भोग जीवन नहीं है। भोग की असारता का यथार्थ ज्ञान होने पर, भोग से असंग होने की शक्ति स्वतः आ जाती है।

भोग से असंग होते ही नित्य योग स्वतः हो जाता है, जो वास्तव में मानव की माँग हैं। क्योंकि प्रत्येक मानव नित्य जीवन और नित्य रस की अभिलाषा रखता है। अभिलाषा उसकी होती है, जिससे जातीय एकता और मानी भिन्नता हो और इच्छा उसी की होती है, जिससे मानी हुई एकता हो और जातीय भिन्नता हो।

इसी कारण इच्छाओं की निवृत्ति और अभिलाषा की पूर्ति होती है। अतः प्रत्येक मानव स्वतंत्रतापूर्वक नित्य जीवन एवं नित्य रस को प्राप्त कर सकता है। अर्थात् अपनी दीनता तथा दुःख को मिटा सकता है।

बेचारा मानव दीन उसी समय तक है, जब तक अपने को परिवर्तनशील सौन्दर्य में आबद्ध रखता है तथा अपने से अधिक दीन दुःखियों के काम नहीं आता।

जिस काल में मानव विचारपूर्वक अपने को सीमित सौन्दर्य से विमुख कर लेता है और अपने से अधिक दुःखियों के काम आने लगता है, बस, उसी काल में अनन्त सौन्दर्य तथा आनन्द उसे स्वतः अपना लेता है।

निम्नलिखित प्रार्थना प्रत्येक प्राणी को सोते तथा उठते एवं प्रत्येक कार्य के आदि तथा अन्त में करनी चाहिये-

प्रार्थनाः मेरे नाथ! आप अपनी, सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी कृपा से, दुःखी प्राणियों के हृदय में, त्याग का बल और सुखी प्राणियों के हृदय में, सेवा का बल प्रदान करें, जिससे वे, सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हों आपके, पवित्र प्रेम का, आस्वादन कर, कृतकृत्य हो जायँ।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

653

टंकी हाऊस
18.06.48

मेरी निज स्वरूप पुत्री

जब-जब स्वर्गीय आत्मीयजन का स्मरण आये, तब-तब दृढ़तापूर्वक यही निश्चिय करो कि "अब तुम मेरे नहीं हो। तुम जगत्-जननी की अहैतुकी कृपा से नवीन योनी धारण कर, अपने लक्ष्य को पूरा करो। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें"। देखो बेटी! मोहयुक्त प्रीति से न तो तुम्हारा हित है, न स्वर्गीय का। मोह त्याग करने पर ही, दोनों का हित सम्भव है। अतः उसके लिये प्रतिदिन कम से कम 108 माला जप किया करो। अधिक जितना भी हो जावे। 108 माला जप करने में लगभग 2 घण्टे का समय लगेगा। यदि समय की कमी हो, तो उसे 2-3 बार में पूरा कर देना चाहिये।

तुम्हारे मन में इस बात का गहरा दुःख होता होगा कि वह बार-बार खाने की चीजें माँगता था और रोग के कारण आप लोग नहीं दे सकते थे। यह दशा उसकी मेरे सामने लखनऊ में थी। इस दुःख को मिटाने का उपाय यही है कि जिन चीजों को वह माँगता था, उनको बनाकर, गरीबों के छोटे-छोटे बच्चों को खिला दो।

दूसरी विचार करने की बात यह है कि यदि उसी के प्रारब्ध में वे वस्तुयें होतीं, तो उसको ऐसा भयंकर रोग क्यों होता? प्रत्येक प्राणी अपना-अपना भोग लेकर आता है। इसलिए विचारशील चिन्ता नहीं करते।

उसका हित इसी में है कि तुम उसे अपना न समझो और तुम्हारा हित इसी में है कि तुम विचारपूर्वक मोह का अन्त कर दो।

संसार रूपी नाट्यशाला में जो अभिनय (पार्ट) खेलने को मिला है, उसे न्यायपूर्वक पूरा करो। अभिनय को सत्य समझना भूल हे। एक दिन था कि वह जैसी वस्तु तुम्हारी गोद में नहीं थी और आज भी नहीं है। देखो, जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं होती, केवल मध्य में होती है, उसे विचारशील स्वप्नवत् समझते हैं। मोह रूपी निद्रा से उठो, जागृत हो जाओ। विवक रूपी सूर्य से हृदय का अंधकार मिटाओ। उसमें अनुराग की गंगा बहाओ।

सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु समय है। मोहवश उसका दुरुपयोग न करो। यदि वेदन से प्रीति है, तो परम प्रेमास्पद के लिये क्यों नहीं व्याकुल होती? जो तुम्हारा नित्य साथी हैं। संसार की वस्तुएँ चाहे किसी स्वरूप में क्यों न हों, वे तुम्हारी साथी नहीं है। वे तो इस क्षणभंगुर विकारयुक्त शरीर की साथी है।

तुम शरीर नहीं हो। शरीर रूपी यन्त्र तो तुमको केवल प्रेमपात्र के नाते, विश्व-सेवा के लिये मिला है। यदि तुम उस शरीर को मोह रूपी अग्नि में जलाओगी, तो फिर प्रेमपात्र की आज्ञा का पालन किसके द्वारा करोगी?

हम शरीरधारिओं को जो, जो खेल मिला है, उस लीलामय की प्रसन्नता के लिये वह, वह खेल खेलो। खेल 'खेल' है, जीवन नहीं। प्राणी का जीवन केवल 'उनकी' प्रीति है। देखो! संतान के द्वारा

भला, किसे चैन मिला है? महाराज दशरथ को प्राण देना पड़ा। नंद-यशोदा को मीन की भाँति व्याकुलता सहनी पड़ी। तो हम साधारण प्राणियों की बात ही क्या है।

जो हो चुका है, उसके लिये चिन्ता न करो। जो समय व्यर्थ चिन्ता में बिताती हो, वह समय 'उनके' चिन्तन में बिताओ। सुख-दुःख मन का धर्म है। जो मन 'उनके' श्री चरणों में लग जाता है, वह मन सदा के लिये सुख-दुःख से छूट जाता है।

अतः प्रमाद को त्याग, सावधान हो जाओ और प्रत्येक स्वाँस का सदुपयोग करो। जब तक आपको हृदय दुःखी है, क्या आपका यह बालक प्रसन्न हो सकता है?

सच तो यह है कि हृदय की बात हृदय तक स्वयं पहुँच जाती है-ऐसा मेरा विश्वास है। आशा है कि आपका हृदय अवश्य शान्त होगा।

बाबा! शरीर चौकी पर भले ही पड़ा रहे, परन्तु मन परम मनोहर श्याम सुन्दर के श्री चरणों में लगा दो। यदि हृदय में 'उनके' न मिलने की वेदना बढ़ जायेगी, तो शरीर की पीड़ा अवश्य मिट जायेगी; क्योंकि दो वेदनायें एक साथ नहीं रहतीं। जिसके हृदय में 'उनके' वियोग की अग्नि प्रज्जवलित है, उसके हृदय के अन्य सभी दुःख भस्मीभूत हो जाते हैं-ऐसा मेरा विश्वास है। तुम्हारा हृदय चारों और मृत्यु का दृश्य देख, भयभीत है।

बेटी! यह तो बताओ कि जन्म होते ही, मृत्यु आरम्भ नहीं हो जाती? प्रत्येक वस्तु निरन्तर काल रूप में अग्नि में जल रही है। विवेकी की दृष्टि में तो केवल मृत्यु का ज्ञान और अमरत्व की माँग है। अर्थात् मृत्यु से अमरत्व की ओर जाना ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है।

संयोग की दासता और वियोग के भय से सभी पीड़ित हैं। इस समस्या का हल करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।

अतः मोहजनित बन्धन को त्याग, वियोग के भय से मुक्त हो जाओ। शरीर से सेवा, मनसे 'उनका' स्मरण करती रहो। वे तुम्हारी सभी समस्याएँ हल कर देंगे। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। तुम प्रत्येक घटना में 'उन्हीं' का चमत्कार देखो। कहीं सुख-दुःख के जाल में फँस कर, उस खिलाड़ी को भूल न जाना। यह जो कुछ हो रहा है, 'उनका' खेल है। हम सब साथियों को उनके साथ खेलना है। जब 'वे' हमें सब प्रकार से अपना पायेंगे, तुम सच मानो कि, फिर 'वे' सदैव हम लोगों के ही होकर रहेंगे।

आज वे हम लोगों को ही नाच नचा रहे लें, एक दिन हम सब मिलकर उनको भी नाच नचायेंगे। उन्हें भी हम लोगों का स्मरण चिन्तन करना होगा। यह निर्विवाद सिद्ध है। हाँ! हम लोग उनके न हो कर, किसी और के हो गए। तब तो किसी भी प्रकार न मिलेंगे।

देखो! जो 'उनके' ही होकर रहते हैं, उन्हें वे अवश्य अपनाते हैं, रूठने

पर मनाते हैं, सो जाने पर जगाते हैं, बिना बुलाये आते हैं; क्योंकि वे परम उदार हैं; क्योंकि वे ऋणि नहीं रहते। उनको दी हुई वस्तु सदैव बढ़ती रहती है। तो फिर तुम लोगों की प्रीति क्यों न बढ़ेगी? अवश्य बढ़ेगी। तुम सच मानो, 'वे' तुम लोगों को अवश्य प्रेम करेंगे, क्योंकि प्रेम करना केवल वही जानते हैं।

तुम अपने को उनके प्रेम का अधिकारी समझो; क्योंकि वे ही हम लोगों के नित्य साथी है। हम लोग अपने निजी सम्बन्धी को भूल, माने हुए सम्बन्धियों में फँस जाते हैं, जो वास्तव में परम भूल है। उस भूल को मिटाने के लिये ही प्रत्येक संयोग 'वियोग' में बदल जाता है। अतः संयोग काल में ही, वियोग का अनुभव करना चाहिए। ऐसा करने से हमें अपने निजी सम्बन्धी का बोध होगा, जिससे हम सदैव उनकी नित्य लीला, नित्य विहार, नित्य प्यार का आस्वादन करेंगे, जो वास्तव में हर लोगों का जीवन है। इस परिवर्तनशील-जीवन को 'जीवन' समझना भूल है। यह तो वास्तविक जीवन का साधनमात्र है। अतः हृदय से मृत्यु का भय मिटा दो और उसमें विचार का दीपक जला दो। पुनः सभी को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

654

अलीगढ़
1.4.65

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार। सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

मंगलमय विधान से कर्तव्यपालन के लिये सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है। अपने पर दायित्व इतना है कि प्राप्त का सदुपयोग करते रहें, अर्थात् दुरुपयोग न करें। कल फोन द्वारा तुम्हारी दीदी से बातचीत की थी। उन्होंने रोग निवृत्ति के लिये उपचार बन्द कर दिया है। केवल भगवत् चरणामृत पीती हैं और शान्त तथा प्रसन्न हैं। प्रभु-प्रेम की माँग ही उनकी भूख है। उसी के लिये व्याकुल रहती हैं।

प्यारी बेटी! प्रत्येक कर्तव्यकर्म द्वारा अपने दुलारे की पूजा करती रहो और प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला देखो। सब प्रकार से उन्हीं की होकर रहो। उनकी प्रियता ही तुम्हारा जीवन है, जो एक मात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से साध्य है। प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखो। अपने सभी संकल्प सर्व समर्थ प्रभु के चरणों में समर्पण कर दो। पूज्या अम्मा जी की आदरपूर्वक सेवा करती रहो। तुम्हारे रचयिता ने तुम्हें सेवा, त्याग, प्रेम के लिये ही बनाया है। उनके इस संकल्प में अपने

संकल्प विलीन कर दो। निश्चिंतता, निर्भयता एवं प्रियता ही तुम्हारा जीवन हो। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। जो करो, ठीक करो। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

655

करनाल
6.8.67

स्नेहमयी कर्तव्यनिष्ठ भक्तमति लाडली बेटी,

सप्रेम हरि स्मरण।

पत्र के रूप में भेंट हुई। प्रतिकूलता से डरो मत, अपितु धैर्यपूर्वक प्राप्त परिस्थितियों को सदुपयोग करो। विधान में अविचल आस्था करो। सब ओर से मन हटाकर, पूरी शक्ति लगाकर, प्रियजनों की सेवा करना है। सेवा का अवसर बार-बार नहीं मिलता। इतना ही नहीं, सेवा बिना किये, सर्वांश में ममता का भी नाश नहीं होता। सेवा के रहस्य को तुम भलीभाँति जानती हो-ऐसा मेरा विश्वास है। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

सर्व समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें कर्तव्यनिष्ठ बनाएँ। यही मेरी सद्भावना है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। जो करो, ठीक करो। यथा समय पत्र लिखती रहो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

656

अजमेर
13.8.46

भक्तवर प्रिय,

सप्रेम नारायण।

पत्र के स्व रूप में दर्शन मिला। यह जानकार कि चि. की आँखें तक कर रही हैं। मेरे विचार से अधिक दिनों तक कोई तेज दवा नहीं लगवानी चाहिये। साधारण हल्की दवा और कोई खाने की औषधि आयुवैदिक अथवा होमियोपैथिक जो सुविधापूर्वक मिल सके, वह दे देना चाहिये। त्रिफला खिलाना तथा उसके जल से धोना भी हितकर होगा।

रोगी, बालक, विरक्त महिलाओं की सेवार्थ आप लोग जो प्रयत्न कर रहे हैं, उसके लिये धन्यवाद!

लिखा है कि प्रीति जागृत नहीं होती। गहराई से देखिये, प्रीति उत्पन्न होने के केवल दो ही मुख्य कारण हैं-अपनत्व तथा आवश्यकता। क्योंकि जिसको हम सद्भावपूर्वक अपना मान लेते हैं, उससे प्रीति स्वतः हो जाती है अथवा जिसकी आवश्यकता होती है, उससे प्रीति अपने आप होती है। जैसे, प्यास लगने पर पानी से अथवा शरीर आदि सम्बन्धियों को अपना मानने से प्रीति सभी को होती है।

अतः सद्भावपूर्वक प्रेमपात्र को अपना समझो अथवा उनको वर्तमान जीवन की आवश्यकता समझो। क्योंकि भविष्य की आशा सच्ची व्याकुलता नहीं होने देती। प्यारे! सर्व समर्थ प्रेमपात्र सर्व देश, सर्व काल में हैं। उनसे केवल न जानने की दूरी है, जो तीव्र जिज्ञासा होने पर मिट जाती है। अतः प्रेमी को प्रेमपात्र से कभी निराश नहीं होना चाहिए।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

657

पेटलाद
16.01.51

परम आस्तिक कर्तव्यनिष्ठ,
सादर सप्रेम यथोचित।

आपका 3 तारीख का लिखा हुआ पत्र यथा समय मिल गया था। आपने जो कुछ लिखा है, वह अक्षरशः सत्य मालूम होता है।

मुझे अपनी निर्बलता का दुख है कि मैं मानव-समाज की इन कुरीतियों को न मिटा सका कि जिनके कारण मानव एक अजीब अशान्ति में आबद्ध हो गया है।

सर्व समर्थ भगवान् हम सब लोगों को सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे कर्तव्यनिष्ठ होकर अपनी बेसमझी से उत्पन्न हुई अशान्ति मिट जावे। यह तो रही सैद्धान्तिक बात।

इस सिद्धान्त तक पहुँचने के लिये हमें वर्तमान में क्या करना है? इस पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। किसी अन्य को बदलने से पूर्व हमें अपना परिवर्तन करना है, अर्थात् हम व्रत ले लें कि बालकों के विवाह में दहेज माँगने की बात ही क्या है, भावना तक न करेंगे और यदि हमारे पास अर्थ होगा, तो बालिकाओं को बिना ही माँगे देंगे।

इस व्रत को सच्चाई पूर्वक कर लेने के बाद हमारी सहायता प्रभु की अहैतुकी कृपा अवश्य करेगी, क्योंकि धर्म उन्हीं का विधान है। अभी तक तो हमारे भीतर के मन में लेना और देना, दोनों ही विद्यमान हैं। सर्व-अन्तर्यामी इस बात को जानते हैं। जब हम उनकी दृष्टि में ठीक हो जायेंगे, तब प्रतिकूलता 'अनुकूलता' में अवश्य बदल जायेगी- ऐसा मेरा विश्वास है।

हम लोगों को चाहिए कि बड़ी ही गम्भीरतापूर्वक अपने मन की छिपी हुई कमजोरियों को देखें और मिटाएँ। मेरे विश्वासानुसार प्रतिकूलताएँ प्राणी के परिवर्तन के लिये आती हैं। यह विधान है। विधान का आदर करना धर्म है। धर्माचरण से किसी का ह्रास नहीं होता। यह निर्विवाद सिद्ध है।

आप सोचेंगे कि वर्तमान उलझन पर कुछ न लिख कर-लगे ज्ञान (Philosophy) छाँटने। यह बात भी कुछ

ठीक ही है, क्योंकि आपके मन में अर्थ होने पर, न देने की बात तो है ही नहीं। गहराई से यदि सोचें, तो ज्ञान होगा कि देने के स्थान पर लेने की भावना भी विद्यमान है। हम लोग भी अपने बालकों के लिये रूपवती, गुणवती वधू तथा मालदार सभ्य परिवार चाहते हैं। गुणवती तथा सभ्य परिवार तो आवश्यक अंग हैं। अर्थ तथा रूप काम-प्रिय प्राणियों की माँग हैं।

वैसे तो काम से ही जीवन का आरम्भ है। पर, हमें यथाशक्ति उससे असंग होना है, अर्थात् काम से राम की ओर जाना है, तभ हम आस्तिक साधक हो सकते हैं।

जब तब अनुकूलता न आए, तब तक धीरजपूर्वक शान्त रहना चाहिए। धर्मशास्त्र में बड़े से छोटे का विवाह पहले करना निषेध है। इससे आयु और तेज घटता है। प्रभु हमें धर्मात्मा बनाएँ-यही मेरी सद्भावना है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

658

बनारस
07-08-61

स्नेहमयी साधननिष्ठ लाडली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

प्यारी बेटी! मानव जीवन में प्रतिकूलताओं से भयभीत होने का कोई स्थान हीं नहीं; कारण, कि प्रतिकूलता तथा अनुकूलता दोनों ही परिस्थितियाँ साधनरूप हैं, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति साधन सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; कारण, कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। परिस्थितियों की भिन्नता और अर्थ की एकता यह सृष्टि की शोभा है, रचयिता की अलौकिकता है। भिन्नता में एकता का दर्शन स्पष्ट होता है। दुलारी बेटी! गम्भीरतापूर्वक विचार करो कि विश्व के इतिहास में क्या कोई ऐसा मानव है, जिसकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाएँ? अथवा कोई भी कामना पूरी न हो? कदापि नहीं। कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं और कुछ नहीं होती। इस विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि कामना-पूर्ति मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं है और कामना मात्र से कोई कामना पूरी नहीं होती, अपितु आवश्यक कामना की पूर्ति विधान से ही होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति से प्रत्येक मानव को निष्काम होना अनिवार्य है। निष्काम होने के लिये ममता रहित होना आवश्यक है। ममता रहित होने के लिये विवेकपूर्वक संयोग में वियोग का दर्शन करना है। ऐसा बिना किये, कोई भी निष्कामता से उदित परम शान्ति और असंगता से प्राप्त स्वाधीनता एवं आत्मीयता से जाग्रत अखंड स्मृति

तथा अगाध प्रियता सम्भव नहीं है, जो वास्तविक जीवन है। निष्कामता पूर्वक पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो। यह तभी सम्भव होगा, जब प्रतिकूलताओं में धीरज सुरक्षित रहे। उसके लिये प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है। सब प्रकार से सर्व समर्थ प्रभु की होकर रहो और वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को उन्हीं की पूजा जानो और उन्हीं के नाते, सभी को आदर तथा प्यार दो। यही सफलता की कुंजी हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

659

गीता भवन
3.5.66

स्नेहमयी साधननिष्ठ दुलारी बेटी,

सप्रेम हरि स्मरण तथा बहुत-बहुत मधुर स्नेह।

जहाँ रहो, प्रसन्न रहो। जो करो, ठीक करो। और सब प्रकार से सर्व समर्थ प्रभु की हो कर रहो। कारण, कि एक मात्र वे ही तुम्हारे अपने हैं। तुम्हें प्रत्येक कर्तव्य-कर्म द्वारा उनकी पूजा करनी है। और उनकी मधुर स्मृति होकर रहना है। मानव-जीवन की सार्थकता तभी होगी, जब तुम अपने में ही अपने प्रेमास्पद को पाओगी। जो सदैव है सर्वत्र हैं, सभी में हैं, समर्थ हैं, वे ही तुम्हारे अपने हैं। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक है। प्रियता की अभिव्यक्ति होने पर नीरसता का सदा के लिये अन्त हो जाता है, जिसके होते ही जीवन रस रूप हो जाता है, खिन्नता, क्षोभ, क्रोध आदि विकारों का नाश हो जाता है। इस कारण तुम्हें शीघ्र अति शीघ्र अपने में अपने प्रेमास्पद को पाकर कृत-कृत्य हो जाना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

660

हरिद्वार
30.05.62

स्नेहमयी साधननिष्ठ प्रिय पुत्री,

बहुत-बहुत प्यार।

मानव का अधिकार प्राप्त परिस्थिति के सुदपयोग में ही है। तुम आई हुई परिस्थिति का धीरजपूर्वक सदुपयोग करती रहो। आदरणीय माता जी एवं बाबू जी की यथेष्ठ सेवा तथा बालकों के विकास पर दृष्टि रखना है, प्राप्त बल का सदुपयोग करना है। जो न कर सको, उसके लिये चिन्ता न करो। और जो कर सकती हो, उसे धीरजपूर्वक करती रहो। किसी भी परिस्थिति में अधीर

नहीं होना हे। निश्चिन्तता, निर्भयता तथा शान्ति को सुरक्षित रखना है। जीवन-संग्राम में हार नहीं मानना है। सर्व समर्थ प्रभु की अहैतुकी कृपा का आश्रय ही मानव का वास्तविक आश्रय है। प्रतिकूतलाओं से भयभीत होना भूल है, अपितु सेवा, त्याग, प्रेम को अपनाकर सत् पथ पर अग्रसर रहना है। सफलता अनिवार्य है। शरीर से दूर रहने पर भी मेरी सद्भावना सदैव तुम लोगों के साथ है। शरीर को जब तक रहना है, रहेगा ही। प्राणों के रहते हुए ही विवेकपूर्वक शरीर से असंग होने में ही वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है। मिले हुए का सदुपयोग करना है, अप्राप्त का चिन्तन नहीं है। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता में ही जीवन की पूर्णता निहित है, जो एक मात्र सत्संग से ही साध्य है। जाने हुए असत् के त्याग में ही सत् का संग है। मेरी सद्भावना सदैव तुम लोगों के साथ है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

661

किरांची
9.4.46

भक्तवर प्रिय पुत्री,
सर्वदा अभय रहो।

आजकल गृह अस्पताल बन गया है। तुम्हारा पवित्र शरीर भी पलंग पर पड़ा है। रोग भगवान् भोग तथा शरीर की वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिये आते हैं। अतः आये हुए रोग का अभिवादन करो और अपने को शरीर से असंग कर लो। असंग होते ही निर्वासना आ जायेगी। निर्वासना आते ही हृदय निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि पवित्र गुणों से भर जावेगा।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

662

परम प्रिय आनन्द कन्द,

संकल्प की दृढ़ता के लिये व्याकुलतापूर्वक दुःखी हृदय से सर्व समर्थ भगवान् से प्रार्थना करो। सद्भावपूर्वक की हुई प्रार्थना अवश्य सफल होती है।

सोते समय यह संकल्प करो कि मैं ब्रह्मचारी हूँ। कुछ दिन तक लगातार प्रतिदिन ऐसा करने से ब्रह्मचर्य पालन की शक्ति आ जायेगी। शरीर को सबल बनाओ, बाह्म वस्तुओं से मत सजाओ। ज्यों-ज्यों सदा जीवन बनाते जाओगे, त्यों-त्यों ब्रह्मचर्य पालन की शक्ति आती जायेगी।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

663

जोधपुर
28.9.51

सौभाग्यवती लाडली बेटी तथा चिंरजीव दुलारी बेटी,

तुम दोनों के पत्र मिल गये। शरीर स्वभाव से ही अनेक व्याधियों का घर है। इसी कारण विचारशील अपने को शरीर से असंग होने के लिये अथक प्रयत्न करते हैं। सर्व समर्थ भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें विवेक प्रदान करें, जिससे तुम आये हुए दुःख का सदुपयोग कर सको। यह मेरी सद्भावना है।

सुख-दुःख दिन रात के समान आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं। अतः मोह का त्याग, धर्मपर्वूक भगवत् नाते, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करती रहो। यह भलीभाँति समझ लो कि विश्वास करने योग्य केवल श्रीहरि की अहैतुकी कृपा तथा अपना कर्तव्य है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

664

स्वधर्मनिष्ठ स्नेहमयी पुत्री,
सर्वदा अभय रहो।

यह जानकार कि तुम गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर रही हो, बड़ा हर्ष हुआ। जिस वीरता, गम्भीरता एवं सदाचारपूर्वक तुमने ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन किया है, उसी वीरता, गम्भीरता एवं सदाचारपूर्वक गृहस्थ आश्रम का पालन करना चाहिए। गृहस्थ आश्रम मन में छिपी हुई है तथा काम की वासनाओं को धर्मानुसार प्रवृत्ति द्वारा मिटानेका साधन है। साधन में साध्य-बुद्धि विचारशील नहीं करते, अर्थात् साधन में जीवन-बुद्धि नहीं करते, किन्तु साधन का आदर अवश्य करते हैं। साधक साधन को अपना लेने पर ही साध्य से अभिन्न हो सकता है। साध्य से अभिनन होने की दृष्टि से तो साधन परम प्रिय वस्तु है। परन्तु साधन को 'साध्य' मान लेना प्रमाद है।

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थ आश्रम का साधन है, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम वानप्रस्थ आश्रम का साधन है और वानप्रस्थ 'त्याग' का साधन है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में गुणों के विकास की महत्ता है और गृहस्थ आश्रम में न्याय तथा नियमपूर्वक सीमित उपभोग एवं उपार्जन किए हुए अर्थ द्वारा रोगी, बालक, विरक्त की भगवत् नाते, सेवा करना मुख्य ध्येय है। ऐसा करने से अर्थ और काम का राग मिट जावेगा, अर्थात् इन्द्रियलोलुपता, 'जितेन्द्रियता' में तथा व्यर्थ-चिन्तन 'सार्थक-चिन्तन' (तत्त्व चिन्तन, ईश्वर चिन्तन) में एक स्वार्थ 'सेवा'

में परिवर्तित हो जावेगा, जो उन्नति का मूल है।

गृहस्थ होने का वही अधिकारी है, जो जगत् रूपी मनोहर वाटिका में सुन्दर-सुन्दर सुमन उत्पन्न कर, उसके राग से मुक्त होने में समर्थ हो। अतः तुम अपने से योग्य संतान उत्पन्न कर, गृहस्थ आश्रम को सार्थक बनाओ। इसके लिये पति-पत्नी में धान की समान एकता अनिवार्य हैं। देखों, जब तक चावल और उसका छिलका मिला रहता है, तभी तक वृद्धि में समर्थ हो सकता है। यह सभी जानते हैं।

पति और पत्नी केवल शरीर दृष्टिसे दो भले ही हों, किन्तु भाव तथा विचार की दृष्टि से एक हों, क्योंकि प्रेम वह गणना है कि जिसमें एक और एक मिलकर एक होते हैं, दो नहीं।

वर-वधू को अपनी-अपनी प्रतिज्ञा पर हिमालय के समान अचल रहना चाहिए। उन्नतिशील प्राणी केवल अपने कर्तव्य पर विशेष ध्यान देते हैं, दूसरों की ओर नहीं देखते। ऐसा करने से अपने में स्वतः आत्मबल का प्राकट्य होता है, जो वास्तव में मानवता है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी किसी का ऋणी नहीं रहता। जो किसी का ऋणी नहीं रहता, वही नित्य जीवन, नित्य रस, नित्य प्यार को प्राप्त कर, कृत-कृत्य हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

हम भारतीयो में यह प्रथा प्रचलित है कि पाणिग्रहण संस्कार के अंत में वर-वधू कंगन की गांठ खोलते हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि टूट न जावे, ज्यों-की-त्यों खुल जावे। दोनों ही खोलने में प्रयत्नशील होते हैं। जो प्रथम खोलता है, उसकी विशेषता मानी जाती है, यद्यपि खोलना दोनों के लिये अनिवार्य है। इस प्रथा का वास्तविक अर्थ यही है कि जिस प्रसन्नता से आज हम लोग गृहस्थ हो रहे हैं, उसी प्रसन्नता से एक दिन वनस्थ हो जायें। गाँठ खोलन का अर्थ यह है कि छिपा हुआ राग मिट जावे। गाँठ न टूटे, इसका भावार्थ यही है कि मन में अर्थ और काम का राग शेष न रहे, जिससे पुनः गृहस्थ न होना पड़े। इसी को सजीव बनाने के लिये हम भारतीयों में सती धर्म की महत्ता है। अतएव सर्व समर्थ लीलामय भगवान से प्रार्थना है कि तुम्हारी जीवन यात्रा आदर्श सती-साध्वी बनकर पूर्ण हो।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

665

वृन्दावन
11.7.69

साधनपरायण कर्तव्यनिष्ठ लाडली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

सत्संग का फल प्रभु के नाते, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना तथा 'उनकी' स्मृति जगाना है, जिनसे तुम ने आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया है। प्रभु विश्वासी शरणागत साधक सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय रहता है, पूजा करता है, लीला देखता है और सब प्रकार से 'उन्हीं' का होकर रहता है। तुमने जिस वीरता और धैर्य से आए हुए सुख-दुःख का सदुपयोग किया है, उससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। पर बेटी! प्रत्येक कार्य के आरम्भ और अन्त में सहज भाव से मधुर स्मृति होती रहे, प्रेम की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती रहे-सब, यही सफलता की कुंजी है।

तुम बड़ी ही भाग्यशाली हो कि तुम्हारा समय अधिकतर सेवा में ही व्यतीत होता है। पर बेटी, सेवा का अन्त त्याग तथा प्रेम में होना चाहिए, तभी सेवा सार्थक होती है।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

666

5.1.50

स्नेहमयी प्रिय पुत्री,

सर्वदा प्रसन्न रहो।

शारीरिक विकास व शिक्षित होने पर अर्थ और काम की वास्तविकता का अनुभव करने के लिये तथा पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिये एवं अतिथियों की सेवा करने के लिये मानव को ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवृत्त होना अनिवार्य है। इसी नियमानुसार अब तुम गृहस्थ होने जा रही हो। यह बड़े हर्ष की बात है।

प्यारी बेटी! परस्पर में प्रीति तथा एकता तभी सुरक्षित रह सकती है, जब एक दूसरे की निर्बलताओं को सहर्ष सहन करने का स्वभाव बना लिया जावे, अर्थात् अपने-अपने स्थान पर ठीक रहते हुए अपने जीवन साथी की कमजोरियों को अपने कर्त्तव्य से पूर्ण करते रहें। अतः तुम अपनी प्रीति सुरक्षित रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील बनी रहो। तभी गृहस्थ जीवन सुख तथा विकास का हेतु (कारण) हो सकता है।

मैं तुम दोनों को ही भलीभाँति जानता हूँ। तुम दोनां ही मेरे प्यारे बच्चे हो। इस कारण मैं अपना धर्म समझता हूँ कि तुम दोनों को यह बात भलीभाँति समझा दूँ कि अपने-अपने गुण तथा योग्यता से एक दूसरे की कमजोरी सहर्ष सहन कर, प्रसन्न रहना चाहिए। दो गुणों का संघटन अधिक सुरक्षित नहीं रहता। किसी का गुण किसी के दोष की औषधि हो जाने पर ही सच्ची एकता सुरक्षित रहती है।

अतएव अपने गुण का उपयोग किसी के दोष पर विजय प्राप्त करने के लिये ही करना चाहिए। जो लोग अपने गुण का उपयोग केवल अपने सुख के लिये करते हैं, वे कभी प्रीति जैसी पवित्र

वस्तु को सुरक्षित नहीं रख सकते। प्यारी बेटी! प्रीति वह गणना है, जिस में एक और एक मिलकर एक होते हैं, दो नहीं।

कान्ता भाव में दास्य, साख्य, वात्सल्य आदि सभी भावों का समावेश है। इस दृष्टि से मधुर भाव सभी भावों से उत्कृष्ट भाव है। दास्य भाव में केवल प्रीति ही जीवन है, सुख-स्वार्थ, दोनों का त्याग है। अर्थात् त्याग का पाठ पढ़ने के लिये ही कान्ता भाव की महत्ता है। तभी तो भारतीय महिला सदैव त्याग में ही अपना महत्त्व समझती रही।

पुरुष अर्थ उपार्जन में भले ही सफल हो, पर मातृ-शक्ति पुरुष के निर्माण में समर्थ है। इस दृष्टि से मातृ-शक्ति पर कितना बड़ा उत्तरदायित्व है? तुम स्वयं विचार करो। पुरुष का निर्माण पुरुष नहीं कर सकता। यह निर्विवाद सत्य है।

अतः तुम दोनों आदर्श गृहस्थ बन कर, संसार रूपी वाटिका को सुशोभित कर, सुन्दर-सुन्दर सुमन उत्पन्न करो। सर्व समर्थ भगवान् तुम दोनों को सुबुद्धि प्रदान कर, कर्तव्यनिष्ठ बनाएँ—यही मेरी सद्भावना है।

पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

667

गाजीपुर
14.2.55

सौ. स्नेहमयी लाडली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

बलरामपुर के पत्र में तुमने कुछ पंक्तियों लिखी थीं। उनसे यह प्रतीत होता है कि तुम अपनी वस्तुस्थिति के सम्बंध में मेरे विचार जानना चाहती हो, जिसका संकेत परम प्रिय... के पत्र में लिखा चुका हूँ। आत्म-विश्वास आ जाने पर शुद्ध संकल्पों को पूरा करने में और अशुद्ध संकल्पों के त्याग में कोई कठिनाई नहीं होना चाहिये। अथवा यों कहो कि अशुद्ध संकल्पों की तो उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिये और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति में उस समय तक बाधा नहीं होनी चाहिये जब तक कोई परिस्थितिजन्य प्रतिकूलता न हो। केवल प्रियजनों के भय से भयभीत होकर, आवश्यक संकल्प-पूर्ति के लिये प्रयत्नशील न होना अपने पर अविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो स्वयं अपने पर विश्वास नहीं करता, उस पर कोई विश्वास नहीं करता। दैनिक जीवन-यात्रा का भी कोई सिद्धांत होना चाहिये। उसके लिये भी मर्यादा अपेक्षित है। भीतर मन में द्वन्द्व रखना और ऊपर शान्त बने रहना, सबलता नहीं है, अपितु निर्बलता है। इस निर्बलता से प्राणी कभी अपनी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाता। यद्यपि जीवन मेंकटुता, क्रोध तथा दुराग्रह के

लिये कोई स्थान नहीं है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जीवनोपयोगी संकल्पों की पूर्ति के लिये मधुरता एवं दृढ़तापूर्वक प्रयत्नशील नहीं होना चाहिये। क्या कारण है कि जब तुम अपने प्रियजनों की प्रत्येक आवश्यक बात पूरी करने का प्रयत्न करती हो, तो वे लोग तुम्हारे मन की साधारण बात भी पूरी करने के लिये उत्साह का परिचय नहीं देते? सेवा वह तत्त्व है कि जिससे दूसरे का मन इस बात के लिये लालायित रहताहै कि हमें किसी प्रकार सेवा करने वाले की मन की बात पूरी करने का अवसर मिल जाये। तुम्हें अपनी आन्तरिक स्थिति का अध्ययन करना चाहिये कि तुम्हारी सेवा में कौन सा ऐसा दोष है कि जिसके कारण तुम्हारा मन प्रियजनों का मन नहीं बन गया।? अनेक बार तुम्हारे कुटुम्बीजनों ने तुम्हारे स्वभाव की प्रशंसा की है और तुमने भी मुझसे कभी किसी की निन्दा नहीं की। परस्पर में एक दूसरे के प्रति सद्भाव तथा स्नेह भी है, तो भी तुम अपने मन की बात कि जिसे तुम करना चाहती हो, नहीं कर पाती, परिस्थिति अनुकूल होने पर भी? इन सब बातों पर विचार करने से तो यही स्पष्ट होता है कि तुम्हारे मन में कोई गुत्थी (Complex) है अथवा तुम्हारे मन में कोई भय है। इस कारण तुम स्पष्ट अपने मन की बात न कह पाती हो, न समझा पाती हो, केवल सोची रहती हो, जो वास्तव में व्यर्थ-चिन्तन है।

व्यर्थ-चिन्तन के होते हुए, न तो मन शान्त होता है, न शुद्ध और न सबल। मन की निर्मलता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। पर वह तभी सम्भव है, जब व्यर्थ-चिन्तन मिट जाये। व्यर्थ-चिन्तन मिटाने के लिये अपने मन की सारी बात स्पष्ट कह देना आवश्यक है। सभी प्रियजनों को यथोचित एवं चि. बालक एवं बालिका को बहुत-बहुत प्यार। पुनः तुम दोनों को बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

668

आगरा

प्रिय पुत्री,

साधारणतः गुरुजन अप्रसन्न नहीं होते और यदि होते हैं, तो शिष्य वर्ग के हित के लिये। आजकल पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव गुरु-शिष्य, दोनों पर ही हो गया है। कभी-कभी बड़े लोग भी प्रमाद और मोहवश कुछ का कुछ कहने लगते हैं। परन्तु निर्दोष होने पर भी, बड़ों का सम्मान सहनशीलता बढ़ाने के लिए आवश्यक है; क्योंकि सहनशीलता परम बल है। जिस प्रकार वसा रहित अग्नि अपने आप बुझ जाती है, इसी प्रकार सहनशील प्राणी पर किया हुआ आक्रमण अपने आप नष्ट हो जाता है। शरीर में बल, ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने से, शुद्ध आहार

करने से, प्रसन्नचित रहने से अपने आप बढ़ता है। प्रत्येक खानपान, वस्तुओं आदि की प्रवृत्तियों को शारीरिक हित एवं खिलाने व पहनाने वालों की प्रसन्नता के भाव से करना ही सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य व्रत है। ईश्वर-चिन्तन भी ब्रह्मचर्य है; क्योंकि ब्रह्म में आचरण करना ही ब्रह्मचर्य की पूर्णता है। समाज में जो स्थान हो तथा अपने को जो प्रकाशित किया हो, उसके विधान के अनुरूप ही कार्य करने पर हृदय में निर्भयता आ सकती है; क्योंकि भय तब उत्पन्न होता है, जब हम वह करते हैं, जो हमें नहीं करना चाहिये। आप अपने को जो मानती हो, उसके विपरीत कोई भी काम मत करो। अपनी मानी हुई अहंता के अनुरूप कार्य करने से हृदय में निर्भयता तथा समाज में आदर अपने आप हो जाता है।, संसार में आदर उसी प्राणी का होता है, जो दूसरों के काम आता है, अर्थात् जिसका प्रत्येक कार्य दूसरों की प्रसन्नता के लिये ही होता है। देवी! ऐसा कोई भी संकल्प मन में न उठने दो, जिसको प्रकाशित करने में भय हो। यदि किसी कारणवश मन में ऐसा संकल्प उत्पन्न हो जावे, तो अपनी अम्मा से कह दो। माता-पिता तथा गुरुजनों के साथ निष्कपट व्यवहार करने से प्राणी बड़ी से बड़ी बुराइयों से बच जाता है। जिसके मन से वस्तुओं का लालच निकल जाता है तथा जिसके मन में दुःखियों को देख कर करुणा और सुखियों को देख कर प्रसन्नता उत्पन्न होने लगती है तथा जिसके मन में किसी को दुःख देने का भाव उत्पन्न नहीं होता, उसका मन अपने आप निर्मल हो जाता हे। मन की निर्मलता परम धन है।

सेवा भाव से तथा पवित्र संकल्प उत्पनन करने से एवं सर्व हितकारी चिन्तन से मानसिक उन्नति हो सकती है। जिसका मन विश्व के दुःख से दुःखी होकर, विश्व के हित के लिये पवित्र संकल्प करता है, उसकी स्वाभाविक मानसिक उन्नति हो जाती है। नींद आने से पूर्व सद्भाव पूर्वक प्रतिदिन सोते समय यह प्रार्थना करें:-"हे नाथ! ऐसी शक्ति दो, जिससे मैं तुम्हारे काम आ जाऊँ और यह शरीर तुम्हारे विश्व के काम आ जाये।।" "मैं" भगवान् की वस्तु हूँ और 'शरीर' विश्व की वस्तु हैं। मीरा आदि देवियों ने "मैं" भगवान् को व शरीर विश्व को दे दिया था। इसी कारण आज अनेक विद्वानजन उनके नाम से अनेकों सद्गुणों का प्रचार करते हैं। जिस प्रकार जेवर का बनाने वाला सुनार होता है और पहनने वाली महारानी होती है, उसी प्रकार पढ़ने वाला विद्वान और अमल करने वाला महापुरुष होता है। प्रिय देवी! चाहे थोड़ा ही पढ़ो, किन्तु उसके अनुरूप जीवन बनाने का प्रयत्न करो। क्योंकि हृदय की उन्नति मस्तिष्क की उन्नति से अधिक श्रेष्ठ होती है। अकर्मण्यता तथा आलस्य के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं है। अतः कर्म-वीर होकर जीवन व्यतीत करो। किसी भी कठिनाई से कभी मत डरो। संसार से अपना मूल्य अधिक समझो।

आत्मविश्वास तथा ईश्वर की कृपा पर भरोसा रखो। सभी को यथायोग्य।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!!
ॐआनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

669

पुष्कर (अजमेर)
22.07.62

स्नेहमयी कर्तव्यनिष्ठ लाडली बेटी,

बहुत-बहुत प्यार।

ता॰ 18 का लिखा हुआ पत्र मिला। यह जानकर कि तुम्हारा शरीर अस्वस्थ और तुम्हारे मन में उत्साह नहीं है, खेद हुआ। शरीर की अस्वस्थता में तो अदृष्ट हेतु हो सकता है, किन्तु मानसिक उत्साह न रहना तो एकमात्र अपना ही दोष है। तुमने वर्षों से यह पाठ पढ़ा है कि प्रत्येक परिस्थिति प्रेमी की दृष्टि में एक मात्र परम प्रेमास्पद का संदेश है और कुछ नहीं। तो फिर अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का भेद कैसा? मुझे यही खेद है कि मेरी प्यारी बालिका इतनी भोली है कि प्रतिकूलताओं का आदरपूर्वक स्वागत नहीं कर पाती। सत्य का आदर करना ही वास्तविक सत्संग है। सत्य की चर्चा तो सर्वदा साधारण व्यक्ति भी करते रहते हैं। जब तुम यह जानती हो कि प्रत्येक परिस्थिति से सदुपयोग से ही प्राणी परिस्थितियों से अतीत नित्य जीवन प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाता है, तो फिर कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, उसमें चिंता की बात क्या है? जिसने अपनी सारी इच्छाएँ प्रेमास्पद के समर्पण कर दी हों, उसके जीवन में भय कैसा? जब अपनी इच्छा की पूर्ति न हो, तो समझना चाहिए कि मेरे प्रेमास्पद की इच्छा पूरी हो रही है। प्यारी बेटी! प्रेमास्पद की इच्छा की पूर्ति को हर्ष तथा अनन्त नव उत्साह होता है, तो फिर तुम्हारे जीवन में उत्साह-हीनता क्यों? अनुकूल परिस्थितियों में तो साधारण विषयी प्राणी भी प्रसन्न तथा उत्साही दिखाई देते हैं; किन्तु प्रतिकूलताओं को सहर्ष अपनाते हुए नित-नव उत्साह का संचार तो सच्चे आस्तिक में ही होता है। तुम आस्तिक हो; अतः तुम्हारे जीवन में उत्साह-हीनता के लिये कोई स्थान नहीं है। तुम्हारे परम प्रेमास्पद तुम्हें विवेक प्रदान करें, जिससे तुम उनकी दी हुई परिस्थिति का यथेष्ट सदुपयोग करने में समर्थ हो। यही मेरी सद्भावना है।

तुम प्रत्येक घटना में अपने प्रभु का हाथ देखो, उसे उन्हीं की लीला समझो। हृदय में सर्वहितकारी भावना रखते हुए 'उनकी' रजा में राजी रहने में ही सन्तोष करो। मन में चिरशान्ति तथा हृदय में सतत निर्भयता रहनी चाहिये। तुम्हारे सम्बन्ध में तुमसे भी अधिक तुम्हारे प्रभु जानते हैं। प्रत्येक सुख-दुःख के रूप

में 'वे' ही छिपे रहते हैं। तुम सुख-दुःख का परदा हटा कर, 'उन्हीं' को देख लिया करो। जब तुम उन्हें पहचान लोगी, तो वे मुस्कारा कर, तुम्हें अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन देकर, कृतार्थ कर देंगे—ऐसा मेरा विश्वास है। यदि कुछ काल के लिये तुम यहाँ आ जातीं, तो स्वास्थ्य अवश्य अच्छा हो जाता और नाथद्वारा वाली बाई का तथा अनेक महापुरुषों का भी दर्शन होता। सभी को यथोचित निवेदन करना।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

670

रांची

मेरी निज स्वरूप प्रिय पुत्री,

पत्र के रूप में दर्शन मिला। "रसना-इन्द्री" पर विजय प्राप्त करने का उपाय तुमने पूछा है। देखो बेटी! खाना-पीना प्राणी का धर्म है। अतः भोजन करते समय हृदय में से यह भाव निकाल दो कि 'मैं खाती हूँ'। बल्कि यह भाव बनाओ कि मैं प्राण रूप अग्नि में भोजन की आहुति दे रही हूँ। अर्थात् यह भावना सद्भावपूर्वक दृढ़ करो कि मैं नही खाती। यह नियम है कि जिस क्रिया से हम अपने अहम् भाव को नहीं मिलाते, उसी क्रिया का राग मन पर अंकित नहीं होता। जिस क्रिया का राग (Attachment)अंकित नहीं होता, उसकी वासना नहीं होती। अतः इस साधन से बड़ी सुविधापूर्वक रसना पर विजय प्राप्त की जा सकती है। किसी भी वस्तु को स्वाद के भाव से मत खाओ, बल्कि शारीरिक हित की दृष्टि से प्राण भगवान् को आहुति दो। इस प्रकार खिलाने से खिलाना यज्ञ हो जावेगा, जिससे जितेन्द्रियता प्राप्त होगी। देखो बेटी, जितेन्द्रियता के बिना कोई भी प्राणी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता। जितेन्द्रियता का बल सभी बलों से श्रेष्ठ बल है। जिसने अपने आप पर विजय प्राप्त की है, उसी को मानव-जीवन की वास्तविकता प्राप्त हुई है। अतः आपको सद्गुणों के संग्रह करने के लिये वीरता तथा गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न निरन्तर करते रहना चाहिये। निर्वासना आने पर निर्वैरता, समता, मुदिता एवं निर्भयता आ जाती है। दिव्यगुणों के उपार्जन करने में आप सर्वदा स्वतंत्र हैं।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

671

रानीखेत

22.6.51

मेरे निजस्वरूप परमप्रिय!

तुम्हारा तारीख 17 का लिखा हुआ पत्र मिला। शारीरिक अस्वस्थता अपने स्वभावानुसार यथावत चल रही है, पर तुम उसके लिए चिन्ता न करो; क्योंकि

हम आस्तिकों को यही सीखना है कि वर्तमान का आदरपूर्वक सदुपयोग करते हुए, जो कुछ हो रहा है, उसी में प्रसन्न रहें।

मिले हुए विवेक के प्रकाश में मन के वास्तविक चित्र को देखना और फिर योग्यतानुसार साधन में प्रवृत्त होना अनिवार्य है। मिली हुई शक्ति का सदुपयोग नवीन शक्ति स्वतः प्रदान करती है, यह निर्विवाद सत्य है। अतः कर्त्तव्यनिष्ठ आस्तिक के जीवन में भय, चिन्ता तथा निराशा के लिये तो कोई स्थान ही नहीं है। प्राणी को वही करना है, जिसे वह कर सकता है। 'उनके' होकर, 'उनके' नाते, सब कुछ करते हुए 'उनकी' अहैतुकी कृपा की बाट देखते रहो—यही निर्बल का बल तथा आस्तिक का जीवन है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

672

अलख आश्रम, नाथद्वारा

10.10.51

मेरे निज स्वरूप प्रिय वत्स! बहुत-बहुत प्यार!

तारीख 5 का लिखा हुआ पत्र मिला। प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करने पर आवश्यक विकास अपने आप हो जाता है। जिन प्राणियों ने वर्तमान का आदरपूर्वक सदुपयोग किया, उन्हीं का भविष्य आशाजनक बन जाता है। आस्तिक प्राणी के जीवन में निराशा के लिये कोई स्थान नहीं है। जिन्होंने सर्व समर्थ श्रीहरि को अपना मान लिया, उनका बेड़ा पार हुआ—ऐसा मेरा अनुभव है। सभी प्रियजनों को सप्रेम यथोचित निवेदन करना। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा

शरणानन्द

673

वृन्दावन

27.6.54

मेरे निजस्वरूप परम प्रिय,

सप्रेम हरिस्मरण!

निर्बलताओं के मिटाने का उपाय पूछा है। निर्बलताओं का दर्शन ही उनके मिटाने का अचूक उपाय है। जब हम अपनी निर्बलताओं को विवेक-दृष्टि से देख लेते हैं, तो एक गहरी वेदना जाग्रत होती है। उस गहरी वेदना में निर्बलताओं-जनित राग भस्म हो जाता है। निर्बलताएँ मिटाई जा सकती हैं, पर अपने से छिपाई नहीं जा सकतीं।

सीमित गुणों के अभिमान से ही दोष पनपते हैं। जब व्यथित हृदय से सर्व-समर्थ प्रभु से प्रार्थना की जाती है, तो सभी दोषों का अन्त हो जाता है। जब साधक हार स्वीकार नहीं करता तथा निर्दोषता

की उत्कट लालसा रखता है, तब साधक को सफलता अवश्य प्राप्त होती है। असफलता की वेदना से भी नित-नव आशा का संचार होता है।

जब हमारा लक्ष्य उस अनन्त को प्राप्त करना है, जो सर्वत्र और सर्वदा है, तब हार स्वीकार करना अपनी भूल ही है। प्राप्त प्रभु में अविचल आस्था, श्रद्धा और विश्वास रखना तथा अप्राप्त संसार की चाह छोड़ना प्रत्येक साधक के लिये आवश्यक है।

विवेकपूर्वक वस्तु, व्यक्ति आदि से असंग होने पर दीनता का अन्त होता है और दीनता मिटने पर अभिमान भी स्वतः मिट जाता है। दीनता और अभिमान, इन दोनों में से किसी एक को मिटाने पर, दूसरा स्वतः मिट जाता है।

वर्तमान को सरस बनाओ, इसी सद्भावना के साथ!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन,

शरणानन्द

674

कानपुर

10.09.65

मेरे निजस्वरूप साधननिष्ठ प्रियवर,

सादर सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार!

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। "प्रभु अपने हैं और सब 'उनका' है"—इस वास्तविकता को स्वीकार कर लो। अर्थात् अपने प्रभु हैं और सब कुछ प्रभु का है। प्रत्येक वस्तु पर उन्हीं की सील लगाकर निश्चिन्त तथा निर्भय होना है और उनकी आत्मीयता, अर्थात् अपनापन ही अपना सर्वस्व है।

प्रत्येक कर्तव्य-कर्म द्वारा उनकी पूजा करो और प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला देखो, उन्हीं के होकर रहो। उनकी प्रियता ही अपना जीवन है, जो एकमात्र उन्हें अपना मान लेने से जागृत होती है।

प्रियता अपने में जगेगी और उसका प्रभाव मन पर होगा, यह विधान है। इस विधान में अविचल आस्था कर, अभय हो जाओ।

शरणागत के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता; कारण, कि सर्व-समर्थ प्रभु शरणागत का भय हर लेते हैं और अभय दान देते हैं। उनकी महिमा का कोई वारापार नहीं है।

उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। अपने को 'अपना' स्वभाव से ही प्यारा लगता है, उसके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

'उनके' नाते की हुई सेवा भी भजन है। कर्मरूप से सेवा और हृदय से प्यार उत्तरोत्तर बढ़ता रहे, यही मेरी सद्भावना है।

अपने लिए कुछ नहीं करना है। जो कुछ करना है, वह विश्व-सेवा है। सेवा का अन्त प्रीति में स्वतः हो जाता है। प्रीति

की जागृति में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

सद्भावना सहित,
अकिंचन,
शरणानन्द

675

साधक महानुभाव,

कर्तव्य-परायणता, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का यह शुभ परिणाम होना चाहिए कि साधक अपने में सन्तुष्ट हो जाय। यह वैधानिक तथ्य है कि अपने में जीवन तथा जीवनधन है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था होनी चाहिये। 'जीवन' जड़ता, अभाव, पराधीनता, नीरसता आदि दोषों से रहित है। उसी को जीवन कहते हैं।

शरीर का सदुपयोग साधक को विद्यमान राग से रहित कर देता है और विवेकपूर्वक असंग होने से फिर नवीन राग भी उत्पन्न नहीं होता। रागरहित भूमि में ही योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति होने पर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है।

शरीर का सदुपयोग और उससे असंगता अनिवार्य है। पर, यह तभी सम्भव होगा, जब साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करे। जिसकी वास्तविक माँग है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना सहज तथा स्वाभाविक होना चाहिये। माँग उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, वही सभी साधकों का साध्य है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि साधक को जो कुछ करना चाहिये, उसे करता भी नहीं और न करने के दुःख से दुखी भी नहीं होता। वह जितना समय और मन अनावश्यक कामों में लगता है, उतना अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये नहीं लगाता।

यदि साधक अपने मन की वास्तविकता को विवेक के प्रकाश में खोलकर रखे, तो उसे मालूम होगा कि मन में बहुत से ऐसे संकल्प भरे हैं, जिनको मैं न तो पूरा करता हूँ और न मिटाता ही हूँ। यही कारण है कि मन संकल्पों के जाल में फँसा रहता है और शुद्ध नहीं हो पाता। चित्त शुद्ध न होने के कारण ही मुझे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब हो रहा है।

मनुष्य की स्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती, बदलती रहती है। अतः साधक को सोचना चाहिये कि जब मैं वर्तमान स्थिति से अलग हो जाऊँगा, तब कहाँ और कैसे रहूँगा? इसका विवेकपूर्वक अध्ययन करने से साधक प्राप्त स्थिति से ऊपर उठने के लिए अग्रसर हो सकता है।

रुचि की पूर्ति के रस से मोहित रहने के कारण उसे करने का दुःख नहीं होता और जो सबसे अच्छी चीज है, उसे

न पाने का भी दुःख नहीं होता। इसीलिए साधक अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ पाता।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!
अकिंचन,
शरणानन्द

676

ऋषिकेश
18.06.60

मेरे निजस्वरूप साधननिष्ठ,
बहुत-बहुत प्यार!

प्रीति की एकता ही वास्तविक एकता है; कारण, कि प्रीति-दूरी, भेद तथा भिन्नता को नहीं रहने देती। साध्य की प्रियता में ही समस्त साधनों की परावधि है। 'वे' मौजूद हैं, तुमसे दूर नहीं हैं, तुम्हें देख रहे हैं। तुम सब ओर से विमुख होकर, 'उनकी' ओर देखो, जिससे उनकी दृष्टि तुम्हारी दृष्टि से मिल जाए। उनका प्यार ही तुम्हें उनसे मिला देगा; अर्थात् दूरी, भेद और भिन्नता नहीं रहने देगा। बस, यही मानव-जीवन की पूर्णता है।

सत्संग प्रत्येक साधक स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। इसके लिए किसी परिस्थिति-विशेष की आवश्यकता नहीं है। जब साधक मिले हुए शरीर आदि वस्तुओं की ममता, और देखे हुए संसार की कामना का त्याग कर देता है, तब अपने आप चित्त सब ओर से विमुख हो जाता है और फिर सर्व-समर्थ प्रभु की सन्मुखता प्राप्त होती है।

सत्संग का अर्थ है—जो मौजूद है, उसका संग। सतत् परिवर्तनशील सृष्टि जिसके प्रकाश से प्रकाशित है और जिसकी सत्ता से सत्ता पाती है, अपने को उसी का होकर रहना है। निरन्तर प्यारे प्रभु की मधुर स्मृति होती रहे और प्रत्येक घटना में उन्हीं की लीला का दर्शन करते रहो। लीला देखो, पूजा करो। सभी में सत्ता रूप से प्यारे प्रभु ही हैं। अतः किसी को भी कभी बुरा नहीं समझना चाहिए।

पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार!
ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!
अकिंचन,
शरणानन्द

677

मेरे निज स्वरूप,

जहाँ तक हो सके, कुछ काल के लिए हम लोग शान्त हो जाया करें; कारण, कि प्रत्येक कार्य के मूल में या श्रम के मूल में सभी, क्रिया रहित होते हैं, यह सभी का अनुभव है।

प्रत्येक गति के मूल में स्थिरता और गति के अन्त में भी स्थिरता है। यह प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक तथ्य है।

प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् स्वभाव से निर्विकारता रहती ही है। इस निर्विकारता का नाम ही 'मूक सत्संग'

है, जिससे आवश्यक शक्ति का विकास होता है।

सुनने के पूर्व हम शान्त हो जाएँ और सुनने के पश्चात् भी शान्त हो जाएँ। सुनने के पूर्व शान्ति हमें सुनने की यथेष्ट सामर्थ्य प्रदान करेगी और श्रवण के अन्त में जो शान्ति होगी, वह सुने हुए को स्थिर कर देगी।

यह जो शान्त रहना है, यह बहुत बड़ा साधन है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। इसलिए जहाँ तक हो सके, हमें स्वभाव से ही शान्त रहना चाहिए। इसमें अहंकृति न लगाएँ, अर्थात्,'हम नहीं बोलेंगे', ऐसी भावना भी न हो, अपितु सहज भाव से न बोलना, न सोचना, न देखना आ जाए, अर्थात् इन्द्रियों को भीतर-बाहर से शान्त रहने का स्वभाव बना लें, तो बहुत लाभ होगा।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन,
शरणानन्द

678

वृन्दावन
12.03.68

स्नेहमयी त्यागमूर्ति प्रीति स्वरूपा दुलारी बेटी,

बहुत-बहुत प्यार!

प्रीति ही प्राणी का वास्तविक जीवन है; क्योंकि प्रीति ही के आदान-प्रदान में नित रस-नव की अभिव्यक्ति होती है, जिससे नीरसता का अन्त हो जाता है। नीरसता का अन्त होते ही निर्विकारता अपने आप आ जाती है; क्योंकि नीरसता की भूमि में ही समस्त विकार उत्पन्न होते हैं।

सच्चा साधक संसार से सुख की आशा नहीं करता, अपितु मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा विश्व के स्वरूप में अपने प्यारे प्रभु की सेवा ही करता है। सेवा वही कर सकता है, जो निज-विवेक का आदर करता है।

निज-विवेक का आदर करने पर साधक शरीरादि किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानता और न किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख का सम्पादन ही करता है, अपितु वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों को आदर तथा प्यार सदैव देता रहता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में एकमात्र अपने प्यारे प्रभु की सत्ता शेष रहती है। वह किसी को बुरा नहीं समझता और न किसी में ममता ही करता है, क्योंकि उसकी आत्मीयता एकमात्र प्यारे प्रभु ही में है।

प्यारी बेटी! जिसने सरल विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु को ही अपना मान लिया है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक समस्त भय तथा प्रलोभनों से मुक्त हो जाता है; क्योंकि भय का जन्म भेद से होता है। उसे बड़ी-से-बड़ी प्रतिकूलता भी भयभीत नहीं कर पाती और न वह अनुकूलताओं की दासता में ही आबद्ध

होता है। उसकी दृष्टि में कोई 'ओर' नहीं रहता; क्योंकि वह प्रत्येक घटना में अपने प्यारे की अनुपम लीला का ही दर्शन करता है। इतना ही नहीं, उसे अनादर में आदर तथा तिरस्कार में प्यार की अनुभूति होती है। उसे यही प्रतीत होता है कि मेरे प्यारे मेरे हित के लिए ही 79सब कुछ करते हैं।

प्यारी बेटी! तन सेवा में और मन प्यारे प्रभु में अपने आप लग जाय, लगाने का प्रयास तक न करना पड़े, तभी प्रीति से अभिन्नता होती है। तुम प्रीति होकर अपने प्रेमास्पद को रस प्रदान करती रहो और उनकी अहैतुकी कृपा को ही अपना सर्वस्व जानो। बस, यही मेरी सद्भावना है।

पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा पिता,

शरणानन्द

679

मेरे प्रेमी साधक महानुभाव!

दुःख का जीवन में बड़ा महत्त्व है। दुःख के बिना प्राणी का विकास नहीं हो सकता। दुःख का प्रभाव दुःख को खा लेता है तथा सुख-दुख से अतीत के जीवन में प्रवेश कराता है। पर हम अपने पर दुख का पूरा-पूरा प्रभाव नहीं होने देते। एक सहारा छूटता है, तो दूसरा सहारा पकड़ लेते हैं।

जब तक मानव सुख में दुःख का दर्शन नहीं करेगा, तब तक दुःख आता ही रहेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता। जब दुःख का प्रभाव पूरी तरह हो जाता है, तब दुखहारी श्रीहरि स्वयं दुःख हर लेते हैं। वर्तमान की वेदना ही भविष्य की सत्ता हो जाती है।

दुःख का प्रभाव कैसे हो? दुखियों को देख, करुणित होने तथा सुखियों को देख, प्रसन्न होने से दुःख का प्रभाव होता है। समस्त विकारों का मूल सुख-भोग का प्रलोभन है और समस्त विकास का मूल दुःख का प्रभाव है। जहाँ जीवन में दुःख का प्रभाव आया, वहाँ स्वतः सभी वस्तुओं, व्यक्तियों, अवस्थाओं व परिस्थितियों से सम्बन्ध स्वतः टूट जाता है। फिर दुखी के जीवन में सुख की दासता नहीं रहती, दरिद्रता का नाश हो जाता है। निर्लोभता एवं उदारता की उसके जीवन में स्वतः अभिव्यक्ति होती है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधक भाई-बहिनों को सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त कर, परम स्वाधीन अविनाशी जीवन से अभिन्न कर दें, इसी सद्भावना के साथ आपको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन,

शरणानन्द

680

लखनऊ
19.05.51

स्वधर्मनिष्ठ परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार!

सरल विश्वास तथा ईमानदारी से पूर्ण हरा-भरा पत्र मिला। देखो भैया! सर्वान्तर्यामी रूप से सत्य सर्वत्र विद्यमान है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसमें विवेक न हो। विवेक के प्रकाश में किया हुआ कर्म वास्तव में सत्संग है। जो प्राणी इस सत्संग को कर लेता है, उसे बाह्य सत्संग की आवश्यकता नहीं होती। जब मिले हुए विवेक का आदर नहीं कर पाता, तब उसके लिये विवेकी गुरुजनों के निकट जाना अनिवार्य होता है।

सत्संग में कोई परिस्थिति बाधक नहीं है। हाँ, सत् के बहाने असत् का संग करने में अनेक बाधायें हैं। देखो, भैया! शरीर का संग असत् का संग है। गुरुजनों के द्वारा मिले हुए साधन का संग सत् का संग है। साधक को साधन से विमुख करने में कोई भी परिस्थिति समर्थ नहीं है।

जहाँ रहो, प्रसन्न रहो; जो करो, ठीक करो। जब प्रत्येक कार्य उन्हीं के नाते करना है, तब फिर किसी भी परिस्थिति से भय क्यों? हाँ, कार्य के अन्त में व्याकुलतापूर्वक 'उनका' स्मरण अनिवार्य है। पुनः तुमको बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

681

जोधपुर
28.09.51

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

सरल विश्वास तथा मधुर स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। भगवत् नाते, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए प्रत्येक कार्य के अंत में व्यथित हृदय से सर्व-समर्थ श्री हरि को पुकारो। इसी से कल्याण होगा।

यह भली-भाँति समझ लो कि विश्वास करने योग्य सर्व समर्थ प्रभु हैं और 'उनकी' अहैतुकी कृपा पाना अपना कर्त्तव्य है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

तुम्हारा
शरणानन्द

682

कानपुर
28.04.61

मेरे निजस्वरूप परम प्रिय,

बहुत-बहुत प्यार!

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। प्रतिकूलता से भयभीत होना भूल है। आई हुई कठिनाईयों को तप के समान समझकर सहन करो; डरो मत। प्रत्येक

घटना में प्यारे की अनुपम लीला का दर्शन करो। सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहो। उनकी अहैतुकी कृपा को ही अपना सर्वस्व जानो। व्यथित हृदय से उन्हीं को पुकारो। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है।

'मानव सेवा संघ' की साधन-प्रणाली में साधक की योग्यता, सामर्थ्य एवं रुचि के अनुसार ही साधन-निर्माण की बात है। मानव सेवा संघ प्रत्येक साधक को स्वाधीन देखना चाहता है। इस कारण इस प्रणाली में परामर्श देने की प्रथा है, आज्ञा देने की नहीं।

तुम मुझे गुरु मानते हो, यह तुम्हारी उदारता है और कुछ नहीं। प्रभु की प्रेरणा और अहम् की आवाज कभी-कभी मिलजुल जाती है। बेचारा साधक अहम् की आवाज को प्रभु की प्रेरणा मानकर मनमुखी हो जाता है। इस कारण बड़ी सावधानीपूर्वक अपना निरीक्षण करना चाहिये।

प्रभु की आज्ञा मेरे जानते, प्रत्येक मानव को उदार होने की, समता में वास करने की एवं प्रेम से भरपूर होने की हैऋ कारण, कि इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव का निर्माण हुआ है।

ॐआनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

सद्भावना सहित,

शरणानन्द